जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी

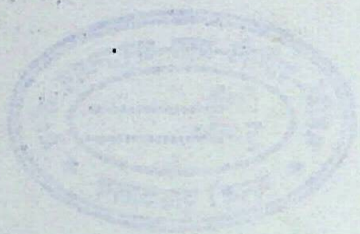
[प्रथम भाग]

(लघु-ग्रन्थ-संग्रह)

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जन्म-शताब्दी
के अवसर पर

सम्पादक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी..............
पु०सं०............
भारती पुस्तकालय





❁ ओ३म् ❁

जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी

[प्रथम भाग]

(लघु ग्रन्थों का संग्रह)



श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जन्म-शताब्दी-वर्ष-समापन
के अवसर पर

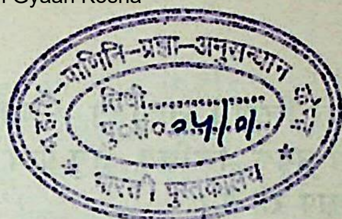
सम्पादक—
पं० युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
श्रीमती विमलादेवी बागड़िया
"श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया धर्मार्थ ट्रस्ट"
१७० जी० ब्लाक, न्यू अलीपुर,
कलकत्ता

प्रथम संस्करण—१०००
मूल्य—८०-००
भाद्रपद संवत्—२०५०
सितम्बर—१९९३

मुद्रक—
नरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रैस, बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

प्राप्ति-स्थान—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़-१३१०२१
(सोनीपत-हरयाणा)



भूमिका

पूज्य गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का जन्म १४ अक्तूबर १८९२ ईसवी को हुआ था। इस प्रकार गतवर्ष १४ अक्तूबर १९९२ को १०० वर्ष पूरे हुए। अतः उस दिन जन्म-शताब्दी-वर्ष के प्रारम्भ में विशेष उत्सव मनाया गया। उन दिनों मैं बीमार था, पुनरपि अपनी इच्छा ट्रस्ट के सदस्यों को बताई थी कि गुरुवर्य के तीन ग्रन्थों को ('यजुर्वेदभाष्य-विवरण', दो भाग, 'अष्टाध्यायी-भाष्य' ३ भाग तथा 'सरलतम-विधि') छोड़कर सभी ग्रन्थ और उपलब्ध लेख एक आकार-प्रकार में सुन्दररूप में प्रकाशित किये जायें। किन्तु अतिशय व्यय का प्रश्न इसमें आड़े आया। तभी मैंने निश्चय किया कि शताब्दी वर्ष की पूर्णता पर भी इसी प्रकार उत्सव मनाया जाये और पूज्यपाद गुरुवर्य के सब ग्रन्थों का अपनी इच्छानुसार प्रकाशन किया जाये।

रामलाल कपूर ट्रस्ट की आर्थिक स्थिति का मुझे पूर्ण बोध होने से मैंने ग्रन्थ-प्रकाशन के कार्य के लिये उनके अप्रत्यक्ष भक्त स्वर्गीय श्री मोहन लाल जी बागड़िया कलकत्ता के द्वारा स्थापित 'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया धर्मार्थ ट्रस्ट' की संचालिका श्रीमती विमलादेवीजी बागड़िया को लिखा। 'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया धर्मार्थ ट्रस्ट' की ओर से कई वर्षों से मेरे सुझाव पर श्री मोहनलाल जी ने अपने ट्रस्ट की ओर से भी मेरे निर्देशन में प्राचीन वैदिक एवं आधुनिक भाषा के वैदिक धर्म एवं वेद-विद्या के प्रचार में सहायक ग्रन्थ प्रकाशित करने आरम्भ किये। श्रीमान् बागड़िया जी के स्वर्गवास के पश्चात् उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विमला देवी जी ने अपने पति के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को चालू रखना श्रेयस्कर समझा। इस समय तक वे प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन में लगभग एक लाख रुपया लगा चुके हैं। इन ग्रन्थों का सम्पादन प्रकाशन एवं विक्रय आदि सब 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' के द्वारा ही होता है। क्योंकि दोनों ट्रस्टों का उद्देश्य समान है। अतः मैंने श्रीमती विमलादेवी जी को जन्म शताब्दी-वर्ष के समापन के अवसर पर पूज्य गुरुजी के सभी ग्रन्थ एक आकार-प्रकार में सुन्दररूप में प्रकाशित करने के लिये अपने ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित करने के लिये लिखा, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार

कर लिया। तदनुरूप 'जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी' के नाम से प्रथम भाग में उनके लिखित लघु ग्रन्थ और द्वितीय भाग में उपलब्ध सभी लेख छाप रहे हैं।

पूज्य गुरु जी के कुछ महत्त्वपूर्ण लेख, जिन का मुझे स्मरण है, इस संग्रह में छूट गये हैं, क्योंकि वे चिरकालीन होने से हमें प्राप्त नहीं हुए। उनमें पहला लेख है—पं० नरदेव जी शास्त्रीकृत आर्यसमाज का इतिहास दो भाग की समालोचना में। यह सम्भवतः सन् १९२० में आश्रम की व्यवस्था से पूर्व 'आर्यमित्र' में छपा था। इसके विषय में पूज्य गुरुजी कहा करते थे कि मेरा लेख प्रकाशित होने के पश्चात् पं० नरदेव जी की पुस्तक बिकनी प्रायः बन्द हो गई। दूसरा 'वेद के देवता' विषय पर 'आर्यमित्र' के कई अङ्कों में छपा लेख, यह सम्भवतः सन् १९३३ में लाहौर निवास काल में लिखा था। हो सकता है इनके अतिरिक्त भी कुछ लेख और भी गुरुजी ने लिखे हों, जिनका मुझे स्मरण नहीं पड़ता। यदि किन्हीं आर्य व्यक्तियों के पास ये प्राचीन दुर्लभ लेख उपलब्ध हों, तो उनकी फोटोस्टेट कापी करवाकर मुझे भेजने का कष्ट करें। मैं उन्हें प्राप्त होने पर तृतीय भाग के रूप में पृथक् छाप दूँगा।

पूज्य गुरुजी ने अपने गुरु श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती से व्याकरण का अध्ययन करके सन् १९२० में श्री पूज्य स्वामी सर्वदानन्द जी के 'साधु आश्रम पुलकाली नदी, अलीगढ़' में छात्रों के अध्ययन-अध्यापन को प्रारम्भ किया था। साथ में कार्य करने के लिये अपने पूर्व परिचित काशी में अध्ययन करनेवाले श्री पं० शङ्करदेव जी को और उनके साथी श्री पं० बुद्धदेव जी धारनिवासी को ले आये थे। ये दर्शनों के अच्छे विद्वान् थे और चिकित्सा में बहुत कुशल थे। श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज ने इस आश्रम के लिये अमृतसर में शहर से चार मील दूर मजीठा रोड पर गण्डासिंहवाला ग्राम के समीप सुन्दर व्यवस्था कर दी थी, अतः सन् १९२१ के अन्त में पूज्य गुरुजी अपने सब साथियों और छात्रों को लेकर अमृतसर चले गये। सन् १९२३-२४ में 'आगरा शुद्धि सभा' की ओर से विस्तृत रूप में मलकाने मुसलमानों की शुद्धि का आन्दोलन चला, जिस में सनातन धर्म सभा और आर्यसमाज दोनों के सदस्य यथाशक्ति सम्मिलित हुए। हमारे आश्रम से पूज्य गुरु जी और पं० बुद्धदेवजी तथा चार बड़ी आयु के पुराने छात्र भी इस कार्य में लग गये। लगभग डेढ़ वर्ष के अन्तराल में आश्रम पर श्री पं० शङ्करदेव जी अकेले अध्यापनकार्य करते

रहे। आश्रम का प्रबन्ध करनेवाली सभा का नाम 'सर्वहितकारिणी सभा' था। इसमें गुरुकुल विभाग और कालेज विभाग दोनों के सदस्य सम्मिलित थे। परन्तु यह दोनों विभागों का मेल कुछ काल के बाद ही लड़खड़ाने लगा और व्यय आदि की भी अव्यवस्था हो गयी। अन्त में इस सभा के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करके श्री गुरुजी ने अपने दमखम पर ही अमृतसर के परिचित आर्यजनों को मिलाकर एक नई व्यवस्थापिका सभा बनाई, जिसके द्वारा छः महीने तक आश्रम की व्यवस्था निरापद सुचारू रूप से चलती रही, परन्तु पुरानी सर्वहितकारिणी सभा ने इसे भी कार्य न करने दिया। इस समय तक पं० बुद्धदेव जी आश्रम से पृथक् हो गये थे। आश्रम में इस समय लगभग ३५ ब्रह्मचारी थे। गुरुजी को अनुभव हुआ कि सर्वहितकारिणी सभा के लोग न स्वयं आश्रम की व्यवस्था सुचारुरूप से चलायेंगे और न हमें चलाने देंगे, अतः उन्होंने अमृतसर छोड़ने का निश्चय कर लिया। पं० शङ्करदेव जी से सलाह करके काशी जाने का निश्चय किया, क्योंकि वहाँ एक समय की व्यवस्था 'अन्नक्षेत्र' में सुगमता से हो जाती है। अतः आश्रम में जितने विद्यार्थी थे, उनके सभी माता-पिता और अभिभावकों को पत्र द्वारा सूचित कर दिया और लिख दिया कि वर्तमान कण्टकापूर्ण अवस्था में भी जो हमारे पर विश्वास करके अपने पुत्र को हमारे साथ काशी भेजना चाहें, वे हमें स्पष्ट लिखें और शेष छात्रों के माता-पिता अपने पुत्रों को आकर ले जावें।

इस प्रकार पूज्य गुरुजी पं० शङ्करदेव जी एवं १०-१२ छात्रों के साथ काशी पहुंचे। वहाँ पर श्री पं० शङ्करदेव जी का स्वास्थ्य प्रायः ठीक नहीं रहा। उनका अधिक काल अपनी चिकित्सा में ही लगा। अतः सन् १९२८ में वे गुरुजी से अलग हो गये।

इसके पश्चात् श्री पं० शङ्करदेव जी का साथ दूसरी बार काशी जाने पर ही सन् १९३१ के अन्त में हुआ और वह भी काशी निवास काल तक सीमित रहा। इस प्रकार जनवरी सन् १९२६ से लेकर अन्त तक वे एकाकी ही अध्यापन एवं ग्रन्थ लेखन सम्बन्धी कार्य कभी अमृतसर, पुनः काशी, वापस लाहौर, पुनः मीमांसा के विशेष अध्ययन के लिये पुनः काशी आदि स्थानों में रहते हुए करते रहे। देशविभाजन के बाद पुनः तीसरी बार काशी गये। इस बार उन्होंने काशी के पण्डित समाज के साथ विशेष सम्पर्क किया और अपने 'विरजानन्द आश्रम' का नाम

'पाणिनि महाविद्यालय' प्रख्यात किया। देश-विभाजन के कारण रामलाल कपूर ट्रस्ट का पूर्व प्रकाशन जो नष्ट हो गया था, पुनः प्रकाशित करने की व्यवस्था की। इसी काल में यजुर्वेद-भाष्य-विवरण के प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण छपा और अष्टाध्यायी-भाष्य के प्रकाशित करने की योजना बनायी।

काशी के पण्डित प्रायः पूज्य गुरुवर्य से कहा करते थे कि जिज्ञासु जी ने कोई देवी सिद्ध कर रखी है, जिसके कारण मूर्ख से मूर्ख छात्र को भी कठिन से कठिन अष्टाध्यायी के सूत्रों का बोध अनायास ही करा देते हैं। इस पर गुरुजी हँसकर कहा करते थे कि आप लोगों की आधी बात सत्य है और आधी बात गलत है। निश्चय ही मैंने एक देवी सिद्ध कर रखी है, किन्तु वह आप लोगों की कल्पनिक देवियों में से नहीं है, मेरी देवी है 'अष्टाध्यायी'। इस अष्टाध्यायी से शास्त्रकार के क्रम के आधार पर मैं क्लिष्टतम विषय आसानी से समझा देता हूं।

काशी में ही निवास करते हुए अन्तिम दिनों में राष्ट्रपति की ओर से संस्कृत पण्डित के रूप में उन्हें सम्मानित किया गया और उसके उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष डेढ़ हजार रुपया (उस समय इतना ही दिया जाता था) मिलने लगा।

इस प्रकार अन्त तक घोर परिश्रम पूर्वक ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का अध्यापन एवं वैदिक ग्रन्थों के शोध पर कार्य करते हुए उन्होंने २२ दिसम्बर सन् १९६४ को प्रातः दो बजे अपनी इहलीला समाप्त की।

युधिष्ठिर मीमांसक



स्वर्गीय श्रेष्ठिप्रवर श्री मोहनलाल जी बागड़िया

का

संक्षिप्त परिचय

सौम्य, उज्ज्वल काञ्चन-वर्ण, नातिदीर्घ और सदा स्मितवदन श्री मोहनलाल जी बागड़िया वास्तव में मोहनस्वरूप ही थे। जो भी आपके सन्निधि में आता था, आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। आपके पिता श्री नन्दकिशोर बागड़िया और माता श्रीमती सावित्री-देवी द्वारा प्रदत्त नाम सार्थक ही सिद्ध हुआ।

जन्म एवं बाल्यकाल—आपका परिवार मूलतः राजस्थानी है। आप का जन्म बंगाल प्रान्त की महानगरी कलिकाता (कलकत्ता) में वैक्रमाब्द १९९० की कार्तिक शुक्ला षष्ठी तिथि मंगलवार (शकाब्द १८५५) में हुआ था। माता सावित्रीदेवी का स्नेह एवं प्यार आपको चिरकाल तक प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। आपकी शैशव अवस्था में ही स्नेह-मयी जननी संसार की ममता को सदा के लिये परित्याग कर दिवंगत हो गई। शैशव-काल में मातृ-स्नेह से वञ्चित होने पर भी पितृ-स्नेह से पूर्ण आप्लावित रहे।

जगत् परिवर्तनशील है, साथ ही विधाता के विधान भी बड़े कठोर अथवा अखण्डनीय हैं। पितृस्नेह की धारा जो स्वच्छन्द गति से बालक मोहन को अभिषिञ्चित करती हुई प्रवाहित हो रही थी, उसमें कुछ काल पश्चात् पितृदेव के गृहाश्रम में विमाता के आविर्भाव से कुछ मन्थरता आ गई। इसी समय से श्री मोहनलालजी का संग्राममय जीवन आरम्भ हुआ और इसी स्थिति में अपने पुरुषार्थ और विवेक से विघ्न-बाधाओं पर विजय पाते हुए आप सदा आगे बढ़ते गये।

शिक्षा एवं कार्य-क्षेत्र में प्रवेश—श्री नन्दकिशोर जी ने अपने पुत्र मोहनलाल को कलकत्ता के प्रसिद्ध माहेश्वरी विद्यालय में यथासमय प्रविष्ट कराया। होनहार बालक ने धीरे-धीरे योग्यता के साथ विद्यालय की पढ़ाई करके कालेज में प्रवेश लिया।

कालेज में योग्यता के साथ बी० काम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर मोहन ने कर्मक्षेत्र में जुटने की अभिलाषा व्यक्त की। पिता नन्दकिशोर ने मातृ-हीन पुत्र को अपने व्यापार क्षेत्र में रखकर व्यापार की शिक्षा देनी आरम्भ की, जिससे वह अपने व्यापार क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सके और संस्था का संचालक बन जाये।

विवाह—मोहनलाल जब पिता के द्वारा प्रवर्तित कर्म-संस्था के संचा-लन में दक्ष होकर पिता के कार्यभार को संभालने लगा, तब पिता ने मोहनलाल के विवाह के विषय में विचार किया और २६ जनवरी १९६१ के दिन पुत्र मोहनलाल का विवाह कलकत्ता निवासी **श्री रामेश्वरलाल जी अग्रवाल** की सुपुत्री **विमलादेवी** के साथ कर दिया।

श्रीमती विमलादेवी जन्म से ही धर्म और कर्त्तव्य-परायणा थी। उन्हें ये विशिष्ट गुण अपने धर्मपरायण माता-पिता से प्राप्त हुए थे। इससे श्री मोहनलाल जी का दाम्पत्य जीवन विशेष रूप से प्रभावित हुआ।

श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल—श्री मोहनलाल जी की विमाता के पिता अर्थात् नाना श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद अग्रवाल वैदिक धर्म-परायण, ऋषि दयानन्द के भक्त एवं उदात्त विचार वाले व्यक्ति थे। इसी कारण आर्यसमाज के मूर्धन्य विद्वान् श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का उनके प्रति अत्यन्त स्नेह था। श्री अग्रवाल जी श्री जिज्ञासु जी के आश्रम 'मोतीझील काशी' में प्रायः जाते रहते थे और कई-कई दिन वहाँ रहा करते थे। इसी समय श्री अग्रवाल जी का श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक के साथ घनिष्ठ स्नेहमय पारिवारिक सा सम्बन्ध स्थापित हो गया। मीमांसक जी के काशी छोड़कर अजमेर चले जाने पर भी श्री अग्रवाल जी मीमांसक जी से मिलने अजमेर जाते रहे।

श्री अग्रवाल जी के विचारों का प्रभाव—विवाह के पश्चात् नानाजी श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद जी अग्रवाल का श्री मोहनलाल जी बागड़िया के साथ सम्पर्क हुआ और उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया। इस कारण अग्रवालजी जब भी कलकत्ता जाते, कुछ दिन इनके यहाँ अवश्य ठहरते थे। श्री मोहनलाल जी और श्रीमती विमलादेवी दोनों में ही धर्म के प्रति श्रद्धा बचपन से ही विद्यमान थी अर्थात् वैदिक धर्म के लिये उर्वरा भूमि विद्यमान थी, आवश्यकता थी केवल बीज बोने वाले की। इसकी पूर्ति श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद जी के सम्पर्क द्वारा हो गई। इससे वैदिक धर्म

की भावना मोहनलाल जी के परिवार में सक्रिय हो उठी। धर्मपरायणा साध्वी विमलादेवी पर विशेष प्रभाव के कारण पूरा परिवार वैदिक विचारधारा से आप्लावित हो गया। नानाजी के प्रभाव से वैदिकसाहित्य से घर भरने लगा। श्री अग्रवाल जी अपने निवासकाल में श्री पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु और श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक की चर्चा प्रायः करते थे। इस कारण श्री मीमांसक जी के साथ भी इस परिवार का अदृश्य सम्पर्क इसी काल में जुड़ गया था।

श्री मोहनलाल जी का पारिवारिक जीवन अत्यन्त मधुर और आदर्श-रूप था। इसका एकमात्र कारण उनकी और उनकी साध्वी पत्नी विमला देवीजी की वैदिक धर्म में गहरी निष्ठा कही जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। दोनों कन्याओं और चारों पुत्रों में जो परस्पर स्नेह, ममता, प्रीति है, वह पिता और माता के चरित्र की प्रतिच्छाया है।

पौराणिक मन्दिर की भूमि पर यज्ञशाला का निर्माण—न्यू अलीपुर में जब अपने भवन का निर्माण नहीं हुआ था, तब जिस भवन में वे रहते थे, उसमें स्थान स्वल्प था। अतएव प्रात्यहिक नित्यकर्म देवयज्ञादि के अनुष्ठान में असुविधा रहीं। इस असुविधा को दूर करने के लिए मोहनलाल जी ने गङ्गातट के सन्निकटस्थ एक पौराणिक मन्दिर के पुजारी के साथ सम्पर्क जोड़कर मन्दिर-संलग्न भूमि पर एक सुन्दर यज्ञशाला का निर्माण किया और उसी यज्ञशाला में प्रतिदिन प्रातःकाल रेशमी वस्त्रावृत याज्ञिक मोहनलाल ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ का अनुष्ठान करने लगे। कभी-कभी वेदज्ञ पुरोहित की सहायता से सपरिवार बृहद्यज्ञ को भी करते रहे। इस प्रकार धीरे-धीरे उनका जीवन यज्ञमय हो गया।

व्यवसाय का विस्तार—अक्लान्त, परिश्रम-प्रिय, पुरुषार्थी मोहनलाल जी ने अपने पितृदेव के व्यापार के क्षेत्र को विस्तृत किया। प्रभात सिनेमा, भवानी सिनेमा, कूचबिहार सिनेमा, इसके उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। दार्जिलिंग का प्रेक्षागृह अपूर्ण रह गया, वे उसे पूर्ण नहीं कर पाये।

श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट की स्थापना—वैदिक धर्म के प्रचार एवं दीन दुःखियों की सहायता आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मोहनलालजी ने अपनी माता के नाम पर 'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' की स्थापना की।

वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन—नाना जी श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद जी अग्रवाल के द्वारा घर में श्री पं० मीमांसक जी का प्रायः उल्लेख होते

रहने से श्री मोहनलाल जी और श्रीमती विमलादेवी जी का मीमांसकजी के साथ अदृश्य सम्पर्क हो चुका था। मई सन् १९७८ में जब मीमांसकजी कलकत्ता आये और आर्यसमाज विधानसरणी में उनका भाषण हुआ, तब श्री मोहनलालजी उस अधिवेशन में उपस्थित थे। वे मीमांसक जी को अपने साथ घर पर ले गये। इस प्रकार मीमांसक जी के साथ प्रथम साक्षात्कार हुआ। इसके पश्चात् शनैः शनैः मीमांसकजी की और मोहन-लाल के परिवार की घनिष्ठता बढ़ती गई और मीमांसकजी इस परिवार के अङ्ग ही बन गये।

श्रीमती विमलाजी कभी-कभी श्री मीमांसकजी को पत्र लिखती रहती थीं। उसी पत्राचार के द्वारा अपने ट्रस्ट के द्वारा प्राचीन वैदिक ग्रन्थों के एवं वैदिकधर्म के प्रचारार्थ उत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनाई गई। सन् १९७९ के आरम्भ से ही इस योजना ने मूर्तरूप धारण कर लिया। अब तक श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट से निम्न ग्रन्थ प्रका-शित हो चुके हैं—

१. **गोपथब्राह्मणम्** (मूलमात्र)।
२. **निरुक्त-श्लोक-वार्त्तिकम्**—(निरुक्त-शास्त्र की श्लोकबद्ध प्राचीन व्याख्या)।
३. **कात्यायनीय-ऋक्सर्वानुक्रमणी**(षड्गुरुशिष्य विरचित वृत्ति-सहित)
४. **ध्यानयोग-प्रकाश**—योगीराज स्वामी लक्ष्मणानन्द विरचित।
५. **वैदिक-जीवन**—श्री पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्याय कृत।
६. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**।
७. **वैदिक-गृहस्थाश्रम**—श्री पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय कृत।
८. **Anthology of Vedic Hymns**—श्री स्वामी भूमानन्द सरस्वती कृत।
९. **सूर्य-सिद्धान्त**—पं० उदयनारायणसिंह विरचित हिन्दी-व्याख्या।
१०. **उणादिकोश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती।
११. **श्रौत-यज्ञ-मीमांसा**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक।
१२. **पिङ्गलछन्दःसूत्रम्**—यादवप्रकाश।
१३. **पुरुषार्थ-प्रकाश**—स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा ब्रह्मचारी नित्या-नन्द विरचित।
१४. **गणरत्नावली**—भट्टयज्ञेश्वर प्रणीत।

१५. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—(प्रथम भाग)—युधिष्ठिर मीमांसक
१६. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—(द्वितीय भाग)— ,, ,,
१७. जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी—(प्रथम भाग)
१८. जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी—(द्वितीय भाग)

आवासिक भवन का निर्माण—न्यू अलीपुर में आवासिक भवन के निर्माण की योजना बनी। नींव स्थापन के अवसर पर यज्ञ के अनुष्ठान के पश्चात् ताम्रपेटिका में चारों वेदों को रखकर वज्र(सीमेण्ट) के द्वारा सुरक्षित स्थान बनाकर उसमें ताम्रपेटिकास्थ चारों वेदों को स्थापित किया।

यथासमय भवन-निर्माण हो जाने पर श्री मोहनलाल जी ने गृहप्रवेश के अवसर पर चारों वेदों से ब्रह्मपारायण महायज्ञ करने का विचार किया। इस कार्य के लिये श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक की सम्मति से ब्रह्मत्व के लिये श्री पण्डित मदनमोहनजी विद्यासागर को हैदराबाद से निमन्त्रित किया। दिल्ली तथा स्थानीय विद्वानों के सहयोग से यह महायज्ञ १५ दिन में पूर्ण हुआ। प्रायः अस्वस्थ रहने पर भी पूर्णाहुति से ३-४ दिन पूर्व श्री मीमांसक जी भी सपत्नीक इस शुभ अवसर पर नानाजी श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद जी के स्थानापन्नरूप में अपने को इस परिवार का एक अङ्ग मानकर आशीर्वाद देने उपस्थित हुए।

ब्रह्मपारायण यज्ञ विधिवत् सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर श्री मोहनलाल जी ने अपनी कन्याओं और पुत्रों का यज्ञोपवीत संस्कार भी कराया। विद्वान् ब्राह्मण ऋत्विजों को यथायोग्य सम्मान के साथ दक्षिणा दी गई। साथ में सुवर्ण अंगूठी, वस्त्र और पात्रादि भी दिये।

ज्येष्ठ कन्या का विवाह—१९८५ में आपने अपनी ज्येष्ठ कन्या का वैदिकविधि से नूतन निर्मित भवन की यज्ञशाला में उत्तम रीति से विवाह सम्पन्न किया। इस अवसर पर आपके सभी इष्ट बन्धु-बान्धव एवं मित्र आदि उपस्थित हुए। इस शुभ अवसर पर श्री मीमांसक जी भी सपत्नीक सम्मिलित हुए।

स्वगृह में नैत्यिक यज्ञ की व्यवस्था—स्वगृह में नित्य विधिवत् हवन होता रहे, इसके लिये एक सुयोग्य वैदिक पण्डित को नियुक्त किया। दैनिक यज्ञ में प्रतिदिन सारा परिवार श्रद्धापूर्वक भाग लेता है।

सामाजिक कार्य—श्री मोहनलाल जी और उनकी साध्वी पत्नी विमला देवी जी विभिन्न सामाजिक कार्यों में सदा अग्रसर रहते थे। आर्य समाज के वेद-प्रचार कार्य के अतिरिक्त कल्याण आश्रम, विश्व हिन्दूपरिषद् और मानवसेवा आश्रम आदि संस्थाओं के साथ भी श्री मोहनलाल जी का सम्पर्क रहा।

श्री गर्ग जी का सहयोग—न्यू अलीपुर निवासी समाज-हितैषी तथा समाज-सेवक श्री गर्ग जी का सहयोग प्रत्येक कार्य में इस परिवार को मिलता रहा। श्री मोहनलाल जी को यदि अकृत्रिम मित्र और हितैषी कोई व्यक्ति मिला तो वह एकमात्र श्री गर्ग जी ही हैं।

उच्च आदर्श जीवन--श्री मोहनलालजी का व्यापार क्षेत्र फिल्म उद्योग रहा है। फिल्म व्यवसाय प्रायः नैतिक दृष्टि से विविध दोषों से परिपूर्ण माना जाता है, परन्तु इस व्यवसाय में रहते हुए भी श्री मोहनलाल जी इस क्षेत्र में व्याप्त दोषों से पद्म-पत्रवत् सर्वथा निर्लेप रहे। इसका प्रधान कारण वैदिक-जीवन पद्धति को अपने जीवन में चरितार्थ करना है। साध्वी विमला जी और पुत्र-पुत्रियाँ सभी का जीवन वैदिक जीवन-पद्धति में ढला हुआ है। इस प्रकार आपका पूरा परिवार एक आदर्श रूप है।

श्री रामेश्वरलाल अग्रवाल का निधन—२४ नवम्बर १९८४ को श्री मोहनलालजी के श्वशुर और श्रीमती विमलादेवी जी के पिता श्री रामेश्वरलाल जी का स्वर्गवास हुआ। श्री रामेश्वरलाल जी 'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' के संस्थापक सदस्य भी थे। आपके दिवंगत होने पर श्री मोहनलाल जी ने अपने ट्रस्ट की ओर से छप रही **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी** को श्री रामेश्वरलाल जी अग्रवाल की स्मृति में छापने का श्री मीमांसक जी को निर्देश दिया था और अपने स्वर्गवास से कुछ दिन पूर्व ही उनका ब्लाक, जन्म और निधनतिथि का ब्यौरा लिखकर भिजवाया था। हा हन्त !! श्री मोहनलाल जी अपने जीवनकाल में इस ग्रन्थ की पूर्ति नहीं देख सके।

श्री मोहनलाल जी का निधन—संसार में सभी प्राणी अपने-अपने कर्मफल के अनुसार जन्म लेते हैं और समय पूर्ण होने पर इस संसार से विदा होकर अपनी स्मृतिमात्र छोड़ जाते हैं। **संयोगा वियोगान्ताः** तथा **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः** इस ईश्वरीय विधान के अनुसार सं० २०४२

वैशाख कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा रविवार तदनुसार ५ मई १९८५ को श्री मोहनलालजी बागड़िया पूरे परिवार एवं समस्त इष्टमित्रों और बन्धुओं से नाता तोड़कर महापथ के पथिक बन गये।

संसार में ऐसी कतिपय आत्माएँ ही जन्म लेती हैं, जो वैदिक आदर्श **'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** के अनुसार अपने पुरुषार्थ से उत्तम कर्म और अपने सद्गुणों से सब पर अपनी छाप छोड़ जाती हैं। ऐसी ही आत्माओं में से श्री मोहनलाल जी बागड़िया भी थे। यद्यपि वे अपने भौतिक शरीर से अब हमारे बीच नहीं हैं, पुनरपि **कीर्तिर्यस्य स जीवति** इस उक्ति के अनुसार वे अपनी ही उदात्तभावनाओं एवं यशःशरीर से सदा हमारे साथ रहेंगे और प्रेरणा के स्रोत बने रहेंगे।

—**प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण**



'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' संस्था द्वारा

सत्रह वर्ष के अल्प समय में प्रकाशित

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. **गोपथ-ब्राह्मण**—(मूलमात्र)—शुद्धतम संस्करण। सम्पादक—डा. विजयपाल विद्यावारिधि। मुद्रणकाल—सन् १९८२।

२. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के कुछ शास्त्रार्थ और प्रवचन संगृहीत हैं। मुद्रणकाल सन् १९८२।

३. **निरुक्तश्लोकवार्त्तिकम्**—नीलकण्ठगार्ग्यविरचित। इसका एकमात्र कोश अत्यन्त जीर्ण अवस्था में तालपत्र पर लिखित है। सम्पापक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८२।

४. **ध्यानयोगप्रकाश**—(हिन्दी)—योगिराज स्वामी लक्ष्मणानन्दकृत पातञ्जल योगशास्त्र के अनुसार योगविषयक सुगम पुस्तक। मुद्रणकाल सन् १९८३।

५. ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS—लेखक—स्वामी भूमानन्द सरस्वती। वेदविषयक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ। मुद्रण-काल—सन् १९८४।

६. **कात्यायनीय-ऋक्सर्वानुक्रमणी**—षड्गुरुशिष्यविरचित सम्पूर्ण वृत्ति सहित। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८५।

७. **वैदिक-जीवन**—(हिन्दी)—लेखक—विश्वनाथ विद्यालङ्कार। अथर्ववेद के अनुसार लिखा गया वैदिक-जीवन-निदर्शक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८५।

८. **सूर्य-सिद्धान्त**—पं० उदयनारायणसिंह विरचित हिन्दी-व्याख्या तथा विस्तृत भूमिका सहित। मुद्रणकाल—सन् १९८६।

९. **वैदिक-गृहस्थाश्रम** (हिन्दी)—लेखक—विश्वनाथ विद्यालङ्कार। अथर्ववेद के अनुसार लिखा गया वैदिक गृहस्थाश्रम सम्बन्धी श्रेष्ठतम ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८६।

१०. उणादिकोश—स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित वृत्ति एवं अनेक प्रकार के परिशिष्टों से युक्त। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। मुद्रणकाल—सन् १९८७।

११. श्रौत-यज्ञ-मीमांसा—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ में श्रौतयज्ञों का विस्तार से परिचय तथा उनका इतिहास और प्रयोजन इत्यादि विषयों पर विस्तार से विचार किया है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद भी साथ ही संलग्न है। मुद्रणकाल—सन् १९८७।

१२. पिङ्गलछन्दःसूत्रम्—यादवप्रकाश द्वारा विरचित पिङ्गलछन्दोविचिति भाष्य से युक्त वैदिक और लौकिक छन्दों के ज्ञान के लिये सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। इसमें दिये उदाहरण अश्लीलता के दोष से रहित हैं। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८८।

१३. पुरुषार्थप्रकाश—स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा ब्रह्मचारी नित्यानन्द द्वारा विरचित गृहस्थोपयोगी सर्वोत्तम ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८८।

१४. गणरत्नावली—भट्टयज्ञेश्वर प्रणीत पाणिनि मुनि के गणपाठ की दुर्लभ महत्त्वपूर्ण व्याख्या। अन्त में शब्दसूची भी है। सम्पादक—चन्द्रदत्त शर्मा। मुद्रणकाल—सन् १९८९।

१५. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा (प्रथम भाग)—लेखक—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मुद्रणकाण—सन् १९९१।

१६. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा (द्वितीय भाग)—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। वेदाङ्गादिविषयक विभिन्न लेखों का संग्रह। मुद्रणकाल—सन् १९९२।

१७. जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी (प्रथम भाग)—श्री पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु विरचित लघु ग्रन्थों का संग्रह। मुद्रणकाल—सन् १९९३।

१८. जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी (द्वितीय भाग)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा लिखित सभी लेखों तथा निबन्धों का संग्रह। मुद्रणकाल—सन् १९९३।



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का स्वलिखित जीवन-परिचय	१-६
वेद-वेदार्थ-विवेचन	११-३८८
यजुर्वेदभाष्य-विवरण की भूमिका	१३-२४६
ईश्वर और वेद का सम्बन्ध	१८
ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता	२१
१. सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान मिलना आवश्यक है (२१), २. बाह्यज्ञान के विना नैसर्गिक ज्ञानमात्र से काम नहीं चल सकता (२२), ३. उपर्युक्त विषय में अन्य रीति से विचार (२३), ४. विना ईश्वर के आदि ज्ञान में अन्य सम्भवनीय पक्ष और उनका निराकरण (२४)।	
वेदज्ञान का प्रकाश कैसे हुआ ?	३१
वेदज्ञान का स्वरूप	३६
आदि भाषा का प्रकाश तथा उसका स्वरूप	४१
वेद और प्राचीन ऋषि-मुनियों की परम्परा	४६
१. वेद (४६), २. शतपथ तथा ऐतरेयब्राह्मण (४७), ३. निरुक्तकार यास्क मुनि (४८), ४. पाणिनि तथा पतञ्जलि (४८), ५. मानव-धर्मशास्त्र (४६), ६. महाभारत (५०), ७. वैशेषिक (५१), ८. न्यायशास्त्र (५२), ६. सांख्य (५३), १०. योगशास्त्र (५४), ११. वेदान्त (५४), १२. मीमांसा (५५), १३. शाङ्ख्यायन-श्रौतसूत्र-भाष्य (५६)।	
शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता	५७
वेदों का विभाग	६३
वेदों की आनुपूर्वी	६७
आर्षी-संहिता और दैवत-संहिता (७०)।	
वेद और उसकी शाखाएँ	७३

शाखा का स्वरूप (७३), महर्षि दयानन्द-स्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शङ्का का समाधान (७७)।
वेद का अर्थ ८३
वेदार्थ की कसौटियाँ ८५
सर्गारम्भ में वेद का अर्थ ८९
पदकार और वेदार्थ ९१
शाखाएँ और वेदार्थ ९२
ब्राह्मणग्रन्थ और वेदार्थ ९३
आरण्यक-उपनिषद् और वेदार्थ ९५
कल्पसूत्र और वेदार्थ ९६
वेदाङ्ग-उपाङ्ग तथा अन्य आर्ष ग्रन्थ और वेदार्थ ९६
ऋषियों ने सीधा सरल वेदार्थ या वेदभाष्य क्यों नहीं किया ? ९७
यास्क और वेदार्थ १०१
निरुक्त अर्थनिर्वचन शास्त्र है (१०१), क्या यास्क के निर्वचन बेहूदा हैं ? (१०२), यास्क के वेदार्थ के सिद्धान्त (१०५)।
व्याकरण और वेदार्थ १११
सायण से पूर्ववर्ती वेद-भाष्यकार और वेदार्थ ११२
आचार्य स्कन्द स्वामी, दुर्गाचार्य तथा वेदार्थ ११३
सायण से पूर्ववर्ती शेष आचार्य और वेदार्थ ११७
स्कन्दादि ने त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ क्यों नहीं किया ? १२०
सायण का वेदार्थ १२१
सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचा १२८
सायण की भूल के दुष्परिणाम १३१
सायण और विदेशीय विद्वान् १३२
महान् दयानन्द का प्रादुर्भाव १३८
दयानन्द भाष्य की विशेषतायें १३९
वेदार्थ और यौगिकवाद १४३
लौकिक और वैदिक शब्दों तथा उनके कोशों में भेद(१४३), 'नाम सब धातुज हैं'—ऋषियों का सिद्धान्त (१४५), यौगिकवाद में शैथिल्य क्यों आया ? (१४६), १. वेद और यौगिकवाद (१४६), २. ब्राह्मणग्रन्थ और यौगिकवाद (१४८), ३. निरुक्त और यौगिकवाद (१४९), ४. पतञ्जलि और यौगिकवाद (१५१), ५. भर्तृहरि और यौगिकवाद

(१५१), ६. मीमांसाभाष्य और यौगिकवाद (१५१), ७. निरुक्त के टीकाकार स्कन्द-दुर्ग और यौगिकवाद (१५२), ८. निरुक्तसमुच्चय और यौगिकवाद (१५३), ९. सायण से पूर्ववर्ती वेदभाष्यकार और यौगिकवाद (१५३), एक शब्द के अनेकार्थों के उदाहरण (१५५), १०. सायणाचार्य और यौगिकवाद (१५६), ११. ऋषि दयानन्द और यौगिकवाद (१५७), १२. विशेष्य-विशेषण वा यौगिकवाद (१५८)।

धातुओं का अनेकार्थत्व और यौगिकवाद १५९

प्राचीनों के मत से शब्दार्थबोध में नियामकता (१६१), उपर्युक्त विषय में भाष्यकारों का मत (१६२), अग्नि आदि शब्द मुख्यवृत्ति से परमेश्वर के वाचक (१६३)।

त्रिविध प्रक्रिया १६४

१. ब्राह्मण, आरण्यक और त्रिविध प्रक्रिया (१६४), २. यास्कादि ऋषि और त्रिविधप्रक्रिया (१६६), ३. निरुक्त-समुच्चयकार वररुचि और त्रिविधप्रक्रिया (१६७), ४. महा-भाष्यटीकाकार भर्तृहरि और त्रिविधप्रक्रिया (१६७), ५. यास्क और स्कन्द का सिद्धान्त (१६८), ६. दुर्गाचार्य और त्रिविध प्रक्रिया (१६९), ७. सायणाचार्य से पूर्ववर्ती भाष्यकार और त्रिविध प्रक्रिया (१७०), ८. सायणाचार्य और त्रिविध प्रक्रिया (१७२), ९. ऋषि दयानन्द और त्रिविध प्रक्रिया (१७३)।

देवतावाद १७४

यजुःसर्वानुक्रमणी १८१

वेद में इतिहास १८३

व्यत्यय और वेदार्थ १८७

पदपाठ और वेदार्थ १८८

वैदिक छन्दोवाद १९१

छन्दोज्ञान की आवश्यकता (१९१), छन्दोलक्षण (१९१), छन्दों के भेद (१९१), छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार (१९३), गायत्र्यादि छन्दों के अवान्तर भेद (१९३), अतिजगत्यादि छन्दों की पादव्यवस्था में मतभेद (१९३),

ऋङ्मन्त्रों के छन्दों के दो प्रधान भेद (१६४), क्या स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में छन्दों की सात हजार अशुद्धियां हैं? (१६४), अथ पूर्वपक्ष (१६५), उपर्युक्त आक्षेपों के उत्तर (१६६), क्या 'दैवी' 'आर्षी' आदि विशेषण ऋग्वेद में नहीं हो सकते? (२००), बृहत्सर्वानुक्रमणी का विशेष स्थल (२०४), छन्दोनिर्णय में अन्य दृष्टि से विचार (२०६), व्यूह की कल्पना क्यों की जाती है? (२०८), व्यूह केवल याज्ञिक प्रक्रिया में ही होता है (२०८), क्या छन्दःसंज्ञा के भेद (बदल जाने) से वेद अनित्य हो जायेगा? (२१०)।

छन्दोभेद के कारण २१०

प्रथम कारण—छन्दोनिर्णय की प्रक्रिया के भेद से छन्दोभेद (२१०), द्वितीय कारण—मन्त्रगणना के प्रकारभेद से छन्दोभेद (२११), तृतीय कारण—पादव्यवस्था के भेद से छन्दोभेद (२१२), उपसंहार (२१७)।

विवरण की विशेषतायें २१८

यजुर्वेदभाष्य के इस संस्करण की विशेषता २२५

मूल मन्त्रपाठ का संशोधन (२२५), पदपाठ का संशोधन (२२६), वेदभाष्य का संशोधन (२२६), यजुर्वेदभाष्य के हस्तलेखों का परिचय (२२६), उपर्युक्त हस्तलेखों के फोटो (२२८), हमारे संशोधन के आधार तथा प्रकार (२२९), लेखक आदि की भूलों के कुछ नमूने (२२९), लेखकों की भूल (२२९), संशोधक की भूल (२३०), मुद्रणकाल में संशोधनादि (२३१), विशेष स्थल (२३२)।

ऋषिभाष्य की अध्ययनविधि २३४

सम्पादक का अन्तिम निवेदन २३८

कागज की कठिनाई से संस्कृतभाग रह गया (२३८), भूमिका का महत्त्व (२३८), भूमिका में छपने से रहे विषय (२३९)।

द्वितीय संस्करण की विशेषतायें २४०

द्वितीय संस्करण सम्बन्धी विशेष निर्देश २४२

द्वितीय संस्करण की बाधायें २४३

१. पाकिस्तान की स्थापना(२४३), २. काशी में बैठने का प्रारम्भ (२४४), ३. कार्यारम्भ(२४५), ४. वेदभाष्य प्रेस में (२४५), ५. वेदभाष्य का वास्तविक मुद्रण आरम्भ (२४६), ६. अन्य बाधायें (२४७)।
सम्पादक का अन्तिम निवेदन २४७
धन्यवाद (२४८), मेरा उत्तरदायित्व (२४९)।

वेद और निरुक्त २५०-२९७
वेद और निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध २५१
निरुक्त और आर्यसमाज २५६
अपौरुषेयत्व २५८
मन्त्रों के कर्ता ऋषि २५९
यास्क और वेदों का नित्यत्व तथा प्रयोजनत्व २६२
निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं २६२
निरुक्तकार के ब्राह्मणों का स्वरूप २६६
यास्क और ऋषि-देवता-विनियोग २६७
ऋषि (२६७), देवता (२६८)।
सर्वानुक्रमणियाँ ही देवता-विषय में एकमात्र प्रमाण (निर्णायक) नहीं २६९
देवता-ऐच्छिकत्व में अन्य प्रमाण २७४
बृहद्देवता-सर्वानुक्रमणी का परस्पर विरोध (भेद) २७६
सर्वानुक्रमणी की सदोषता २७९
छन्द २८०
विनियोग २८०
यास्क और पदपाठ २८४
यास्क और यौगिक प्रक्रिया २८७
ऋषि दयानन्द और यौगिकवाद २९५

निरुक्तकार और वेद में इतिहास २९८-३३८
पूर्वपक्ष २९८
अथात्र समाधिः ३००
यास्क की इतिहास की परिभाषा ३००
निरुक्त के आधार ब्राह्मण आरण्यक तथा वेद में इतिहास ३०५
पूर्वोक्त कथन में हरिस्वामी की साक्षी ३०७

यास्क के अनुवर्ती नैरुक्ताचार्यों की ऐतिहासिक परिभाषा का स्वरूप ३०७
स्वन्द स्वामी और वेद में इतिहास ३०६
निरुक्तसमुच्चय ३११
आचार्य वररुचि के शेष स्थल ३१२
स्कन्दस्वामी के शेष स्थल ३१३
दुर्गाचार्य और इतिहास ३१८
दुर्ग के शेष स्थल ३२२
वेदार्थ में दुर्ग की धारणा ३२४
वेद में इतिहास तथा अन्य आचार्य ३२७
शबरस्वामी-कुमारिलभट्ट तथा वेद में इतिहास ३२६
शबरस्वामी (३३०), कुमारिलभट्ट (३३१)।
वैद्यकशास्त्र और इतिहास ३३३
वैदिक गाड्ज (Vedic Gods) और इतिहास ३३३
स्वामी दयानन्द सरस्वती और ऐतिहासिक पक्ष ३३५
सायणाचार्य तथा ऐतिहासिक पक्ष ३३६
यास्क के अनेकवाद ३३६
निरुक्त के शेष ऐतिहासिक स्थल ३३७
उपसंहार ३३७
अन्तिम निवेदन ३३८

देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप

३३६-३८८

सम्पादकीय वक्तव्य ३३६
ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ६८ का विवेचन ३४२
पूर्वपक्ष ३४२
सिद्धान्ती ३४६
महाभारत में देवापि और शन्तनु ३५३
पुराण और देवापि शन्तनु ३५५
पूर्वोक्त पाँचों स्थलों पर विचार ३५७
निरुक्तकार और देवापि शन्तनु ३५८
बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी और देवापि शन्तनु ३६४

इतिहासवाद पर प्राचीन आचार्यों की धारणा ३६५
आचार्य स्कन्द स्वामी और देवापि शन्तनु ३६७
योरुपीय विद्वान् और देवापि शन्तनु ३७३
उपसंहार ३७६
सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ ३७७

उपोद्घात-भूमिकाएँ ३८१-४६५

उपोद्घातः (काशिका) ३९१-४१०

वेदाध्ययनस्यानिवार्यता ३९१
वेदाध्ययनस्य साम्प्रतिकी दुरवस्था ३९२
कथं वेदाध्ययनस्य सम्भवः ? ३९३
व्याकरणं साध्यं न तु साधनम् ३९३
आचार्यपाणिनेर्महत्त्वम् ३९३
अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रमोऽतिप्राचीनः ३९५
प्रक्रियानुसारिक्रमस्यारम्भः ३९७
प्रक्रियाग्रन्थानामितिहासः ३९८

रूपावतारः (३९८), प्रक्रियाकौमुदी (३९९), सिद्धान्त-कौमुदी (३९९), मध्यकौमुदी (३९९), लघुकौमुदी (४००)।

अष्टाध्यायीक्रम एव पुनः समुपस्थितः ४००
व्याकरणसारल्ये स्वानुभवः ४००
कुतो जनाः संस्कृताध्ययनात् पलायन्ते ? ४०१
तत्र व्याकरणाध्ययनस्यातीव सरलोपायः ४०२
अष्टाध्यायीक्रमस्य वैशिष्ट्यम् ४०३
अष्टाध्यायीक्रमे काशिकावृत्तेर्गौरवम् ४०५
काशिकावृत्तेर्वैशिष्ट्यम् ४०७
काशिकाव्याख्याग्रन्थाः ४०७
काशिकापाठः ४०८
वर्तमानं संस्करणम् ४०९

प्रथमावृत्ति-भूमिका ४११-४३४

प्रथमावृत्ति का प्रारम्भ ४११
विशेष घटना ४१३

प्रथमावृत्ति की भावना अधिक तीव्र कैसे हुई? ४१४
वास्तविक व्याकरण प्रथमावृत्ति ही है ४१५
प्रथमावृत्ति में क्या है ? ४१६
उदाहरणों के अर्थ ४१८
सिद्धि ४१८
अर्थों के विषय में विशेष निवेदन ४१९
काशिका से अलग प्रथमावृत्ति क्यों लिखनी पड़ी ? ४१९
सिद्धियों का परिशिष्ट अलग ४२०
सरलतमविधि की सहायता ४२५
प्रथमावृत्तिसम्बन्धी विशेष निर्देश ४२६
प्रथमावृत्ति कौमुदी-प्रक्रियावालों के लिये परम सहायक ४२८
कृतज्ञता-प्रकाश ४२९
आर्थिक सहयोग ४३०
प्रथमावृत्ति में सहायक कार्य ४३०
सहायक का संक्षिप्त परिचय ४३१

प्रथमावृत्ति-प्राक्कथन **४३५-४४७**

आचार्य पाणिनि का महत्त्व ४३५
अष्टाध्यायी पठन-पाठन क्रम अति प्राचीन है ४३६
प्रक्रियाक्रम का आरम्भ ४३८
प्रक्रियाग्रन्थों का इतिहास ४३९
रूपावतार (४३९), प्रक्रियाकौमुदी (४४०), सिद्धान्त-कौमुदी (४४०), मध्यकौमुदी (४४०). लघुकौमुदी (४४०)।
अष्टाध्यायी का क्रम पुनः प्रादुर्भूत हुआ ४४१
व्याकरण की सरलता का स्वानुभव ४४१
संस्कृत के अध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं ? ४४२
व्याकरण के अध्ययन का अतीव सरल उपाय ४४३
अष्टाध्यायी-क्रम का वैशिष्टय ४४४

सरलतमविधि-भूमिका **४४८-४५७**

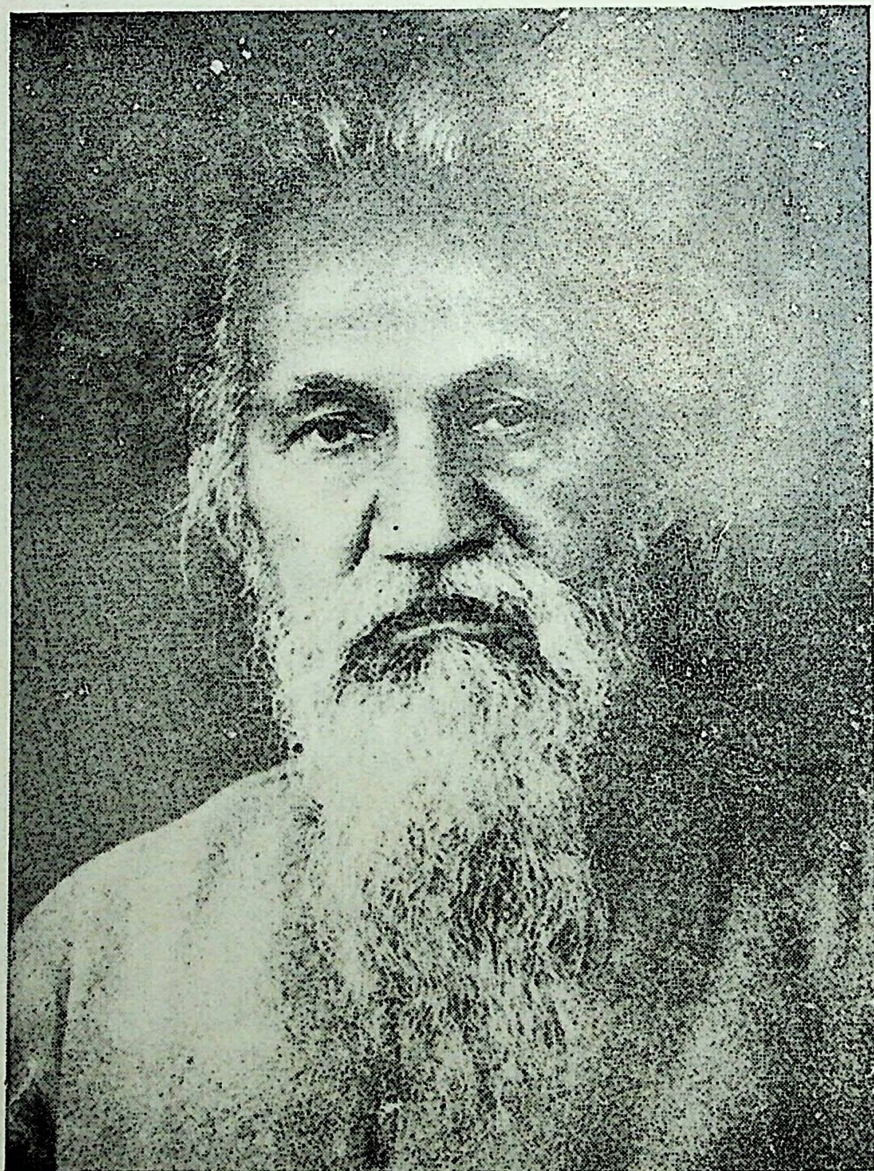
पाठों को पहले लिखित रूप क्यों न दिया ? ४४८
लिखितरूप देने का विचार कैसे उत्पन्न हुआ ? ४४८
माननीय टण्डन जी की प्रेरणा ४४९

प्रारम्भ में पुस्तकरूप देने का विचार नहीं था	४४९
किस परिस्थिति में ये पाठ लिखे गये ?	४५०
ये पाठ किनकी दृष्टि से लिखे गये ?	४५१
ये सब पाठ अनुभव से ही लिखे गये हैं	४५२
इस पद्धति के सरल प्रदर्शन	४५३
हमारी सफलता	४५५
शेष पाँच मास का पाठचक्रम	४५५
सम्मति-संग्रह	४५५
इन लेखों का आर्षपाठविधि पर प्रभाव	४५६
इस कार्य में ट्रस्ट का श्रेय	४५६
आर्याभिविनय-भूमिका	**४५८–४६१**
भक्त की भावना	४५८
भक्ति-मार्ग और कर्मयोग	४६०
सन्ध्योपासनविधि-भूमिका	**४६२–४६५**
पाँच मिनट में सन्ध्या के अर्थ	४६२



पदवाक्यप्रमाणज्ञ

स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु



जन्म—१४ अक्तूबर १८९२ मृत्यु—२२ दिसम्बर १९६४

आर्ष पाठ-विधि के उद्धारक और प्रसारक

स्वर्गीय आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

का

स्वलिखित जीवन-परिचय

[आचार्यपाद के हम शिष्य तथा अनन्य भक्तजन भी आप से जन्म-स्थान आदि के विषय में बराबर पूछते रहे, परन्तु आपने कभी भी नहीं बताया। यह भी एक संयोग की बात है कि राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित होने के अवसर पर उन्होंने आपका परिचय माँगा, और आपने न चाहते हुए भी सन् १९६३ के आरम्भ में लिखकर उन्हें भेजा। उसी की प्रति-लिपि आपके स्वर्गवास के पश्चात् आपके कागजों में मिली। यदि राष्ट्र-पति द्वारा परिचय न माँगा गया होता, तो आर्य जनता इस संक्षिप्त पूर्ववृत्त से भी अनभिज्ञ रहती। हम यह संक्षिप्त परिचय आचार्यपाद के शब्दों में ही उपस्थित कर रहे हैं। एक दो स्थान पर वाक्य-विन्यासमात्र ठीक किया है। यु० मी०]

जन्म—१४ अक्तूबर सन् १८९२ ई०।

जन्मस्थान—मल्लूपोता, थाना बंगा, जिला जालन्धर, पंजाब।

पितृनाम—रामदास। माता का नाम—परमेश्वरी। सारस्वत ब्राह्मण, पाठक गोत्र। पट्टी, जिला होशियारपुर से निकास। माता का गोत्र सहजपाल।

पूर्वनाम—पिताजी का प्यार का नाम मौजगोविन्द और प्रचलित नाम लब्भुराम। गुरु द्वारा दिया गया नाम—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु।

अध्ययन—माता-पिता दोनों अनपढ़ थे, नाना संस्कृत के महा-विद्वान् थे। महतपुर लद्दनी बलाचौर के निवासी थे। पिता गुरुमुखी में हस्ताक्षर करना जानते थे। चक नं० ९६ बंगा, जिला लायलपुर (पाकि-स्तान) में ठेकेदार के मुंशी थे। उक्त ग्राम में निवास करते हुए चक नं० ९७ जोहल जि० लायलपुर (वर्तमान पाकिस्तान) में प्राइमरी स्कूल की प्रथम श्रेणी में उर्दू पढ़ना आरम्भ किया। बालकपन में खरबूजे को सूँघ

कर बता देता था कि कौनसा मीठा निकलेगा। दूसरी-तीसरी श्रेणी में गुरुदासपुर पंजाब में गवर्नमैंट हाई स्कूल में पढ़ने लगा। ९ वर्ष की आयु में माता-पिता दोनों का देहान्त हो चुका था। अनाथ अवस्था में सरदार बहादुर जवाहरसिंह जी ठेकेदार ने १९०३ ई० तक पालन किया और पढ़ाया।

१९०३ से १९१२ ई० तक जन्मभूमि के ग्राम में परिवार वालों ने गुरुदासपुर से बुलाकर मल्लूपोता में पढ़ाना और पालन आरम्भ किया, **श्री छन्नूराम जी** (ग्राम में सबसे बड़े धनी) रिश्ते में बावा तथा उनकी विधवा पुत्री **श्रीमती रलोदेवी** (बूआ जी) ने अत्यन्त प्यार से पाला और पढ़ाया। गाँव के प्राइमरी स्कूल में ऊर्दू की ५ वीं श्रेणी १९०५ में और वरनैकुलर मिडिल स्कूल बंगा में मार्च १९०८ में ऊर्दू मिडिल पास किया।

तत्पश्चात् अनाथ होने से आगे पढ़ाई का कोई प्रबन्ध न था, कि अकस्मात् छाना हाई स्कूल जालन्धर (जिसमें महात्मा मुन्शीराम पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी मैनेजर थे) में मास्टर बंशीलाल तथा मास्टर शिवदयाल जी की असीम कृपा से आर्य बोर्डिंग हाउस कोट किशनचन्द में भोजन व्यय निःशुल्क हो जाने से तथा **मास्टर सुन्दरसिंह जी** हैडमास्टर द्वारा (आर्य) हाई स्कूल जालन्धर में शिक्षा निःशुल्क कर देने से जूनियर स्पेशल में पढ़ने लगा। सीनियर स्पेशल में विशेष प्रार्थना करके संस्कृत पढ़ने लगा। ९-१० श्रेणी में भी संस्कृत पढ़ी। जौहल गुरुदासपुर तथा गाँव में तो श्रेणी में प्रायः प्रथम रहा। पढ़ाई और व्यायाम का भी सदा मानीटर रहा।

मिडिल में योग्यतम छात्रों में था। जूनियर सीनियर में भी अच्छा रहा। ९-१० श्रेणी में प्रायः सभी विषयों में सदा प्रथम रहा, संस्कृत में भी अंग्रेजी में भी। जितने भी अध्यापक रहे, जिन में मौलवी पण्डित, एवं मास्टर थे, प्रायः सबका ही अत्यन्त प्रेम तथा कृपा रही। मिडिल के पश्चात् हिन्दी का आरम्भ अपनी बड़ी विधवा बहिन कर्मदेवी (मेलादेवी) से किया, जो **"शन्नो देवी"** की सन्ध्या करती थी, जो मैं नहीं जानता था, जिसने बाल्यकाल में गोदी में खिलाया भी था। घरवाले सन्ध्यादि में सर्वथा शून्य थे, पुरोहिताई थी पर जाता न था, न ही इसका [कोई] परिज्ञान था। घर के पीछे मस्जिद में बाँग होती थी और याद हो गई

थी। पीछे भजनों द्वारा आर्यसमाज का पता लगा, जो आर्य स्कूल में दृढ़ हो गया। सत्यार्थप्रकाश हाथ लगा, जिसने मुझ पर अलौकिक प्रभाव किया।

गृहत्याग—सन् १९१२ में आर्यसमाज, ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ-प्रकाश आदि की गहरी छाप पड़ी, और श्रेणी में प्रथम रहने तथा अच्छी संगति के कारण संस्कृत पढ़ने, विशेषतया आर्षग्रन्थों (अष्टाध्यायी महाभाष्य तथा वेदादि) के अध्ययन तथा ईश्वर-प्राप्ति का दृढ़ संकल्प लेकर ५ जून १९१२ की रात्रि में ही जालन्धर से गृह त्याग किया। ५० वर्ष गुम रहा। बीच में लाहौर स्टेशन पर १८ वर्ष पीछे ग्राम के एक सज्जन ने गाड़ी में पहचान लिया। गाँव जाने का विशेष आग्रह किया, पर उसे पूरा पता नहीं बताया। चचेरे भाई वीरबल जी हरिद्वार घाट पर दीखे, तो मुख पर कपड़ा कर लिया, जिससे वे पहचान न सके, सो बच गया। माता-पिता थे नहीं, पीछा करता भी कौन ? करता भी तो…। प्रभु ने पूरी कृपा की, नहीं तो वैनकोवर (अमेरिका) में चचेरे भाई के साथ सोना (वा रुपया) कमाता होता !

संस्कृत अध्ययन—स्वर्गीय पूज्य **स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती** (भूतपूर्व मास्टर सुखदयाल जी) के पास ला० वैनीप्रसाद जी के यहाँ कनखल में पहुंचा। स्वामीजी ने गुरुकुल कांगड़ी के अध्यापन-काल में अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थ काशी के बड़े विद्वान् **पं० काशीनाथ जी** से पढ़े थे। यह बड़े योग्य और त्यागी, तपस्वी, तीव्रबुद्धि बालब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द तथा आर्ष ग्रन्थों के परमभक्त थे। गुरुकुल बदायूं तथा काशी में भी पढ़े थे। अष्टाध्यायी के १०० सूत्र प्रतिदिन पेड़ पर चढ़कर याद किया करते थे। उन्होंने अपनी बहिन सुनीति देवी का विवाह स्वामी श्रद्धानन्द जी के धर्मपुत्र श्री धर्मपाल (अब्दुल गफ़ूर) के साथ करने का निश्चय किया था। और उसके आचारहीन होने का पता लगने पर नहीं किया था। इन स्वामी पूर्णानन्दजी से संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। वेदाङ्गप्रकाश, उपनिषद्, अष्टाध्यायी आदि पढ़ने लगा। महाविद्यालय ज्वालापुर वालों के अत्यन्त निराश करने पर भी कि अष्टाध्यायी से व्याकरण नहीं आता, अष्टाध्यायी नहीं हो सकती, यह कहने पर भी अष्टाध्यायी में पूर्ण निष्ठावान् था। उन्हें उत्तर दिया कि **"अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में ३२ पाद हैं, यदि सारे जीवन में एक पाद भी पढ़ लिया तो सफल समझूँगा। शेष अगले जन्म में करूँगा।"**

इतने दृढ़ संकल्प से आर्ष ग्रन्थों को पढ़ने का उद्देश्य लेकर उक्त स्वामीजी महाराज के चरणों में कनखल, मुरादाबाद, वृन्दावन, लखनऊ, रायबरेली, अमेठी, डलमऊ, मसूरी, देहरादून, काश्मीर, पठानकोट, लखनौती, गंगोह, मुलतान, रघुराजगंज आदि नगरों-पहाड़ों की पैदल एवं रेलादि यात्रा में भिक्षावृत्ति से रहकर तथा अन्त में लगभग ३ वर्ष डलमऊ (जिला रायबरेली) गङ्गातट पर एकान्तवास में रहकर उक्त स्वामीजी से अष्टाध्यायी महाभाष्य[1] निरुक्तादि पढ़ता रहा। अष्टाध्यायी का एक दिन में एक पाद कण्ठस्थ कर लेता था। ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों का गहरा अध्ययन एवं अनुशीलन उक्त स्वामीजी से किया। मेरे में जो अवगुण हैं वे मेरे हैं, यदि कोई गुण है वा जो ऋषि दयानन्द और आर्ष ग्रन्थों में गहरी भक्ति है, वह सब उक्त स्वामीजी की ही देन है। इस प्रकार जून १९१२ से सितम्बर १९१८ तक लगभग ६ वर्ष उक्त स्वामी जी के चरणों में उत्तर भारत में रहा।

अज्ञातवास—सितम्बर १९१८ में विशेष घटनावश ज्वरावस्था में ही खुर्जा जिला बुलन्दशहर से उक्त स्वामीजी से पृथक् होकर ग्राम अरनिया जिला बुलन्दशहर में ठाकुर हरज्ञानसिंहजी चौहान राजपूत के चौपाल तथा बगीचे (जंगल) में भिक्षावृत्ति करते हुए बीमार रहा, उन्होंने मेरी बड़ी सेवा की। ब्रह्म जिज्ञासु के नाम से अज्ञातवास में रहा। उस समय में तथा पीछे भी योगियों-महात्माओं की खोज में गङ्गातट पर विचरता रहा। कई मिले भी, उनसे लाभ उठाया। यह भूमि बहुत उपयुक्त प्रतीत हुई।

कार्यकाल १९२० से १९४७ तक—अध्यापन तथा अध्ययन—सन् १९२० में साधु आश्रम (पुल काली नदी) हरदुआगंज जिला अलीगढ़ में स्वर्गीय वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज से एक घटना घटी, जिसे जीवन की विशेष घटना कहा जा सकता है। उक्त आश्रम से लघु-कौमुदी, सिद्धान्त-कौमुदी का सर्वथा बहिष्कार हुआ। अष्टाध्यायी की

---

१. स्वर्गीय श्री स्वामी पूर्णानन्दजी ने आज (सन् १९६५) से लगभग ४५ वर्ष पूर्व महाभाष्य का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद किया था (यह श्री आचार्यवर के संग्रह में सुरक्षित है)। इससे पूज्य स्वामीजी महाराज का व्याकरण-शास्त्र का पाण्डित्य स्वतः प्रकट होता है। खेद है कि यह मुद्रित होकर प्रकाश में न आ सका।

—यु० मी०

स्थापना होने से वहाँ अध्यापन कार्य आरम्भ किया। वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज से उपनिषद् पढ़ी, और एक वर्ष पीछे धन की कमी के कारण गण्डासिंहवाला (अमृतसर) में विरजानन्द आश्रम में महाविद्वान् श्री पं० शङ्करदेव जी के साथ अष्टाध्यायी का अध्यापन कार्य किया। स्वयं भी आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय करता रहा। लगभग ४ वर्ष वहाँ काम किया। बीच में लगभग १० मास भरतपुर-मथुरा-आगरा आदि में **स्वामी श्रद्धानन्दजी** तथा **महात्मा हंसराजजी** की अध्यक्षता में १९२३ ई० में मलकानों की शुद्धि का कार्य अपने सहपाठी पं० अखिलानन्द जी झरिया के साथ बड़ी सफलता से किया।

दूसरी वार सन् १९२६ से २८ तक स्वामी श्रद्धानन्दजी के बलिदान पर पूज्य गुरुवर तिवारी जी की प्रेरणा एवं माननीय **पं० मदनमोहन मालवीयजी** की पाँच सौ रुपये मासिक की सहायता से काशी के पण्डितों एवं संन्यासियों की अन्तरंग सभा द्वारा काशी हिन्दू शुद्धि सभा के मन्त्री रूप में **पं० केदारनाथ सारस्वत, स्वामी रामानन्द, म० म० पं० देवीप्रसादजी कविचक्रवर्ती** आदि के सहयोग से कार्य किया, जब कि **पं० गोपालजी शास्त्री** जेल में थे। इन सबमें तथा आगे काशी में आचार्य श्री शङ्करदेवजी मेरे साथी रहे।

काशी में पहली बार हम लोग कुछ छात्रों सहित जनवरी सन् १९२६ से अप्रैल १९२८ तक रहे। क्षेत्रों में भोजन करते हुए अपने छात्रों को भोलाशाह के बगीचे (करणघण्टा) में पढ़ाते थे, और स्वयं व्याकरण के सूर्य **श्री पं० देवनारायण तिवारीजी** से सम्पूर्ण महाभाष्यादि पढ़ते रहे। **श्री पं० ढुण्ढिराजजी शास्त्री, पं० गिरीशजी शुक्ल** तथा **गोस्वामी दामोदर लालजी** से प्राचीन दर्शनों का पूरा अध्ययन किया। सन् १९२८ से ३१ तक राम भवन अमृतसर में युधिष्ठिर आदि छात्रों को सम्पूर्ण महाभाष्य तथा निरुक्तादि पढ़ाता रहा। वैदिक वाङ्मय तथा प्राचीन इतिहास के मर्मज्ञ **पं० भगवद्दत्तजी** से रिसर्च का ज्ञान प्राप्त हुआ।

सन् १९३१ में महात्मा हंसराजजी की विशेष प्रेरणा से उनके सभापतित्व में पं० विश्वबन्धु शास्त्री एम. ए., पं० राजाराम शास्त्री तथा पं० चारुदेव शास्त्रीजी से 'निरुक्त और वेद में इतिहास' विषय पर लाहौर में ५ दिन शास्त्रार्थ किया। जिनमें सभाधान पक्ष में मुख्य नाम ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का था। दुबारा काशी में सन् १९३१ से ३५ तक शीतला घाट पर विरजानन्द आश्रम राजमन्दिर में पूर्ववत् छात्रों को

महाभाष्यादि पढ़ाते हुए स्वयं भारत में अद्वितीय मीमांसक **श्री चिन्न-स्वामी शास्त्रीजी** तथा उनके शिष्य **पं० पट्टाभिराम शास्त्री** द्वारा सम्पूर्ण मीमांसा के सब ग्रन्थ, महान् वैदिक विद्वान् **पं० रामभट्ट रराटेजी** से श्रौत तथा अन्य विद्वानों से शेष सब दर्शन तथा साहित्य में मूल ग्रन्थों तथा वाक्यपदीय आदि का अध्ययन अनेक विद्वानों से काशी में किया। **भर्तृ-हरि कृत महाभाष्य की टीका** छपनी आरम्भ हुई, उसका सम्पादन किया।

लाहौर रावी तट पर

सन् १९३६ से सन् १९४७ तक रावी तट शाहदरा लाहौर विरजा-नन्द आश्रम में छात्रों को अष्टाध्यायी महाभाष्य निरुक्त दर्शन तथा वेद के अध्यापन के साथ-साथ ब्राह्मणग्रन्थों का विशेष अनुशीलन, यजुर्वेद-भाष्य विवरण प्रथम भाग की तैयारी तथा छपना, परोपकारिणी सभा अजमेर सम्बन्धी अनेक कार्य [करता रहा। इसी समय में] देवतावाद विषय पर **पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी** के साथ कई मास तक लिखित शास्त्रार्थ हुआ। रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा विविध प्रकाशन कार्य हुआ। **हैदराबाद सत्याग्रह** में हमारे छात्र गये थे, कई मास तक आश्रम बन्द रहा। मार्च १९४७ से २३ अगस्त १९४७ तक, जबकि 'हिन्दू' लाहौर समाप्त हो चुका था, हम सब रावी तट पर [ही] रहे। अन्त में हिन्दू सैनिकों द्वारा ट्रकों में भर कर लाहौर कैम्प में लाये गये, और २८ अगस्त १९४७ को दैवयोग से बचकर अमृतसर पहुंचे। ५०-६० मन पुस्तकें, जिनमें सैकड़ों हस्तलेख भी थे, वे सब जला दिये गये। लगभग ९० मन पुस्तकें हम लोग ले आये थे।

१५ वर्ष से काशी में

सन् १९२५ से १९२८ ई० तक पहले काशी में रहे, तथा सन् १९३१ से १९३५ तक दूसरी बार काशी में रहे। तीसरी बार १९४७ से २२ फरवरी सन् १९६३ ई० तक काशी मोतीझील में हैं, कल का पता नहीं। पाकिस्तान से निकलने को बाधित किये जाने पर अनेक स्थानों (गुरुकुल चित्तौड़गढ़, सरस्वती भवन अजमेर आदि) में [केवल पाँच वर्ष के लिये] स्थान माँगने पर भी सहयोग न मिलने पर मार्च सन् १९५० में पूरी तरह काशी में डेरा डाला। अक्टूबर सन् १९४७ से फरवरी १९५० तक शुद्धि आदि कार्यों में समय लगाया। अन्त में मार्च १९५० में मोतीझील

काशी में डेरा डाला गया कि जब तक अन्यत्र कोई स्थिर प्रबन्ध न हो, यहीं रहा जावे। यहाँ अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्त-मीमांसा-श्रौत-ब्राह्मण-वेदादि का अध्ययन अध्यापन विरजानन्द आश्रम के रूप में ५०) रु० मासिक किराये के मकान में चलता रहा।

तत्पश्चात् अगस्त १९५३ से पाणिनि महाविद्यालय के रूप में पूर्ववत् चल रहा है, जिसमें भारत के प्रायः सभी प्रान्तों से संस्कृत के एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, शास्त्री बी. ए. मैट्रिकादि, डाक्टरेट तथा व्यापारी आदि बहुत संख्या में शिविरों में तथा विद्यालय में पढ़ते रहे तथा इस समय भी पढ़ते हैं। जिनमें कोरिया-अमेरिकादि विदेशी छात्रों के अतिरिक्त मुसलमान आदि भी आकर निःशुल्क संस्कृत पढ़ते रहते हैं। जाति वा आयु का कोई प्रतिबन्ध नहीं।

इस समय कई प्रौढ़ पठनार्थी विना रटे अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत तथा उसके व्याकरण का ज्ञान कर रहे हैं। कम से कम ४० दिन वा ६ मास में गीता-रामायणादि समझने वा साहित्य दर्शनादि पढ़ने की सामर्थ्य हो जाती है। द्वादशसु वर्षेषु व्याकरणं श्रूयते (१२ वर्ष में व्याकरण होता है) के स्थान में चतुर्षु वर्षेषु व्याकरणं श्रूयते (४ वर्ष में व्याकरण पूरा होता है) कराया जाता है। काशी के प्रमुख विद्वान् **म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी** आदि विद्वान् अष्टाध्यायी-पद्धति पर मुग्ध हैं। काशी के विद्वान् चकित हैं, और कहते हैं कि जिज्ञासुजी ने कोई देवी सिद्ध की हुई है। वह देवी अष्टाध्यायी ही तो है। साथ में महाभाष्य-निरुक्त-श्रौत-मीमांसा-दर्शनादि के पाठ भी चलते रहते हैं।

योग्यता—लोग योग्यता पूछते हैं। योग्यता क्या बताई जावे। परीक्षा तो कोई पास की नहीं। न ही किसी छात्र को (पढ़ाने पर भी) अपने नाम से परीक्षा देने दी। हाँ दयानन्द विद्यापीठ की परीक्षाएं दिलाते हैं, और महायज्ञ एवं आर्ष गुरुकुल एटा के संचालक स्वामी ब्रह्मानन्दजी आदि के सहयोग से उसका संचालन १९३८ से बराबर कर रहे हैं, जिस में अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्त-दर्शन एवं साहित्य आदि की परीक्षायें होती हैं। हाँ, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में जहाँ तक प्रतिकूल ग्रन्थ नहीं, वहीं तक की परीक्षा देने की (वह भी बाहिर) अनुमति अष्टाध्यायी समाप्त कर लेने पर दी जाने लगी है, जो पूर्णतया सम्मत नहीं।

कोई परीक्षा पास न होने पर भी लगभग ३० वर्ष से गवर्नमैण्ट

संस्कृत कालेज बनारस, वर्तमान—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की व्याकरण वेद आदि परीक्षाओं के आचार्य, शास्त्री मध्यमादि का परीक्षक रहता आ रहा हूं। काशी के कार्यों में संस्कृत वाङ्मय के सुयोग्य विद्वान् श्री डा० मङ्गलदेव शास्त्रीजी का अत्यन्त सहयोग सदा रहा। पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री के विषयों का परीक्षक रहा। गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल वृन्दावन आदि अनेक संस्थाओं के विविध विषयों का परीक्षक रहा। एम. ए. तथा आचार्यों को डाक्टरेट कराने में मार्ग प्रदर्शन एवं पढ़ाना, पाणिनि महाविद्यालय द्वारा सैकड़ों प्रौढ़ पठनार्थियों को विना रटे संस्कृत तथा संस्कृत व्याकरण की अष्टाध्यायी पद्धति द्वारा तैयार करना, निःशुल्क पढ़ाना आदि कार्य वर्षों से कर रहा हूं।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की विद्वत् परिषद् (अकेडमिक कौंसिल) का निर्वाचित सदस्य, शिष्ट परिषत् (सिनेट) का सदस्य, कार्यकारिणी परिषत् (एक्जीक्यूटिव) का सदस्य हूं। ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा अजमेर का सन् १६३६ ई० से सदस्य, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली के अन्तर्गत धर्मार्य सभा का सदस्य हूं। काशी विद्वन्मण्डल का सदस्य हूं। **रामलाल कपूर ट्रस्ट का प्रधान हूं।** मासिक पत्रिका **'वेदवाणी'** का सम्पादक हूं। अखिल भारतवर्षीय वेद सम्मेलन तथा विद्वत् सम्मेलन लाहौर-मेरठ-कलकत्ता-मथुरा-गुरुकुल वृन्दावन तथा गुरुकुल काँगड़ी आदि, खुरजा गोरखपुर आदि वेदसम्मेलनों का अध्यक्ष रहा।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त श्री बदरी नारायण संस्कृत महाविद्यालय ज़ोशीमठ (गढ़वाल) के अध्यापकों की नियुक्ति के लिये कमीशन का सदस्य रहा। आर्यसमाज के प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों नेताओं के आदर तथा प्रेम का पात्र रहा और हूं। मेरे द्वारा बनाये वा सम्पादन किये ग्रन्थों में **यजुर्वेद-भाष्य विवरण प्रथम भाग**—[ऋषि दयानन्दकृत], **अष्टाध्यायी-भाष्य** अजमेर [के] तीसरे चौथे अध्याय का सम्पादन, **संस्कृत सरलतम-विधि** तथा रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित अनेक रिसर्च ग्रन्थ हैं। मेरे विषय में तथा शिष्यों का सामान्य परिज्ञान जनवरी १६६३ की मासिक टंकारा पत्रिका में मिल सकता है।

ये सब कार्य पाणिनि महाविद्यालय (मोतीझील) वाराणसी न० ६ में रामलाल कपूर ट्रस्ट रिसर्च विभाग द्वारा हो रहे हैं। जहाँ लगभग

४० आलमारी (लगभग १८ हजार) पुस्तक (पाकिस्तान लाहौर में ५०-६० मन नष्ट हो जाने पर भी) एक निजी[1] तथा ट्रस्ट का बृहत् पुस्तकालय है, जिसमें अलभ्य पुस्तकें भारी संख्या में हैं। पाणिनि महाविद्यालय विना किसी सहायता-अपील वा धन माँगने के चल रहा है, जिसे देखकर सब चकित हैं। जिसमें अनेक पठनार्थी भी तैयार हुये हैं, और हो रहे हैं। ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्ष-पाठविधि के विद्वान् भी तैयार हो रहे हैं। कुछ पुत्रियाँ भी तैयार हुई हैं, जो महाभाष्य आदि पढ़ाती हैं। राजकीय सहायता कुछ नहीं।

यह अति संक्षिप्त परिचय गत पचास ५० वर्ष से छिपा ही रहा। महामान्य राष्ट्रपति द्वारा सम्मान दिये जाने पर सरकार द्वारा परिचय माँगा गया, तब न चाहते हुए यह सब भेद खोलना पड़ा[2]। दैवेच्छा बलीयसी !!!



---

१. आचार्यवर के स्वर्गवास के अनन्तर उनका निजी पुस्तकालय भी रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय का ही अङ्ग बन गया है।

२. यह परिचय सन् १९६३ के आरम्भ में राष्ट्रपति को भेजा गया था।

—युधिष्ठिर मीमांसक।

वेद-वेदार्थ-विवेचन

महर्षिदयानन्द-कृत

यजुर्वेदभाष्य-विवरण

की

भूमिका

सर्गारम्भ में परमपिता परमात्मा ने जीवों के कल्याणार्थ जहाँ अनेक-विध पदार्थों की रचना की, पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि पदार्थों का निर्माण किया, लोह-ताम्र-रजत-सुवर्णादि धातु तथा वृक्ष-ओषधि-वनस्पति लता-गुल्म-मूल-पुष्प-फलादि, गुहा-वन-पर्वतादि, मेघ स्रोत-नदी-समुद्रादि, अन्य असंख्य पदार्थ संसार में उत्पन्न किये, मनुष्य-पशु-पक्षी आदि के शरीरों की रचना की, अर्थात् समस्त स्थावर-जङ्गम जगत् का निर्माण किया, वहाँ उस सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता जगदीश्वर ने जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयसार्थ संसार में समस्त कार्यकलाप के निर्वाहार्थ उपर्युक्त सब पदार्थों से यथावत् लाभ प्राप्त करने के निमित्त परमानुकम्पा से ज्ञान का भी प्रकाश किया। जिससे मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकें। इसी ईश्वरीयज्ञान को समस्त प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं शास्त्रों की परिभाषा में 'वेद' कहा जाता है।

इस ईश्वरीयज्ञान का स्वरूप कैसा होता है, वा कैसा होना चाहिये इस विषय में स्वयं वेद ही बतलाता है—

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत् प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त् प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः॥

ऋ० १०।७१।१॥

भावार्थः—हे विद्वन्! सृष्टि के आदि में समस्त वाणियों की मूल-रूप, (सृष्टिगत पदार्थों के) नामों को धारण करनेवाली, जिस वाणी को (विद्वान् लोग) उच्चारण करते हैं, जो इन सब से श्रेष्ठ और दोष-शून्य होती है, वह वाणी (ऋषियों की) गुहा (बुद्धि) में धारण की हुई (ईश्वर की) प्रेरणा से प्रकाशित होती है।

इस मन्त्र से निम्न सात बातों के लिये वेद का प्रमाण मिल जाता है, दूसरे शब्दों में इस मन्त्र में ईश्वरीयज्ञान की सात विशेषतायें वा कसौटियाँ वर्णित हैं—

(१) वेद सृष्टि के आदि में होनेवाली वाणी हो, इसलिये मन्त्र में कहा **"प्रथमम्"** ।

(२) इस समय संसार में जितनी मानववाणियाँ हैं, उन सबका आदि-स्रोत अर्थात् मूल हो। वेदवाणी से ही सब भाषायें निकली हैं। वेदवाणी का भी मूल 'ओ३म्' (परमेश्वर) है, इसलिये कहा **"वाचो अग्रम्"** ।

(३) जो सृष्टि के समस्त पदार्थों का नाम धारण करती हो। आदि सृष्टि में जब पदार्थों के नाम रखने की आवश्यकता होती है, तब यह वाणी सहायक होती है। इससे ही सृष्टि के पदार्थों की संज्ञा तथा शब्दार्थ का निर्धारण होता है[1], इसलिये कहा **"नामधेयं दधानाः"** ।

(४) जो सर्वश्रेष्ठ बड़ी विस्तृत और विशाल हो, केवल मानवबुद्धि में आनेवाले व्याकरण के संकुचित नियमों में बन्धी हुई न हो, उससे कहीं परे, दिव्यरूप (जिसका प्रवाह नैसर्गिक हो) में उपस्थित हो, इस लिये कहा **"श्रेष्ठम्"** ।

(५) जो दोषरहित हो, सब संसार के लिये एकसी, किसी देशविशेष की भाषा में न हो, इसलिये कहा **"अरिप्रम्"** ।

(६) जो गुहा (बुद्धि) में निहित हो, अतः कहा **"निहितं गुहा०"** ।

---

१. (क) सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु० १।२१॥

(ख) वेद एव हि सर्वेषामादर्शः सर्वदा स्थितः ।
शब्दानां तत उद्धृत्य प्रयोगः सम्भविष्यति ॥
कुमारिलभट्टकृत तन्त्रवार्तिक पृ० २०६ ॥

(ग) ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः ।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम् ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः ।
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः ॥
महाभारत शां० पर्व अ० २३२।२५,२६ ॥

(७) जो अनेक जन्म-जन्मान्तरों में परमात्मा से प्रेम करते हैं, उनके द्वारा भगवान् की प्रेरणा से प्रकाशित होती है, उनकी बनाई नहीं, इस लिये कहा **"प्रेणा आविः"** ।

ये सब कसौटियाँ वेद पर ही सर्वांशेन चरितार्थ होती हैं । किं च—

यज्ञेन॑ वा॒चः प॑द॒वीय॑माय॒न् तामन्व॑विन्द॒न्नृषि॑षु॒ प्रवि॑ष्टाम् ॥

ऋ० १०।७१।३॥

भावार्थः—सृष्टि के आदि में यज्ञ अर्थात् परमात्मा के द्वारा वाणी की प्राप्ति के योग्य हुये ऋषियों में प्रविष्ट हुई वेदवाणी को मनुष्य पीछे प्राप्त करते हैं, अर्थात् वेदवाणी का प्रकाश सृष्टि के आदि में पहिले ऋषियों के अन्तःकरण में परमात्मा प्रकाशित करता है ।

इन दोनों मन्त्रों से स्पष्ट है कि ईश्वरीय ज्ञान कैसा होना चाहिये, ये सब बातें वेद में ही चरितार्थ होती हैं ।

सर्गारम्भ में सूर्य के प्रकाश की भाँति, पूर्वसृष्टि के समान[1] वेदज्ञान का प्रकाश हुआ । प्रलय के पश्चात् अमैथुनी सृष्टि के आरम्भ में युवा अर्थात् प्रौढ़ युगल (जोड़े) उत्पन्न हुये, क्योंकि माता पिता की सत्ता तो थी नहीं । सुप्तप्रबुद्धन्याय से कार्यजगत् की प्रलयावस्था में जिन-जिन स्थिति में देहधारी अपने कारण में लीन हुये, उसी-उसी अवस्था में उन का सब खेल पुनः वैसा का वैसा चल पड़ा । जीव अपने पूर्ववर्ती कर्मों

---

१. (क) युगान्तरेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥
महाभारत ॥ सेतिहासान् नित्येतिहासयुक्तानित्यर्थः ॥

(ख) पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः ।
तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष ॥
मनुस्मृति कुल्लूकभट्टटीका १।२३॥

(ग) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ मनु० १।५॥

(घ) अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ गीता ८।१८॥

(ङ) नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥ शां० भा० १।३।२८॥

तथा संस्कारों के अनुरूप ही शरीर, बुद्धि आदि से युक्त होते हुये कार्यों में प्रवृत्त[1] हुये। उस समय के मनुष्यवर्ग में सब से उत्कृष्ट, श्रेष्ठ, विमल-मेधा, ग्रहण तथा धारण में समर्थ चार[2] ऋषियों ने प्रभु के वेदज्ञान को साकल्येन हृदय में धारण किया। जिनके नाम अग्नि-वायु-आदित्य-

---

१. रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥
ऋ० १०।१२९।५॥

रेतोधाः=कर्म से युक्त। महिमानः=मुक्त॥

२. (i) एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥ शत० १४।५।४।१०॥

(प्रश्न) यहां पर इतना और विचारणीय है कि इस उद्धृतांश से आगे भी शतपथ ब्राह्मण में इतना पाठ और है—"इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि"। इतने अंश से यह विदित होता है कि, शतपथकार उपनिषद् आदि को भी ईश्वर-प्रणीत मानते हैं॥

(उत्तर) (ii) शब्द दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य। सब का स्रोत तो वेद है। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व तो सीधे ब्रह्म से निःश्वसित हैं। शेष ऋषियों द्वारा, अर्थात् परम्परा सम्बन्ध से हैं। जब वेद स्वयं ऋग्, यजुः, साम, अथर्व को यज्ञरूप ब्रह्म से प्रादुर्भूत मानता है, तो परतःप्रमाण शतपथ उपनिषदादि को ब्रह्मनिःश्वसित कैसे कह सकता है। अतः उपर्युक्त रीति से ही इस स्थल का अभिप्राय समझना चाहिये। यहाँ इतना और भी ध्यान देना चाहिये कि जब आरम्भ में 'निःश्वसितम्' इतना पद आ चुका तो पुनः 'निःश्वसितानि' पद की आवश्यकता ही क्यों पड़ी। दोनों निःश्वसितों का परस्पर भेद है, इसीलिये॥

उपनिषदादि परम्परा से हैं। यह बात ऋषिदयानन्द ने अपने भ्रमोच्छेदन (शताब्दी सं०) पृ० ८५३ पं० ७, ८ में लिखी है, जो इस प्रकार है—

"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद् वा परम्परासम्बन्धादेतत् सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति"॥

(iii) अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥
शत० ११।५।८।३॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ मनु० १।२३॥

अङ्गिरा (शतपथ तैत्तिरीयानुसार) वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं। उनके हृदय में वेद का समस्त ज्ञान नित्य नियतानुपूर्वी द्वारा आदि से अन्त तक एक ही साथ अर्थात् युगपत्[1] अक्रमारूढ़ दे दिया। अतः इसमें कितना[2] समय लगा, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि काल[3] का व्यवहार अनित्यों में होता है। जहाँ क्रम होगा, वहाँ काल होगा। परमात्मा का आदिज्ञान एकरस है। पद[4], पदार्थ, गायत्र्यादि छन्द तथा मन्त्रादि के विभाग का ज्ञान इस वेदज्ञान में ही निहित था।

अन्य सब लोक-लोकान्तरों में भी इसी वेदज्ञान को वह जगदीश्वर सदैव प्रदान करता है। जितना भी नैमित्तिक ज्ञान विश्व में वर्तमान है, वह सब उस परमपिता परमात्मा के इस वेदज्ञान[5] द्वारा ही प्रवृत्त होता है। आकृतियों में भेद होते हुये भी उत्पत्तिप्रकार में कोई भेद नहीं होता। मनुष्य जहाँ-जहाँ होगा, वहाँ-वहाँ इसका प्रकाश अवश्य होगा, चाहे किसी प्रकार भी हो।

यह है वैदिकधर्मियों की धारणा वेद के सम्बन्ध में, जो परम्परा द्वारा प्राप्त हो रही है। जिसे समस्त ऋषि-मुनियों की धारणा होने से, वर्तमान युग के महापुरुष, परमयोगी, महर्षि दयानन्द ने स्वीकार किया और अपने ग्रन्थों में जिसका प्रतिपादन किया तथा उसी धारणा को लेकर वेद का

---

१. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ न्याय० १।१।१६॥

यह नियम सर्वसाधारण का है, समाधिस्थ लोगों के लिये शास्त्र कहता है कि उनको अक्रमारूढ युगपज्ज्ञान होता है 'सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शास्त्रोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः' ॥
योगभाष्य ३।४९॥

२. यदि ऋषिदयानन्द के पूना के १५ व्याख्यानों की रिपोर्ट, जो मराठी में छपी थी, वह, तथा उससे किया गया अनुवाद ठीक हो तो वहाँ ऐसा लिखा है—"ऐसी व्यवस्था आदि सृष्टि में पाँच वर्ष चलती रही"। उपदेशमंजरी प्रथम संस्करण पृ० ६२ ॥

३. क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा। तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः ॥ योग-भाष्य ३।५२॥

४. गौरिति शब्दः, गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानम् ॥ योगभाष्य ३।१७॥

५. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ मनु० १२।९७॥

भाष्य किया, जिसके विवरण की भूमिका आज हम सहृदय पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं।

ईश्वर और वेद का सम्बन्ध

इसमें सन्देह नहीं, वेद के ईश्वरीयज्ञान होने की उपर्युक्त धारणा सामान्य संसारी जनों को एकदम समझ में नहीं आती। इसका कारण शताब्दियों से शुद्ध वैदिक परम्परा का लुप्त हो जाना है। इसीलिये इस विषय में अनेकविध धारणाओं, दूसरे शब्दों में अनेक वादों वा भिन्न-भिन्न मतों की सृष्टि हुई, जिनका विवेचन हम संक्षेप से आगे करेंगे। इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक-धर्मियों को छोड़कर समस्त संसार वेदसम्बन्धी उपर्युक्त धारणा मानने को तैयार नहीं, इसके यद्यपि अनेक कारण कहे जा सकते हैं, पर मुख्य कारण जिसमें (हाथी के पाँव में सब का पाँव) सब कारण आ जाते हैं, यह है कि सबसे पहले अनेक लोग ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से हमारा अभिप्राय उस दैवी चेतनशक्ति के गुणों को विवेचनात्मक रीति से विश्लेषण करके स्वीकार करना है, जिसकी यह सब रचना है। ईश्वर के एक-एक गुण को लेकर उस पर विचार करने से इस विषय के आधे प्रश्नों की समस्या हल हो जाती है। सर्वप्रथम ईश्वर शब्द को ही लीजिये कि यदि ईश्वर है तो किसी न किसी ऐश्वर्य (वस्तु पदार्थ) का ही तो ईश्वर (स्वामी) होगा, स्व नहीं तो स्वामी कैसा ? यदि कार्यवस्तु स्वयं नहीं बन सकती तो दृश्यमान कार्यजगत् को बनानेवाला वह ईश्वर ही हो सकता है। दूसरे को तो उसके पूर्णतया समझने की भी शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, बना सकना तो दूर रहा।

जब स्रष्टा है तो वेत्ता स्वयं ही है। उसमें उसकी व्यापकता अर्थात् सर्वव्यापकता-सर्वान्तर्यामित्व-सर्वाधारत्व-सर्वेश्वरत्वादि[1] गुण स्वयं सिद्ध हैं। यदि यह स्वयं दूसरी शक्ति के आश्रय पर है तो उपर्युक्त सब कार्य

---

१. "यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ,ईश्वरः। ······यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रजायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति"॥

योगभाष्य १।२४॥

कर ही कैसे सकता है ? अतः अज, अनादि, अनुपम[1], निर्विकार, अनन्त, मृत्युरहित, अभय, नित्य, पवित्र आदि गुण होने ही चाहियें। आकार में आनेवाला इस विशाल सृष्टि की रचना कैसे करेगा ? सत्ता और चेतनता के होते हुये आनन्दमय गुण होना भी अनिवार्य है, अन्यथा अनेक जन्म-जन्मान्तरों की कर्मवासनाओं के द्वारा संसार में सुख-दुःख का उपभोग करते हुए जीवों की शरण वा शान्ति का अन्तिम धाम क्या होगा ? जब हम इन गुणों से विशिष्ट उस परमदेव ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लें तो तीन मुख्य सत्तायें हमने स्वयं ही स्वीकार करलीं, क्योंकि उपर्युक्त गुण इन तीनों 'ईश्वर-जीव-प्रकृति' की सत्ता को मानने से ही गतार्थ हो सकते हैं। जब हमने आधारभूत इन तीन पदार्थों को मान लिया, जो हमें मानने ही पड़ते हैं, ऐसी दशा में इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध को भी हमें जानना आवश्यक होगा। आधुनिक संसार प्रायः करके प्रकृति(मैटर) तथा उसके नियमों को तो मानता है, चाहे वह किसी भी रूप में मानता हो, मानता अवश्य है, पर ईश्वर से इन्कारी (नकारी) होने में उसे कुछ भी सङ्कोच नहीं होता, चाहे युक्ति-प्रयुक्ति उपस्थित होने पर यह धारणा टिक न सकती हो। ईश्वर से इन्कारी होनेवाले मन में 'ईश्वरीय ज्ञान' वेद को न मानना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं, कारण ही नहीं तो कार्य कैसा !!

"गतानुगतिको लोकः"—संसार में अधिक समुदाय निजबुद्धि वा विवेचना से काम न लेकर केवल अनुगामी होने की रुचि रखता है,क्योंकि इसमें उसे अपेक्षाकृत सुगमता प्रतीत होती है। यही कारण है कि वर्तमान भारत निज प्राचीन वैदिक साहित्य, संस्कृति, सभ्यता वा आदेशों को थोड़ा नहीं, अपितु बहुत दूर तक भूल चुका है। अनीश्वरवादिता की प्रचण्ड आँधी ने जाति और देश की जड़ों को हिला दिया है। ऐसी अवस्था में 'ईश्वरीयज्ञान' वेद के विषय में सर्वसाधारण में शङ्कायें बनी रहना या हृदय का पूर्ण सन्तोष न होना स्वाभाविक ही है।

हमारे समस्त प्राचीन दर्शनशास्त्र और ऋषिमुनि सामूहिक रूपेण

---

१. "तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात् ? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। ......तस्माद् यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति"॥ योगभाष्य १।२४॥

'ईश्वर-जीव-प्रकृति' इन तीनों की सत्ता का विशद निरूपण[1] करते हैं। उनमें हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल सभी सम्भवनीय शङ्काओं के उत्थानों तथा समाधानों द्वारा इस विषय की विवेचना मिलती है। महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के आरम्भिक दो नियमों द्वारा बहुत ही उत्कृष्ट रीति से इस बात को दर्शाया है—

"सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है ॥१॥"

"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि-कर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है ॥२॥"

इन दोनों नियमों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन अत्यन्त उत्तम रीति से कर दिया गया है।

ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण वा युक्तियाँ हम इसीलिये उपस्थित नहीं कर रहे हैं क्योंकि यह विषय वैज्ञानिकों में अब मान्य हो गया है। योरोप के बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं ने भी परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया है, चाहे वह यथावत् रूप में न हो।

हमारा अभिप्राय इतना ही है कि पाठक महानुभाव उपर्युक्त 'सच्चि-दानन्दस्वरूप-निराकार' इत्यादि गुणविशिष्ट ईश्वर को जानकर और मानकर ही प्रकृतविषय के विचार में प्रवृत्त हों। साथ ही जीव और प्रकृति के विषय की धारणा भी पूर्व निश्चित कर लेनी अनिवार्य है। तभी "ईश्वरीयज्ञान वेद" का यह विषय हृदयङ्गम हो सकता है।

इस त्रित्ववाद की स्थापना वा सिद्धि हमारा इस समय मुख्य ध्येय नहीं हो सकता, क्योंकि यह एक पृथक् विस्तृत विषय है। इन तीनों को सिद्ध मानकर ही हमें प्रकृत विषय में आगे चलना होगा।

जब पूर्वोक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि जगत् का कर्त्ता=निमित्त-कारण परमेश्वर अनादि है और ज्ञान का भण्डार हैं, तो उसका वेद के साथ क्या सम्बन्ध है, यह आकाङ्क्षा पाठकों के हृदय में होनी स्वाभा-

---

१. "अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति क्लेशकर्मविपाकाशयैर-परामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥" योगभाष्य १।२४।

विक है। जिज्ञासुओं की आकाङ्क्षा-निवृत्ति के लिये यहाँ संक्षेप से शास्त्रकारों के एक दो वचन ही दर्शाना पर्याप्त होगा—

(१) शास्त्रयोनित्वात् (वेदान्त सू० १।१।३)।

इस सूत्र में व्यासमुनि ने ब्रह्म को शास्त्र का कारण माना है। इसके भाष्य में श्री० स्वामी शङ्कराचार्यजी महाराज लिखते हैं—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति॥"

अर्थात् सर्वविद्यामय ऋग्वेदादि का सर्वज्ञ परमात्मा के विना कोई कारण नहीं हो सकता।

(२) योगभाष्य में भी व्यासमुनि कहते हैं—

"एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः।"

अर्थात् वेद और ईश्वर का अनादि सम्बन्ध है।

अब हमें यह विचार करना है कि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता क्या है?

ईश्वरीय-ज्ञान की आवश्यकता

(१) सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान मिलना आवश्यक है

साधारण मनुष्य भी किसी छोटे से छोटे कार्य का आरम्भ करता है, तो वह उसमें सबसे पहले कुछ नियम वा व्यवस्था निश्चित करता है, जिसको लक्ष्य में रखकर सभी कार्यकर्ताओं को चलना होता है। यदि माता पिता वा गुरु अपने पुत्र-पुत्रियों वा शिष्यों को विना बताये, कि यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं, ताड़ना वा दण्ड देते हैं, या कोई मनुष्य अपने भृत्यों को विना बतलाये, कि ऐसा करना, ऐसा नहीं करना, दण्ड देता है, तो उसे कोई बुद्धिमान् नहीं कह सकता। ऐसी अवस्था में दो प्रकार का भाव मन में आवेगा कि या तो उस बालक वा भृत्यादि ने कोई अपराध किया है, या दण्ड देनेवाला अन्यायी है। इसी प्रकार जगदीश्वर द्वारा भला इतनी भूल कैसे हो सकती है कि विना नियम या व्यवस्था के बनाये और बताये संसार में जीवों को आरम्भ से ही एक जैसे सुख-दुःखयुक्त उत्पन्न न करके, भिन्न-भिन्न सुख या दुःख से युक्त उत्पन्न करता?

अतः सदा सृष्टि के आदि में वेद का ज्ञान प्राप्त होना अनिवार्य है। इसके बिना संसार की कोई व्यवस्था नहीं चल सकेगी, यह व्यवस्था तभी चल सकती है, जब आरम्भ में यह ईश्वरीयज्ञान जीवों को प्राप्त हो और साथ ही जीवों में भी उसके ग्रहण की शक्ति विद्यमान हो, जिसे कि हम स्वाभाविक ज्ञान कहते हैं।

(२) बाह्यज्ञान के बिना नैसर्गिक ज्ञानमात्र से काम नहीं चल सकता।

प्राणिजगत् का अध्ययन करने से हमें पता चलता है, कि चाहे पशु-पक्षी हों या मनुष्य, सब जीवों में हम स्वाभाविकज्ञान की मात्रा अवश्य पाते हैं, चाहे वह न्यूनाधिक मात्रा में ही पाई जाती हो, जो न्यूनाधिकता विधाता की रचना के कारण है। मनुष्य उसको न तो समझ ही सकता है, न उसका अन्त ही पा सकता है। वर्तमान जगत् में हम प्रत्येक देह-धारी के जन्म से लेकर मरणपर्यन्त दूसरों के सम्पर्क वा सम्बन्ध से, चाहे वे माता पिता हों वा अन्य, ज्ञान की वृद्धि का होना निरन्तर पाते हैं। इस प्राकृतिक नियम से कोई प्राणी नहीं बचा, यह सर्वसम्मत है। इसी प्रकार सर्गारम्भ में जब सब जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान से युक्त होते हैं, तब पशुओं के सब व्यवहार तो वर्तमान की भाँति उसी स्वाभाविक ज्ञान-मात्र से चल ही जाते हैं, जैसा कि वर्त्तमान में भी पशु पैदा होते ही तैरना जानते हैं, परन्तु मनुष्य का बच्चा बिना सीखे नहीं तैर सकता। पशुजगत् की विशेषता यह भी है, कि वह अपने स्वाभाविक भोजन को स्वयं पहचान लेता है, पर मनुष्य के बच्चे को अपने खाद्य पदार्थ में भी विवेक ज्ञान नहीं होता। विषयुक्त अन्न को बन्दर तो पहचान कर छोड़ देगा, पर मनुष्य जब तक जिह्वा पर रखकर न देखे, नहीं जान सकता। इसका निष्कर्ष यह है कि पशुजगत् का काम नैसर्गिक विवेक से चल जाता है, पर मनुष्य का व्यवहार विना[1] नैमित्तिक प्रज्ञा (विना किसी के सिखाये) के नहीं चल सकता। अतः आवश्यक है कि सृष्टि के आदि में जो मनुष्य उत्पन्न हुये, उनको इस व्यवहार का ज्ञान किसी शक्ति से मिले। जिस

१. इस विषय में हम कुछ पाश्चात्यों के विचार भी उपस्थित करते हैं—

(i) यूनान के राजा सेमिटिकल, फ्रेड्रिक द्वितीय तथा चतुर्थ जेम्स ने १०-१२ नवजात बालकों को शीशे के मकान में रखा। धाईयों को शिक्षा देने वा सामने बोलने आदि से भी सर्वथा मना कर दिया गया। परिणाम में सभी ज्ञान रहित—बहिरे वा गूंगे थे।

शक्ति से वह मिला, वह ईश्वर है और जो ज्ञान मिला वह वेद है। इस का स्पष्टीकरण योगसूत्र **"पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"** (योगसूत्र १।२६) से हो रहा है।

हमारा अभिप्राय यह है कि मनुष्य का व्यवहार विना बाह्य सहायता के नहीं चल सकता। सृष्टि के आदि में भी मनुष्य का ज्ञान वा व्यवहार कैसे चला होगा, जब तक कि उसे बाह्य सहायता प्राप्त न हो। अतः बाह्य सहायता अनिवार्य है। आदि सृष्टि में प्राप्त इसी बाह्यज्ञान की सहायता वा नैमित्तिक ज्ञान को हम 'ईश्वरीयज्ञान' या 'वेद' कहते हैं, जो ईश्वर द्वारा दिया जाता है।

(३) उपर्युक्त विषय में अन्य रीति से विचार

इस बात को हम एक अन्य प्रकार से भी विचारते हैं कि स्वाभाविक ज्ञान को सहायता की आवश्यकता अनिवार्य है। संसार में हम देखते हैं कि प्रत्येक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय को बाह्य सहायता की आवश्यकता है। नेत्र विना सूर्य की सहायता के कुछ भी नहीं देख सकता। यद्यपि दीपक-बिजली आदि मनुष्य ने बनाये, पर उनसे मनुष्य का उतना काम नहीं

(ii) अकबर बादशाह ने भी कुछ बच्चों पर ऐसा ही प्रयोग करके देखा था। वह भी इसी परिणाम पर पहुंचा था।

—Transaction of the Victoria Institute Vol. I, पृ० ३३६॥

(iii) क्रमशः ज्ञानविकास में कोई प्रमाण नहीं, कई पाश्चात्य ऐसा मानने लगे हैं—

(क) "There is no proof of continuously increasing intellectual power" (Social environments and moral progress.)

(ख) डा० वालेस ने मैसोपोटामिया की खुदाई में प्राप्त कलाओं और लेखों पर विचार करते हुये उनको आज कल की अच्छी से अच्छी कलाओं के समान माना है।

(ग) सर आलिवर लाज ने अपनी पुस्तक Life and Matter में क्रमशः ज्ञानविकास का सिद्धान्त माननेवालों से प्रश्न किया है कि विना बताये फोटोग्राफी आदि कलाओं का विकास स्वयं कैसे हुआ ?

(घ) डा० बालफोर ने भी लाज के उपर्युक्त मत का समर्थन किया है।

(देखें—वैदिक ज्योतिः, पृ० ४-१०)॥

चल सकता, जितना सूर्य से। चक्षु विना सूर्य की सहायता के निकम्मा है। यदि संसार में सूर्य न होता, तो नेत्र का होना न होना बराबर था। यह ठीक है कि यदि नेत्र न होता तो सूर्य के प्रकाश से भी लाभ नहीं उठाया जा सकता था। सूर्य की उष्णता से बहुत से कार्य चलते हैं, पर प्रकाश केवल नेत्र की सहायता का ही कार्य कर सकता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की अवस्था है। कान विना आकाश के, त्वचा विना वायु के, जिह्वा विना जल के तथा घ्राण विना पृथिवी के व्यर्थ हैं।

इस विवेचना से यह सिद्ध है कि मनुष्य की प्रत्येक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय बिना बाह्य सहायता के कार्य नहीं कर सकती। अब यहाँ इतना और विचारना चाहिये कि इसी प्रकार आन्तरिक करण (ज्ञान, बुद्धि) भी बिना बाह्य सहायता के कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि बाह्यज्ञान आन्तरिक (स्वाभाविक) ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। जब ईश्वर की व्यवस्थानुसार प्राकृतिक नियम ने प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय (बाह्यकरण) से पूर्व प्रत्येक इन्द्रिय का सहायक देवता उत्पन्न किया, तो सर्वोत्तम तथा सूक्ष्म पदार्थों के जानने के साधन (स्वाभाविक ज्ञान) का कोई सहायक न बनाता, यह बात मानने योग्य प्रतीत नहीं होती, न हीं मानी जा सकती है। मनुष्य दीपक के प्रकाश में जैसे थोड़ी दूर तक की वस्तु देख पाता है, पर सूर्य के प्रकाश में बहुत दूर तक की वस्तु भी स्पष्ट देख सकता है, यही अवस्था बुद्धि की समझनी चाहिये। जिस प्रकार का प्रकाश अर्थात् ज्ञान प्राप्त होगा, वैसा ही स्थूल, सूक्ष्म ज्ञान मनुष्य को होता रहेगा। अतः आरम्भ में पूर्णज्ञान का मिलना ही आवश्यक है।

इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सृष्टि के आदि में बुद्धि अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान की सहायता के निमित्त पूर्णज्ञाना परब्रह्म परमेश्वर द्वारा पूर्णज्ञान (वेद) का जीवों को प्राप्त होना अनिवार्य है। इसके विना संसार का कोई व्यवहार चलना ही असम्भव था, यही बात बुद्धिसङ्गत बैठती है।

(४) विना ईश्वर के आदि ज्ञान में अन्य सम्भवनीय पक्ष और उनका निराकरण

इस आदि ज्ञान के प्राप्त होने के विषय में कई प्रकार की अन्य सम्भवनीय कल्पनायें भी हो सकती हैं, जिन पर संक्षेप से विचार करते हैं—

(१) यदि कोई कहे कि बहुत से जीवों के परस्पर सम्पर्क वा मेल से शिक्षा का क्रम चल पड़ेगा, क्योंकि बहुतों की अल्पज्ञता वा सामान्य ज्ञान मिल कर बहुज्ञता वा विशेषज्ञान बन जायगा। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह बात सत्य प्रमाणित नहीं होती। पशुओं का उदाहरण हमारे सामने है, एक सहस्र गौ या भेड़-बकरी मिलकर भी किसी विशेष रचना—रोटी बना लेना, नदी का पुल बाँधना, या कोई अन्य आवश्यक साधन बना लेना—आदि नहीं कर सकते, यद्यपि स्वाभाविक ज्ञान उन सब में है। इससे सिद्ध है कि सृष्टि के आदि में जीवों के सामान्य ज्ञान से विशेषज्ञान उत्पन्न कभी नहीं हो सकता, जब तक कि उसमें नैमित्तिकज्ञान का सहारा न हो, अर्थात् सामान्य ज्ञान विशेषज्ञान का ग्राहक होता है। इसी आदि नैमित्तिकज्ञान को, जो बुद्धि का सहायक ज्ञान है, हम 'ईश्वरीयज्ञान वेद' कहते हैं। अतएव इसकी आवश्यकता अनिवार्य है।

(२) यदि यह कहा जावे कि जीवात्मा सदा उन्नति करता है, अतः समय पाकर सर्वज्ञ हो जायगा। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्मा बिना निमित्त के कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। वृद्धि क्या है? अपने उपयोगी अवयवों को प्रकृति से वा कहीं से ग्रहण करने का नाम ही तो वृद्धि है। अतः ज्ञान की वृद्धि भी नये ज्ञान (नैमित्तिक ज्ञान) के द्वारा ही होगी, अन्यथा नहीं। सृष्टि के आदि के इसी ज्ञान को हम 'ईश्वरीय ज्ञान' कहते हैं।

(३) यदि कहा जावे कि मनुष्य अपने आप ही अपने पूर्वजों से आये हुये ज्ञान वा अपने अनुभव द्वारा शनैः शनैः[1] उन्नति कर लेगा, ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है। यद्यपि यह बात साधारण दृष्टि से

---

१. शनैः शनै उन्नति वा विकासवाद का सिद्धान्त ठीक नहीं, इस विषय में पाश्चात्यों की दृष्टि से कुछ विचार उपस्थित करते हैं—

(प्रश्न) विकासवादी अपने पक्ष का समर्थन इस तरह करते हैं कि पहिले के लोगों में ज्ञान की कमी थी। अब लोगों में ज्ञान का विकास चरम सीमा पर पहुंच चुका है। अतः मानना पड़ेगा कि ज्ञान का क्रमिक विकास होता है।

(उत्तर) इसका समाधान यह है कि पहिले के लोग मूर्ख और जङ्गली नहीं थे, अपितु आजकल के ज्ञानी और सभ्यों से अधिक ज्ञानी और सभ्य थे। इस विषय में स्वयं पाश्चात्य क्या कहते हैं, सो देखिये— ....

देखने में ठीक प्रतीत होती है, परन्तु कुछ गहराई से विचारने से यह बात भी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य का ज्ञान उसके अनुभवमात्र का ही फल नहीं है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि रोगी को वैद्य किसी हानिकारक वस्तु के खाने से मना कर देता है, परन्तु वह उसको प्रमादवश खा पी लेता है और अपने रोग को दिनों के स्थान में सप्ताहों तक ले जाता है। ऐसी भूल एक बार नहीं अनेकों बार निरन्तर होती देखी जाती है। प्रतिदिन हम यह भी देखते हैं कि दीपक पर पतङ्गा आता है, उसका अनुभव उसकी ज्ञानवृद्धि में कुछ भी सहायता नहीं करता, और न ही उसके भावी (आनेवाले) पतङ्गों की ज्ञानवृद्धि में कुछ भी कारण होता है। उसके अनुभव से आगे आनेवाले पतङ्गे जलने से बच जावें, ऐसा देखने में नहीं आता, अर्थात् वे आगे जलने बन्द नहीं होते। और तो

(i) गैल्टन—"यूनानियों की मध्य योग्यता न्यून से न्यून कूती जावे तो हमारी सभ्यता से दो दर्जे ऊपर की अर्थात् लगभग उतनी ऊँची थी, जितनी हमारी जाति अफ्रीका के हब्शियों से ऊँची है॥"

"It follows from this that the average ability of the Athenian Race on the lowest possible estimate, very nearly two grades higher than our own, that is, about as much as our own race is above that of the African negro.

Heriditary Genus by Galton.

(ii) आनफील्ड—"पैथागोरस, अनकसासोरस और विरहो आदि यूनानी विद्वान् भारतवर्ष में शिक्षा प्राप्त कर यूनान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बने।"

History of Philosophy Vol. I पृ० ६५॥

(iii) डा० वैलेस—"We must admit that the mind, which conceived and expressed in appropriate language rich ideas as are everywhere apparent in these Vedic hymhs, could not have heen in anyway inferior to those of the best of our Miltons and our Tennysons." Social environments and the moral progress by Dr. Wales.

अर्थात् "वेद की ऋचाओं से जो विचार प्रकट होते हैं, उनके (यदि मनुष्य ने लिखे हों तो भी सं०) लेखक हमारे उत्तम से उत्तम धार्मिक शिक्षकों तथा हमारे मिल्टन और टैनीसन और सर्वश्रेष्ठ कवियों से किसी प्रकार हीन नहीं थे॥"

और किसी कुल में चाहे वह कितना ही शिक्षित वा ज्ञानयुक्त हो, ब्राह्मण-कुल हो या क्षत्रियकुल, विना पढ़े वा सीखे शास्त्रसम्बन्धी ज्ञान वा युद्ध-विज्ञानसम्बन्धी अनुभव आनेवाली सन्तति को कुछ भी प्राप्त नहीं हो पाता, जब तक कि वे अपने बड़े वा अन्यों से सीखते नहीं, चाहे उस कुल में शास्त्रों का ज्ञान वा रणविज्ञान अनेकों पीढ़ियों से कितना भी अधिक चला आ रहा हो। उनके कुल में जो भी सन्तति हो, उसे पढ़ना न पड़ता हो, ऐसा कभी देखने में नहीं आया। किन्तु इससे विपरीत महाविद्वान् और महापुरुषार्थी का पुत्र महामूर्ख और महाआलसी तक देखने में आता है।

ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञान अनुभव से बढ़ता है और आप ही आप आनेवाली सन्तति को मिल जाता है। ज्ञान यदि स्वयं प्राप्त होनेवाला होता तो भविष्य में भी अपने आप ही कुल-परम्परा में मिलता रहता, परन्तु ऐसा ज्ञान तो नैमित्तिक है, विना निमित्त के हो ही कैसे सकता है ?

आज इतनी ज्ञान की उन्नति हो जाने पर भी कोई मनुष्य अपने अनुभवमात्र से ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकता, नहीं तो प्रत्येक जङ्गली विना पढ़े व्याकरण वा गणित का आचार्य क्यों नहीं बन जाता, वा हर कोई व्यक्ति विज्ञान-सम्बन्धी यन्त्रों की रचना क्यों नहीं कर लेता ? इससे यही प्रमाणित होता है कि नैमित्तिक ज्ञान के विना केवल अनुभव से ज्ञान कदापि नहीं बढ़ सकता।

यह बात सुतरां सिद्ध है कि सृष्टि के आदि में जब मनुष्य आरम्भिक दशा में था, उसने अपने अनुभवमात्र से ज्ञान में वृद्धि कर ली और वह ज्ञान उसकी कुल-परम्परा में स्वयं हो गया, यह कैसे माना जा सकता है ? ऐसी दशा में यही मानना पड़ता है कि जान की वृद्धि नैमित्तिक होती है और सृष्टि के आदि में वह ज्ञान मनुष्यों को परमदेव परमेश्वर की दया से ही प्राप्त होता है।

(४) यदि यह कहा जावे कि ज्ञान से ज्ञेय जाना जाता है, ज्ञेय के गुणों से भी तो ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, मानचित्र (नकशे) को देख कर भी तो भूगोल का ज्ञान होता है, भूगोल को पढ़कर भी मानचित्र (नकशे) का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार आरम्भ में सृष्टि को देख कर ज्ञान हो सकता है। सबको नहीं तो तीव्रबुद्धि वालों को ही पहले हुआ होगा। आदिसृष्टि में मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष से रहित थे। उनकी बुद्धि मलीन न होने से दिव्यशक्ति द्वारा संसार में कार्य होते देखकर, उसी से

ज्ञान सञ्चित कर लिया, वही क्रमपरम्परा से चला और वेद कहा जाने लगा।

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक नहीं, प्रथम तो ज्ञेय से ज्ञान की प्राप्ति बहुकालसाध्य होगी। इसकी अपेक्षा ज्ञान से ज्ञेय का बोध बहुत ही सुगम पड़ता है। यदि आयुर्वेदादि का ज्ञान वस्तुओं को चख-चख कर अर्थात् एक-एक वस्तु के पृथक्-पृथक् परीक्षण से होना होता तो संसार में आज वैद्यकशास्त्र का लोप ही हो चुका होता। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आप्त ज्ञाताओं के ज्ञान का समन्वय कैसे हो पाता, यह भी विचारने की बात है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अनुभव मात्र से यथेष्ट ज्ञान की वृद्धि नहीं हो सकती। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं।

विचार करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य के साथ प्रकृति का वह सम्बन्ध नहीं, जो उसका पशुओं के साथ है, इसलिये उसकी स्थिति सर्वथा ही प्रकृति के सहारे नहीं रह सकती। इसका कारण यही है कि मनुष्य पशु नहीं है, किन्तु ज्ञानी जीव है, अतः उसे प्रकृति वा कार्यजगत् से कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती।

प्रश्न होता है कि जब मनुष्य ने सृष्टि अर्थात् कार्यजगत् को देखकर ही आरम्भ में अपनी ज्ञान-वृद्धि क्रमशः कर ली, तो वर्तमान में भी क्रमशः ज्ञानवृद्धि का वह क्रम क्यों लुप्त हो गया? यदि कोई कहे, कि आदि सृष्टि अमैथुनी थी, इसलिये वह क्रम नहीं रहा। जैसे वर्त्तमान अवस्था में अमैथुनी सृष्टि नहीं, ऐसे ही ज्ञान की क्रमशः उन्नति का वह क्रम भी नहीं। यह भी इसलिये ठीक नहीं कि आरम्भ में तो जोड़े उत्पन्न होने से पूर्व अमैथुनी सृष्टि का होना अनिवार्य है, जब जोड़े सम्पन्न हो गये तो आगे अमैथुनी सृष्टि की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, पर पशुओं में तो क्रमशः ज्ञान उत्पन्न होते रहने का क्रम तो चल सकता था, इसमें तो कुछ भी बाधा नहीं थी, वह क्यों बन्द हो गया? जब से मनुष्य-समाज का इतिहास उपलब्ध होता है, तब से आज तक किसी ने भी इस बात को प्रमाणित नहीं किया कि गौ, घोड़े या तोते ने क्रमशः ज्ञानोन्नति द्वारा कोई औषधालय खोल दिया हो, जिसमें मनुष्यों की नहीं तो कम से कम पशुओं की ही चिकित्सा का मार्ग खुल गया हो, और तो और अपनी ही चिकित्सा करली हो, ऐसा भी देखने में नहीं आया।

अतः सृष्टि में कार्यों को देखकर अर्थात् केवल ज्ञेय से ज्ञान की वृद्धि आदि सृष्टि में हो सके, बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं करती।

योगियों को ज्ञेय सृष्टि से जो ज्ञान होता है, वह भी नैमित्तिक ज्ञान के विना कभी नहीं हो सकता। उसमें भी विना पूर्व उपलब्ध ज्ञान के निमित्त तथा योग की शिक्षा के प्राप्त किये बिना किसी भी व्यक्ति को उक्त ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

हमारा कहना यह है कि पदार्थों को देखकर अपनी ज्ञानशक्ति को विना किसी निमित्त के बढ़ाया नहीं जा सकता, इसमें दृष्टान्त पशुओं की ज्ञान-वृद्धि का न होना ही है।

देखिये ! सूर्य के निमित्त से चक्षु में पदार्थों को प्रत्यक्ष देखने की शक्ति अधिक हो जाती है, इससे रूपज्ञान तो हो जाता है परन्तु विशेष ज्ञान का अभाव ही रहता है। विशेषज्ञान की शक्ति सब जीवों में स्वतः रहती है, जिसका साधारण मनुष्य को ज्ञान नहीं होता। क्योंकि संसार में रूपज्ञान पशु-पक्षी सबको प्राप्त है, पर उनको प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमानादिजन्य ज्ञान—कार्य को देख कारण का ज्ञान, वा लिङ्ग को देख लिङ्गी का बोध—संसार में देखने में नहीं आता। अतः बुद्धि इस बात को स्वीकार करती है कि यह शिक्षा मनुष्य को कहीं बाहर से प्राप्त होती है। इस आदि बाह्यज्ञान का नाम ही वेद है।

हमारे इस कथन से स्पष्ट है कि आदि ऋषियों को भी जब तक बाह्य सहायता न मिले, ज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। विना निमित्त ज्ञान के सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। केवल अनुभवमात्र से ज्ञान की वृद्धि नहीं हो सकती, यही हमारा कहना है।

पूर्वोक्त विषय का निष्कर्ष यह हुआ कि मनुष्य के ज्ञान (बुद्धि) के विकास के साधन वादियों के मतानुसार पाँच प्रकार के ठहरते हैं—(१) माता (२) पिता (३) आचार्य (४) स्वाभाविक ज्ञानबुद्धि, और (५) प्राकृतिक जगत्।

इनमें माता पिता से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी नैमित्तिक ज्ञान ही है, जिस से ज्ञानवृद्धि की पुष्टि होती है, परन्तु सृष्टि के आदि में माता-पिता का अभाव होने से ज्ञानविकास की प्रक्रिया को सुलझाने में ये दोनों (माता पिता द्वारा ज्ञान होना) हेतु असमर्थ हैं। आचार्य के द्वारा ज्ञान का विकास होता है, जैसा कि—"**आचारं ग्राहयति,...... आचिनोति बुद्धिमिति वा**" (निरु० १।४) में कहा है। यह हेतु हमको सर्वांश में उपादेय है, क्योंकि हम भी तो यही कहते हैं कि सब मनुष्यों का

आदिगुरु वा आदि आचार्य परमेश्वर है, जो सबको सृष्टि के आदि में सदा ज्ञान प्रदान करता है। अन्य कोई मनुष्य आदि आचार्य उस समय नहीं हो सकता, क्योंकि उसे दूसरे आचार्य की, उसको तीसरे की अपेक्षा रहेगी। इस प्रकार अनवस्था उत्पन्न होकर परमेश्वर के आचार्यत्व में ही जाकर समाप्ति हो सकती है।

अब हम स्वाभाविक ज्ञान को लेते हैं। यह हम पहले कह चुके हैं, कि स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान के ग्रहण का साधन तो है, परन्तु वही स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के ज्ञान के लिये पर्याप्त हो जाता है, यह ठीक नहीं। प्रतिदिन हम देखते हैं कि स्वाभाविक ज्ञानवाले बच्चे वर्त्तमान हैं, परन्तु उनको पढ़ाने के लिये अन्य की आवश्यकता पड़ती ही है। नहीं तो जङ्गली मनुष्य या पशु के स्वाभाविक ज्ञान में वृद्धि क्यों नहीं होती? भाव यह है कि स्वाभाविक ज्ञान भी नैमित्तिक ज्ञान से ही बुद्धिविकास में समर्थ है, स्वयं नहीं।

पाँचवाँ प्राकृतिक जगत् भी जानी जानेवाली सामग्री ही तो है, और इसमें भी सन्देह नहीं, कि यह किसी न किसी अंश में ज्ञान का साधन भी हो जाता है, परन्तु सबके लिये यह उसी रूप में साधन होता है, यह ठीक नहीं। अन्यथा इस बात का हमें कोई उत्तर नहीं मिलता कि विद्यालय की दीवार पर टँगा हुआ मानचित्र (नक्शा) वा स्कूल में बना हुआ माडल (नमूना) विना अध्यापक के पढ़ाये बच्चे के ज्ञान को क्यों विकसित नहीं कर देते? लोक में भी नदी, पहाड़ दिखलाई पड़ते हैं, फिर इनका नाम न जाननेवाले व्यक्ति को अपनी संज्ञा का बोध क्यों नहीं करा देते, जिससे कि वह मनुष्य स्वयं बोल उठे, यह नदी है, यह पर्वत है।

प्राकृतिक जगत् से होनेवाले इस ज्ञान के लिये आवश्यक है कि नाम और गुण पहले ज्ञात होने चाहियें। लोक भी इस बात का साक्षी है कि वह किसी भूषण को बनाने से पूर्व उसका नाम मात्र बताता है कि अमुक भूषण बना देना। यह नहीं होता कि सोना पहले भूषण बन जावे और फिर उसकी आकृति और नाम निश्चित हो।

अतः नाम और वस्तु साथ-साथ होते हैं और उसका गुण भी उसके साथ-साथ रहता है। इसलिये सारी प्रक्रिया का सुलझाव इस बात में है कि मनुष्य ज्ञान-विकासवाद की इस प्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—तीनों को अनादि माने, जैसा कि हम वैदिक लोग मानते हैं।

हमारे उपर्युक्त समस्त प्रतिपादन से सिद्ध है कि विना बाह्यज्ञान वा नैमित्तिक ज्ञान के मनुष्यों का व्यवहार कदापि नहीं चल सकता। आदिज्ञान के अन्य सभी काल्पनिक वा सम्भव उपायों की असमर्थता हमने ऊपर सिद्ध की। अतः "**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**" शास्त्र के इस वचनानुसार उस आदिगुरु परमदेव परमात्मा के विना और कोई शरण नहीं हो सकती, अर्थात् समस्तज्ञान के आदिस्रोत उस परब्रह्म से ही ज्ञान मिले, तभी जीव का कल्याण है, 'नान्यः पन्था विद्यते' और कोई मार्ग नहीं।

वेदज्ञान का प्रकाश कैसे हुआ ?

इसके दो ही प्रकार हो सकते हैं, कि या तो जगदीश्वर ने आदि मनुष्यों वा ऋषियों को आजकल की भाँति बैठकर पढ़ाया वा लिखकर दे दिया या लिखा दिया हो, यह सब एक ही प्रकार कहा जा सकता है और ईश्वर के शरीरधारी होने पर ही हो सकता है, और तो किसी प्रकार हो नहीं सकता। ईश्वर के देहधारी होने में उसकी नित्यता और सर्व-व्यापकादि गुण रह नहीं सकते, और आगे सृष्टिकर्तृत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि गुण भी टिक नहीं सकते, ईश्वर का ईश्वरत्व ही नहीं रह सकता, अतः उसका देहधारी होना तो मानने योग्य नहीं हो सकता।

दूसरा प्रकार यह है कि जैसे अनन्तविद्य परमेश्वर ने प्रकृति से इस दृश्यमान सम्पूर्ण कार्य जगत् की रचना की, इसमें उसे बाह्य साधनों की कुछ भी आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार वेदज्ञान का प्रकाश भी ईश्वर ने ऋषियों के हृदयों में एक दम कर दिया। उसी ज्ञान में जीवसम्बन्धी सभी आवश्यक ज्ञान था और उसी में व्यवहार की भाषा अर्थात् देववाणी के सभी नित्य शब्दार्थ सम्बन्धों को भी पुनः प्रकाशित कर दिया। सब ऋषि-मुनियों का यही सिद्धान्त है—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योग सू० १।२६)।

योगदर्शन के इस सूत्र का यही अभिप्राय है कि परमात्मा सबका आदिगुरु है, आदि उपदेष्टा है। उसी ने वेदज्ञान का प्रकाश वा उपदेश किया।

कई महानुभावों का मत है कि सृष्टि की उत्पत्ति में वेद का स्थान मनुष्य की उत्पत्ति से पहले है, पुरुषसूक्त में बेद की उत्पत्ति का वर्णन

मनुष्योत्पत्ति से पहिले मिलता है। वे यह भी कहते हैं कि प्रकृति में वर्त्तमान वेपनों (कम्पनों) के द्वारा उत्पन्न परिणामों की क्रमिक अवस्था का अनुभव वेद है। वेपन (कम्पन) ही शब्द का स्वरूप है। अव्यक्त शब्दों का क्रमिक प्रतिबोध आदि-मनुष्यों के अन्तःकरण में हुआ और वे अन्दर नादरूप में आये, फिर स्थान-प्रयत्न द्वारा प्रकाशित हुये।

यह पक्ष ठीक नहीं। सृष्टि की उत्पत्ति में वेद मनुष्यों से पहले हुये (ईश्वर के ज्ञान में तो थे ही, उनका प्रकाश तो तभी कहा जायगा जब जीवों तक पहुंचे), ऐसा नहीं। पुरुषसूक्त में केवल पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन हम पाते हैं। वहाँ क्रम से यह तात्पर्य नहीं कि घोड़ों के पश्चात् भेड़, बकरियाँ पैदा हुईं, अपितु ये सब उस अनन्त-सामर्थ्य जगदीश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, इतना ही अभिप्राय है।

यदि शब्द अनित्य हो तो वेपन घट सकता है। शब्द के नित्यत्व में ऋषि-मुनि एकमत हैं। हाँ नित्य शब्द में प्रकाश होना घट सकता है।

नाद होकर प्रकाशित होना भी इसलिये ठीक नहीं कि शब्द की उत्पत्ति के विज्ञान को बतानेवाले ऋषियों ने कहा है कि—

"आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥"
(पाणिनीयशिक्षा)।

अर्थात् आकाश और वायु का संयोग होता है, फिर वह वायु शरीर से ऊर्ध्वभाग में ऊपर को उठता हुआ मुख में पहुंचता है, उसे 'नाद' कहते हैं, और वह नाद भिन्न-भिन्न स्थानों में विभक्त होकर वर्णभाव को प्राप्त होता है, अर्थात् शब्द का रूप धारण करता है।

यदि केवल यही उपर्युक्त वाक्य होता, तब तो वेपनों द्वारा नाद की उत्पत्ति होकर शब्द उत्पन्न हो जाने का सिद्धान्त माना जा सकता था, परन्तु उपर्युक्त सूत्र के साथ ही दूसरा सूत्र है, जो शब्दोत्पत्ति के इससे भी पूर्व अर्थात् वेपन से भी पूर्व के सिद्धान्त को बहुत उत्तम रीति से बतलाता है। वह कहता है—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥......"
(पा० शि०[1])।

१. यह पाठ शिक्षा के नाम से चिरकाल से व्यवहृत है। तद्यथा—नागेश

आत्मा बुद्धि से अर्थों को सञ्चित (संगृहीत, इकट्ठा) करके मन को कहने की इच्छा से प्रेरित करता है। मन शरीराग्नि को उत्तेजना देता है। वह आगे फिर वायु को प्रेरित करता है। वह आगे शब्द का जनक होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेपन से पूर्ववर्त्ती क्रियायें क्या-क्या होनी अनिवार्य हैं, यह विचारना होगा। ऐसी अवस्था में विचारने से पता लगता है कि जब तक पहले बुद्धि (ज्ञान) न हो, वेपन अर्थात् लहरें ही उत्पन्न नहीं हो सकतीं, क्योंकि "आत्मा बुद्धचा समेत्यार्थान्" के अनुसार आत्मा का बुद्धि द्वारा अर्थों को पहले इकट्ठा करना अनिवार्य है, अर्थात् उनके विना वेपन का प्रादुर्भाव ही असम्भव है। होंगे भी तो उन का समन्वय किस से होगा? अर्थात् यदि उस समय आदि सृष्टि में परमात्मगत बुद्धि (ज्ञान) मात्र ही होगा और केवल उसी की प्रेरणा रहेगी तो फिर जीवों में स्वाभाविक ज्ञान का तो अभाव ही रहेगा। आगे की ज्ञानवृद्धि की प्रक्रिया जीवों में कैसे चलेगी? क्योंकि सब जीवों को एक जैसा ज्ञान वेपन द्वारा प्राप्त होने पर भी, उस ज्ञान का ग्रहण अर्थात् धारण तो एक जैसा कभी नहीं हो सकता[1]। कहने का भाव यह है कि ज्ञानवृद्धि की प्रक्रिया आरम्भ से ही माननी पड़ेगी। पदार्थों का और बुद्धि (ज्ञान) का होना आरम्भ में ही आवश्यक है। तभी "आत्मा बुद्धचा समेत्यार्थान्" की प्रक्रिया बन सकती है। भाषा की उत्पत्ति भी इसी प्रक्रिया से ही हो सकती है। विना निमित्तज्ञान के यह व्यवस्था नहीं चल सकती, यह हम पूर्व कह आये हैं। इसलिये यह वेपनों वाली प्रक्रिया ठीक नहीं। ठीक प्रक्रिया यही हो सकती है, कि आदि सृष्टि में जीवों का जो स्वाभाविक ज्ञान था, उसी में जगदीश्वर द्वारा नैमित्तिक ज्ञान

लघुमञ्जूषा पृ० ११८।

"आत्मा बुद्धचा समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् इति शिक्षायामपि।"

१. क्योंकि वेपन तो जड़ है। वेपनपक्ष में जीवों में तो स्वाभाविक ज्ञान है नहीं, वह तो वेपन से ही उत्पन्न होगा। सो नैमित्तिक ज्ञान सब जीवों का समान होगा। पर नैमित्तिक ज्ञान तो वर्त्तमान में असमान है, जो प्रत्यक्ष है। सृष्टि के आरम्भ में भी हमारे पक्ष में जीवों के पूर्वसंचित कर्मों का फल बुद्धि आदि होने से वह नैमित्तिकज्ञान भिन्न-भिन्न रहता है।

का पुट दिया गया। "पूर्वेषामपि गुरुः०" शास्त्र के इस पूर्वोक्त वचन के अनुसार परमात्मा ने ही ज्ञान तथा भाषा का प्रकाश आदि ऋषियों के हृदयों में किया और आगे उन्होंने ही सब जीवों को ज्ञान तथा भाषा का उपदेश किया, जैसा कि पूर्व कह आये हैं।

इसलिये वेपन (कंपन) द्वारा नाद की उत्पत्ति होकर वेद का ज्ञान उत्पन्न हुआ, यह विचार युक्तिसङ्गत नहीं ठहरता, न ही ऋषि-मुनियों की प्रक्रिया के अनुकूल बैठता है।

हाँ! एक बात विचारने योग्य शेष रह जाती है, वह यह कि जब सर्गारम्भ में वेदज्ञान का प्रकाश एक जैसा हुआ, तो सब मनुष्यों को ही ज्ञान क्यों न हो गया, और चार ही ऋषियों को वह ज्ञान क्यों हुआ? क्यों न मान लिया जावे कि जो-जो भी उस ज्ञान के धारण करने योग्य बुद्धि रखते थे, उन सबको ही (जो चार ही नहीं थे, अपितु अनेक थे) यह सब ज्ञान हुआ?

यह शङ्का स्वभावतः प्रत्येक विचारशील के हृदय में उत्पन्न होनी अनिवार्य है। हमारे सामने इतना ही है कि शतपथ ब्राह्मण के **"अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः"** (शत० ११।५।८।३) तथा मानव धर्मशास्त्र के **"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥"** मनु० १।२३॥ इन वचनों से अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिरा से वेदों का प्रकाश हुआ। इस विषय में हमें यह शब्दप्रमाण ही मिलता है। सृष्टि के आदि का विस्तृत इतिहास तो है नहीं, जिसे कोई उपस्थित कर सके। शब्दप्रमाण जिसे ऋषि-मुनि सदा से मानते चले आये, हम भी उसी के आश्रय से ही कह सकते हैं कि हमारा इन चार ऋषियों को वेद का आविर्भावक कहना हमारी अपनी कपोल-कल्पना नहीं, अपितु शास्त्र के आधार पर है। यदि हम किञ्चित् बुद्धि से भी विचार करें तो यही प्रतीत होता है कि परमात्मा के द्वारा वेद का ज्ञान, चाहे उसका रूप कुछ भी हो, सर्गारम्भ में जीवों को नैमित्तिक ज्ञान के रूप में अवश्य मिलना चाहिये। यदि सबको ही प्रकाश दिया, जैसा कि सूर्य का प्रकाश, और फिर उन आदि जीवों ने अपने में जिन चार को सर्वोत्कृष्ट समझा, उनको प्रमाणीभूत मानकर उनके आगे सिर झुका दिया और सर्वोच्च चार आत्माओं के ज्ञान से ही अपने ज्ञान को परीक्षित करने लगे। जैसे एक श्रेणी में अनेक छात्र एक साथ पाठ पढ़ने पर अपने में योग्यतम छात्र को मुख्य मानकर अर्थात् प्रमाण वा कसौटी

मानकर अपने पढ़े हुये वा जाने हुये विषय के ज्ञान की परीक्षा वा मान्यता स्वीकार करते हैं। यद्यपि इसमें कुछ आपत्ति नहीं, परन्तु जब शेष सबमें ग्रहण वा धारण करने की शक्ति ही नहीं थी, तो उन्हें वह ज्ञान आरम्भ में स्वयं मिले, इसकी आवश्यकता ही क्या है? अतः इस विषय की सर्वोत्तम प्रक्रिया यही है कि सर्गारम्भ में प्रभु ने एक साथ ज्ञान का प्रकाश चारों ऋषियों के हृदयों में दे दिया, जो मुक्ति की अवधि समाप्त कर पूर्व से ही इस ज्ञान के पात्र होकर इस सृष्टि में आये थे। क्योंकि उनमें ही ग्रहण और धारण करने की शक्ति सबसे उत्कृष्ट थी। उन्हें इसीलिये यह ज्ञान दिया ताकि किसी भी अवस्था में उसमें किसी न्यूनता की सम्भावना ही न रह जावे। ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर आगे उन्होंने ही सब ज्ञान जीवों को दिया, और तत्सम्बन्धी सब कुछ बतला दिया। यही प्रक्रिया सर्वोत्कृष्ट और सुसङ्गत है, क्योंकि वेद ने भी तो **"अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्"** (ऋ० १०।७१।३) कहा है, जिसका अर्थ यही है कि वेदवाणी पहले ऋषियों के हृदय में प्रकाशित होती है, मनुष्य लोग उसको पीछे प्राप्त करते वा कर सकते हैं, क्योंकि उससे पूर्व उनमें उसके ग्रहण वा धारण की शक्ति ही नहीं होती।

प्रकृतविषय में एक विचार और उपस्थित करना भी असङ्गत न होगा। कोई-कोई महानुभाव यह कहते हैं कि सृष्टि के आदि में केवल एक विद्वान् को सम्पूर्ण वेद का ज्ञान मिला, और वह अग्नि था। वे अपने पक्ष की सिद्धि में ऋग्वेद का यह मन्त्र उपस्थित करते हैं—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
ऋ० ५।४४।१५॥

उनके कथन का सार इतना ही है कि अग्नि जागता है, उसे ही ऋचायें प्राप्त होती हैं, सामगानादि उसी की कामना करते हैं।

उन महानुभावों की सेवा में हम विनम्र निवेदन करेंगे कि यह भूल "अग्नि" शब्द के अर्थ पर गम्भीर विचार न करने से हो रही है। हम समझते हैं कि 'अग्नि' शब्द का अर्थ केवल 'भौतिक अग्नि' या 'अग्नि' नाम का कोई व्यक्ति विशेष (Proper Name) ही हो, यह बात नहीं। यह धारणा इस युग के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द के पुण्य प्रताप से हट चुकी है। अनेक प्रौढ़ विद्वान् समझे जानेवाले व्यक्तियों ने अग्नि से परमात्मा-

विद्वान्-राजा-वैद्य-नेता आदि अनेक अर्थों को स्वीकार किया है (देखो यही यजुर्वेदभाष्य वि० पृ० ४७ टि० १) जिसके विषय में हम आगे चल कर अधिक विचार कर सकेंगे। यहाँ हमको इतना ही कहना है कि 'अग्नि' का अर्थ "नेता" विद्वान् भी होता है। निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं—

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति........त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्" । निरु० ७।१४।।

जब हमने समझ लिया कि 'अग्नि' का अर्थ विद्वान् भी है, तो देखें ऊपर वाले वेदमन्त्र की सङ्गति कैसी सुन्दर और बुद्धिग्राह्य बैठती है ! अग्नि अर्थात् विद्वान् जागता है। ऋचायें उसी की कामना करती हैं, उसी को साम प्राप्त होते हैं इत्यादि। विद्वान् ही जागता है, वह वेद के तत्त्व को यथावत् जान सकता है, विद्वानों के हृदय में ही वेद का ठीक-ठीक प्रकाश होता है। वेदमन्त्रों के गान का विज्ञान भी उन्हें ही ठीक-ठीक प्राप्त होता है। "जागर्त्ति को वा सदसद्विवेकी" जागता कौन है, जो सत् असत् को विवेकबुद्धि के द्वारा परीक्षण कर सकता है। ऐसा विद्वान् ही ऋचाओं के यथावत् अभिप्राय को समझ सकता है। वेद के इस मन्त्र में कैसा सुन्दर हृदयग्राह्य भावपूर्ण वर्णन है !! यह कहाँ से आ गया कि 'अग्नि' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम है ? वेद में आये अनेकों विशेषण ही इस बात के विरुद्ध प्रबल प्रमाण हैं।

अतः सर्गारम्भ में वेदों का प्रकाश चार ऋषियों द्वारा हुआ, यही बात सर्वोत्तम, शास्त्रसम्मत और बुद्धिग्राह्य है। इसमें सन्देह करने का कोई स्थान नहीं रह जाता।

वेदज्ञान का स्वरूप

अब हम आदि-ऋषियों को जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसका स्वरूप क्या था ? इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न करते हैं। ज्ञान का क्या स्वरूप है, पहले इस बात को समझ लेना आवश्यक होगा। ज्ञान-दो प्रकार का कहा जा सकता है—स्वाभाविकज्ञान तथा नैमित्तिकज्ञान। स्वाभाविक ज्ञान का स्वरूप हमें पशु-पक्षियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है, जो खाने-पीनें, सन्तानक्रिया तथा पालनादि तक ही रहता है। नैमित्तिक ज्ञान वह है, जो बाह्य निमित्त से प्राप्त हो। ईश्वरीयज्ञान

स्वाभाविकज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि स्वाभाविकज्ञान से मनुष्य के मस्तिष्क में ऐसी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे वह अपना ज्ञान अधिक विस्तृत कर सके। इसका प्रमाण सब विना पढ़े लिखे और जङ्गली मनुष्य हैं। वे विना सीखे सौ तक गिनना भी नहीं जान सकते। उधर संसार में विस्तृत और विशाल ज्ञान देखने में आता है, अतः हमें कहना पड़ता है कि यह स्वाभाविक ज्ञान का परिणाम नहीं। अतः आदिज्ञान नैमित्तिकज्ञान ही हो सकता है, जो जगदीश्वर ने सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदय में प्रकाशित कर दिया वा उनके हृदयों में प्रविष्ट हुआ। उसे हम प्रविष्ट होनेवाला नैमित्तिकज्ञान कह सकते हैं।

यदि हम वेद को हित-अहित के सम्पादन करनेवाले साधनों के बोधक वाक्य, अर्थात् "हिताहितसाधन-बोधकत्वं वेदत्वम्" ऐसा कह दें, तो इस अवस्था में ऋषि-मुनियों के वाक्य भी हित-अहित साधन को बतलाने-वाले हो सकते हैं, जो ईश्वरोक्त नहीं। अतः वेद उस अपौरुषेय (मनुष्यो-च्चरित से भिन्न) वाक्यसमूह का नाम है, जो हित-अहित साधनों का बोध कराता हो, अर्थात् "अपौरुषेयत्वे सति हिताहितसाधनबोधकत्वं वेदत्वम्" ऐसा लक्षण करना होगा। यह लक्षण ऋग्, यजुः, साम, अथर्व चारों पर घटित हो जाने से इनको हम वेद कहते हैं। नित्य-शब्दार्थ-सम्बन्ध रखनेवाले अपौरुषेय वाक्यसमूह का नाम वेद है, जिसकी वर्णा-नुपूर्वी, पद तथा स्वर सब नित्य हैं, क्योंकि **पुरुष की विद्या अनित्य** होने से वेद ही नित्यज्ञान कहा जा सकता है (निरु० १।१), और यही वेद हम तक परम्परा से बराबर यथावत्रूप में पहुंचता चला आ रहा है।

इस विषय में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का उठना अस्वाभाविक नहीं। इसीलिये कई एक कहते हैं—

(१) ये वेद उन ऋषियों की ही कृति हैं, जो आदि में हुये या जिनके नाम वेदमन्त्रों के ऊपर अभी तक लिखे चले आ रहे हैं। इसका उत्तर हम पूर्व ही दे चुके हैं कि विना नैमित्तिकज्ञान के आदि ऋषियों का ज्ञान भी कभी नहीं बढ़ सकता। यदि कहो कि ज्ञान तो वह सब परमात्मा का ही था, ऋषियों ने उसे मन्त्ररूप में रचा। सो जब ज्ञान ईश्वर का था, रचने की विद्या भी ईश्वर से ही उन्होंने सीखी होगी तो वह ज्ञान ईश्व-रीय ज्ञान तो हुआ, इसमें भेद क्या पड़ा? समस्त शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता उस नित्य परमेश्वर से ही प्रकाशित होने में उपर्युक्त रीति से

ठीक बैठती है। अतः वह ज्ञान ऋषियों का नहीं कहा जा सकता। वेद ने भी **"अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्"** (ऋ० १०।७१।३) ऋषियों में प्रविष्ट हुई को मनुष्य ग्रहण करते हैं, ऐसा कहा।

(२) यदि कहा जावे कि ज्ञानमात्र का नाम वेद है, तो प्रश्न होगा कि वह आया कहाँ से? और उसका स्वरूप क्या है? क्या सब जीवों के ज्ञान को एकत्रित करने से जो बना, उसका नाम वेद है? तो यह बात भी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि एक श्रेणी में नौ अयोग्य छात्रों के अपूर्ण ज्ञान को एकत्रित करने से भी वह ज्ञान नहीं बनता, अर्थात् यथार्थरूप में उपलब्ध नहीं हो सकता, जो दसवें एक ही योग्य छात्र द्वारा संगृहीत ज्ञान से हो सकता है।

(३) यदि कहो कि वेद में केवल सिद्धान्तों का ही वर्णन है, आगे जीव स्वयं उनका विस्तार कर लेंगे। इसमें इतना तो ठीक है कि मूलभूल सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाने से आगे विस्तार हो सकता है, पर आदि में एक बार तो उसके विस्तार करने का ज्ञान भी मिलना ही चाहिये।

(४) कोई कहते हैं कि मन्त्रों पर लिखे हुये ऋषियों ने ही वेदों को बनाया, वे ही उस-उस मन्त्र के कर्त्ता हैं, उन्होंने क्रमशः उन्नति करते-करते बहुतसा ज्ञान मन्त्रों सहित पा लिया होगा। वे ही मन्त्र पिछले ऋषियों ने या वेदव्यास ने संग्रह करके ऋग्, यजुः, साम, अथर्व नाम की चार संहिताओं के रूप में हमारे पास पहुंचाये होंगे। कालचक्र से जब मनुष्य पिछले ऋषि-मुनियों के ज्ञान को समझने में अशक्त हुये, तब कहने लगे वेदों में अपूर्व अलौकिक ज्ञान है। इन मन्त्रों की रचना करना मनुष्य की शक्ति से बाहिर है, इत्यादि।

इसका उत्तर यही है कि विना नैमित्तिक ज्ञान के स्वाभाविक बुद्धि से ही ज्ञान की वृद्धि कदापि नहीं हो सकती, यह ऊपर पर्याप्त कहा जा चुका है। जब समस्त ऋषि-मुनि स्वयं इन वेदों को अपौरुषेय अर्थात् उस परमदेव जगदीश्वर की रचना वा कृति बतला रहे हैं, तो फिर यों ही कहते जाना कि ऋषियों के बनाये हैं, कहाँ तक सङ्गत कहा जा सकता है। इस विषय में ऋषियों के वचन हम आगे उपस्थित करेंगे। जब इन कर्त्ता कहे जानेवाले, मन्त्रों पर लिखे, ऋषियों के पूर्वजों के काल में भी वेद विद्यमान था, स्वयं वेदव्यास से बहुत पहले वेद एक नहीं चतुर्धा विद्यमान था, तो उन ऋषियों ने या व्यासजी ने वेद बनाये वा संग्रह किया वा

विभाग किया, यह सब अप्रमाण ही सिद्ध होता है। इसका अधिक निरूपण हम आगे चल कर करेंगे।

(५) जो महानुभाव वेद की ज्ञानात्मकता का प्रतिपादन करते हैं, वे कहते हैं कि ज्ञान और आत्मा परस्पर अभिन्न एकात्मक हैं। ज्ञान की श्रेणी अनन्त वेद का एक भाग ही तो है। उनकी ज्ञानात्मकता में यह दोष पड़ता है कि जब ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई पदार्थ वे स्वीकार ही नहीं करते, तो वह ज्ञान है किसका? इसलिये उनका यह पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता। ईश्वर, जीव, प्रकृति के विषय में सप्रमाण हम आरम्भ में कह चुके हैं। अत: यहाँ इतना निर्देश करना ही पर्याप्त होगा।

(६) बहुत से यह भी कहते हैं कि "अनन्ता वै वेदा:", ज्ञान अनन्त है, एक छोटे से ग्रन्थ में सम्पूर्ण ज्ञान आ ही कैसे सकता है? अत: यही समझना चाहिये कि सृष्टि के आदि में जो ज्ञान मिला, वह चूँकि वेद का अंश है, अत: वेद है और उस अनन्त वेद में प्रविष्ट होने का साधन है, न कि सम्पूर्ण वेद। इन चार संहिताओं को जो वेद कहा जाता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि बस वेद इतना ही है, क्योंकि "अनन्ता वै वेदा:" यह वचन इसमें प्रमाण है और विचार करने पर भी यही समझ में आता है कि ज्ञान की कोई सीमा नहीं हो सकती, इत्यादि।

पूर्वपक्षी का यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि अनन्त प्रभु का ज्ञान भी अनन्त है, यदि इसको लेकर कहा जावे तो ठीक है। परन्तु वेद का ज्ञान तो है ही उतना जितना कि जीवों के लिये अपेक्षित है। वेद ईश्वर का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं। ईश्वर की दृष्टि में वह ज्ञान अनन्त नहीं हो सकता। सृष्टि के आदि में जितना ज्ञान जीवों के लिये आवश्यक था और जो परमात्मा के द्वारा दिया गया, हम उसे ही ईश्वरीयज्ञान वेद कहते हैं। स्वयं वेद ने कह दिया कि ऋक्-यजु:-साम-अथर्व का ज्ञान परमेश्वर से प्राप्त हुआ। समस्त ऋषि-मुनियों ने इस बात को ही दृढ़तापूर्वक माना है, जिसका वर्णन हम आगे करनेवाले हैं। तो फिर एक वचन "अनन्ता वै वेदा:" को लेकर सारी प्रक्रिया को ही बदल डालना कैसे बुद्धिसङ्गत कहा जा सकता है? इस वाक्य में भी "अनन्त" शब्द का प्रयोग औपचारिक है, "अनन्तसुखिवत्"। 'वेद' शब्द भी वहाँ वैदिक ज्ञान वा वैदिक साहित्य के लिये कहा जा सकता है, क्योंकि वेद के व्याख्यान—शाखा-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् आदि—इस वचन के निर्माणकाल में

बन चुके थे। वेद चार नहीं, अनन्त हैं, इसका यह अर्थ तो आज तक किसी ने नहीं माना।

वेद के स्वरूप के विषय में इस प्रकार के और भी बहुत से वाद उठ सकते हैं, वा उठाये जा सकते हैं। उनका उत्तर भी दिया जा सकता है। पर यहाँ संक्षेप से इतना ही पर्याप्त होगा।

अब हमें ईश्वरीय ज्ञान के स्वरूप के विषय में इतना तो अवश्य जान लेना चाहिये कि उसमें क्या-क्या बातें होनी अनिवार्य हैं, जिससे वह अपौरुषेय ज्ञान अन्यों से पृथक् जाना जा सके। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके उसकी ओर से दिया जानेवाला ज्ञान वेद है, ऐसा मानकर यह बात सुगमता से समझ में आ सकती है कि उसमें परमात्मा के सम्पूर्ण गुणों का प्रकाश अवश्य होना चाहिये। दूसरे शब्दों में परमात्मा के किसी गुण के विपरीत वह नहीं होना चाहिये, उसका सृष्टि के आदि में होना आवश्यक है, क्योंकि यदि सृष्टि के आदि में नहीं होता, तो आरम्भ से ही व्यवस्था कैसे चलेगी? सारा व्यवहार कैसे प्रारम्भ होगा? जो सृष्टि के आदि में आरम्भ नहीं हुआ, वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहला सकता। अब वह ज्ञान यदि बीच-बीच में बदलता रहे, तब भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे ईश्वर में अज्ञान वा अपूर्णता सिद्ध होगी। अतः वह ज्ञान पूर्ण और अपरिवर्तनशील होना चाहिये। परमेश्वर के एकरस होने से उसका दिया ज्ञान भी एकरस ही होना आवश्यक है। जैसे सूर्य में किसी प्रकार का अन्धकार वा मैल नहीं रहता, इसी प्रकार यह ज्ञान भी निर्मल तथा सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त होना चाहिये, जो सभी जीवों के व्यवहार के लिये आवश्यक हो। प्रत्येक मनुष्य की समझ में न आनेवाले विषयों की विद्याओं का इसमें होना उसका दूषण नहीं, भूषण है।

कहने का भाव यही है कि वह ज्ञान पूर्ण होना चाहिये। यतः वह जीवों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये है, अतः अन्त तक वह उनकी आवश्यकताओं को पूरा करता हो। तर्क की कसौटी पर भी पूरा उतरता हो। ऋषि-मुनियों की परम्परा के अनुगत हो। जिसमें किसी जाति वा देशविशेष के लिये नहीं, अपितु सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन हो, जो सर्वकाल सर्वदेश में एक जैसा अपेक्षित हो।

ये सब बातें हों, तभी समझना चाहिये कि वह ईश्वरीय ज्ञान है। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को वेद का परीक्षण करना चाहिये कि ये सब नियम इसमें संघटित होते हैं या नहीं?

ये सभी नियम वेद में पाये जाते हैं, ऋषि-मुनियों का भी यही सिद्धान्त है, अत एव वैदिकधर्मियों ने इस धारणा को स्वीकार किया है।

आदि-भाषा का प्रकाश तथा उसका स्वरूप

अब हम आदि-भाषा के स्वरूप पर कुछ विचार उपस्थित करते हैं। जब आदि-ज्ञान के स्वरूप को जान लिया जावे, तो प्रारम्भ में भाषा का व्यवहार कैसे चला होगा? ऐसी आकाङ्क्षा प्रत्येक व्यक्ति को होनी स्वाभाविक ही है।

यह नियम है कि मनुष्यों में ज्ञान विना[1] भाषा के नहीं रह सकता, और भाषा विना ज्ञान के नहीं रह सकती। इन दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। एक के विना दूसरे का रहना असम्भव है।

---

१. इस विषय में पाश्चात्यों के कुछ विचार भी उपस्थित करते हैं—

(i) "I therefore declare my conviction as explisively as possible that thought in the sense of reasoning is not possible without language."

(साइंस आफ लैंग्वेज—मूलरकृत)॥

(ii) "Without language, says Sheeling, it is impossible to conceive philosophical nay, even any human consciousness"

(साइंस आफ लैंग्वेज—मूलरकृत)॥

अर्थात् बिना भाषा के विचारों का प्रकट होना सर्वथा असम्भव है, उपर्युक्त दोनों का यही भाव है।

(iii) "At one time Sanskrita was the one language spoken all over the world."

(इण्डियन रिव्यू भाग २, ३ पृ० ४२)।

अर्थात् एक समय था जब संस्कृत विश्व भर की भाषा थी।

(iv) "That Panini knew the Pratishakhyas had been indicated long ago by professor Bohtlingk, and it can be proved, by a comparison of Panini sutras with those of Pratishakhyas, that Panini largely availed himself of the works of his predecessors."

(The Sanskrit Literature by Maxmuller)॥

जैसे कुल परम्पराओं में ज्ञान विना सिखाये नहीं चल सकता, इसी प्रकार भाषा भी विना सिखाये नहीं आ सकती। मनुष्य वही भाषा बोलता हुआ देखा जाता है, जो कि उसके कान में पड़ती है। एक शिशु भी वही भाषा बोलता हुआ दृष्टिगोचर होता है, जो भाषा वह अपनी माता वा पिता की गोद में बैठकर सुना करता है, चाहे वह माता पिता से कान में पड़े या अपने परिवार वा अन्य बाह्य व्यक्तियों से, वह वही शब्द बोलता है, जो वह सुनता है। यही कारण है कि एक-एक प्रान्त (जिले) वा प्रदेश की भाषा में निरन्तर भिन्नता पाई जाती है। तात्पर्य यही है कि कोई भी मनुष्य वा बालक विना सिखाये दूसरों की भाषा कदापि नहीं बोल सकता। जब बोल नहीं सकता, तो यह कहना कि वह भाषा स्वयं बना लेगा, किसी प्रकार भी माननीय नहीं हो सकता, यह तो उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर की बात है। संसार में कोई भी जन्म का गूँगा नहीं मिलेगा, जो बहिरा न हो। चूँकि वे बहिरे होते हैं, उन्हें सुनाई कुछ देता नहीं, अतः वे गूँगे भी रह जाते हैं। योरोप, अमेरिकादि में अनेक बादशाहों ने, तथा भारत में सम्राट् अकबर आदि ने कुछ नवजात बच्चों को मनुष्य की बोलचाल से सर्वथा पृथक् रखकर परीक्षण करने का यत्न किया। जिसके लिये उन्होंने कड़ा पहरा लगाया। परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के पश्चात् यही देखने में आया कि कोई कुछ भी नहीं बोल सकता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि विना निमित्त अर्थात् विना शिक्षा के संसार में कोई भी भाषा बोली नहीं जा सकती। ऐसी अवस्था में हमें यही कहना पड़ेगा, अर्थात् इसी सिद्धान्त को मानना होगा कि सृष्टि के आदि में ज्ञान और भाषा साथ-साथ लेकर ही मानव-समुदाय का प्रादुर्भाव संसार में हुआ, क्योंकि विना भाषा (शब्द) के ज्ञान रह ही कैसे सकता है? जहाँ वैदिक ज्ञान वा ईश्वरीय ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ भाषा का प्रादुर्भाव होना भी अनिवार्य है।

यदि कोई कहे कि मनुष्य बहुत समय तक गूंगा ही रहा और वह इशारों से वा चक्षु के व्यापार अर्थात् इङ्गित, चेष्टित से ही काम चलाता रहा, जब मनुष्य का काम इतने से न चला तो भाषा बना ली। हम पूछते हैं भाषा बनाने से पूर्व निरन्तर इतने समय तक उनमें परस्पर संवाद कैसे चलता रहा होगा? जब तक अर्थ का निश्चय नहीं कर लिया होगा, तब तक परस्पर का संवाद क्या निरर्थक ही चलता रहा होगा?

जो हो नहीं सकता, क्योंकि जब तक परस्पर यह निश्चय न हो जावे कि अमुक ध्वनि का अमुक अर्थ नियत रहेगा, संवाद की प्रक्रिया का चलना ही नितान्त असम्भव है, और वह भी उस दशा में, जब कि उनके पास अर्थयुक्त कोई ध्वनि ही नहीं थी। किस प्रकार एक ने दूसरे से कहा होगा कि भाई के लिये 'भा' और बहिन के लिये 'ब' और माता के लिये 'मा' कहना और समझना चाहिये। इतना ही नहीं, दूसरों ने इस अभिप्राय को भला समझा ही कैसे होगा ?

अतः यह सब बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। बुद्धि में तो यही बात ठीक बैठती है, जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं, कि स्वाभाविकज्ञानमात्र से ज्ञान की वृद्धि कदापि नहीं हो सकती, जब तक उसे नैमित्तिकज्ञान की सहायता न मिले। इसी प्रकार भाषा भी विना सिखाये नहीं आ सकती। अतः इसी सिद्धान्त पर पहुंचना पड़ता है कि आदि-ज्ञान और आदि-भाषा का प्रादुर्भाव परमपिता परमात्मा की ओर से हुआ, और सृष्टि के आरम्भ में, जैसे ज्ञान एक था, वैसे भाषा भी एक थी। यदि मनुष्यों की भाषा एक न होती, तो मनुष्यों का परस्पर का व्यवहार ही कैसे चलता? क्योंकि मनुष्य ऐसा प्राणी है, जो समूह (सोसाइटी) के विना रह नहीं सकता। एक भाषा न होने से उसका काम चलना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है।

हम ऊपर कह आये हैं कि 'ईश्वरीय-ज्ञान-वेद' वह ज्ञान है, जो सृष्टि के आदि में मनुष्यों को परमपिता परमात्मा से प्राप्त होता है। यह ज्ञान प्रभु ने जिस भाषा के द्वारा संसार को दिया है, वह भाषा किसी भी अन्य भाषा से उत्पन्न नहीं हुई, और न ही वह आप से आप प्रगट हो गई, क्योंकि मनुष्य के मुख से जो ध्वनि नादरूप में होती हुई वर्णात्मकध्वनि के रूप में हमारे कानों तक पहुंचती है, वैसी ध्वनि संसार में मनुष्य के अतिरिक्त और कहीं से भी सुनाई नहीं देती। हम स्पष्ट देखते हैं कि पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ वर्णात्मक नहीं होतीं। इससे यह बात भली-भाँति समझ में आ सकती है कि मनुष्य अपने वर्णों को किन्हीं बाह्यध्वनियों से अनुकरण कर लेगा, ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि मनुष्य ऐसा कर सकता, तो संसार में किसी देश वा जाति की वर्णमाला अपूर्ण कभी दृष्टिगोचर न होती। प्रत्येक व्यक्ति बाह्यध्वनियों से अपनी-अपनी वर्णमाला को बढ़ा लेता, इससे यह सिद्ध है कि बाह्यध्वनियों से भाषा कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह भी असम्भव है कि मनुष्य के

मुख से भाषा अपने आप ही निकल पड़े, क्योंकि मनुष्य वही भाषा बोलता है जो कि वह दूसरों से सुनता है।

अतः यह सिद्ध है कि भाषा अपने ही आप मुख से निकल पड़े या बाह्यध्वनियों के अनुकरण द्वारा भाषा बन जावे, यह दोनों ही प्रक्रियाएँ नहीं बन सकतीं। यही मानना पड़ेगा कि वह आदि-भाषा केवल परमात्मा की प्रेरणा से ही उत्पन्न हो सकती है जैसे कि आदि ज्ञान। दूसरे शब्दों में आदि-ज्ञान और आदि-भाषा उस परमपिता परमात्मा की ही देन हैं और वे ऋषियों द्वारा प्राप्त होते हैं। परमात्मा की प्रेरणा से ही ज्ञान और भाषा उत्पन्न हो सकते हैं, अन्य उपायों से नहीं। देववाणी किसी भाषा का अपभ्रंश हो सो भी नहीं क्योंकि इसकी उत्कृष्टता को संसार की कोई भी भाषा नहीं पा सकती। और संसार में जितनी भाषायें चलीं, वे सब देवभाषा (संस्कृत) से परम्परा से बिगड़ कर बनीं, जिनका उद्गम स्थान वेद है। यह सत्य है कि एक ही मूल भाषा अनेक कारणों से अनेक शाखाओं में फैलकर अनेक विभागों में विभक्त हो जाती है, जिसका विस्तृत विवेचन यहाँ कठिन है, अर्थात् कालान्तर में वही एक देवभाषा अनेक कारणों से, अनेक शाखाओं में फैलकर अनेक विभागों में विभक्त हो गई है, जिसका विस्तृत विवेचन करना यहाँ पर कठिन है। इस देवभाषा का भी उद्गम स्थान वेदवाणी है।

अतः वेदवाणी ही सब भाषाओं की आदिजननी है। वेद की भाषा कभी बोली जाती रही हो, ऐसी बात नहीं। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इसे भाषा शब्द से नहीं पुकारा गया है, क्योंकि अनन्त प्रभु के ज्ञान वेद में समस्त संसार के ज्ञान का समावेश होने के लिये उसकी रचना स्वभावतः ही ऐसी होनी चाहिये थी, जिसमें एक शब्द अनेक अर्थों का द्योतक हो, अनेकविध ज्ञान एक ही शब्द के द्वारा प्रकट न होने पर ईश्वर को न जाने कितनी बड़ी रचना करनी पड़ती। अतः यही मानना होगा कि आदि में वेद से ले-ले कर शब्दों का प्रयोग होने लगा। जैसा कि शास्त्र कहता है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १।२१॥

वेद से लेकर ही लौकिक शब्दों के नित्य वाच्यवाचक सम्बन्ध जाने गये। वही देववाणी अर्थात् संस्कृत के नाम से कही जानेवाली भाषा व्यवहार में चली। वेद में कहा है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।

ऋ० ८।१००।११॥

विद्वान् लोग वेदवाणी के द्वारा (नित्य शब्दार्थसम्बन्धों को जानकर) देववाणी अर्थात् संस्कृतभाषा का विस्तार करते हैं, उसी को अन्य सब साधारण मनुष्य बोलते हैं।

संसार में जितनी भाषायें हैं, उनमें सब से अधिक विस्तृत, पूर्ण और परिश्रम-साध्य उच्चारण वेदभाषा का ही है। उच्चारण-विषय में जितनी सावधानता वेदवाणी के विषय में की गई है, उतनी किसी में नहीं। इतना ही नहीं, लौकिक संस्कृत भाषा के ही उच्चारण में जितनी मौलिकता, स्वाभाविकता और सावधानता आज तक बर्त्ती गई है, संसार की किसी भी भाषा के उच्चारण में नहीं बर्त्ती गई। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ हम सुनते हैं, वे संख्या में भी अधिक-मात्रा में संस्कृतभाषा में ही पाई जाती हैं। केवल संख्या में ही अधिक पाया जाना कोई महत्त्व नहीं रखता, सबसे बड़े महत्त्व की बात तो यह है कि संस्कृतभाषा की ६३ की ६३ ध्वनियाँ अपनी स्वाभाविकता-नैसर्गिकता-मौलिकता और अनिवार्यता को लिये हुये हैं। संख्या के विषय में सब विद्वान् जानते हैं कि लातीनी-हिब्रू में २० वर्ण माने जाते हैं, फ्रांस की भाषा में २५, अङ्गरेजी में २६, स्पेन की भाषा में २७, तुर्की और अरबी में २८, फारसी में ३१, रूसी भाषा में ३५ और संस्कृत में[1] ६३। वर्त्तमान आर्यभाषा वा सामान्य संस्कृत में ४७ अक्षर बोले जाते हैं, ऐसा किन्हीं का मत है, सो ठीक नहीं। वास्तविक ६३ अक्षर ही देववाणी संस्कृत में हैं, ये ध्वनियाँ स्वाभाविक हैं, जो सार्थक हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा की ही वर्णमाला सब से पूर्ण वा विस्तृत है।

लौकिक और वैदिक भाषा का भेद भी अवश्य ध्यान देने योग्य है। थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाला भी समझ सकता है कि वेद के व्याकरण के नियम लौकिक व्याकरण के नियमों से भिन्न होते हैं। यह बात हम अपने पाठकों को आगे बतावेंगे। धातुओं की जितनी संख्या हमें संस्कृत भाषा में मिलती है, संसार की किसी भाषा में नहीं मिलती। अतः देववाणी (संस्कृत) के आदि भाषा होने और वेद-मूलक होने में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता।

---

१. वायुपुराण में ६३ अक्षर मानकर भी स्वर केवल ह्रस्व, दीर्घ ही माने हैं, ६३ अक्षर पूरे नहीं गिनाये।

आशा है भाषा की उत्पत्ति और उसके स्वरूप के विषय में यहाँ संक्षेप से इतना लिखना ही पर्याप्त होगा।

वेद और प्राचीन ऋषि-मुनियों की परम्परा

वेदज्ञान के स्वरूप का हमने जो ऊपर निरूपण किया, इसमें वेद तथा अन्य ऋषि-मुनियों की दृष्टि से भी पर्यालोचन करना लाभकारी होगा। वेद से पुराना ज्ञान वा ग्रन्थ संसार के पुस्तकालय में नहीं है, इसमें संसार के प्रायः आधुनिक विद्वान् भी सहमत हैं।

(१) इस विषय में स्वयं वेद क्या कहता है सो प्रथम दर्शाते हैं—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांꣳसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥
य० ३१।७॥

उस सर्वपूज्य, सर्वोपास्य, पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए, अर्थात् उस परमेश्वर ने ही वेदों को प्रकाश किया है। यहाँ यह ध्यान रहे कि ऋग्-यजुः-साम में भी तो छन्द हैं, फिर मन्त्र में "छन्दांसि" का ग्रहण किसलिये किया? "व्यर्थं सज्ज्ञापयति" इस नियम से "अथर्व" का ग्रहण ज्ञापक से निकलता है, ऐसा समझना चाहिये।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
अथर्व० १०।७।२०॥

जिस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, जिस परब्रह्म से यजुर्वेद प्रादुर्भूत हुआ, सामवेद जिसके लोम के समान है और अथर्व जिसका मुखरूप है, अर्थात् जिससे सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुये, वह ब्रह्म कैसा है? **"बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्०"** (ऋ० १०।७१।१) इस मन्त्र के सम्बन्ध में हम आरम्भ में दर्शा चुके हैं कि वेदवाणी ही सृष्टि में सब से प्रथम वाणी होती है। संसार के सब पदार्थों के नाम-कर्मादि का बोध उसी से होता है। वह श्रेष्ठ सर्वोत्कृष्ट होती है। सबके

लिये समान परिश्रम-साध्य और प्रभु की प्रेरणा से ऋषियों की बुद्धि में निहित होकर प्रकाशित होती है। इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र **"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्०"** में यह बतलाया है कि वेद का ज्ञान पहले ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट होता है, तब पीछे मनुष्य उसको प्राप्त करते हैं। इस प्रकरण में ये दोनों मन्त्र स्पष्ट बतलाते हैं कि वेद में वेद का स्वरूप कैसे माना गया है। इन उपर्युक्त मन्त्रों पर विचार करने से स्पष्ट है कि वेद-ज्ञान का प्रकाश तथा वाणी (भाषा) का प्रकाश उस परब्रह्म परमेश्वर से होता है। चारों वेदों का विभाग जगदीश्वर के द्वारा हुआ, तथा वह ज्ञान वा वाणी ऋषियों द्वारा ही मनुष्यों को प्राप्त होती है, यह वेद का सिद्धान्त है। यहाँ "अनु-अविन्दन्" पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। "ऋषिषु प्रविष्टाम्" से स्पष्ट है कि वह ऋषियों में प्रविष्ट हुआ ज्ञान वा वाणी है, ऋषियों की अपनी बनाई नहीं, अर्थात् उनका अपना ज्ञान नहीं।

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥

ऋ० ८।७५।६॥

इस मन्त्र में "वाचा विरूपनित्यया" इन पदों से वेदवाणी को नित्य कहा गया है। सायणाचार्य ने भी इसका ऐसा ही अर्थ किया है, यथा—"नित्यया उत्पत्तिरहितया वाचा मन्त्ररूपया सुष्टुतिं नूनमिदानीं चोदस्व स्तुहि"—अर्थात् हे महर्षे! उत्पत्तिरहित मन्त्ररूप वेदवाणी के द्वारा स्तुति किया कर।

(२) शतपथ तथा ऐतरेयब्राह्मण—

वेद का प्रमाण उपस्थित करने के पश्चात् अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि परम्परा से ऋषि-मुनियों की दृष्टि में वेद का क्या स्वरूप है। शतपथब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के संवाद में कहा है कि—

(क) **"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"** ॥ श० १४।५।४।१०॥

१. इस विषय में देखें पृ० १६ टि० २॥

अर्थात् हे मैत्रेयि ! उस महान् परब्रह्म परमेश्वर से चारों वेद श्वास-प्रश्वास की भाँति अनायास निःश्वसित अर्थात् प्रकाशित हुए ।

(ख) इसी शतपथब्राह्मण में आगे कहा है—

"अग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः" । श० ११।५।८।३॥

अर्थात् (परमात्मा की प्रेरणा से) अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद का प्रादुर्भाव हुआ ।

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण २५।७ में भी लिखा है—

"ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्" ।

(३) निरुक्तकार यास्कमुनि—

(क) **"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"** । निरु० १।२॥
पुरुष की विद्या अनित्य होने से वेद ही सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है ।
(ख) **"नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति"** । निरु० १।१६॥
वेदवाणी नित्य है, तथा उसकी आनुपूर्वी भी नित्य होती है, अर्थात् उसमें घटा बढ़ी नहीं हो सकती ।

(४) पाणिनि तथा पतञ्जलि—

ये दोनों आचार्य भी वेद को नित्य मानते हैं, अर्थात् इनकी आनुपूर्वी को नित्य बतलाते हैं । जहाँ पाणिनिमुनि ने **"छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि"** (अ० ४।२।६६) इस सूत्र में तथा अन्य कई सूत्रों में ब्राह्मणों की वेद से भिन्नता स्वीकार की, वहाँ **'कृते ग्रन्थे'** (अ० ४।३।११६) और **"तेन प्रोक्तम्"** (अ० ४।३।१०१) इन दोनों सूत्रों को पृथक्-पृथक् बनाकर कृति और प्रवचन का भेद दर्शाया । "तेन प्रोक्तम्" सूत्र में भाष्यकार पतञ्जलिमुनि कहते हैं—

या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या । तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति ।। अ० ४।३।१०१ भाष्ये ।।

इसमें कठ-कलाप-पैप्पलादादि शाखा-ग्रन्थों की आनुपूर्वी को महाभाष्यकार अनित्य मानते हैं, उधर वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं, जैसा कि—

"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य ।
वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियतास्यवामशब्दस्य" ।।

महाभा० ५।२।५९॥

आम्नाय अर्थात् वेद की आनुपूर्वी तथा स्वर नित्य होते हैं, यह स्पष्ट यहाँ कहा गया है। यह स्वरूप है वेद का, पाणिनि और पतञ्जलि के मत में। पतञ्जलि का तो यह वचन ही है, वह जिस सूत्र की व्याख्या करता है, वा जिस सूत्र का यह भाष्य है, वह सूत्र पाणिनि का है, अत एव हम कहते हैं कि यह मत उपर्युक्त दोनों आचार्यों का है। उस उपर्युक्त वचन से वेद की नित्यता सूर्य के प्रकाश की भाँति सिद्ध है।

(५) मानवधर्मशास्त्र—

अब हम मनु महाराज की वेद के विषय में क्या धारणा है, सो दर्शाते हैं—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥१॥ मनु० १२।९४॥

वेद ज्ञानी, विद्वान् और मनुष्यों का सनातन चक्षु है, इसको कोई व्यक्ति बना नहीं सकता। यह (अङ्गोपाङ्गों के विना) जाना नहीं जा सकता।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥२॥ मनु० १२।९७॥

चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम तथा भूत, वर्त्तमान और भविष्य की सब व्यवस्थायें, वेद से ही संसार में प्रचलित होती हैं, अर्थात् वेद ही इनका उद्गम स्थान है।

बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥३॥ मनु० १२।९९॥

सर्वकाल से वर्त्तमान वेदशास्त्र द्वारा सम्पूर्ण जीवों का धारण वा पोषण होता है। प्राणिमात्र के लिये वेद को मैं (मनु) परमसाधन मानता हूं। "धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" (मनु० २।१३) इसमें भी वेद को ही परम प्रमाण माना है।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥४॥ मनु० १२।१००॥

सेनापत्य, राज्य तथा दण्डादि की सब व्यवस्था और सब लोकों पर आधिपत्य=राज्य करने के लिये वेदशास्त्र का ज्ञाता सब से मुख्य अधिकारी होता है।

वेद का कैसा उत्तम स्वरूप भगवान् मनु ने बतलाया ! इन उपर्युक्त श्लोको में बार-बार वेद को नित्य, सनातन, सब विद्याओं का भण्डार और परमप्रमाण कहा गया है। "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है", इस पर कई आशङ्का किया करते हैं; पाठक देखें इस विषय में मनु महाराज क्या कहते हैं—

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥५॥ मनु० २।७॥

वेद में सब धर्म अर्थात् नियमों का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वेद सर्वज्ञान का स्रोत है। दूसरे शब्दों में समस्त विद्यायें वा विज्ञान वेद में हैं। 'सर्वज्ञानमय' वेद को तभी कहा जा सकता है।

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥६॥ मनु० १२।९६।

वेद से भिन्न (विपरीत) अनेक ग्रन्थ बनते रहते हैं, और नष्ट होते रहते हैं। वे सब प्राचीन-परम्परा के अनुसार न होने से निष्फल और असत्यपूर्ण होते हैं।

वेद के विषय में कितने उत्कृष्ट विचारों से भरा यह वर्णन है, जो मनु महाराज के उपर्युक्त श्लोकों में हमें मिलता है। यह है वेद का स्वरूप जो ऋषियों ने समझा।

वेद किनके द्वारा प्रकाशित हुए, यह भी मनु महाराज ने बतलाया—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥७॥ मनु० १।२३॥

ऋग्, यजुः आदि अग्नि, वायु आदि ऋषियों के द्वारा प्रकाशित हुए। इसी श्लोक की टीका में कुल्लूकभट्ट ने भी लिखा है—

"वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः। पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्मसूर्त्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष……" । मनु० १।२३ टीका ॥

अर्थात् मनु महाराज वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। जो वेद पूर्व कल्प में थे, वे ही अब भी वर्त्तमान हैं।

(६) महाभारत—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२।२४॥

सृष्टि के आरम्भ में, स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी वाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका आदि वा अन्त नहीं, जो नित्य है, और जिसका कभी नाश नहीं होता, जो दिव्य है, उसी से संसार में सब प्रवृत्तियाँ चलती हैं। "अनादिनिधना" से यहाँ पर अक्रमारूढ़ ज्ञान समझना चाहिये, जिसके विषय में हम आरम्भ में पर्याप्त कह चुके हैं।

अब हम दर्शनकार ऋषियों के मत में वेद का क्या स्वरूप है, वे वेद को कैसा समझते हैं, इसका दिग्दर्शन अति संक्षेप से कराते हैं—

(७) वैशेषिक—

(क) [1]**तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्** ॥ वै० १।१।३॥

ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता सिद्ध है।

वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्यविद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है। इससे चारों वेद नित्य हैं, ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है, क्योंकि ईश्वर नित्य है, उसका वचन (विद्या) भी नित्य होने से प्रमाण है, यह कणादमुनि का मत है।

उदयनाचार्य ने भी इस सूत्र में "तत्" शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हुए कहा कि वेद ईश्वरोक्त होने से प्रमाण हैं, इसलिये वेदप्रमाणक धर्म के निरूपण की प्रतिज्ञा करने में कोई दोष नहीं।

(ख) वैशेषिकदर्शन का टीकाकार शङ्कर मिश्र अपने उपस्कार में लिखता है—

"तद्वचनादिति। तदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति, यथा "तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" (न्या० २।१।५६) इति गौतमीयसूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते। तथा च तद्वचनात् तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्" ॥

वै० १।१।३ उपस्कार पृ० ७ ॥

---

१. यहाँ, इस सूत्र का अर्थ करनेवालों ने 'तद्' शब्द से प्रायः 'धर्म' का ग्रहण किया है? ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३२ में—

"तद्वचनात् तयोर्धर्मेश्वरवचनाद् धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरस्यैवोक्तत्वादाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम्"।

विदित रहे कि वैशेषिक के टीकाकार शङ्करमिश्र ने अपने उपस्कार में 'तद्' शब्द से ईश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसका उल्लेख हमने आगे किया है।

अर्थात् वैशेषिक के इस सूत्र में 'तद्' शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है। ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता है।

(ग) उदयनाचार्यकृत किरणावली (पृ० १३) में उद्धृत **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'** सूत्र के विषय में "**किरणावलीप्रकाश**" में लिखा है—**'तद्वचनादिति। तेनेश्वरेण वचनात् प्रणयनादाम्नायस्य प्रामाण्यमित्यर्थः'**।

अर्थात् तद्वचन=ईश्वर का वचन होने या उसकी कृति होने से वेद का प्रामाण्य है।

(घ) प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या किरणावली में उदयनाचार्य कहते हैं—

"अविच्छेदे तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति व्याकुप्येत। लोकसन्तत्यविच्छेदे वेदसम्प्रदायस्याप्यविच्छेदात्।" पृ० ८९॥

अर्थात्—यदि सृष्टि का आरम्भ नहीं मानें तो कणाद मुनि का 'ईश्वर-वचन होने से वेद का प्रामाण्य है' कथन युक्तिसङ्गत नहीं ठहरता। क्योंकि यदि सृष्टि का आरम्भ और अन्त नहीं हो तो वेद का भी आरम्भ और अन्त न होगा, अतः सूत्रकार के मत में सृष्टि का आरम्भ है और उसी समय ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वर वेद का ज्ञान देता है।

(८) न्यायशास्त्र—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥

न्या० २।१।६७॥

गौतममुनि कहते हैं—आप्तों द्वारा सदा से प्रामाण्य स्वीकार करते आने के कारण वेद का प्रामाण्य मानना चाहिये, जैसा कि मन्त्र(विचार) और आयुर्वेद का प्रमाणत्व स्वीकार करना ही पड़ता है।

न्यायभाष्यकार कहते हैं—**"य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्।"** न्या० भा० २।१।६७॥ पृ० १६७॥

अर्थात्—आप्त (ऋषि) लोग वेद के प्रवक्ता (प्रवचन करनेवाले) तथा द्रष्टा हुए, न कि कर्त्ता।

आगे फिर लिखते हैं—**'मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यं लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति'**। पृ० १६८।

अतीत वा अनागत मन्वन्तर वा युगान्तरों से वेद अविच्छिन्न चले आ रहे हैं, अतः नित्य हैं।

(६) सांख्य—

सांख्यशास्त्र के पञ्चमाध्याय में वेद के नित्यत्व तथा अपौरुषेयत्व विषय में कई एक सूत्र दिये हैं। जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः। सां० ५।४५॥

वेद नित्य नहीं, क्योंकि उनके विषय में "उत्पन्न हुये" आदि शब्दों का व्यवहार अर्थात् उनके कार्य होने का उपदेश स्वयं वेद में पाया जाता है, जैसा कि "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" (यजुः ३१।७) इत्यादि।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर अगले ही सूत्र में देते हैं—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्॥ सां० ५।४६॥

वेद किसी पुरुष के बनाये नहीं, क्योंकि उनका बनानेवाला आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

अतः वेद की उत्पत्ति को प्रवाह से अनादि मानने में कोई दोष नहीं आता।

यही बात मीमांसाभाष्य की व्याख्या में **भट्टकुमारिल** ने भी कही है—**"कर्त्तुः स्मरणाभावादपौरुषेया वेदा इति"**। (तन्त्रवार्त्तिक पृ० १०१)।

यदि कहो कि मुक्त पुरुष बना लेंगे, सो भी ठीक नहीं।

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्। सां० ५।४७॥

मुक्त और अमुक्त दोनों ही वेद का निर्माण नहीं कर सकते, क्योंकि मुक्त तो आनन्द भोगने में रहता है, वह उस समय करता कुछ नहीं, अमुक्त अज्ञानी होने से नहीं बना सकता।

अन्त में कहते हैं—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्॥ सां० ५।५१॥

ईश्वर की स्वाभाविक शक्ति द्वारा प्रकाशित होने से वेद स्वतःप्रमाण हैं।

(१०) योगशास्त्र—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो० १।२४॥

क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इनसे रहित जो पुरुषविशेष है, उसको ईश्वर कहते हैं।

इस सूत्र पर व्यासभाष्य में लिखा है—

"तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किन्निमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिसम्बन्धः। एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति"।

योगभाष्य १।२४; पृ० २८, २९।

उस उत्कर्ष (उत्कृष्टता) का निमित्त शास्त्र है। शास्त्र का निमित्त क्या है? इस पर कहते हैं कि प्रकृष्ट सत्त्व अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ज्ञान शास्त्र का निमित्त है। ईश्वर के ज्ञान में वर्त्तमान इस शास्त्र और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान का सम्बन्ध अनादि है। इस कारण से वह सदा ऐश्वर्यवाला तथा सदैव मुक्त कहा जाता है।

यहाँ वाचस्पति मिश्र भी यही कहते हैं—

"तथा चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वरप्रणीतस्तद्बुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव भवितुमर्हति··तत्सिद्धं प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तं शास्त्रमिति"॥

लौकिक और पारलौकिक सुख के साधनों का उपदेश करनेवाला ईश्वर का रचा हुआ वेद भी उसके उत्कृष्ट ज्ञान से ही उत्पन्न हो सकता है।······इससे सिद्ध हुआ कि वेद का निमित्त ईश्वर का उत्कृष्ट ज्ञान ही है।

(११) वेदान्त—

(१) **शास्त्रयोनित्वात्**॥ वेदा० १।१।३॥

ऋग्वेदादि-शास्त्र का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है।

इसी सूत्र के भाष्य में श्री स्वामी शङ्कराचार्यजी महाराज लिखते हैं—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति"॥

वेदा० शां० भा० १।१।३॥

अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूर्ण, प्रदीप के समान सब पदार्थों का प्रकाश करनेवाले महान् ऋग्वेदादिशास्त्र का कारण ब्रह्म ही है। सर्वज्ञ ब्रह्म को छोड़कर और कौन है जो ऐसे शास्त्र को बना सकता हो ?

(२) अत एव च नित्यत्वम् ॥ वेदा० १।३।२६॥

परब्रह्म परमेश्वर से प्रकाशित होने से वेद नित्य हैं।

इसी सूत्र के शाङ्कर भाष्य में लिखा है—

"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् (ऋ० १०।७१।३) **इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति । वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—**

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥ इति" (महाभारत)

अर्थात् नित्य वेदवाणी को जो ऋषियों में प्रविष्ट होती है, पश्चात् अन्य मनुष्य प्राप्त करते हैं। व्यासजी भी यही कहते हैं कि वेद स्वयम्भू परमात्मा से प्रकाशित होते हैं।

नित्य प्रभु से प्रकाशित होनेवाला वेद भी नित्य है, इतना दर्शाना यहाँ अभिप्रेत है।

(१२) मीमांसा—

जैमिनि मुनि भी अपने मीमांसाशास्त्र के प्रथमाध्यायस्थ प्रथम पाद के पञ्चमाधिकरण में वेद का प्रामाण्य सिद्ध करके षष्ठाधिकरण में शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए—

(१) नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात् । मी० १।१।१८॥

इस सूत्र में शब्द का नित्यत्व स्वीकार करते हैं। जब लौकिक शब्द तक नित्य हैं, तो भला वैदिक शब्दों का तो कहना ही क्या !

आगे आठवें अधिकरण में वेदापौरुषेयत्व विषय का निरूपण करते हैं—

(२) वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या । मी० १।१।२७॥

जैमिनि मुनि इस सूत्र में पूर्वपक्ष उठाते हैं, कि वेदों के साथ पुरुष का सम्बन्ध अर्थात् समाख्या (नाम) देखा जाता है (जैसे शाकलादि), अतः वेद अनित्य हैं।

इसका उत्तर स्वयं देते हैं—

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वात् ॥ मी० १।१।२९॥

इसका उत्तर हम पहले (शब्दनित्यताधिकरण में) दे चुके हैं। यहाँ समाख्यामात्र का परिहार करते हैं—

आख्या प्रवचनात् ॥ मी० १।१।३०॥

आख्या (समाख्या) प्रवचन के कारण से है। पदपाठादि के प्रवचन द्वारा भी इनकी समाख्या पुरुष के सम्बन्ध को लेकर चली है।

(३) इस विषय में मीमांसा के आचार्य कुमारिलभट्ट आदि ने भी वेद की नित्यता को स्वीकार किया है। वह मीमांसा १।१।२९ की व्याख्या 'तन्त्रवार्त्तिक' में लिखते हैं—

"सर्वे हि यथैव गुरुणाधीतं तथवाधिजिगांसन्ते, न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति, यः कर्त्ता स्यात्। तस्मात् कर्त्तृ-स्मरणाभावादपौरुषेया वेदा इति भावः। एवं च पूर्वमेव वेदापौरुषेयत्वस्य सिद्धत्वात् तद्विषये पुनः प्रयत्नो न करणीय इति केवलं समाख्याद्यव-लम्बनेन कृतस्याक्षेपस्य परिहारो वक्तव्योऽभिधीयते"।

अर्थात् विना अध्ययन के वेदों का ज्ञान हो नहीं सकता। वेद किसी ने बनाये, यह किसी ने आज तक नहीं कहा। अतः स्पष्ट है कि वेद अपौरुषेय हैं। यहाँ यह भी बतलाया कि पूर्वसूत्र **'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या'** (मी० १।१।२७) में जो पूर्वपक्ष उठाया गया है, वह केवल समाख्या (संज्ञा, शाकलादि नाम) को लेकर ही उठाया गया है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि वेद की अपौरुषेयता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है। इससे सिद्ध है कि कुमारिल भट्ट भी यहाँ पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के सूत्रों से जैमिनि के मत में वेद की अपौरुषेयता मानकर केवल शाकलादि समाख्या (संज्ञा) को लक्ष्य में रखकर ही पूर्वपक्ष उठाया गया है, ऐसा मानते हैं।

(१३) शाङ्ख्यायन-श्रौतसूत्र-भाष्य—

"कथं वेदस्य प्रामाण्यम्? अपौरुषेयत्वात्, अर्थप्रत्यायकत्वात्, बाधक-प्रत्ययाभावात्"। (आनर्त्तीय भा० पृ० १)।

इसी प्रकार अन्य श्रौतसूत्रों के भाष्यकारों ने भी वेद को अपौरुषेय माना है।

इसी प्रकार निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य तथा अन्य, भर्तृहरि, उदयनाचार्य, विज्ञानभिक्षु, वाचस्पतिमिश्रादि प्रायः सभी विद्वान् वेद को अपौरुषेय तथा नित्य मानते हैं। प्रायः सभी श्रौत-गृह्य तथा धर्मसूत्रकार और उनके टीकाकार भी मानते हैं, यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा।

ये सब प्रमाण उपस्थित करने का हमारा अभिप्राय इतना ही है कि वेद परमपिता परमात्मा की वाणी है, वेद किसी पुरुष की कृति नहीं, अपितु अपौरुषेय है, नित्य प्रभु का नित्य प्रकाश(ज्ञान) है। 'वेदनित्यत्व' विषय की विशेष विवेचना पाठकों को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अवश्य देखनी चाहिये।

शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता

जिस शब्द का जो अर्थ है, वह कब से है, कैसे है, इन दोनों का परस्पर में सम्बन्ध कैसा है, इस बात का विचार किये विना भी वेदविषय की यथार्थ धारणा पर नहीं पहुंचा जा सकता।

'गौ' का अर्थ गाय ही है, था और होगा। 'अश्व' नाम घोड़े का ही है और रहेगा। संस्कृत में 'गच्छति' का अर्थ जाना ही है, 'पिबति' का पीना ही है, था और रहेगा? यह सब क्यों? इस प्रश्न के हल करने में, जो देखने में बहुत छोटा सा प्रतीत होता है, बड़े-बड़े विद्वान् भी बड़े भारी सन्देह में पड़ जाते हैं। हमारे सुहृद् स्वर्गीय श्री० पं० रघुनन्दन शर्माजी अपने जन्मस्थान के समीप (जि० रायबरेली) रघुराजगंज स्टेशन पर १९१७ में जब मिले, तो वह उस समय इसी विचारधारा (चक्र) में थे। 'अक्षरविज्ञान' की पुस्तक वह उससे पूर्व लिख चुके थे। जब उन्हें महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि का—

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (महाभाष्य पस्पशाह्निक)।

अर्थात् शब्द-अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है, यह प्रकरण समझाया गया, तो अतीव सन्तुष्ट हुए। इसका अर्थ यही है कि सृष्टि के आदि में शब्द अर्थ का जो सम्बन्ध था, वह वही था जो प्रलय से पूर्व था, तथा जब-जब सृष्टि हुई तब-तब था, क्योंकि परमात्मा के नित्य होने से उस का दिया वेदज्ञान, उसमें की समस्त विद्यायें और ज्ञान भी नित्य हैं। शब्दार्थ-सम्बन्धों के ज्ञानसहित ही वेदज्ञान का प्रकाश ऋषियों के हृदय में हुआ।

जिस शब्द का जो अर्थ है, वह उसकी स्वाभाविक शक्ति पर ही निर्भर है। इसमें मनुष्य क्या कर सकता है? यह स्वाभाविकता ही शब्द अर्थ सम्बन्ध की नित्यता है, जो ईश्वर द्वारा सृष्टि के आदि में वेदज्ञान के अन्तर्निहित होती हुई ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित होकर आगे सृष्टि में व्यवहार में आती है। अत एव महाभाष्यकार कहते हैं—

(क) **"किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थानामभिधानम्, आहोस्विद् वाचनिकम्? स्वाभाविकमित्याह।......स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानां निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते। ....असम्भवः खल्वप्यर्थादेशनस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम्।"** अ० २।१।१ महाभाष्य पृ० ३२५, ३२६।

(ख) **"अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्।"** अ० २।२।२९ महाभाष्य पृ० ४६८।।

इन दोनों स्थलों में कहा गया है कि शब्द का अपने ही अर्थ को कहना स्वाभाविक है, कृतक नहीं। धातु-प्रातिपदिक-प्रत्यय-निपात इनके अर्थों की इयत्ता को कोई नहीं बाँध सकता कि इस धातु या प्रातिपदिक का इतना ही अर्थ है, भिन्न नहीं हो सकता, यह बात नहीं। वेद से (अर्थात् ईश्वर द्वारा) प्रकाशित शब्दार्थसम्बन्ध नित्य होते हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदनित्यत्वविषय में ऋषि दयानन्द कहते हैं—

"ये परमात्मस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति, येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्याश्च।" पृ० २७।

ईश्वर के ज्ञान में तथा उसके द्वारा दिया गया जो शब्दार्थ-सम्बन्ध है, वह सब नित्य है। ईश्वर ने सृष्टि के आदि में जितने भी पदार्थ उत्पन्न किये, आदिज्ञान वेद में उन सब के नाम वा तत्सम्बन्धी ज्ञान, (जिसमें शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान भी है) आरम्भ में ही अवश्य दिया, क्योंकि पदार्थ दिये और उनका ज्ञान न दिया, यह कभी नहीं हो सकता। इतना ईश्वरकृत शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। उसके पश्चात् मनुष्यों ने वा ऋषियों ने **'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।'** इस वचन के अनुसार वेद के शब्दों से लेकर जो शब्दार्थ-सम्बन्ध व्यवहार में चलाया, वह सब भी नित्य ही है। हाँ जो शब्द-अर्थ-सम्बन्ध मनुष्य समाज ने पीछे कल्पित वा साँकेतिक पर-

स्पर व्यवहार के लिये किया, वह शब्दार्थ-सम्बन्ध अवश्य ही अनित्य है। श्री० स्वामीजी महाराज के उपर्युक्त लेख का अभिप्राय भी यही है। पाणिनि, पतञ्जलि, व्यास तथा जैमिनि आदि ऋषि शब्द-अर्थ-सम्बन्ध की नित्यता को ही मानते आ रहे हैं। सम्पूर्ण वैदिक तथा लौकिक साहित्य में शब्द-अर्थ-सम्बन्ध की नित्यता को माना गया है, जो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपर्युक्त प्रकरण तथा उस-उस शास्त्र के अवलोकन से देखा जा सकता है।

(१) नित्य शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में मीमांसा के **"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"** (अ० १।१।५) सूत्र के शाबरभाष्य में लिखा है— **"औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धो नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः।"**

मीमाँसा के (१।१।५) सूत्र में 'औत्पत्तिक' शब्द का अर्थ नित्य है। उत्पत्ति शब्द से लक्षणा द्वारा भाव कहा जाता है। शब्द और अर्थ का नित्य भाव=सम्बन्ध है, न कि शब्द और अर्थ के उत्पन्न होने के पीछे उनका सम्बन्ध किया जाता है।

(२) वाक्यपदीय १।२३॥

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥

अर्थानामपि नित्यत्वं कैश्चिदाकृतिनित्यत्वादेवाभ्युपगम्यते। तथा ह्याह—'कतरस्मिन् पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति? आकृतावित्याह'। एतस्मिश्च भाष्योद्देशे यावन्तः पक्षास्तेष्वर्थस्य नित्यता बहुधा व्याख्याता। सा यथाभाष्यमनुगन्तव्या"॥ (वाक्यपदीय भर्तृहरि टीका, भाग १। पृ० ३५)। शब्दार्थनित्यता के सम्बन्ध में वाक्यपदीय में बहुत उत्तम निरूपण किया गया है, जो बहुत ही उपादेय है, पाठक वहीं से देखें।

सूत्र, वार्त्तिक और भाष्य के रचनेवाले महर्षियों ने शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य ही माना है। कई लोग आकृति (जाति) पक्ष में अर्थों को नित्य मानते हैं। जैसा कि भाष्य में कहा है—"किस पक्ष में यह **'शब्दे अर्थे सम्बन्धे च'** विग्रह युक्त है? आकृतिपक्ष में"। भाष्य के इस प्रकरण में जितने पक्ष उठाये हैं, उनमें अर्थ की नित्यता बहुत प्रकार से बताई है। उसे भाष्य से ही समझना चाहिये।

(३) शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता पर कुछ अन्य प्रमाण भी उपस्थित करते हैं---

(i) तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया (ऋ० ८।७५।६) ॥

इसका अर्थ पूर्व पृ० ४७ पर कहा जा चुका है।

(ii) "वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवत् स्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते 'अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति'। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते, सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः—इत्यागमिनः प्रतिजानते" (योगव्यासभाष्य १।२७)। अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध नित्य है। संकेत भी जो किया जाता है, वह ईश्वर द्वारा दिये नित्य अर्थ का द्योतन ही करता है। जैसा कि पिता पुत्र का सम्बन्ध 'यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है' स्थित होता है, संकेत से बताया जाता है। अन्य सृष्टियों में भी उसी वाच्यवाचकशक्ति के आधार पर संकेत किया जाता है, ज्ञान की नित्यता से शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होता है॥

(iii) शाङ्करभाष्य—"अतः प्रभवत्वात्। अत एव हि वैदिकशब्दाद् देवादिकं जगत् प्रभवति" (वेदान्त १।३।२८ शां० भा०)।

अर्थात् वैदिक शब्दों से जगत् में देवादि का व्यवहार चला, यह सूत्र का अभिप्राय है।

(iv) शां भा० "अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद् वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्। तथा मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्' इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥"

(शां० भा० १।३।२९ पृ० १२८)

अर्थात्—(हर कल्प में) नियत आकृतिवाले देवादि शब्दों का ज्ञान वेद शब्दों से होने के कारण वेदशब्दों की नित्यता स्वयं सिद्ध है। जैसा कि मन्त्र में भी कहा कि '(परमात्मा द्वारा) ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी को ऋषियों ने उसके अनन्तर ही जाना', इस वचन से भी नित्य वाणी को पीछे जाना, ऐसा ही अर्थ निकलता है।

(v) शां० भा० १।३।३० (पृ० १३०, १३१)—

"प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव च प्रभवति। इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्......समानरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः'॥ इति। यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत् क्लृप्तं तथाऽस्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः...... । स्मृतिरपि—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥१॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥२॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥३॥"

अर्थात् प्रलय होने पर शक्ति (जिसके द्वारा कि प्रलय होती है) बनी रहती है। उसी के आधार पर आगे उत्पत्ति होती है। नहीं तो 'सृष्टि की उत्पत्ति आकस्मिक हो जाती है' ऐसा मानना पड़ेगा.........पूर्वसृष्टि के समान ही सृष्टि होती है, यह 'यथापूर्वमकल्पयत्' में कहा है। इस विषय में स्मृति भी प्रमाण है—

"ऋषियों के नाम तथा वेद के जो अर्थ हैं, प्रलय के पश्चात् सृष्टि होने पर अज (परमात्मा) जीवों के लिये वही-वही (पूर्ववत्) देता है। जैसे ऋतु-ऋतु में समाप्ति पर आनेवाली ऋतु के चिह्न दीखने लगते हैं, पूर्व ऋतुओं के समान ही वे देखे जाते हैं, उसी प्रकार युगों के आरम्भ में भी होता है। अतीत देव वर्त्तमान के देवों के समान रूप और नामादि में देखे जाते हैं॥"

शब्दार्थनित्यत्व के विषय में उपर्युक्त लेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

(४) अहिर्बुध्न्यसंहिता ३०।१२॥

हरिः स्वशक्तिरूपेण कालेन च समन्वितः।
महदादिषु सृज्येषु सृष्टिं चक्रे जगन्मयः॥
वेदानालोच्य भूतानां देवादीनां यमः प्रभुः।
नामरूपे च विविधं यथापूर्वमकल्पयत्॥

परमात्मा अपनी शक्ति से महदादि के क्रम से सृष्टि को बनाता है।

और वेद के अनुसार ही भौतिक पदार्थों और देवों के नाम और रूप पूर्वसृष्टि के अनुसार रचता है ॥

जो न्यायविद् शब्दार्थ-सम्बन्ध को साङ्केतिक मानते हैं, वे भी ईश्वर द्वारा ही साङ्केतिक मानते हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों में कोई भेद नहीं पड़ता।

यहाँ इतना और समझ लेना आवश्यक है—

"धाता यथापूर्वमकल्पयत्" ॥ ऋ० १०।१९०।३॥

'गौ' 'अश्व' आदि शब्दों का जो अर्थ पूर्वसृष्टि में रहा, वही अब वर्त्तमान में भी है, और आगे भी रहेगा। यह कभी नहीं होगा कि पूर्व सृष्टि में 'अश्व' का अर्थ गाय और 'गौ' का अर्थ घोड़ा, गच्छ (गम्) का अर्थ खाना और भक्ष का अर्थ जाना रहा हो। सृष्टि के आदि में भाषा भी परमात्मा द्वारा दी गई, यह हम पूर्व भली-भाँति दर्शा चुके हैं। जब भाषा दी, तो वाच्यवाचक सम्बन्ध के बिना संसार में व्यवस्था कभी चल ही नहीं सकती, अतः वाच्यवाचक सम्बन्ध का उपदेश भी वेदज्ञान द्वारा सृष्टि के आदि में ऋषियों को दिया गया, जिससे आगे सब व्यवहार की प्रवृत्ति हुई।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वेद में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, लौकिक भाषा में उनका संकोच हो गया है। महाभाष्यकार कहते हैं—

"प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानम् । ···नैकेन शब्देनानेकस्याभिधानं प्राप्नोति ।······ इष्यते च एकेनाप्यनेकस्याभिधानं स्यादिति" ॥ अ० १।२।६४ महाभाष्य पृ० ७३ ॥

यहाँ लौकिक शब्दों की अनेकार्थता का निरूपण किया गया। वैदिक शब्दों के विषय में तो निरुक्तकार स्वयं उनके अर्थों को व्यापक मानते हैं। जैसा कि कर्मनामों में 'चित्ति' पद का पाठ न होने पर भी **"चित्तिभिः कर्मभिः"** (नि० २।९) द्वारा स्पष्ट विदित हो रहा है कि यास्क ने अपने निघण्टुप्रदर्शित अर्थों को बाँध नहीं दिया। इस विषय में हम आगे अधिक कहेंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस वाच्यवाचक सम्बन्ध के सामान्य नियमों के विषय में निरुक्त, निघण्टु, व्याकरण तथा प्राचीनकोशादि ग्रन्थ परम-सहायक हैं। वर्त्तमान नवीन मनुष्यकृत कोशों में वाच्यवाचक सम्बन्ध की

उस प्राचीन परम्परा से अज्ञानवश या किन्हीं कारणों से विमुख होकर अनेक नई कल्पनायें की गईं, जिनके अनुसार बहुत सा नवीन साहित्य बन जाने पर शब्दार्थ-सम्बन्ध की उस नित्यता का वास्तविक स्वरूप लुप्त हो गया, जो सृष्टि के आदि से वंश-परम्पराओं से आ रही थी। इस बात की सत्यता को हृदयङ्गम करने के लिये वैदिक साहित्य के गम्भीर अनुशीलन तथा विमलमेधा की आवश्यकता है, जो अनेक तहों में छिपी वाच्यवाचक सम्बन्ध की धुन्दली (धूली वा अन्धकार से आच्छादित) प्रकाश की रेखा को देख सके। इस विषय पर बहुत विशद प्रकाश डालने की आवश्यकता है, यहाँ हम इतना कहना चाहते हैं, कि शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता की इस धारणा को भली प्रकार समझ कर और मन में धारण करके ही हमें आगे के प्रकरणों को समझना होगा। वास्तव में तो वेद विषय में सब से कठिन और सब से अधिक आवश्यक विषय ही यही है। वेदशब्दों के वाच्य-वाचकसम्बन्धों का निर्णय करना ही वेदार्थ प्रक्रिया का जीवन स्थानीय मूलमन्त्र है। इस मूल विचार को लेकर प्रकाश डालना ही हमारे इस समस्त कथन का मौलिक उद्देश्य वा अभिप्राय समझना चाहिये।

वेदों का विभाग

ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान भेद से वेद के चार विभाग ऋग्, यजुः, साम और अथर्व नाम से सृष्टि के आदि में प्रसिद्ध हुए। **ऋचन्ति' स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावमनया सा ऋक्'**—पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव बतानेवाला ऋग्वेद है। **'यजन्ति येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, शिल्पविद्यासङ्गतिकरणं च कुर्वन्ति शुभविद्यागुणदानं च कुर्वन्ति तद् यजुः'**—अर्थात् जिससे मनुष्य ईश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, शिल्पक्रियासहित विद्याओं की सिद्धि, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ गुणों का दान करें वह यजुर्वेद है। **'स्यति कर्माणाति सामवेदः'**—जिससे कर्मों की समाप्ति द्वारा कर्म बन्धन छूटें, वह सामवेद है। **'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्-प्रतिषेधः'** (निरु० ११।१८), चर

---

१. निरु० १३।७ में—"यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति" और काठक सं० ४०।७ के ब्राह्मण में—"ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति ॥" ऐसा कहा है ॥

संशये (चुरादिः), संशयराहित्यं सम्पाद्यते येनेत्यर्थकथनम्—अर्थात् जिस के द्वारा संशयों की निवृत्ति हो उसे अथर्ववेद कहते हैं ॥

ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है, यजुर्वेद कर्मकाण्ड, सामवेद उपासनाकाण्ड और अथर्ववेद विज्ञानकाण्ड है। सब पदार्थों के गुणों का निरूपण ऋग्वेद करता है, 'ऋग्भिः शंसन्ति' का यही अभिप्राय है, पदार्थों के लक्षण बताना उनका शंसन करना ही है। वस्तु के ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसको कार्यरूप में परिणत करने की क्रिया का नाम कर्मकाण्ड है, जो यजुर्वेद का प्रधान विषय है। जिसके द्वारा मनुष्यों की कर्मग्रह ग्रन्थियाँ परिसमाप्त होती हैं, वह उपासना सामवेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यह सब हो जाने पर विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने का नाम विज्ञान है, जो अथर्ववेद का विषय है। इन-इन विषयों की उस-उस वेद में प्रधानता है, ऐसा समझना चाहिये। इस विषय में विशेष ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रश्नोत्तरविषय (पृ० ३६४ से ३६६) में देखें।

अब हमें यह विचार करना है कि [1]दुर्ग, भट्टभास्कर, महीधरादि ने जो यह लिखा कि ब्रह्मा से परम्परा द्वारा प्राप्त एक वेद के चार विभाग महर्षिव्यास ने किये, उनका यह कथन कहाँ तक सत्य है?

स्वयं ऋग्वेद (१०।९०।९) में तथा अथर्ववेद (१०।७।२०) में चारों वेदों का विभागशः वर्णन है। अथर्ववेद (४।३५।६ तथा १९।९।१२ में) "वेदाः" बहुवचन पद स्पष्ट आता है। इससे वेद एक है, यह बात अयुक्त सिद्ध हो जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में शतपथ (१४।५।४।१०) तथा गोपथ (१।१।१६ तथा ३।१) में स्पष्ट चारों वेदों का नाम निर्देश तथा 'सर्वांश्च वेदान्' इत्यादि लेख पाया जाता है।

उपनिषदों में 'अपरा' विद्या का परिगणन करते हुए स्पष्ट ही उल्लेख है—

"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति" मुण्डक १।१।५॥

---

१. महीधर अपने भाष्य के आरम्भ में, भट्टभास्कर तै० सं० भाष्य के आरम्भ में, दुर्ग निरु० १।२० की टीका में 'व्यासजी ने वेद को चार विभाग में किया' ऐसा लिखते हैं। विष्णुपुराण ३।३।१९,२० तथा मत्स्यपुराण १४४।११ में भी ऐसा ही कहा गया है।

मनु के श्लोक हम पूर्व लिख चुके हैं, चरक तथा काश्यप संहिता में भी चारों वेदों की सत्ता स्पष्ट वर्णित है (देखो चरक सूत्रस्थान अध्याय ३०।१८ तथा काश्यप संहिता पृ० ४३)।

महाभारत में भी वेद चार हैं, ऐसा कहा है। (देखो शल्यपर्व अ० ४१। श्लो० ३१४॥ द्रोणपर्व अ० ५१। श्लो० २२)।

महाभाष्य पस्पशाह्निक में लिखा है—

"चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः........." पृ० ६५।

रामायण में भी इस प्रकार लिखा है—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥

रामा० किष्किन्धा काण्ड सर्ग ३ श्लोक २८॥

जब स्वयं वेद से तथा अन्य आप्तवचनों से यह सिद्ध है कि वेद सृष्टि में आदि में ही ऋग् यजुः साम अथर्व इन चार विभागों में विभक्त विद्यमान थे, तब वेदव्यास ने एक वेद के चार विभाग किये—यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है। हाँ वेदव्यास ने उस काल में भिन्न-भिन्न बहुत सी शाखायें बन चुकने के कारण ब्राह्मण और श्रौतादि का सम्बन्ध निश्चय कर दिया हो, कि किस-किस शाखा का कौन-कौन ब्राह्मण है। अथवा उन्होंने वेद की कुछ शाखाओं का प्रवचन या उनकी व्यवस्था की हो। जैसे आजकल भी काशी आदि में ऋग्वेदी कुलों ने ही अथर्ववेद का ग्रहण, (उसकी रक्षा का परम पवित्र कर्त्तव्य समझकर) स्वयं अपनी इच्छा से अपने ऊपर लिया हुआ है। ऐसे कुलों का विभाग व्यासजी के समय में प्रथम आरम्भ हुआ हो, ऐसा भी सम्भव है।

प्रकृत विषय में एक विचार और उपस्थित होता है, वह यह कि वैदिकसाहित्य में तीन वेद वा चार वेद दोनों प्रकार का व्यवहार मिलता है। वेद चार हैं यह व्यवहार ऋग्-यजुः-साम-अथर्व चारों वेदों में, तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी, पैप्पलाद, जैमिनीय आदि शाखाओं में, तथा प्रायः सभी ब्राह्मण, श्रौत, गृह्यादि में सर्वत्र मिलता है। ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४।४५) तथा 'चत्वारि शृङ्गा०' (ऋ० ४।५८।३) आदि के व्याख्यान में यास्क ने—

"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः" (निरु० १३।७) में स्पष्ट ही चारों वेदों का ग्रहण किया है।

यहाँ पूर्वपक्षी कह सकता है कि यजु० ३१।७ में तीन वेदों की उत्पत्ति का वर्णन है। मनु महाराज भी **'त्रयं ब्रह्म सनातनम्'** (मनु० १।२३) वेद तीन हैं, यह स्वीकार करते हैं। शतपथब्राह्मण में **'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः'** (श० १४।५।४।१०) तीन वेद माने हैं। अतः वेद तीन ही हैं।

इसका समाधान हमारे पूर्वोक्त कथन से हो जाता है कि वेद चार हैं, इस विषय में वेद तथा अन्य सब वैदिक ग्रन्थ सहमत हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि फिर तीन विभाग का क्या अभिप्राय है? जहाँ भी वेद के तीन होने का वर्णन है, वहाँ विद्याभेद से है, क्योंकि जिस शतपथब्राह्मण में चारों वेदों का नामों सहित उल्लेख है, उसी में यह भी कहा है—

"त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि इति" ।। श० ४।६।७।१।।

अर्थात् त्रयी नाम ऋग्-यजुः-साम का विद्या के कारण है।

मीमांसा द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद में ऋग् आदि का लक्षण इस प्रकार किया है—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।। मी० २।१।३५।। इस शास्त्र में 'ऋक्' शब्द से पादबद्ध ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिये।

गीतिषु सामाख्या ।। मी० २।१।३६।। गान विधायक मन्त्र 'साम' कहलाते हैं ।।

शेषे यजुः शब्दः ।। मी० २।१।३७।। शेष में 'यजुः' का व्यवहार समझना चाहिये।

इस प्रकार विद्याभेद से याज्ञिक प्रक्रिया में पारिभाषिक रीति से वेद-मन्त्र तीन प्रकार के माने जाते हैं, वास्तव में वेद चार ही हैं जो ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान काण्ड के भेद से हैं। यही प्राचीन परम्परा है।

इस यजुर्वेद में जिसका कि भाष्य हम विवरणसहित उपस्थित कर रहे हैं, कर्मकाण्ड के सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निरूपण किया गया है। ऐसा समझना चाहिये।

वेदों की आनुपूर्वी

वेद के मन्त्रों में आये पद, मण्डल[1], सूक्त तथा अध्यायों में आये मन्त्रों का क्रम सृष्टि के आदि में जो था, इस समय भी वही है, या उसमें कुछ परिवर्त्तनादि हुआ है, यह अत्यन्त ही गम्भीर और विचारणीय विषय है। इस विषय का सम्बन्ध वास्तव में तो हमारे आदिकाल से लेकर आज तक के भूतकाल के साहित्य तथा इतिहास के साथ है। दुर्भाग्यवश हमारा पिछला समस्त इतिहास तो दूर रहा, हमें दो सहस्र वर्ष पूर्व का इतिहास भी यथावत् रूप में नहीं मिल रहा, विशेष कर वैदिक साहित्य का। हाँ कुछ बातें हमें ठीक मिल रही हैं, जो संख्या में अत्यन्त अल्प हैं। ऐसी स्थिति में जो भी सामग्री हमें अपने इस प्राचीन साहित्य के विषय में मिलती है, उसी पर सन्तोष करना होगा।

वेद नित्य हैं, सदा से चले आ रहे हैं। इनका बनानेवाला कोई व्यक्ति-विशेष नहीं। इनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं इत्यादि विषय हम पूर्व प्रकरणों में भली-भान्ति स्पष्ट कर आये हैं। सब ऋषि-मुनि तथा अन्य विद्वान् वेद को नित्य मानते चले आ रहे हैं, यह सब पूर्व ही विस्तार से दर्शा चुके हैं। प्राचीन ऋषियों के काल में वेद क्या ऐसा का ऐसा ही था, जैसा कि इस समय हमें उपलब्ध हो रहा है? प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह विचार उठना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, अतः इसकी विवेचना आवश्यक ही है।

(१) जहाँ तक हमें पता लगता है ब्राह्मणग्रन्थों के काल में ये ऋग्, यजुः आदि वेद वही थे, जो इस समय हैं, क्योंकि गोपथब्राह्मण में लिखा है—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्' इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते। ......'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण' इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते। ...'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये नि होता सत्सि बर्हिषि' इत्येवमादिं कृत्वा सामवेदमधीयते।" (गो० १।१।२९)।

---

१. इस विषय में ऋग्वेद में जो अष्टक, अध्याय, वर्ग और मन्त्र तथा दूसरा मण्डल, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र तथा तीसरा मण्डल, सूक्त और मन्त्र का अवान्तर विच्छेद है, वह आर्ष है। ऐसा ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने अष्टक ५ अध्याय ५ के आरम्भ (आर्षानुक्रमणी पृ० १३) में लिखा है।

इससे स्पष्ट है कि गोपथब्राह्मण के काल तक ऋग्, यजुः, साम—इन तीनों वेदों की संहितायें वही थीं, जो इस समय वर्त्तमान में हैं। इनके आरम्भ के मन्त्रों की प्रतीकें वही की वही हैं, जो इन तीनों संहिताओं में हैं। यही बात हम पीछे के काल में भी पाते हैं (देखो विवरण टिप्पणी पृ० ६)।

गोपथब्राह्मण के उपर्युक्त लेख से यद्यपि इनकी सारी वर्णानुपूर्वी का निर्णय नहीं हो सकता, पर इतना तो स्पष्ट सिद्ध है कि इन संहिताओं के आदि मन्त्र का स्वरूप वही है, जो उस काल में पूर्वकाल की परम्परा से चला आ रहा था, और अब तक भी वैसा का वैसा चला आ रहा है। गोपथ के इस स्थल में जो अथर्ववेद का प्रारम्भ 'शन्नो देवी०' से कहा गया है, वह पैप्पलाद शाखा का पाठ माना जाता है। हम आगे विशद-रूप में बतायेंगे कि पैप्पलाद शाखाग्रन्थ है, और वह ऋषिप्रोक्त है। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने **'तेन प्रोक्तम्'** (अ० ४।३।१०१) सूत्र के भाष्य में शाखाविषय में 'पैप्पलादकम्' ऐसा उदाहरण दिया है। सम्भव है गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद की उसी शाखा का हो, जिसका आदि मन्त्र "शन्नो देवी०" कहा है। ऐसी अवस्था में अथर्ववेद के नाम से 'शन्नो देवी०' आदि मन्त्र का उल्लेख करना अन्य विरोधी प्रमाण होने से विशेष महत्त्व नहीं रखता।

(२) अब हम इस बात को एक अन्य रीति से भी स्पष्ट करते हैं। शतपथब्राह्मण में यजुर्वेद के मन्त्रों की प्रतीकें बराबर आरम्भ से कुछ अध्याय तक निरन्तर (आगे भी यत्र-तत्र) देकर तत्तद् विषय में मन्त्रों का विनियोग दर्शाया गया है। १७ अ० तक के मन्त्रों के पाठ तथा आनुपूर्वी के विषय में इन प्रतीकों से हमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। यह आनुपूर्वी और पाठ वैसा का वैसा है, जैसा हमें यजुर्वेद में मिल रहा है। हाँ ! इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं मन्त्रों के किसी प्रकरण को याज्ञिकप्रक्रिया के कारण कुछ क्रमभेद से भी विनियुक्त किया गया है, जैसा कि यजुर्वेद के प्रारम्भिक दर्शेष्टिसंबन्धी ४ मन्त्रों का विनियोग शतपथब्राह्मण में प्रारम्भ में न करके पौर्णमासेष्टि के अनन्तर किया है। क्योंकि याज्ञिकप्रक्रिया में प्रथम[1] पौर्णमासेष्टि करने का विधान है (अ०

१. "पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु। ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः॥ अथर्व० ७।८०।४॥

७।८०।४) ।। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि शतपथब्राह्मणकार के समय यजुर्वेद के कम से कम १७ अध्याय तक के मन्त्रों की आनुपूर्वी तो वही थी जो अब है। इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह का स्थान नहीं रह जाता।

(३) ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चारों वेदों की अनुक्रमणियाँ भी उनकी इस आनुपूर्वी को जो वर्त्तमान में मिल रही है, वैसी की वैसी सिद्ध करने में परम सहायक हैं, चाहे उनका निर्माणकाल कभी का रहा हो। कम से कम इनसे यह तो सिद्ध हो ही जाता है, कि उन-उन सर्वानुक्रमणियों के काल में वर्त्तमान चारों वेदों की आनुपूर्वी वही थी, जैसी कि अब है, इसमें यत्किञ्चित् भी भेद नहीं हुआ। उन सर्वानुक्रमणियों के टीकाकार भी हमें इस विषय में पूरी-पूरी सहायता दे रहे हैं। वे सब के सब इसी बात का प्रतिपादन करते हैं। इन ग्रन्थों की तो रचना ही इस आनुपूर्वी (क्रम) की रक्षा के लिये हुई, इसमें क्या सन्देह है? ऋक्सर्वानुक्रमणी से यह बात विशेष रूप में सिद्ध हो रही है।

(४) अब हम यह बताना चाहते हैं कि महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि वेद की आनुपूर्वी और स्वर दोनों को ही नित्य (नियत) मानते हैं—

"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दय। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता..."(महाभाष्य ५।२।५९)।

अर्थात्—वेद में अस्यवामादि शब्दों का स्वर नित्य[1] होता है, और उनकी वर्णानुपूर्वी (क्रम) भी नित्य होती है।

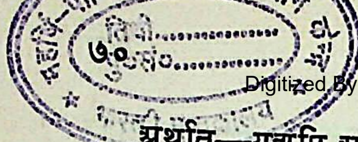
महाभाष्यकार का यह प्रमाण ही इतना स्पष्ट है कि इसके आगे और किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसीलिये समस्त ऋषि-मुनि वेद को नित्य मानते हैं।

इस पर एक शङ्का हो सकती है कि महाभाष्यकार ने "तेन प्रोक्तम्" (अ० ४।३।१०१) के भाष्य में लिखा है—

'यद्यप्यर्थो नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति—काठकं, कालापकं, मौदकं, पैप्पलादकमिति'।

---

१. यहाँ नित्य और नियत पर्यायवाची शब्द हैं। 'अव्ययात् त्यप्' (अ० ४।२।१०४) पर वार्त्तिक है—"त्यब् नेर्ध्रुवे", नियतं ध्रुवम्। काशिकाकार आदि वैयाकरण इसकी यही व्याख्या करते हैं।



अर्थात्—यद्यपि अर्थ नित्य है, परन्तु वर्णानुपूर्वी अनित्य है। उसी के भेद से काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक ये भेद होते हैं। इससे विदित होता है कि महाभाष्यकार वेद की वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं।

इसका उत्तर यह है कि महाभाष्यकार ने यहाँ जितने उदाहरण दिये हैं, वे सब शाखाग्रन्थों के हैं, मूल वेद के नहीं। प्रवचनभेद से शाखाओं में वर्णानुपूर्वी की भिन्नता होनी स्वाभाविक है (शाखा के विषय में हम अगले प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे)। इतने पर भी यदि पूर्वपक्षी को सन्तोष न हो तो मानना पड़ेगा कि अपने ग्रन्थ में दो परस्पर विरोधी वचनों को लिखनेवाला पतञ्जलि अत्यन्त प्रमत्त पुरुष था, जो ठीक नहीं।

(५) निरुक्तकार यास्कमुनि भी वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं, जैसा कि—

"नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।" निरु० १।१६॥

अर्थात्—वेद की आनुपूर्वी नित्य है।

यही बात जैमिनि, कपिल, कणाद, गौतमादि ऋषि-मुनि मानते हैं, यह हम पूर्व कह आये हैं।

(६) इस विषय में सब से बड़ा और प्रत्यक्ष प्रमाण तो उन ब्राह्मण-कुलों के अनुपम तप और त्याग का है, जिससे अब तक वेद की आनुपूर्वी हम तक वैसी की वैसी सुरक्षित पहुंच रही है, जिन्होंने एक-एक मन्त्र के जटा-माला-शिखा-रेखा-ध्वज-दण्ड-रथ-घनपाठादि को बराबर कण्ठस्थ करके सदैव सुरक्षित रक्खा, और अब तक रख रहे हैं। उनके पाठ में किसी प्रकार का व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, न हो ही रहा है। यदि यह प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने न होता, तो सम्भव था कि किसी को कहने का अवसर होता कि न जाने वेद में किस-किस काल में क्या-क्या परिवर्त्तन, परिवर्द्धन होते रहे, इसको कोई क्या कह सकता है। पर ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण संसार भर में केवल भारतवर्ष में ही मिलेगा, जहाँ वेद के एक-एक अक्षर और मात्रा की रक्षा का ऐसा सुन्दर और सुनिश्चित प्रबन्ध सदा से निरन्तर चलता रहा हो। वेद की आनुपूर्वी को सुरक्षित रखने का यह ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है।

आर्षी-संहिता और दैवत-संहिता

कई लोग वेद की इन संहिताओं को आर्षी अर्थात् ऋषियों के क्रम से संगृहीत की हुई मानते हैं। यथा ऋग्वेद के आरम्भ में शतर्ची, अन्त में

क्षुद्रसूक्त वा महासूक्त और मध्य में मण्डलद्रष्टा गृत्समद, विश्वामित्र आदि ऋषियों वाले क्रमशः मन्त्र हैं।

हम वादी से पूछते हैं कि क्या जैसा क्रम ऋग्वेद में दर्शाया, वैसा अन्य संहिताओं में दर्शाया जा सकता है? कदापि नहीं। तथा ऋग्वेद में भी जो क्रम वादी बताता है वह भी असम्बद्ध है। यदि ऋग्वेद वस्तुतः ऋषि-क्रमानुसार संगृहीत होता तो विश्वामित्र के देखे हुए मन्त्र उसके पुत्र 'मधुच्छन्दाः' और पौत्र 'जेता' से पहिले होने चाहियें थे, न कि पीछे। ऋग्वेद में विश्वामित्र के मन्त्र तृतीय मण्डल में और मधुच्छन्दाः व जेता के मन्त्र प्रथम मण्डल में क्यों रक्खे गये? यदि वादी कहे कि प्रथम मण्डल में केवल शर्तचियों का संग्रह है, विश्वामित्र शतर्ची नहीं अपितु माण्डलिक है, तो यह भी ठीक नहीं। प्रथम मण्डल के जितने ऋषि हैं, उनमें बहुत से शतर्ची नहीं हैं। सव्य आङ्गिरस ऋषि वाले (१।५१-५७) कुल ७२ मन्त्र हैं। जेता ऋषिवाले कुल (१।११) ८ ही मन्त्र हैं। ऐसे ही और भी अनेक ऋषि हैं। आश्चर्य की बात है कि शर्तचियों में पढ़े हुए प्रस्कण्व काण्व के ८२ मन्त्र तो प्रथम मण्डल में हैं, १० मन्त्र आठवें और ५ मन्त्र नवम मण्डल में क्यों संगृहीत हुए? समस्त ९७ मन्त्र एक जगह क्यों नहीं संगृहीत किये गये? इसी प्रकार जिसके सूक्त में १० से कम मन्त्र हों वह क्षुद्रसूक्त और जिसके सूक्त में १० से अधिक हों वह महासूक्त कहाते हैं, तो क्या ऐसे ऋषि ऋग्वेद के दशम मण्डल से अतिरिक्त अन्य मण्डलों में नहीं हैं? हम कह आये हैं कि जेता के केवल आठ ही मन्त्र हैं, क्षुद्रसूक्त होने से उसके मन्त्रों का संग्रह दशम-मण्डल में न करके प्रथम मण्डल में किस नियम से किया? तथा जब विश्वामित्र माण्डलिक ऋषि है तो उसके समस्त मन्त्र तृतीय मण्डल में क्यों संगृहीत नहीं किये? कुछ मन्त्र नवम (९७।१३-१५) और दशम (१३७।५) मण्डल में किस आधार पर संगृहीत किये? इत्यादि अनेक प्रश्न वादी से किये जा सकते हैं।

वस्तुतः वादियों के पास इन प्रश्नों का कोई भी उत्तर नहीं है। वे तो "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"—इस उक्ति के अनुसार स्वयं शास्त्र के तत्त्व को न समझकर अन्य साधारण व्यक्तियों को बहकाने की क्षुद्र चेष्टा[1] किया करते हैं।

---

१. हमारी दृष्टि में वेद को अपौरुषेय न माननेवाले ही ऐसा मान सकते हैं। ऐसे व्यक्ति जनता के समक्ष कहने का साहस नहीं करते कि हम वेद को पौरुषेय (ऋषियों का बनाया) मानते हैं।

वेदों की इन संहिताओं को आर्षी[1] संहिता कहने का तात्पर्य यह है— ऋषि अर्थात् सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ जगदीश्वर से इनका प्रादुर्भाव हुआ है। वस्तुतः यह नाम ही इस बात का संकेत करता है कि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं।

जो व्यक्ति आर्षी नाम होने से इन्हें ऋषियों द्वारा संगृहीत मानते हैं, वे यह भी कहते हैं कि इन संहिताओं में इन्द्रादि देवताओं के मन्त्र विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं। अतः क्रमशः एक-एक देवता के समस्त मन्त्रों को संगृहीत करके एक दैवत संहिता बनानी चाहिये, जिससे अध्ययन में सुगमता होगी।

देवता-क्रम से संहिता के मन्त्रों को संगृहीत करने से जिन मन्त्रों की आनुपूर्वी और देवता समान हैं, उन मन्त्रों का एक स्थान में संग्रह होने से पौनरुक्त्य तथा आनर्थक्य दोष आवेंगे। उन्हीं मन्त्रों को, जैसा वर्त्तमान संहिताक्रम में पढ़ा गया है, वैसा पाठ मानने में कोई दोष नहीं आता, क्योंकि वर्णानुपूर्वी समान होने पर भी प्रकरणभेद होने से अर्थभेद की प्रतीति झटिति हो सकती है। उदाहरणार्थ पाणिनि के "बहुलं छन्दसि" सूत्र को उपस्थित किया जा सकता है। पाणिनि ने इस सूत्र को १४ स्थानों में पढ़ा है। इस सूत्र की वर्णानुपूर्वी समान होने पर भी प्रकरणभेद से अर्थ की भिन्नता होने के कारण सबकी सार्थकता रहती है। आनर्थक्य या पौनरुक्त्य दोष नहीं आता। यदि कोई व्यक्ति सब "बहुलं छन्दसि" सूत्रों को उठाकर एक स्थान में पढ़ दे, तो क्या उससे कुछ भी लाभ या विशेष अर्थ की प्रतीति होगी? उलटी उस एक स्थान में पढ़नेवाले की ही मूर्खता सिद्ध होगी। भला इससे कोई पाणिनि की ही मूर्खता सिद्ध करना चाहे तो कभी हो सकती है! कभी नहीं। ऐसे ही इस देवताक्रम से पढ़ी जानेवाली संहिता का होगा। इसमें और भी अनेक दोष हैं, जिनका विस्तरभिया यहाँ अधिक उल्लेख करना अनुपयुक्त होगा।

जिसका शास्त्रीयचक्षुः है वही इन बातों के रहस्यों को समझ सकता है। शास्त्र-ज्ञान विहीन क्या जाने शास्त्रों के रहस्य को—

पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ॥ ऋ० १।१६४।१६॥

---

१. अथर्ववेद पञ्चपटलिका ५।१९ में जो आचार्यसंहिता तथा आर्षीसंहिता का उल्लेख मिलता है, वह पुराने आचार्यों की एक संज्ञा मात्र है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार हमने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि वेद की आनुपूर्वी सर्वकाल से नित्य मानी जाती रही है, और इस समय भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही निश्चित है कि हमें वही आनुपूर्वी प्राप्त हो रही है, जिसे सर्ग के आरम्भ में परमपिता परमात्मा ने आदिऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किया था।

अब हम शाखाविषय में संक्षेप से कुछ लिखते हैं—

वेद और उसकी शाखायें

शाखा का स्वरूप

शाखायें वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, ऐसा महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है (देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २९१), अर्थात् चार वेद मूल हैं और ११२७ उनकी शाखायें हैं, दूसरे शब्दों में उनके व्याख्यानग्रन्थ हैं।

शाखाओं की आनुपूर्वी अनित्य है, **"या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या"** (अ० ४।३।१०१ महाभाष्य) यह महाभाष्यकार का मत है, और इसमें उदाहरण 'काठकम् कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' ये दिये हैं, जो स्पष्टतया शाखाग्रन्थ हैं। वेद की आनुपूर्वी को पतञ्जलि मुनि नित्य मानते हैं—**"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता अस्यवामशब्दस्य"** (अ० ५।२।५९ महाभाष्ये)। इन दोनों प्रमाणों से वेद और शाखाग्रन्थों का भेद भगवान् पतञ्जलि के मत से सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट सिद्ध है।

निरुक्त के **"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"**—(निरु० १।१) तथा **"नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति"** (निरु० १।१६) इन वचनों से भी वेद की आनुपूर्वी नित्य है, ऐसा यास्क का सिद्धान्त है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। यद्यपि शाखा के विषय में यास्क ने स्पष्टतया नहीं लिखा, तथापि **"यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्"** (निरुक्त १०।५) इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि यहाँ अर्थ की समानता होने पर भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद दर्शाने के लिये ही यास्क ने दो भिन्न-भिन्न उदाहरण दिये हैं। इनकी व्याख्या करता हुआ दुर्गाचार्य लिखता है—**"स एवार्थः, केवलं शाखान्तरमन्यत्"** अर्थात्—अर्थ समान है, केवल शाखाभेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है। निरुक्त के इस स्थल की यदि महाभाष्यकार के **"योऽसावर्थः**

स नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या" के साथ तुलना की जाय तो यास्क का अभिप्राय भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यास्क मूल वेदों की आनुपूर्वी को नित्य और शाखाओं की आनुपूर्वी को अनित्य मानता है।

शाखाएँ ऋषि-प्रोक्त हैं और उनकी आनुपूर्वी अनित्य है, इसको स्पष्ट करने के लिये एक और प्रमाण देते हैं—

महाभाष्यकार पतञ्जलि **"अनुवादे चरणानाम्"** (अ० २।४।३) के भाष्य में लिखते हैं—**"अनुवदते कठः कलापस्य"**—अर्थात् कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है। इससे व्यक्त है कि कठादि शाखाएँ ऋषियों के प्रवचन हैं और उनमें किन्हीं-किन्हीं शाखाओं की परस्पर पर्याप्त समानता है।

इन प्रमाणों से शाखाग्रन्थों की आनुपूर्वी के अनित्य होने में यत्-किञ्चित् भी सन्देह नहीं रह सकता, यही हम कहना चाहते हैं। शाखाओं का स्वरूप भी हमारे इस कथन से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

अब रह जाती है यह बात कि शाखा व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, यह कैसे जानें ? इसका उत्तर तो यही है कि जब सूक्ष्म दृष्टि से हम इन शाखा-ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो इनके भिन्न-भिन्न पाठों से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण हैं।

अब हम उपर्युक्त **"तेन प्रोक्तम्"** (अ० ४।३।१०१) पाणिनि के इस सूत्र का न्यासकार का अर्थ दर्शाते हैं, वह लिखता है—

"तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते"

(अ० ४।३।१०१। न्यास पृ० १००५)।

जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि ये कठ, कलाप, पैप्पलाद आदि शाखायें वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ ही हैं। प्रोक्तग्रन्थ वह है जो व्याख्यान[1]

---

१. "तत्र नाटचशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानीं करणं न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणं भिन्नं कठेन प्रोक्तमिति यथा॥" भरतनाटचशास्त्र टीका० अभिनवगुप्तः।

अर्थात्—यदि नाटचशास्त्र शब्द से यहाँ ग्रन्थ का ग्रहण है, तो उसका कर्तृत्व अभिप्रेत है, प्रवचन नहीं। प्रवचन व्याख्यान होता है और करण से पृथक् होता हैं, जैसे काठकप्रवचन कठ का व्याख्यान है। (देखें वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ पृ० १७८, संस्क० २)।

रूप हो या पढ़ाया गया हो। प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं, ऐसा न्यासकार का कहना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद स्वतः प्रमाण हैं, और शाखायें प्रोक्त होने से परतः प्रमाण, इन शाखा-ग्रन्थों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद का है। यह है भेद वेद और शाखाग्रन्थों का, जिनको संहिता के नाम से कहा जा रहा है।

अब हम इन शाखाग्रन्थों की अपनी आन्तरिक साक्षी उपस्थित करते हैं, जिससे पता लगेगा कि शाखायें स्वयं अपने आपका स्वरूप क्या दर्शाती हैं। काठक, मैत्रायणी आदि संहिताओं में चारों वेदों के नाम स्पष्ट मिलते हैं, तद्यथा—

ऋक्सामयोरेवाध्यभिषिच्यते ।। का० सं० ३७।३।।
यजुर्भी रायस्पोषे समिषा मदेम ।। का० सं० २।४।।
आशीर्वा अथर्वभिः ।। का० सं० ५।४।।

इसी प्रकार काठक संहिता में अन्यत्र भी चारों वेदों का नाम तथा विभाग स्पष्ट मिलता है।

इतना ही नहीं, अपितु कठसंहिता के प्रवचनकर्त्ता के मत में ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे और वह मन्त्र की प्रतीक देकर इस सूक्त का ऋषि वामदेव है, ऐसा कहते हैं। जैसा कि—

"**वामदेवस्यैतद् पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवन्ति**······। **स वामदेव उख्यमग्निमबिभस्तमवैक्षत स एतद् सूक्तमपश्यद् 'कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति**" (का० सं० १०।५)।

अर्थात् "कृणुष्व पाजः" इस सूक्त का द्रष्टा वामदेव ऋषि है। जो स्वयं वेद की प्रतीक देकर उसका ऋषि बताता है, वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है? यह बात साधारण बुद्धिवाले भी तत्काल समझ सकते हैं।

अब प्रसङ्गात् यहाँ एक और आवश्यक शङ्का पर विचार कर लेना भी समुचित होगा। वह यह है कि गोपथब्राह्मण (पूर्वार्धं १।२९)में अथर्व-वेद का आरम्भ "शन्नो देवी०" इस मन्त्र से होता है, ऐसा माना गया है। जब ऋग्, यजुः, साम के आरम्भिक मन्त्रों का पाठ वैसा का वैसा हमें वर्त्तमान में भी उपलब्ध हो रहा है, तो अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र "शन्नो देवी०" क्यों न माना जावे? इतना ही नहीं, महाभाष्यकार पतञ्जलि

मुनि ने भी महाभाष्य के आरम्भ में लौकिक वैदिक शब्दों का भेद दर्शाते हुये जहाँ ऋग्, यजुः, साम के आरम्भ के मन्त्रों का पाठ वही दिया है, जो वर्त्तमान में मिलता है, वहाँ चतुर्थ वेद का पाठ उन्होंने भी "शन्नो देवी०" ही दिया है। इससे पता लगता है कि अथर्ववेद का आरम्भ "शन्नो देवी०" से ही होना चाहिये।

वादी की यह शङ्का पर्याप्त बलवती है, परन्तु थोड़ा विचार करने से यह स्वयं दूर हो जाती है। इस पर सामान्यतया हम पृ० ६८ पं० १३ से १८ पर कह चुके हैं। इस पर विशद विचार करते हैं। **"तेन प्रोक्तम्"** (अ० ४।३।१०१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

"या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति" ।

महाभाष्यकार के इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है—

(क) काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादादि प्रोक्त हैं, अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किये हुये वा ऋषिकृत हैं।

(ख) ये काठक, पैप्पलादादि शाखाग्रन्थ हैं, वेद नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार इनकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं। वही महाभाष्यकार अन्यत्र वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं, जैसा कि हम पूर्व प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं (देखो पृ० ६९)। तथा आगे (ग) में देखें।

(ग) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की आनुपूर्वी को **"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता"** (अ० ५।२।५९ महाभाष्य) इस प्रमाण से महाभाष्यकार नित्य ही मानते हैं, अनित्य कदापि नहीं। यही कहना पड़ेगा।

(घ) प्रोक्त, व्याख्यात, प्रवचन और व्याख्यान पर्यायवाची शब्द हैं, यह न्यासकार तथा अभिनवगुप्त का मत हम पूर्व (पृ० ७४-७५) दर्शा चुके हैं।

इन सब से यह सिद्ध है कि पतञ्जलि मुनि पैप्पलाद को शाखा मानते हैं, उसकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, उसे वेद नहीं मानते।

अब रही 'शन्नो देवी०' के आरम्भ में आने की बात सो महाभाष्य के आरम्भ में वैदिक शब्दों का उदाहरणमात्र देना अभिप्रेत है। वहाँ वेदों की आरम्भिक प्रतीक दर्शाना मुख्य नहीं। यदि वह वेद की आरम्भिक प्रतीक मानी जावे तो पतञ्जलि भगवान् के स्ववचनों में ही परस्पर

विरोध आवेगा। अतः लौकिक वैदिक शब्दों का भेदमात्र दर्शाना अभिप्रेत है, यही मानना होगा।

अब रही गोपथब्राह्मण में आये 'शन्नो देवी०' इस पाठ की बात। सो यह "शन्नो देवी०" पाठ पैप्पलाद संहिता का है, यह छान्दोग्यमन्त्रभाष्य के कर्त्ता गुणविष्णु ने माना है (पृं० ६, ४८, ११७)। पैप्पलाद शाखा महाभाष्यकार के मत से ऋषिप्रोक्त है, उसकी आनुपूर्वी अनित्य है, यह भली भाँति सिद्ध हो चुका। अतः गोपथब्राह्मण में 'शन्नो देवी०' से अथर्ववेद का आरम्भ उसकी पैप्पलाद शाखा का ब्राह्मण होने से वा किसी अवान्तर शाखा का आरम्भिक पाठ ऐसा होने से है, ऐसा ही मानना पड़ेगा।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि "ये त्रिषप्ताः०" आदि अथर्ववेद के आरम्भ की प्रतीकें हमें श्रौत, गृह्य, अथर्व, बृहत्सर्वानुक्रमणी तथा अन्य अनेक स्थलों में मिलती हैं।

शाखायें प्रोक्त हैं, वेद का व्याख्यान हैं, यह हम ऊपर दर्शा चुके। अब यहाँ हम एक और प्रबल शङ्का का समाधान कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जो बहुत से विद्वानों के मन में यत्र तत्र देखी जाती है।

महर्षिदयानन्दस्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शङ्का का समाधान

ऐतरेयालोचन पृ० १२७ पर श्री० पं० सत्यव्रतसामश्रमीजी ने श्री० स्वामीजी के "शाखा वेदव्याख्यान हैं" इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है—

"हन्त का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता, यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति प्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति त्वस्माकमज्ञेयमेव"।

अर्थात्—स्वामी दयानन्द ने किसको मूलवेद माना है, जिसमें कि शाखाशब्द का व्यवहार न होता हो, और जिसको मूल मानकर अन्य शाखाओं को उनका व्याख्यानरूप ग्रन्थ माना जा सके।

इस आक्षेप के दो भाग हैं। एक तो यह कि मूल वेद कोई नहीं। दूसरा कोई ऐसी संहिता नहीं, जिसका कि शाखाशब्द से व्यवहार न हो।

अब हम इन दोनों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः देते हैं—

(क) शतपथब्राह्मण का कर्त्ता याज्ञवल्क्य लिखता है—

"तदु हैकेऽन्वाहुः। 'होता यो विश्ववेदस' इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमिति" (शत० १।४।१।३५ पृ० २९ अजमेर सं०)। (तु० काण्व शत० २।३।४।२५)।

इसका भाव यह है कि किसी शाखावाले[1], "होता यो विश्ववेदस:" ऐसा पाठ पढ़ते हैं। सो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। वे यज्ञ में मानुषपाठ करते हैं। यज्ञ में मानुषपाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता न हो, इसलिए जैसा ऋचा का पाठ है, वैसा ही बोले **'होतारं विश्ववेदसम्'** (ऋ० १।१२।१)।

इस प्रमाण से दो बातें सिद्ध होती हैं—प्रथम शाखायें जितनी हैं वे सब मानुष (मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्यसम्बन्ध से युक्त) हैं। दूसरा—कोई ऋक्पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्बन्ध नहीं, और वही मनुष्य-सम्बन्ध से रहित मूलवेद है।

शतपथ के इस स्थल के व्याख्यान में—

"होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति। कीदृग्विधं तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति" (शतपथ १।४।१।३५ सा० भा० पृ० १४४)।

अर्थात् सायण भी 'होता यो विश्ववेदस:" शाखान्तर के इस पाठ को मानुष मानता है। और "होतारं विश्ववेदसम्" को वेद का पाठ मानता है।

विदित रहे कि शतपथब्राह्मण में 'तदु तथा न ब्रूयात्', 'तदु तथा न कुर्यात्' ऐसे वचन, शतपथब्राह्मण (अजमेर संस्करण) में पृ० ८, १५,

---

१. तुलना करो—"उपायव स्थेत्यु हैक आहु:" यह शतपथब्राह्मण १।७।१।३ में है, 'उपायव स्थ:' यह पाठ तैत्तिरीय संहिता का है। इससे जाना जाता है कि जहाँ-जहाँ शतपथकार 'हैक आहु:' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके किन्हीं पाठों का प्रत्याख्यान करते हैं, वे पाठ निश्चय ही शाखान्तरों के हैं। इसी प्रकार 'होता यो विश्ववेदस:' यह पाठ भी निश्चय ही किसी अनुपलब्ध शाखा का है, जिसे उपर्युक्त उद्धरण में मानुष पाठ कहा है।

२३, २५, २६, ३५, ३६, ५०, ६८, १०२, १३७, १३८, १६७, २७७ आदि लगभग १५ स्थलों में है। इन सब में शाखागत पाठों का ही प्रत्याख्यान किया गया है, इनमें मुख्यतया तैत्तिरीयसंहिता है। विद्वानों को इस पर और अधिक विचार करना चाहिए।

(ख) शतपथब्राह्मण का सबसे प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी (सन् ६३९ ई०) जो कि स्कन्दस्वामी का शिष्य था, शतपथ-ब्राह्मण-भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखता है—

"वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्" (शतपथ हरिस्वामी भाष्य हमारा हस्तलेख पृ० २)।

अर्थात्—वेदों का अपौरुषेय होने से ही स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है। उनकी शाखाओं का भी प्रामाण्य तद्धेतुता से अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है।

हरिस्वामी के इस वचन से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं, एक तो यह है कि कोई अपौरुषेय वेद अपनी पृथक् सत्ता रखता है और शाखायें उनसे भिन्न हैं। हरिस्वामी वेद को शाखा से भिन्न मानता है। दूसरे उसके मत में उन शाखाओं का प्रामाण्य भी वेदानुकूल होने से स्वीकार किया जाता है।

हमारे उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भान्ति यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि शतपथकार तथा हरिस्वामी के मत में शाखाओं से अतिरिक्त मूलवेद अवश्य थे।

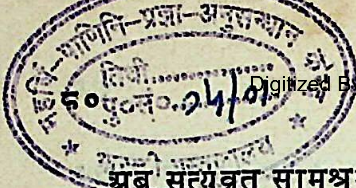
इस विषय में अन्य साक्षी भी उपस्थित करते हैं—

(i) **"ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गा सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति" ॥ नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् पृ० ११३।**

अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चार वेद, साथ अङ्गों के, साथ शाखाओं के चार पाद हैं।

(ii) **एतद् बृहज्जाबालमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वाणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते" ॥ बृहज्जाबालोपनिषद् ॥**

इसमें भी शाखा और कल्प आदिकों को वेद से भिन्न गिनाया गया है। अतः वेद और शाखायें भिन्न-भिन्न हैं, यह परम्परा थी।



अब सत्यव्रत सामश्रमी के दूसरे आक्षेप का उत्तर लिखते हैं—वदिक साहित्य में 'शाखा' शब्द का व्यवहार किन-किन कारणों से होता है, यह तो हम नहीं कहते, किन्तु आगे उल्लिखित दो कारण अवश्य हैं। एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप धारण कर लेता है, जैसे तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता, मैत्रायणी-संहिता तथा काण्वसंहितादि। दूसरा शाखा शब्द का व्यवहार मूल ग्रन्थों में विना किसी परिवर्त्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ में संयुक्त हो जाता है। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकल संहिता है। शाकल्य ने संहिता पाठ में कोई परिवर्त्तन वा परिवर्द्धन किया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। हाँ, निरुक्त अ० ६।२८ के **"वा इति च य इति च चकार शाकल्यः"** इस पाठ से ऋग्वेद के पदपाठ का कर्तृत्व शाकल्य का सिद्ध होता है, पुराणों में भी इस शाकल्य को 'पदवित्तम' नाम से पुकारा गया है। पद-पाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक्संहिता के साथ शाकल्य का नाम जोड़ दिया गया और उसका शाकलसंहिता वा शाकलशाखा के नाम से व्यव-हार होने लग गया (कई लोगों ने शाकल को शाकलसंहिता का प्रवचन-कर्त्ता माना है, वह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है)। किसी संहिता का पदपाठ मात्र कर देने से भी उसमें शाखा शब्द का व्यवहार होता है, इसके लिये हम एक स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं—

"उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।
तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते॥
यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।
तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महद्॥

भट्टभास्कर तै० सं० भाष्य भाग १—तैत्तिरीय काण्डानुक्रम पृ० ६ श्लोक २६, २७॥

अर्थात्—तित्तिरि ने इस तैत्तिरीय संहिता को उख को पढ़ाया। उसने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया। आत्रेय द्वारा बनाई हुई यह **शाखा आत्रेयी** कहलाती है, जिसका **पदकार** आत्रेय है, और वृत्तिकार कुण्डिन है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर दिये जाने से जैसे यह तैत्तिरीय संहिता आत्रेयी संहिता के नाम से भी व्य-वहृत होने लगी, ठीक वैसी ही दशा शाकलसंहिता की भी समझनी चाहिये।

इसी प्रकार से यजुर्वेद की जितनी शाखायें उपलब्ध होती हैं, उनमें कृष्णयजुर्वेदगण में तो स्पष्ट प्रतीकें देकर व्याख्यान उपलब्ध होने के कारण उनका वेदत्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरे सम्प्रदाय की दो संहितायें उपलब्ध होती हैं, उनमें से काण्वसंहिता में पाठभेद द्वारा मन्त्र व्याख्यान होने से मूल सिद्ध नहीं हो सकती। माध्यन्दिनी संहिता ही मूल यजुर्वेद है, इस विषय में एक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

गवर्नमैण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास के सूचीपत्र भाग III पृ० ३४२६, ग्रन्थ नं० २४४६ पर "माध्यन्दिनशाखाविषयः" नाम से एक ग्रन्थ का उल्लेख है। यह उस ग्रन्थ का वास्तविक नाम नहीं है। पुस्तक का आद्यन्त खण्डित होने से उसका नाम अज्ञात है। इस पुस्तक का कुछ पाठ उपर्युक्त पृष्ठ पर निम्न प्रकार उद्धृत है—

"अथ पञ्चदशशाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति वेदितव्या। यदुक्तं बृहन्नारदीये—

'यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम्। शाखा तत्र शिखाकारा दश पञ्चाथ शुक्लगाः॥'

तथा चेदं होलीरभाष्यम्—

'यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः। सर्वानुक्रमणी तस्याः कात्यायनकृता तु सा॥'

तस्मान्माध्यन्दिनीयशाखा एव पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणा च॥

अत एव वशिष्ठेनोक्तम्—'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा'॥"

अर्थात्—शुक्लयजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं में माध्यन्दिन शाखा ही मुख्य है। बृहन्नारदीय में कहा है—'यजुर्वेदरूपी महावृक्ष की १०१ शाखायें हैं। उनमें पन्द्रह शुक्ल शाखायें शिखाकार अर्थात् सर्वोच्च हैं।' होलीर-भाष्य में लिखा है—'यजुर्वेद का मूल माध्यन्दिनीय संज्ञक है। जिसकी कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी बनाई है। इसलिये माध्यन्दिनीय शाखा ही पन्द्रह वाजसनेय शाखाओं में मुख्य और सर्वसाधारण है। अत एव वशिष्ठ ने भी कहा है—'माध्यन्दिनी शाखा सर्वसाधारण है'।

यह उपर्युक्त ग्रन्थ लगभग ४०० वर्ष प्राचीन होगा। इसमें उद्धृत होलीरभाष्य यजुःसर्वानुक्रमणी का भाष्य है।

इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आज से कई सौ वर्ष पूर्व तक माध्यन्दिन शाखा ही मूल यजुर्वेद माना जाता था। अभी भी कई हस्त-लेख ऐसे मिलते हैं, जिनके अन्त में इसका माध्यन्दिन नाम से उल्लेख न होकर वाजसनेयी संहिता के नाम से उल्लेख मिलता है। सम्भव है शाकल संहिता की तरह माध्यन्दिन भी इस संहिता का पदकार हो और उसके नाम से इस माध्यन्दिनीय शाखा का व्यवहार चल पड़ा हो। ऐसी ही सम्भावना साम तथा अथर्व में भी की जा सकती है।

उपलब्ध शाखाग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से पता लगता है कि विभिन्न शाखाओं के मन्त्रपाठ में भी पर्याप्त पाठान्तर हैं। उन पाठान्तरों की सूक्ष्म विवेचना करने पर विदित होगा कि किसी संहिता में कोई क्लिष्ट या अस्पष्टार्थक शब्द है तो दूसरी संहिता में उसके स्थान पर जो पद प्रयुक्त हुआ है, वह अधिक स्पष्टार्थक है। शाखाओं के प्रवचनकर्त्ताओं ने कहीं-कहीं इस प्रकार का पाठान्तर[1] मात्र करके मन्त्र के भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कपिष्ठल ये संहितायें स्पष्टरूप में शाखायें हैं, क्योंकि इनमें अनेक मन्त्रों की प्रतीकें देकर व्याख्या की गई है और ब्राह्मणभाग का सम्मिश्रण भी प्रत्यक्ष उप-लब्ध होता है। अब रहीं काण्व तथा माध्यन्दिनीय, अब इन पर भी विचार करते हैं—

(१) माध्यन्दिनीय संहिता में पाठ है **"भ्रातृव्यस्य वधाय"** (१।१८)। काण्व संहिता में इसके स्थान पर **"द्विषतो वधाय"** ऐसा पाठ है।

(२) माध्यन्दिनीय ९।४० में पाठ है—**"एष वो अमी राजा"** काण्व संहिता में इसके स्थान पर पाठ है—**"एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा"** ॥ ११।३।३॥

इन दोनों में प्रथम "भ्रातृव्यस्य" की अपेक्षा "द्विषतः" पाठ अधिक स्पष्टार्थक है। दूसरे उदाहरण में माध्यन्दिन संहिता का पाठ "अमी राजा" है। "अमी" यह सर्वनाम पद है। यह मन्त्र राजसूय यज्ञ में विनियुक्त है। अतः माध्यन्दिन का पाठ सब राजाओं के प्रति समान है, परन्तु काण्वसंहिता में "कुरवः" तथा "पञ्चालाः" ये विशेष पद पठित

---

१. पाठान्तर भेद से शाखायें बनती गईं, इस विषय में वायुपुराण का निम्ना-ङ्कित श्लोक भी ध्यान देने योग्य है—"पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा" वायुपुराण अ० ६१।

हैं। काण्वशाखा का कुरु तथा पञ्चालदेश में अधिक प्रचार था, अतः उसमें उन्हीं पदों का प्रयोग मिलता है। काण्वपाठ इन दो देशों के राजाओं के साथ बँध गया है। अन्य देश का राजा यदि राजसूययज्ञ करे तो काण्वमन्त्र नहीं बोला जा सकता। इसलिये पूर्वोल्लिखित उद्धरण में माध्यन्दिन का पाठ सर्वसाधारण माना गया है, जो कि सर्वथा युक्त है।

इस प्रकार इस प्रकरण में संक्षेप से इन शाखाओं को प्रोक्त वा व्याख्यान सिद्ध किया। इनकी आनुपूर्वी ऋषि-मुनियों के प्रमाणानुसार अनित्य है। मूल वेद इनसे पृथक् हैं और उनकी आनुपूर्वी नित्य है। शतपथकार के मत से शाखायें मानुष अर्थात् मनुष्यप्रोक्त=मनुष्यकृत हैं। शतपथ का भाष्यकार हरिस्वामी वेद को स्वतःप्रमाण मानता है और शाखाओं को परतःप्रमाण। वर्तमान शाकलसंहिता तथा माध्यन्दिनीय ही मूल वेद हैं, इसमें उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रकाश डालने का यत्न किया है। आशा है विद्वज्जन इस विषय पर और गम्भीर विचार करेंगे। निस्सन्देह यह शाखा का विषय अत्यन्त गम्भीर अनुशीलन का है। इसके लिये विपुल मात्रा में सामग्री की आवश्यकता है, अर्थात् वेद की लुप्त शाखाओं सम्बन्धी साहित्य मिलने पर ही गम्भीर विवेचना हो सकती है।

वेद का अर्थ

पूर्व प्रकरणों में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता, वेद-ज्ञान का प्रकाश, उसका स्वरूप, नित्य-शब्दार्थसम्बन्ध, वेद के विभाग, वेद की आनुपूर्वी, तथा उसकी शाखाओं के विषय में निरूपण किया जा चुका है। आदि-भाषा का प्रकाश कैसे हुआ, यह भी पूर्व कहा जा चुका है। अब स्वभावतः वेद के अर्थ के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सृष्टि के आदि में वेद के अर्थ का ज्ञान कैसे आरम्भ हुआ होगा। शब्द का वाच्य अर्थ और अर्थ का वाचक शब्द अवश्य होता है, यह सर्वसम्मत है। लोक में हम देखते हैं, एक शब्द उच्चरित होते ही अपने अर्थ का भान अवश्य कराता है। अनेक पशुओं के समुदाय में खड़े एक पशु 'गौ' का नाम लेते ही हमें उसके वाच्यार्थ का बोध तत्काल होने लगता है। इसी प्रकार वेद का एक मन्त्र बोलते ही उसके वाच्चार्थ का बोध अवश्य ही होना चाहिये। तत्तद् भाषा के वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञानवाले को ही वाचक शब्द के उच्चारण होने पर वाच्यार्थ का भान हो सकता है, दूसरे को नहीं, यह

सर्वसम्मत सिद्धान्त है, और यह बात प्रत्येक व्यक्ति के सामने प्रत्यक्ष है। एक फारसी या अंग्रेजी न जाननेवाले के सामने 'अस्प' या 'हॉर्स' कहने से उसे किसी भी अर्थ का बोध नहीं हो सकता, 'कुकुड़ी' कहने से पंजाब में 'मुर्गी' समझा जाता है, और उत्तरप्रदेश में ज्वार में मक्का के भुट्टे (छल्ली) को 'कुकुड़ी' कहते हैं। इसका भी कारण यही है, जो ऊपर कहा गया।

वेद में आये शब्दों के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को लौकिक कोशों के आधार पर समझकर वेद के अर्थ करने से ही संसार में सच्चे वेदार्थ का लोप हुआ, और उसके लुप्त होने से संसार में अन्धकार फैला, और मानव समाज की अकथनीय हानि हुई। उदाहरणार्थ वेद के कोश (निघण्टु) के अनुसार 'अहि' और 'पर्वत' शब्द का अर्थ मेघ होता है, 'पुरीष' शब्द का अर्थ जल है। पर लोक में 'अहि' साँप को, 'पर्वत' पहाड़ को, 'पुरीष' मल (मल-मूत्रादि) को कहते हैं। अब यदि लोक में आये इन शब्दों के वाच्य-वाचक-सम्बन्ध को लेकर हम वेद में भी वही अर्थ करने लगेंगे, तो कितना अनर्थ होगा, यह विज्ञ पाठक स्वयं विचार सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद का अर्थ समझने के लिये हमें लौकिक (साधारण) संस्कृत का आश्रय न लेकर वेद के कोश तथा कोश के आधारभूत ग्रन्थों का आश्रयण करना होगा, तभी हम सच्चे वेदार्थ तक पहुंच सकते हैं, अन्यथा नहीं। हमारा आगे का सारा प्रकरण तथा उसके सब अवान्तर विभाग इसी वाच्य-वाचक-सम्बन्ध के दर्शाने के लिये हैं, यद्यपि वे भिन्न-भिन्न दृष्टियों को लेकर इस बात का प्रतिपादन करते हैं। भाव यह है कि वेद का अर्थ वाच्य-वाचक-सम्बन्ध भी विशेष नियमों पर आश्रित है। जब तक उन नियमों का ज्ञान नहीं हो जाता, वेद का अर्थ कभी नहीं खुल सकता।

अतः सब से पूर्व वेदार्थ के नियमों वा सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना आवश्यक है, जिससे प्रत्येक पाठक के मन में वेदार्थ के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में धारणा निश्चित हो जावे और तदनुसार वह देख सके कि क्या वेद के कोश वा अन्य आर्ष ग्रन्थ, वेद के अर्थ उन्हीं सिद्धान्तों वा कसौटियों के अनुकूल करते हैं वा नहीं, या कहाँ तक करते हैं, तभी आज तक के किये हुए वेदार्थ के विषय में यथार्थ ज्ञान हो सकता है, चाहे वह ऋषियों की की हुई व्याख्या मे रूप में हो, या वेदभाष्यकारों के भाष्य के रूप में। अतः यहाँ हम सर्वप्रथम वेदार्थ की कसौटियों का निरूपण करते हैं—

वेदार्थ की कसौटियां

यह पहिले बतलाया जा चुका है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान, अपौरुषेय, नित्य तथा सृष्टिनियमों के अनुकूल है। अतः उसका अर्थ करते समय भी उन्हीं कसौटियों को यथार्थ समझना अनिवार्य है, जो कि इन पूर्वोक्त बातों का विरोध न करती हों, अतः वेदार्थ की दृष्टि से संक्षेपतः उनका निरूपण करते हैं—

(१) वेद में सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन होना चाहिये, जो मानव समाज में परस्पर विरोध उत्पन्न करनेवाले न हों।

(२) किसी देश या जातिविशेष का सम्बन्ध उसमें न होना चाहिये।

(३) ईश्वर के गुण, कर्म तथा सृष्टिनियमों के विरुद्ध न हो।

(४) 'सर्वज्ञानमयो हि सः' वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, उस से यह अवश्य विदित हो।

(५) मानवजीवन के प्रत्येक अङ्ग पर प्रकाश डालता हो, अर्थात् मानव की ज्ञानसम्बन्धी सभी आवश्यकताओं को पूरा करता हो।

(६) न्यायादि शास्त्रों के नियमों के विपरीत न हो, दूसरे शब्दों में तर्क की कसौटी पर ठीक उतरे, अर्थात् तर्कसम्मत हो।

(७) जिसमें किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास न हो।

(८) त्रिविध अर्थों का ज्ञान कराता हो।

(९) आप्तसम्मत हो, ऋषि-मुनियों की धारणायें भी जिसके अनुरूप हों।

(१०) जिसकी एक आज्ञा दूसरी आज्ञा को न काटती हो।

अति संक्षेप से ये वेदार्थ की कसौटियाँ कही जा सकती हैं। इनके विषय में पूर्व(पृ० ३९-४०)संक्षेप से लिखा जा चुका है, यहाँ इस विषय में कुछ और प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा—

(१) **सर्वतन्त्र-सिद्धान्त या सार्वभौम-नियम**—जो बातें सबके अनुकूल, सब में सत्य, जिनको सब सदा से मानते आये, मानते हैं और मानेंगे, जिनका कोई भी विरोधी न हो, जो प्राणिमात्र के कल्याणकारक हैं, ऐसे सर्वतन्त्र सर्वमान्य सिद्धान्त ही संसार में सुख और शान्ति के प्रतिपादक हो सकते हैं। वेद तो स्पष्ट ही कहता है—

......मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
......मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६।१८) ॥

प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखो। **"यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः"** (यजु० ४०।७), **"भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः"** (केनोप० २।५), **"स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः"** (अथर्व० १।३१।४), वेद के इन मन्त्रों तथा उपनिषद् के वचनों में स्पष्ट इस उपर्युक्त बात का प्रतिपादन हमें मिलता है। ऐसी अवस्था में यदि कोई वेद का अर्थ इसके विरुद्ध करता है, तो कैसे माननीय हो सकता है! ईश्वर का ज्ञान वेद, फिर भी जाति जाति में, और देश-देश में फूट डलवाने वाली बात कहे, यह कैसे हो सकता है। वह तो समता का प्रतिपादक है, न कि विषमता का। मानवहृदय की विषमता दूर करना ही तो उसका ध्येय है। वेद का प्रत्येक मन्त्र किसी न किसी रूप में सर्वतन्त्र सिद्धान्त का प्रतिपादक है, यह हमारा कहना है। इस कसौटी को लेकर प्रत्येक को वेद के अर्थ का परीक्षण करना चाहिये।

(२) किसी देश या जातिविशेष का सम्बन्ध उसमें न होना चाहिये—ऐसा होने से ईश्वर में पक्षपात सिद्ध होगा। दूसरे—जिस जाति वा देश का वर्णन वेद में होगा, वेद की उत्पत्ति उसके पीछे ही माननी पड़ेगी, इस प्रकार उसकी नित्यता नहीं रह सकती। ऋ० १।३।११, १२ में—

"चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्"।
"धियो विश्वा वि राजति"।

विश्व के लिये बुद्धियों वा ज्ञान के प्रकाश का उपदेश वेद करता है। योगदर्शन (२।३१) में भी **'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'** ऐसा लिखा है।

इसके विरुद्ध जो शङ्का करते हैं, कि वेद में अमुक जाति वा अमुक व्यक्तियों का इतिहास है, इसके विषय में हम आगे लिखेंगे।

(३) ईश्वर के गुण, कर्म और सृष्टिनियमों के विरुद्ध न हो—ईश्वर सर्वज्ञ है, उत्पत्ति, स्थिति, संहार का कर्त्ता, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से युक्त है। यदि वेद के मन्त्रों के अर्थ इन गुणों के विपरीत हों तो यही कहना होगा कि वह वेद का ठीक अर्थ नहीं है, अन्यथा वेद ईश्वर की कृति नहीं माना जा सकता। वेद कहता है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः ।। ऋ० १०।८१।३।।

य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे ।। अथर्व० ७।८७।१।।

प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।। अथर्व० १०।७।८।।

यस्मिन भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।

यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः ।।

अथर्व० १०।७।१२।।

सब का स्रष्टा, धर्त्ता, नियन्ता परमेश्वर है, इत्यादि मन्त्र उपर्युक्त कसौटी के सर्वथा अनुरूप हैं।

(४) **वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक हो**—जब वेद ईश्वरीय ज्ञान है, तो वह पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, जो प्राणिमात्र को अपेक्षित है। अन्यथा उसकी अपूर्णता उसके वेदत्व का ही विघात करेगी। इसलिये ऋषि-मुनि **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु० २।७) वह समस्त विद्याओं का भण्डार है, ऐसा मानते हैं। यद्यपि यह बात अभी तक प्रायः साध्यकोटि में है, और तब तक रहेगी, जब तक सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता नहीं हो जाते। उससे पूर्व हमें इसका निर्बाध ज्ञान कैसे हो सकता है। पुनरपि हमें अंशतः इस का ज्ञान अवश्य हो रहा है। पर वेद में समस्त विद्यायें होनी चाहियें, इसका बाध तो कोई नहीं कर सकता। यह बात सर्वसम्मत है। स्वामी दयानन्दजी ने ही नहीं, स्वामी शङ्कराचार्य ने भी ऐसा ही माना है—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य-र्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति" । (वेदांत शाङ्करभाष्य १।१।३)।

अर्थात्—अनेक विद्याओं के स्रोत ऋग्वेदादि का कर्त्ता विना सर्वज्ञ जगदीश्वर के कोई नहीं हो सकता।

(५) **मानव-जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर प्रकाश डालता हो**—इस नियम से चारों वर्णों और चारों आश्रमों के सब धर्मों का मूलतः उपदेश वेद में होना अनिवार्य है। **"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"** (यजु० ३१।११) इत्यादि मन्त्र चारों वर्णों के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं, इसी प्रकार चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का निरूपण करनेवाले ब्रह्मचर्यसूक्त (अथर्व० ११।५) तथा गृहस्थाश्रम (अथर्व १४।२३) आदि के प्रकरण वेदों में अनेक स्थलों में हैं।

(६) **तर्कसम्मत हो**—"**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**" (वैशे० ६।१।१) के अनुसार वेद में तर्क के विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता। "**तर्क एव ऋषिः**" (निरु० १३।१२) ऋषियों के इन वचनों के आधार पर हमें मानना होगा कि वेद का कोई भी मन्त्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। यह बात भी अभी वेद के मर्मज्ञ विद्वानों को छोड़कर अन्य साधारण जनता के लिये तो प्रायः साध्यकोटि में ही कही जा सकती है।

(७) **व्यक्तिविशेषों का इतिहास न हो**—इन्द्र-कण्व-अङ्गिरः आदि शब्दों के आगे तरप्-तमप् (Comparative तथा Superlative degree) प्रत्यय हमें वेद में (ऋ० ७।७६।३ तथा ऋ० १।४८।४) स्पष्ट मिलते हैं। तरप्-तमप् प्रत्यय विशेषणवाची शब्दों के ही आगे प्रयुक्त होते हैं, न कि व्यक्तिविशेषों के नाम के आगे। इस से हम समझ सकते हैं कि ये विशेषणवाची शब्द हैं, न कि किन्हीं व्यक्तिविशेषों के नाम। स्थालीपुलाक-न्याय से यहाँ हम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं। शेष ऐतिहासिक स्थलों के विषय में आगे लिखा जायगा।

(८) **त्रिविध अर्थों का ज्ञान करानेवाला हो**—निरुक्तकार यास्क मुनि के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होना चाहिये, ऐसा ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने (निरुक्त का प्रमाण देकर) कहा है (देखो भाष्यविवरण पृ० २१, ३३)। ऐसी दशा में हमें किसी का भी किया अर्थ सामने आने पर देखना होगा कि वह तीनों अर्थों को कहता है, या तीनों में से किसी एक को, या तीनों से भिन्न ही कुछ बोल रहा है। इस कसौटी से हमें वेदार्थ करनेवाले व्यक्ति की योग्यता का भी पता तत्काल लग जायगा कि उसको वेदार्थ के विषय में कहाँ तक गहरा ज्ञान है।

(९) **ऋषि-मुनियों की धारणा के अनुकूल हो**—जैसा हमने ऊपर यास्क का मत दिखाया, इसी प्रकार यास्कमुनि की अन्य धारणाओं तथा अन्य ऋषियों की वेदार्थविषय में जो धारणाएँ हैं, उनको लेकर वेदार्थ की परीक्षा करनी होगी। जब यास्क प्रत्येक मन्त्र के तीन अर्थ मानता है, तो हमें बाधित होकर वैसा ही वेद का अर्थ ग्राह्य समझना होगा, दूसरा नहीं।

(१०) **जिसकी एक आज्ञा दूसरी आज्ञा को न काटती हो**—विप्रतिषिद्ध बात या तो पागल कहता है, या अज्ञानी। सो ईश्वर से बढ़ कर ज्ञानी और कौन हो सकता है! अतः उसका ज्ञान भी परस्पर विरुद्ध कभी नहीं हो सकता। यह बात वेद में पूरी लागू होती है। अतः वेद के अर्थ में ऐसी किसी विप्रतिषिद्धता की सम्भावना नहीं हो सकती।

ये सब कसौटियाँ हमने अति संक्षेप से निर्देश-मात्र वर्णन की हैं। इस विषय में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा। इन कसौटियों को लेकर ही हमें आगे वेदार्थविषय में विवेचना करनी होगी।

सर्गारम्भ में वेद का अर्थ

यह पूर्व कहा जा चुका है कि शब्द विना अर्थ के नहीं रह सकता, और भाषा विना ज्ञान के, ऐसी दशा में आदिज्ञान के साथ ही अर्थ[1] का प्रकाश भी उन आदि ऋषियों के हृदयों में हुआ। उनसे ही आगे भाषा का व्यवहार चला, और उन्हीं से अर्थ का ज्ञान आगे सबको हुआ। व्यवहार की भाषा वेद से ही चली, अर्थात् लौकिक भाषा का निर्माण वेद में वर्णित[2] नियमों के आधार पर ही हुआ और वह वेद की भाषा से भिन्न थी। इतना तो ठीक है कि वेद से निकली होने के कारण देववाणी (संस्कृत) में वेद से लिये शब्दों का बाहुल्य रहा। यह भी कहा जा सकता है कि वेद के कुछ शब्दों को छोड़ कर लोक में उन्हीं शब्दों का व्यवहार हुआ, जो वेद में थे, अतः वेद के आधार पर निर्मित भाषा में जो शब्द मनुष्यों द्वारा बोले गये, वे लौकिक हैं और वेद में प्रयुक्त आनुपूर्वी से युक्त शब्द जो कभी किसी जातिविशेष के मनुष्यों द्वारा बोले नहीं गये, वे वैदिक हैं। इन लौकिक-वैदिक शब्दों का वर्णन महामुनि पतञ्जलि निम्न प्रकार करते हैं—

"केषां शब्दानां ? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावद्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—शं नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा। अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्न आयाहि वीतये॥" (महाभाष्यारम्भे)।

यहाँ वैदिक शब्दों में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो लोक में न बोला जाता हो। उधर 'अश्वो ब्राह्मणः' आदि सभी शब्द वेद में आते हैं। तब स्वभावतः प्रश्न उठता है कि फिर लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद क्या

---

१. पृ० १४ (ऋ० १०।७१।१) में "नामधेय दधानाः" से यह बात अवभासित होती है। 'अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्' से यह अवभासित होता है कि वाणी (वैदिक वा लौकिक) ऋषियों द्वारा सबको बताई गई, पढ़ाई गई वा निर्धारित हुई।

२. देखें इसी पृ० की टिप्पणी नं० १, तथा पूर्व पृ० १४ टिप्पणी नं० १।

हुआ ? इसका उत्तर यह है कि वेद की आनुपूर्वी (क्रम) नित्य होती है। **"अग्निमीळे पुरोहितम्"** ऐसा ही पाठ रहेगा, **"पुरोहितमग्निमीळे"** इत्यादि नहीं हो सकता. अर्थात् वेद में ये शब्द आगे-पीछे कभी नहीं हो सकते। लौकिक शब्दों में यह बात नहीं। मीमांसकों ने **"य एव लौकिकास्त एव वैदिका:"** ऐसा सिद्धान्त निश्चय किया है, उसका अभिप्राय यही है कि सामान्यतया जो शब्द वेद में आये हैं, वही लोक में आते हैं। दूसरे शब्दों में वेदवाणी की पुत्री देववाणी का व्यवहार वेद के शब्दों को लेकर हुआ। यह बात ध्यान में रखने की है कि वेद में कुछ विशेष शब्द आते हैं, जो लोक में नहीं आते। यह ज्ञान सृष्टि के आदि में ही सब ऋषि-मुनियों को था, उन्हीं के द्वारा आगे भी सबको हुआ।

लौकिक-वैदिक शब्दों के विषय में अर्थ के सामान्य, विशेष नियमों का ज्ञान प्रारम्भ में ही हुआ होगा। आगे अध्ययन-अध्यापन का व्यवहार कैसे चला होगा, इसमें सामान्य व्यवस्था तो वही हो सकती है, जो अब है अर्थात् विना सिखाये कोई सीख नहीं सकता, किसी न किसी के द्वारा वेदार्थ का ज्ञान और आगे लौकिक शब्दों के अर्थ-सम्बन्ध का ज्ञान भी होना ही चाहिये। अध्यापन की प्रक्रिया में उस समय कोई भेद रहा हो, ऐसा तो समझ में नहीं आता। इतना भेद अवश्य रहा होगा कि यतः उस समय भाषा देववाणी थी, अत: उन्हें वेद का अर्थ समझने में अतीव सुगमता थी। प्रारम्भ में वेदार्थ ज्ञान की क्या शैली थी, इस विषय में निरुक्तकार केवल इतना सङ्केत करते हैं—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः" ॥ निरु० १।२०॥

अर्थात्—साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने, जिनको ज्ञान नहीं था, उनको उपदेश के द्वारा वेदार्थ का ज्ञान कराया।

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्' ॥
ऋ० १।१।१॥

'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव'।
यजु० ३०।३॥

इनमें तथा इसी प्रकार वेद के अन्य मन्त्रों में अर्थ का ज्ञान तत्काल ही हो जाता रहा होगा। इस समय भी इनके अर्थ समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं, न ही लौकिक शब्दों से कोई विशेष भेद है, सिवाय इसके कि 'अग्नि' आदि शब्दों का अर्थ वेद में केवल इतना ही नहीं होता,

जितना कि लोक में। मन्त्र उच्चारण करने के साथ ही उसका अर्थ हृदयङ्गम हो जाता होगा, जैसा कि इस समय भी हो रहा है। भेद केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय वैदिक शब्दों के व्यापक अर्थों का ज्ञान प्रायः करके सबको था, क्योंकि आरम्भ में वह ऋषियों के द्वारा सबको मिला था।

पदकार और वेदार्थ

वेद का अर्थ सबसे प्रथम[1] शक्तिग्रह द्वारा ही होना आरम्भ हुआ होगा, जैसा कि वर्त्तमान में भी किसी भाषा का शब्द बोलने पर उसके वाच्यार्थ का बोध शक्तिग्रह द्वारा होता है। यह भी समझने की बात है कि प्रारम्भ में कोई पृथक् व्याकरण नहीं था, वेदविषयक जो भी विशेष नियम थे, वे सब अध्ययन-परम्परा द्वारा सबको विदित रहते थे। लोगों की ग्रहणशक्ति में शैथिल्य आजाने पर पदकार ऋषियों ने पदपाठों की रचना की, जिससे वेदार्थ में किसी प्रकार की उलझन न होने पावे। सामान्य अध्येता लोग वेद के पृथक्-पृथक् शब्दों के स्वरूप निश्चय करने में भ्रम में न पड़ें। तब तक भी वेदार्थ अपने उच्चतम स्थान अर्थात् पूरी समुन्नत अवस्था में वर्त्तमान था, यही कहना पड़ता है। किसी वेदभाष्य की रचना उस समय तक नहीं हुई थी, यही हमें पता लगता है, क्योंकि उस समय इसकी आवश्यकता ही नहीं थी। वेद के व्यापक अर्थ को ऋषि लोग संकुचित नहीं करना चाहते थे। अर्थज्ञ ऋषियों में हमें इन पदकार ऋषियों की सर्वप्रथम कृति इस समय मिल रही है। ये पदकार ऋषि व्याकरण तथा निर्वचनविद्या के नियमों से पूर्ण परिचित थे, क्योंकि विना व्याकरण के नियमों का ज्ञान हुये पदविभाग हो नहीं सकता। पदकारों के इस प्रयत्न को हम सर्वसाधारण की दृष्टि से वेदार्थ की ओर होनेवाले यत्नों में प्रथम प्रयत्न कह सकते हैं। वाक्यार्थबोध के विना भी पदज्ञान नहीं हो सकता, अतः वे वाक्यार्थ का भी पूरा ज्ञान रखते थे, यही कहना पड़ता है।

यहाँ पदकारों से हमारा अभिप्राय उन पदकारों से है, जिन्होंने सर्वप्रथम मन्त्रों का पदच्छेद करके अर्थज्ञान कराया। वर्त्तमान में उपलभ्यमान पदपाठों के रचयिता शाकल्यादि उनकी अपेक्षा बहुत पीछे के हैं।

---

१. सर्गारम्भ में शक्तिग्रह सर्वप्रथम ईश्वर द्वारा ही कराया गया, जिसका निरूपण हम पहिले कर चुके हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि इनसे पूर्व भी पदविभाग के ज्ञाता वा उपदेष्टा ऋषि अवश्य रहे होंगे[1]।

पदकारों ने वेद के भाष्य न करके केवल पदविभाग मात्र का उपदेश किया, इससे यह बात सहज में समझ में आ जाती है कि उस समय वेद के भाष्यों की आवश्यकता ही नहीं थी।

शाखायें और वेदार्थ

शाखायें वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, यह हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। सम्भव है इन शाखाओं में से कुछ एक पदकारों से पूर्व की हों, पर बहुत सी तो स्पष्ट ही पदकारों के पश्चात् की प्रतीत होती हैं। चाहे ये किसी समय की रचना हों, इनमें शतपथादि में कहे जानेवाले मानुषपाठ अर्थ की दृष्टि से ही बदले हुए समझने चाहियें। अर्थात् मन्त्रों से मन्त्रों का अर्थ समझा जाता है तथा शाखायें विस्पष्टार्थद्योतक शब्दों द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। सम्पूर्ण शाखायें यज्ञ के लिये बनी हैं। इनका एकांशिक याज्ञिक अर्थ के साथ ही सम्बन्ध है।

ऋग्वेद १०।७१।६ में **'सचिविदं सखायं'** के स्थान में तै० आरण्यक में इसी मन्त्र के व्याख्यान में **'सखिविदं सखायं'** (तै० आ १।३।१) पाठ है।

यजुर्वेद १।१८ के **'भ्रातृव्यस्य वधाय'** के स्थान में काण्व संहिता १।६।२,३ में **'द्विषतो वधाय'** ऐसा पाठ है। पाठक देखें इन दोनों स्थलों में स्पष्ट ही एक शब्द के अर्थ को दूसरे से दर्शाया गया है। ऐसे स्थल यद्यपि बहुत से दर्शाये जा सकते हैं, तथापि शाखाओं के द्वारा हमें वेदार्थ में अति स्वल्प सहायता मिलती है। जो बहुत सूक्ष्म दृष्टि से प्रयत्न करने पर उपलब्ध होती है। वेङ्कटमाधव भी ऋग्भाष्यानुक्रमणी पृ० ७७ में लिखता है—

"अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेवं मन्त्रान्तरैरपि।
शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिणः॥

अब वेदार्थ के विषय में ब्राह्मणग्रन्थ कहाँ तक सहायक हैं, इस पर विचार करते हैं—

---

१. इस विषय में विशेष खोज की आवश्यकता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ और वेदार्थ

ब्राह्मणग्रन्थ ऋषियों की कृति, वेदों के व्याख्यान, पौरुषेय ग्रन्थ हैं, यह पूर्व कहा जा चुका है। वेदार्थ के विषय में ब्राह्मणग्रन्थों की स्थिति क्या है, यह उनकी परम्परा लुप्त हो जाने से पूर्णरूप से परिज्ञात नहीं हो सकता। फिर भी यह तो निश्चित है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं, इनका याज्ञिक अर्थ के साथ सम्बन्ध है। इनमें केवल याज्ञिक-प्रक्रिया का प्रतिपादन है, या विनियोगमात्र ही दर्शाया गया है, यह कहना इनके गौरव को कम करना है। ब्राह्मणग्रन्थों का यज्ञ शब्द व्यापक और विस्तृत अर्थों को लिये हुये है, जिनमें ज्ञान-विज्ञान तथा अन्य सभी उपयोगी बातों का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के १८वें अध्याय में **"यज्ञेन कल्पन्ताम्"** (मं० २४, २५) द्वारा गणित को भी बतला दिया है। **"मुद्गाश्च मसूराश्च यवाश्च"** इत्यादि से पार्थिव पदार्थों को भी **"यज्ञेन कल्पन्ताम्"** (मं० १२) से ही प्रकट किया है।

अब यज्ञ शब्द का अर्थ यदि संकुचित होता तो इस १८वें अध्याय का महत्त्व कुछ भी न होता। यही ब्राह्मणग्रन्थों की उपयोगिता है कि उन्होंने उसको स्पष्ट किया, यथा **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"** इससे **'यज देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु'** यज धातु के सब अर्थ आ गये। इसी प्रकार आध्यात्मिक अर्थों को भी ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। इनमें सृष्टि के विकास पर भी पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला गया है, पर है यह सब आनुषङ्गिक। मुख्यतया इनका प्रतिपाद्य विषय यज्ञ ही है। अन्यथा विनियोग विधायक शास्त्र अपना विषय छोड़कर **"नासदासीन्नो सदासीत्"** (ऋ० १०।१२९।१), जो न यजुर्वेद का मन्त्र है, न इसमें जिसका विषय आता है, उसकी व्याख्या करने के लिये क्यों प्रवृत्त होते (श० १०।५।३।२ पृ० ५३५)? **"आत्मा इदमग्र आसीत्"** **"सदेवेदमग्र आसीत्"** इत्यादि वाक्य सृष्टि की गूढ़ पहेलियों को सुलझाते हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक शब्दों के अर्थ यौगिक प्रक्रिया के अनुसार करने का नैरुक्तसूत्र अर्थात् निर्वचन-विज्ञान भी हमें इन ब्राह्मणग्रन्थों से ही मिलता है। इनके भीतर सहस्रों वैदिक शब्दों का [1]अर्थनिर्वचन और पर्याय सम्बन्ध प्रकट कर दिया गया

---

१. विदित रहे कि व्याकरण केवल शब्दनिर्वचन हैं। निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थ अर्थनिर्वचन हैं, अर्थात् अर्थ को लक्ष्य में रखकर निर्वचन किए गये हैं। व्याकरण और निरुक्त के भेद को न जाननेवाले पाश्चात्य वा उनके कुछ अनुगामी

है। वेद के शब्दों के साथ सृष्टि का क्या सम्बन्ध है, इसका ब्राह्मण ग्रन्थ प्रतिपादन कर देते हैं। उदाहरणार्थ दैवत प्रक्रिया के अनुसार सृष्टि के तीन विभाग हैं, वे हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ। इन तीन शब्दों से यास्क ने इन स्थानों में रहनेवाली सारी दिव्य शक्तियों का ग्रहण किया है और इसमें सृष्टि का विभाग अच्छी तरह से आ जाता है। इनके लिये शब्द का होना भी आवश्यक था, ऋषियों की प्रक्रिया के अनुसार तो "भूः भुवः स्वः" ये तीन शब्द इनके लिये पर्याप्त हैं, परन्तु यास्क ने **"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि"** पर चत्वारि पद के अर्थ करते हुए बतलाया है कि जो वाक् पृथिवी में, वह अग्नि में, वह रथन्तर साम में; जो अन्तरिक्ष में, वह वायु में, वह वामदेव्य में; जो द्युलोक में, वह आदित्य में, वह बृहती में (द्र०—नि० १३।९)। इनमें तीनों पृथिवी, अन्तरिक्ष और आदित्य का रथन्तर वामदेव्य और बृहत् के साथ क्या सम्बन्ध है, इसको ब्राह्मण स्पष्ट करता है कि रथन्तरादि वाचक हैं और पृथिव्यादि वाच्य हैं। यथा—**"अयं वै पृथिवी लोको रथन्तरम्"** (ऐ० ८।२), **"उपहूतं रथन्तरं सह पृथिव्या"** (श० १।८।१।१९) ऐसे वर्णन अनेक प्रकार से पाये जाते हैं।

इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों से जहाँ सृष्टि आदि का ज्ञान होता है, वहाँ वेद के शब्दों की अनेकार्थता का भी बोध होता है। ब्राह्मणग्रन्थों की प्रक्रिया के अनुसार वेदों का अर्थ संकुचित नहीं रह जाता। ये किस मन्त्र से किस कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, उसका तथा उसके पात्र का वर्णन करते हैं। साथ में उस क्रिया का लाभ बतलाते हुए प्रतिज्ञात मन्त्र की यज्ञप्रक्रिया के साथ सङ्गति दर्शा देते हैं। ये तीनों बातें एक दूसरे से इतनी संश्लिष्ट हैं कि विश्लेषण करने में कठिनता होती है, परन्तु ये बातें किस पर निर्भर हैं, और इनके विस्तार का आधार क्या है, यह विचार उत्पन्न होने पर मानना पड़ेगा कि इनके आधार वेदमन्त्र हैं। फिर जब इनसे इतना विस्तार इन्होंने किया और सङ्गति लगाई, तो स्पष्ट ही ये उसके व्याख्यान हुए। इसी प्रकार सब ब्राह्मणग्रन्थ किन्हीं न किन्हीं वेद-मन्त्रों के अंशों का व्याख्यान अवश्य करते हैं, किन्तु इनके समझने में

भारतीय इस रहस्य को न जानकर गोते खाते रहते हैं कि यास्क के किए निर्वचन बेहूदा और अयुक्त हैं। इस विषय का विशेष विवेचन आगे 'यास्क और वेदार्थ' प्रकरण के आरम्भ में देखें। पूरा विवेचन वेदवाणी वर्ष ९, सन् १९५६ के पृ० १३२ से १५२ में हमारे लेख में देखें।

कठिनाई इसलिये होती है कि वह प्रक्रिया लुप्त हो चुकी है, परन्तु हैं वेद के व्याख्यान, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका। यही भाव महर्षि दयानन्दजी के ब्राह्मणग्रन्थों को वेद के व्याख्यान ग्रन्थ कहने का है।

निरुक्तकार यास्क मुनि ने भी यत्र तत्र **"इति च ब्राह्मणम्"** इत्यादि कह कर अपने अर्थ वा व्याख्यान की पुष्टि में ब्राह्मणग्रन्थों को उपस्थित किया है। इससे भी हमें ब्राह्मणग्रन्थों की उत्कृष्टता का ही परिचय मिलना है, यही कहना होगा।

यहाँ पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ब्राह्मणग्रन्थों में वेदार्थ का निर्देश प्रायः मिलता है, जिसके अभी बहुत कुछ विस्तार और व्याख्यान की आवश्यकता है। यह होते हुये भी हम इन्हें वेद के भाष्य नहीं कह सकते, हाँ वेदार्थोपबृंहक कह सकते हैं। जो लोग इन ब्राह्मण-ग्रन्थों को **'विनियोजकं ब्राह्मणम्'** केवल विनियोजक मात्र मानते हैं (जिस का कारण ब्राह्मणग्रन्थों के आज तक उपलभ्यमान भाष्य वा टीकायें हैं), वे महानुभाव ब्राह्मणग्रन्थ वेदार्थ के विषय में **'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति'** के अनुसार कुछ सहायक नहीं, ऐसा मानते हैं। वर्त्तमान भाष्यों को देखते हुए और ब्राह्मणग्रन्थों पर विस्तृत प्रकाश के अभाव में अभी यह बात सर्वथा निराधार नहीं कही जा सकती। शतपथब्राह्मण में यजुर्वेद के कुछ अध्यायों की व्याख्या और जैमिन्युपनिषद् ब्राह्मण में आध्यात्मिक अर्थों पर पर्याप्त प्रकाश हमें मिलता है, शेष ब्राह्मणों में कहीं-कहीं। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यान होते हुये भी वेदार्थ के निर्देश बतानेवाले भले ही कहे जा सकते हैं, वेदार्थ के सीधे प्रतिपादक नहीं, यह बात सर्वथा ही अतथ्य हो, यह बात नहीं। इसमें कुछ अंश तक सत्यता अवश्य है। ब्राह्मणग्रन्थों का यह पक्ष भी विचारणीय अवश्य है। महर्षि दयानन्द अभिमत पक्ष हमने ऊपर दर्शाया है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यान रूप ग्रन्थ हैं। इसमें किसी को कुछ भी वक्तव्य नहीं रह जाता। परमात्मा ने चाहा तो हम इस विषय पर कालान्तर में पृथक् विस्तृत विचार उपस्थित करेंगे।

आरण्यक-उपनिषद् और वेदार्थ

आरण्यक ग्रन्थ जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के ही एक भाग हैं, उनमें वान-प्रस्थियों के कर्त्तव्य यज्ञादि कर्मों का उल्लेख है, जैसा कि आरण्यक नाम से ही स्पष्ट विदित होता है। उपनिषदें इन्हीं आरण्यकों का एक भाग

हैं, जिनमें विशेष रूप से ब्रह्म का विचार किया गया है। इनमें वेदमन्त्रों के साक्षात् अर्थ उपलब्ध नहीं होते (जैमिन्युपनिषद् ब्राह्मण तथा अन्य कुछ स्थलों को छोड़कर)। कहीं-कहीं प्रसङ्गतः किन्हीं मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ लिखा गया है, जो कि न होने के बराबर है। अर्थात् इनमें कतिपय मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक दिखाया गया है, प्रधानतया इन्होंने वेद के आध्यात्मिक अर्थ को गौण ही माना है, क्योंकि इनके काल में वेद प्रधानतया कर्मकाण्ड के ग्रन्थ माने जाने लगे थे। इसी का सङ्केत "यया तदक्षरमधिगम्यते" में मिलता है। अतः ये ग्रन्थ भी वेदार्थज्ञान में उपयोगी होते हुये भी साक्षात् वेदों के भाष्य नहीं कहे जा सकते, अर्थात् वेद के भाष्य नहीं हैं। यह ठीक है कि उपनिषदें अनेक स्थलों में ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा हमें वेद के आध्यात्मिक अर्थ का ज्ञान अधिक उत्कृष्टता से कराती हैं, चाहे वह इतना स्पष्ट न हो, जो सर्वसाधारण की समझ में आ सके।

कल्पसूत्र और वेदार्थ

श्रौत और गृह्यसूत्रों में ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर ही मन्त्रों के विनियोग अपने-अपने विभागानुसार दर्शाये हैं, अर्थात् आध्वर्यव कर्म का प्रतिपादन कात्यायन श्रौत करेगा, तो आश्वलायन हौत्र कर्म का, लाटचायन औद्गात्र कर्म को ही कहेगा। इसी प्रकार अन्य श्रौतों के विषय में समझना चाहिये। इनका काम केवल इतना ही है। गृह्यसूत्रों में भी तत्तत् मन्त्र से तत्तत् क्रिया का विधान किया गया है। श्रौत और गृह्य केवल इस अंश में वेदार्थ में भले ही सहायक हो सकते हैं कि तत्तत् क्रिया और तत्तत् मन्त्र का परस्पर में कितना सम्बन्ध है, अर्थात् जहाँ तक दोनों की समानता दीख रही है, बस उतना अर्थ वेद का ये गृह्य और श्रौत सूत्र निर्देश कर रहे हैं, यही समझना चाहिये। धर्मसूत्र वैदिक आचार और व्यवहार का निरूपण करते हैं, यही इनका कार्य है। ऐसे तो महाभारत भी यत्र तत्र वेदार्थ का निर्देश करता है।

वेदाङ्ग-उपाङ्ग तथा अन्य आर्षग्रन्थ और वेदार्थ

निरुक्त तथा व्याकरण के विषय में आगे पृथक् निरूपण करेंगे। शेष वेदाङ्ग वेदार्थ में अपने-अपने विद्यासम्बन्ध से सहायक कहे जा सकते हैं। कल्प के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। शिक्षा उच्चारण

भेद से कहीं-कहीं अर्थ का भेद दर्शाती है। छन्दःशास्त्र मन्त्र के पाठों का परिमाण वा अक्षर-गणना द्वारा वाक्यार्थ-बोध में सहायक है।

त्वम॑ग्ने य॒ज्ञानां॒ होता॒ विश्वे॑षां हि॒तः। दे॒वेभि॒र्मानु॑षे॒ जने॑॥
ऋ० ६।१६।१॥

इस मन्त्र का ऋक्सर्वानुक्रमणी में 'वर्धमाना गायत्री' (६+७+८) छन्द माना है। सामवेदीय निदान-सूत्र तथा उसके टीकाकार (८+५+८) पिपीलिकामध्या गायत्री मानते हैं। कारण इसमें केवल इतना ही है कि जब **'त्वमग्ने यज्ञानां'** एक पाद मानें तो आगे **'होता विश्वेषां हितः'** में सात अक्षर होते हैं। इस रीति से यह वर्धमाना गायत्री हो जाता है। जब **'त्वमग्ने यज्ञानां होता'** इतना पाद माना जावे तो यह ८ अक्षर का पाद बनकर, आगे ५ अक्षर का पाद रह जाता है, तब यह 'पिपीलिका-मध्या गायत्री' छन्द बन जाता है। 'होता' पद के पूर्वान्वयी वा उत्तरा-न्वयी होने में अर्थ में अवश्य भेद पड़ता है, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म हो। इस प्रकार छन्दो-भेद से अर्थ भेद के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। छन्दोविषय में विस्तार से पृथक् लिखा जायगा।

वेद में आये ज्योतिष्सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान को ज्योतिषशास्त्र दर्शाता हुआ ज्योतिर्विज्ञान द्वारा वेदार्थ में सहायक है। वेदभाष्य इन वेदाङ्गों में से (निरुक्त को छोड़कर) किसी को भी नहीं कहा जा सकता है। दर्शन-शास्त्र भी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न विद्याओं के नियत अंशों वा विज्ञान द्वारा वेदार्थ के समझने में उपाङ्गतया ही तो सहायक कहे जा सकते हैं। प्रमाणप्रमेयपदार्थविभाग, कार्यकारणप्रकृति का निरूपण, चित्तवृत्ति-निरोध, यज्ञ-यागादि द्वारा आत्म-कल्याण तथा ब्रह्मप्राप्ति के विविध उपायों के निरूपण द्वारा ही तो वेदार्थ में सहायक कहे जा सकते हैं, स्वयं सीधे तो वेदार्थ के प्रतिपादक नहीं कहे जा सकते।

ऋषियों ने सीधा सरल वेदार्थ या वेदभाष्य क्यों नहीं किया?

यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऋषि लोगों ने वेदमन्त्रों का सीधा सरल अर्थ, वा दूसरे शब्दों में वेदभाष्य, क्यों न कर दिया, जिससे प्रत्येक जिज्ञासु को वेदार्थ का यथार्थ बोध हो जाता, किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित न होती।

हमारा इसमें यह कहना है कि ऋषि लोग वेदभाष्य कर सकते थे, और एक से एक उत्कृष्ट भाष्य करते, पर उन्हें तो वेदभाष्य करना

अभीष्ट ही न था। इसका मुख्य कारण यह है कि वेद **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**—सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है, वेद में सब सत्य विद्यायें हैं, यह ऋषि लोगों की निश्चित धारणा थी। किसी भी व्यक्ति को सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान नहीं हो सकता। हाँ ज्ञान वा विद्या के अधिक से अधिक विभागों का विशेषज्ञ एक ऋषि वा आचार्य हो सकता है। हमारी इस बात का प्रमाण इसी से मिल जाता है कि[1] यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि-व्यास-जैमिनि आदि ऋषियों ने विद्या के एक-एक विभाग को लेकर साक्षात् ज्ञान द्वारा संसार को उपदेश दिया। एक ही ऋषि ने सब विद्याओं का पूर्ण ज्ञाता होने का दावा नहीं किया। जब एक व्यक्ति चाहे वह ऋषि हो या मुनि, आचार्य हो या बड़े से बड़ा विद्वान्, सब विषयों का ज्ञाता कदापि नहीं हो सकता, तो भला वह वेद का सम्पूर्ण अर्थ कर भी कैसे सकता है। इसीलिये ऋषि-मुनि वेदों के भाष्य न कर गये, क्योंकि वे समझते थे कि वेद के ज्ञान की इयत्ता नहीं हो सकती। यद्यपि वेद की इयत्ता (चार विभागों में) नियत है, पर उसके अर्थ की इयत्ता का अवधारण नहीं हो सकता। जैसे ईश्वरीय पदार्थ वायु-अग्नि-जल-विद्युत् आदि को मनुष्य के मस्तिष्क ने वहुत कुछ वश में किया है और उससे अपनी इच्छानुसार काम ले रहा है, पर ये पदार्थ सम्पूर्णतया मानव मस्तिष्क में कभी नहीं आ सकते, क्योंकि ये ईश्वरीय हैं। जब भौतिक पदार्थों का यह हाल है तो भला ईश्वरीय ज्ञान का तो कहना ही क्या, वह अल्पज्ञ मानव के वश में कैसे आ सकता है? जैसे हमारा शरीर परिमित है, इयत्ता वाला है, पर उसके अङ्ग मस्तिष्क में आनेवाले विचार वा ज्ञान की इयत्ता का निर्धारण तो नहीं हो सकता।

यास्क के निरुक्त में 'वा'[2] शब्द इसी बात का द्योतक है। यास्क निर्वचन करते समय जो 'वा' शब्द का प्रयोग प्रायः करता है, उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि यास्क को अपने ही कथन में सन्देह हो रहा है। निर्वचन-विद्या का यह विज्ञान सहज में प्रत्येक की समझ में नहीं आ सकता। यहाँ हम एक दृष्टान्त द्वारा इस बात को स्पष्ट करने का यत्न करते हैं—

मीमांसाभाष्य अ० ३ पा० ३ के सप्तम बलाबलाधिकरण में—**"ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। अत्र चिन्त्यते किमिन्द्रस्य गार्हपत्यस्य वोप-**

---

१. इस पर आगे पृ० १०० पं० १६ से २३ तक देखें।

२. इस विषय में आगे पृ० १०४ पं० २० पर देखें।

स्थानं कर्त्तव्यमित्यनियम उत गार्हपत्यस्यैव ।।......यस्तु गार्हपत्यश्रवणादेवार्थः प्रतीयते, स लिङ्गेन बलीयसा परित्यक्तो भवति। नासावुपस्थानेन सम्बध्यते । तदा हीन्द्रं गार्हपत्यशब्दोऽभिवदेदग्निसमीपं वा" (मी० शा० भा० पृ० ८२३, ८२८ पूना सं०) ।

यहाँ पर सिद्धान्त में उपर्युक्त वाक्य से गार्हपत्य अग्नि का ही उपस्थान होता है । यहाँ

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे (ऋ० ८।५१।७) ॥

इस ऋचा का देवता इन्द्र है । ऐसी अवस्था में इन्द्र का अर्थ "गार्हपत्याग्नि" हो तभी तो विनियोजक वाक्य का अभीष्टार्थ सिद्ध हो सकता है, तभी गार्हपत्याग्नि का उपस्थान होना सम्भव है। अब इन्द्र से गार्हपत्याग्नि का अर्थ विना यौगिकवाद के कैसे लिया जा सकता है, क्योंकि यहाँ सत्यवसरे प्रसिद्धार्थ "इन्द्र" का त्याग और प्रकरणानुगुण होने से "अग्नि" अर्थ का ग्रहण विना यौगिकवाद के होगा ही कैसे ?

तात्पर्य यह है कि मीमांसकों का सिद्धान्त है कि **"गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्य शास्त्रहेतुत्वात्"** (मीमां० ३।२।४) गुणसंयोग से भी शब्द अर्थाभिधायक होता है, यह सर्वसाधारण नियम इस जैमिनीय सूत्र में बतलाया है । वह गुणसंयोग ऐश्वर्य को लेकर जिस प्रकार 'इदि' धातु से सम्पन्न हो रहा है, उसी प्रकार दीप्तिरूप गुण को लेकर 'इन्धी' धातु से भी सम्पन्न होता है ।

इसी कारण से **"गुणवादस्तु"** (मीमां० १।२।४७) इत्यादि स्थलों में भी गुण को लेकर शब्दार्थ का निश्चय होता है, ऐसा मीमांसाशास्त्र का सिद्धान्त है ।

अब यहाँ पाठक थोड़ा ध्यान से विचार करें कि जब हम यास्क के निर्वचनों को देखते हैं तो आपाततः एक साधारण व्यक्ति को वे व्यर्थ से प्रतीत होने लगते हैं, या उसके मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि यास्क को स्वयं सन्देह रहा कि कौन सी धातु से निर्वचन करूँ । हमारा यही उदाहरण अर्थात् 'इन्द्र' शब्द इसका पूरा समाधान कर देता है ।

देखिये यास्क ने—निरु० १०।८ में—**"इन्धे भूतानीति वा"** ऐसी व्युत्पत्ति दर्शाई है । यही निर्वचन ब्राह्मणग्रन्थों (शतपथ ब्रा० १४।६।११।२) में लिखा है—**"तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणेव"** ।

इसी प्रकार दशपादी उणादिवृत्ति ८।४६ में भी इन्ध धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई है—

"इन्धेर्दकारोऽन्त्यस्य निपात्यते ।
इन्धते इध्यते वा तेजोभिरिति इन्द्रः" ॥

(पृ० ३१६, सरस्वती भवन संस्करण)।

इससे यास्क के निर्वचनविज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाता है। यास्क इस विद्या के साक्षात्कर्ता थे, इसी से उन्होंने वेदार्थ को बांधा नहीं, क्योंकि "अनन्ता वै वेदाः" का वास्तविक अर्थ यही है कि वेदार्थ बाँधा नहीं जा सकता। यह है कारण जो ब्राह्मणकार-वेदाङ्ग-उपाङ्गों के बनानेवाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने वेदभाष्यों का निर्माण न किया। ये कर नहीं सकते थे, या करने की आवश्यकता नहीं समझते थे, यह बात नहीं थी, अपितु पूर्णतया हो ही नहीं सकता, यह उनकी धारणा थी।

इसी बात को लेकर तो वेङ्कटमाधव ऋग्भाष्यानुक्रमणी में कहता है—

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यद्युनातनाः ॥ पृ० ७४।
तस्मान्नाल्पश्रुतैर्मन्दैः कार्यो वेदार्थनिर्णयः ॥ पृ० ७७।
शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः ।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी ॥ पृ० ७४।

अर्थात्—आजकल के विद्वान् संहिता का चतुर्थांश जानते हैं। इसलिये अल्पश्रुतों को वेदार्थ का निर्णय नहीं करना चाहिये। शाकल्य, पाणिनि और यास्क, ये ऋग्वेद के अर्थों के ज्ञाता हैं, परन्तु ये भी यथाशक्ति अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, सब नहीं कहते।

ऋषि दयानन्द के भाष्य में ही आपको यह विशेषता मिलेगी कि उन्होंने वेद के अर्थ को संकुचित नहीं किया, अपितु आप्त ऋषि-मुनियों की शैली के अनुसार व्यापक अर्थों का निर्देश अपने संस्कृतपदार्थ में किया है। अन्य सभी भाष्य इससे शून्य हैं। इसीलिये हम उसे नैरुक्तप्रक्रिया का वेदभाष्य कहते हैं। उसमें कहीं-कहीं यास्क मुनि के दर्शाये पथ पर चलकर निरुक्त से भी अधिक निर्वचन किये हैं। यह इस भाष्य की अपूर्वता है, जिसे हर कोई नहीं समझ सकता।

हम निरुक्तकार यास्कमुनि को (जिनके भाष्य उपलब्ध हैं उनमें) प्रथम वेदभाष्यकार मानते हैं। अतः यहाँ वेदार्थ के विषय में निरुक्तकार की धारणाओं का निरूपण संक्षेप से करते हैं—

यास्क और वेदार्थ

निरुक्त अर्थनिर्वचन शास्त्र है।

यास्क का वेद के अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध है, क्योंकि निरुक्त=निर्वचन शास्त्र है, जो अर्थ के आधार पर प्रवृत्त हुआ है, क्योंकि शब्द के आधार पर तो व्याकरण शास्त्र है ही, जो पृथक् और मुख्य वेदाङ्ग है। यदि निरुक्त भी शब्द के आधार पर ही निर्वचन करता, तो उसके पृथक् वेदाङ्ग की आवश्यकता ही क्या थी। अत एव निरुक्त शब्द के आधार पर ही नहीं, अपितु अर्थ के आधार पर निर्वचन विद्या प्रतिपादक शास्त्र है।

दूसरे शब्दों में व्याकरण शब्दनिर्वचन है, निरुक्त अर्थनिर्वचन शास्त्र है। यही दोनों का भेद है। इसे हम और अधिक स्पष्ट करते हैं—

(i) निरुक्त टीकाकार दुर्गाचार्य लिखता है—

"यस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं अर्थनिर्वचनं, व्याकरणं तु लक्षणप्रधानम्"

(निरुक्त टी० दुर्ग १।१५)।

अर्थात्—यह निरुक्त स्वतन्त्र विद्यास्थान, निर्वचनशास्त्र है। व्याकरण तो लक्षणप्रधान=शब्दप्रधान है (लक्षण का अर्थ होता है वाचक शब्द, लक्ष्य का अर्थ होता है वाच्य)।

(ii) प्रपञ्चहृदय में—

"तान्यवयवप्रत्यवयवविभागपूर्वकं स्वरवर्णमात्रादिभेदेनार्थनिर्वचनाय निर्वचनानि"। (षडङ्ग प्रकरण पृ० २९ त्रिवेन्द्रम संस्करण)।

अर्थात्—अवयव-प्रत्यवयव के विभागपूर्वक स्वर-वर्ण और मात्रादि के भेद से अर्थ के निर्वचन के लिये निरुक्तशास्त्र के निर्वचन हैं।

(iii) निर्वचन शब्द का मुख्यार्थ वा पर्याय 'अन्वाख्यान' शब्द है।

"निर्वचनं नाम अर्थस्यान्वाख्यानम्" (अन्नंभट्ट भाषिक सूत्र ३।९ की व्याख्या में)।

(iv) एक और प्रमाण भी स्वयं यास्क का है, जो बड़े ही महत्त्व का है—

"तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय"। यह स्थल निरुक्त में बार-बार आता है। निरुक्तकार मन्त्र का अर्थ कर चुकते हैं तो कहते हैं—पूर्व प्रदर्शित

अर्थ को अधिक स्पष्टता से दर्शाने के लिये उत्तरा (आगे वाली) ऋचा (मन्त्र) उपस्थित की जाती है। अर्थ को लक्ष्य में रख कर ही यास्क भिन्न-भिन्न निर्वचन दर्शाते हैं, यह स्पष्ट है।

(v) अब हम यास्क के निर्वचन प्रकरण का मुख्यस्थल भी पाठकों के समक्ष रखते हैं, जो ऊपर के प्रकरण समझ लेने पर सुगमता से समझ में आ जायगा। निरुक्तकार कहते हैं—

"तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नाना-निर्वचनानि, यथार्थं निर्वक्तव्यानि" । (निरु० २।७)।

अर्थात्—यदि वे शब्द समानार्थक हों, तब उनका निर्वचन भी समान होगा, यदि भिन्न अर्थवाले हैं, तो निर्वचन भी भिन्न होंगे। अर्थ का अनुसरण करके ही निर्वचन करना चाहिये। यहाँ समानकर्माणि का अर्थ है समानार्थानि।

कितना स्पष्ट लेख है। इसीलिये निरुक्तकार ने इस प्रकरण के आरम्भ में **'अथ निर्वचनम्'** कह कर **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** तथा **'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्'** ऐसा कहा। अर्थात् जहाँ प्रकृतिप्रत्यय का बोध न हो रहा हो, अर्थ ठीक न बैठे, वहाँ अर्थ के अनुसार निर्वचन करना चाहिये और इस प्रकार उपर्युक्त स्थिति में अर्थानुसार विभक्ति का परिवर्त्तन भी कर लेना चाहिये।

क्या यास्क के निर्वचन बेहूदा हैं?

विदित रहे कि निरुक्त ४, ५, ६ अध्याय नैगमकाण्ड है। अनवगत-संस्कार शब्दों के निर्वचन का प्रकरण है, अर्थात् यह वह प्रकरण है, जिस-में प्रकृति-प्रत्यय का स्पष्टतया कुछ भी बोध नहीं होता। अर्थ-प्रकरणादि के आधार पर निर्वचन करके अर्थ दर्शाया गया है। जब यास्क ने स्वयं कह दिया कि इस प्रकरण में प्रकृति-प्रत्यय का बोध नहीं होता, और अर्थ के आधार पर निर्वचन किये हैं, तो उन निर्वचनों को बेहूदा-पागलपन-झक आदि कहना अपनी मूर्खता प्रकट करना है।

चतुर्थ अध्याय के उपक्रम में अर्थ-निर्वचन के सिद्धान्त का प्रतिपादन निरुक्तकार इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

"तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः, अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्" का यही अर्थ है कि यहाँ से आगे अनेकार्थ वाले एक शब्दों का निरूपण करेंगे, जिनमें कि संस्कार (प्रकृति प्रत्यय का भेद) अवगत (ज्ञान) नहीं हो

रहा। दूसरे शब्दों में जिनमें व्याकरणानुसार प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान स्पष्टतया विदित नहीं हो रहा, उनका हम (निरुक्तकार यास्क) निर्वचन करेंगे। इस सरल और सीधी सी, पर मौलिक बात को न समझ कर पाश्चात्य स्कालरों, वा उनके उच्छिष्टभोजी भारतीय रिसर्चस्कालरों ने, यास्क के निर्वचनों को बेहूदा तक कह डाला, जैसा कि काशीनाथ राजवाड़े ने अपने निरुक्त (पूना भण्डारकर इंस्टीच्यूट संस्करण) की भूमिका में लिखा है—

(२) भूमिका पृ० ४०-४१—The Nirukta method is a strange one, it hardly deserves the name of शास्त्र or science ....it is not a Science, but travesty of Science... ..... I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day...... ...Numbers of Etymologies in the Nirukta seem senseless.........derivations are really inventions." (पृ० ४१ से ४३)।

अर्थात्—"निरुक्त का ढंग इतना विचित्र है, कि इसे शास्त्र=विज्ञान वा विद्यास्थान का नाम नहीं दिया जा सकता.........यह निरुक्त विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान की हँसी है...............निरुक्त का निर्वचन का प्रकार एक भ्रममात्र है या मानवमस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है.........मैं साहस से कह सकता हूं कि निरुक्त की निर्वचनविधि बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) है, और फिर भी यह आज तक अपना स्थान बनाये हुये है।............ निरुक्त में बहुत संख्या में निर्वचन मूर्खतापूर्ण हैं, क्योंकि वे निर्वचन के गलत सिद्धान्त पर आश्रित हैं............इस सिद्धान्त के आश्रय से बहुत से निर्वचन घड़े गये हैं।"

इन विचारों का खण्डन डा० भण्डारकर, डा० स्कोल्ड, डा० लक्ष्मण स्वरूप ने किया है (डा० लक्ष्मण स्वरूप निरुक्तभूमिका पृ० ५६ से ५७)। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने यद्यपि काशीनाथ राजवाड़े का प्रतिवाद किया है, पर स्वयं २२५ निर्वचनों को दुर्बोध बतलाया। डा० वर्मा का लेख इस प्रकार है—

"Yaska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered, enslaved and crushed his imagination, for poverty of his emagination is

remarkable. Owing to this serious defect, he is driven not only to offer supperfluous and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies. (Etymology of yask पृ० ८)।

अर्थात्---"यास्क इस प्रकार का अतिमात्रा निर्वचन कर्त्ता था, कि निर्वचन करने में उसके पागलपन ने उसकी" विचारशक्ति को, कल्पनाशक्ति के कारण परे फेंक दिया था। यह बात ध्यान देने योग्य है। उसकी इसी भारी कमी के कारण उसके निर्वचन न केवल व्यर्थ और अनावश्यक हैं, अपितु शिथिल, दोषपूर्ण और भद्दे भी हैं"।

पाश्चात्यों के अनुगामी ये लोग इसीलिये भ्रान्त हैं कि इन्हें यास्क की प्रतिज्ञा पर आस्था नहीं। वह उनके मस्तिष्क में घुसती नहीं कि इस प्रकरण (निरुक्त अ० ४ से ६ तक) में यास्क ने उन्हीं शब्दों का निर्वचन दर्शाया है, जो अनवगत संस्कार हैं अर्थात् जिनका प्रकृति प्रत्यय नहीं दिखाई देता। इसीलिये यास्क ने इनके निर्वचन अर्थ के आधार पर किये। जब यास्क ने स्वयं आरम्भ में कह दिया कि इनका प्रकृति प्रत्यय विदित नहीं हो रहा, तब यास्क पर आक्षेप करना अपनी अज्ञता ही प्रकट करना है। यह भी विदित रहे कि यास्क के ४, ५, ६ अध्यायों को छोड़ कर अन्य अध्यायों के निर्वचनों पर इन लोगों ने आक्षेप नहीं उठाये। इसमें रहस्य यही है जो इनकी समझ में नहीं आया[1]। इसी से निरुक्त का 'वा' संशयबोधक है, इस शङ्का का उत्तर भी आ जाता है। आगे हम वेदार्थ के विषय में यास्क के अभिमत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं—

यास्क ने यद्यपि किसी भी वेद का भाष्य नहीं किया। पर उसने वेद के अर्थ करने की शैली बहुत ही उत्कृष्ट रीति से दर्शाई है। इसीलिये निरुक्त को वेदाङ्गत्व की प्राप्ति हुई। इसकी भूमिका में यास्क ने इस ग्रन्थ के बनाने के प्रयोजनों का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है—"इसके विना न पदविभाग हो सकता है, न अर्थ का ज्ञान, मन्त्र के देवता का ज्ञान भी इसके द्वारा ही होता है" इत्यादि अनेक प्रयोजन बताये।

यह ठीक है कि यास्क ने हमें वेदार्थ की जो शैली बतलाई, वह उससे पूर्व शाकपूणि आदि अनेक नैरुक्ताचार्यों द्वारा आविष्कृत होकर यास्क

---

१. इस विषय में पाठक वेदवाणी (काशी) का वेदाङ्क वर्ष ९ सन् १९५६ का वेदाङ्क पृ० १३५ से १४९ में हमारा लेख देखें।

के समय में परिमार्जित वा पूर्ण हुई। निरुक्त में हमें वेद का अर्थ अपने स्वाभाविक रूप में बहुत उत्तम रीति से मिलता है। अब हम यास्क अभिमत वेदार्थ के सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं—

यास्क के वेदार्थ के सिद्धान्त

(१) **"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"** (निरु० १।२), **"नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति"** (निरु० १।१५), तथा **"ऋषि-दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः"** (निरु० २।११)।

इन वचनों के अनुसार यास्क वेद को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। निरुक्त में जितना भी अर्थ वेदमन्त्रों का मिलता है, वह पूर्वोक्त सिद्धान्तों के विपरीत कदापि नहीं हो सकता, इसी परिणाम पर प्रत्येक को पहुंचना होगा।

(२) प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधि-यज्ञिक इन तीनों प्रक्रियाओं में होता है, जिसके विषय में उपलब्ध होने-वाले वर्त्तमान वेदभाष्यकारों में सबसे प्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी ने लिखा है कि (यास्क के मत में प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीन प्रकार का होता है)। तद्यथा—

"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (निरु० १।२०)। इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्" ॥

स्कन्द निरु० टी० ७।५ भा० ३ पृ० ३६,३७।

इसलिये जो भाष्य तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ नहीं बताता, यास्क के मत में वह ग्राह्य नहीं हो सकता।

(३) **"अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते"** (निरु० १।१५) इससे यास्क ने दर्शाया कि वेद-मन्त्रों का अर्थ निरुक्त वा निर्वचनविद्या के विना कदापि ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। अतः हमें निर्वचन के आधार पर मन्त्र के वास्तविक अर्थ तक पहुंचना होगा, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं। विविध निर्वचन मन्त्रगत पदों के व्यापक अर्थों के द्योतक हैं। निरुक्त से भिन्न निर्वचन भी हो सकते हैं, यह बात हमें निरुक्त से स्पष्ट विदित होती है कि यास्क के समस्त निर्वचन तत्तद (अवगत-संस्कार तथा अनवगतसंस्कार) पदों के वास्तविक अर्थों को लक्ष्य में रख कर ही किये गये हैं, वेदार्थज्ञान के लिये यह बड़ी भारी सहायता है।

(४) साथ ही यास्क ने यह भी बता दिया कि—

"नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च"।

निरु० १।१२॥

अर्थात्—वेद के सब शब्द यौगिक हैं, प्रकृति-प्रत्यय के योग से अपना अर्थ बताते हैं, यह सिद्धान्त यास्क ने निश्चित कर दिया। वेदार्थ का यह सिद्धान्त समस्त वेद में अत्यन्त सहायक है, उसके गम्भीर वा व्यापक अर्थ का परम पोषक है। इसके विना वेद का व्यापक अर्थ जाना ही नहीं जा सकता। इस विषय में केवल सिद्धान्त ही बताया हो, सो बात नहीं, इस सिद्धान्त में अनेक पूर्वपक्ष उठा कर, उन सब का विस्तृत हृदयग्राही समाधान भी उपस्थित किया है। यास्क ने तो **'इदमपीतरच्छिद्र एतस्मादेव'** (निरु० ४।१३) इत्यादि वचनों से लौकिक शब्दों के भी व्यापक अर्थों का निर्देश इस यौगिकवाद के आश्रय पर ही किया है।

'नाम सब धातुज हैं' यास्क का यह सिद्धान्त, व्याकरण और निर्वचन-विद्या के न जाननेवाले पाश्चात्यों वा उनके अनुगामी स्कालर कहे जाने वाले लोगों की समझ में नहीं आता। आवे भी कैसे, जब व्याकरण ही नहीं आता, मूल ही दृढ़ नहीं तो समझ में आवे भी कैसे! कोरे वैयाकरणों को यह बात इसलिये समझ में नहीं आ सकती, क्योंकि वे निरुक्त नहीं जानते। उनको यह भी पता नहीं कि जब व्याकरण एक वेदाङ्ग है, शब्द का निर्वचन तो बता ही देगा, फिर नये वेदाङ्ग निर्वचन-शास्त्र की पृथक् क्या आवश्यकता है? किसी विज्ञ गुरु से पढ़े हों तो पता लगे। रट कर शास्त्री आचार्य का एम० ए० पास कर लिया, तो उस से क्या होता है, निरुक्त समझ में कैसे आ सकता है।

(५) **"बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति"** (महाभाष्य १।३।१ पृ० १६४) यह महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि का मत है, जो पाणिनि के धातुपाठ से भी सिद्ध है। **"कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव"** में 'एव' कहने से धातुपाठ में पठित अर्थों को छोड़ कर धातुओं के अन्य भी अर्थ होते हैं, यह पाणिनि के मत से सिद्ध हो रहा है। धातुपाठ पर लिखनेवाले सभी विद्वानों ने धातुओं का अनेकार्थत्व माना है।[1]

यास्कमुनि भी धातुओं की अनेकार्थता को मानते हैं जैसा कि—

---

१. इस विषय का विशद विवेचन आगे 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण में देखें।

(क) **'मृड सुखने' 'मृड हिंसायाम्'** (तुदा०), **'मृड सुखे च'** (क्र्या०) ऐसा धातुपाठ में है। निरुक्त में यह धातु **'मृडतिर्दानकर्मा'** (अ० १०।१५), **'मृडयतिरुपदयाकर्मा, पूजाकर्मा वा'** (निरु० अ० १०।१६) इत्यादि भिन्न अर्थों में लिखी हैं।

(ख) **'विध विधाने'** (तुदा०) ऐसा धातुपाठ में है, **'विधतिर्दानकर्मा'** (निरु० अ० १०।२३) ऐसा निरुक्त में लिखा है।

(ग) **'रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु, रिह इत्येके'** (तुदा०) ऐसा धातुपाठ में है, निरुक्त में **'रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा'** (निरु० अ० १०।३९) लिखा है।

(घ) **'तक्ष तनूकरणे'** (भ्वा०), **'तक्ष त्वचने'** (भ्वा०) धातुपाठ में है। निरुक्त (४।१९) में 'तक्षति' का अर्थ **'करोतिकर्मा'** लिखा है।

इत्यादि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वेदार्थ में सब धातुओं का अनेकार्थक होना उसके परम व्यापकत्व का बोधक है। इसको जाने विना यथार्थ वेदार्थ का दर्शन कदापि नहीं हो सकता।

(६) यास्क वेद में अनित्य अर्थात् व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं मानते। **"उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति"** (निरु० २।१६), तथा **"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता"** (निरु० १०।१०।४६) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान के रूप में कहने की प्रीति है, न कि कोई इतिहास वेद में है। औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन वेदों में है, ऐसा यास्क मानते हैं। इसी बात को—

(क) निरु० स्कन्द टी० भा० २ पृ० ७८ में कहा है—**"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। ······औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन नित्यपक्ष इति सिद्धम्"**।

अर्थात्—इसी प्रकार जिन-जिन मन्त्रों में आख्यान, इतिहास का वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक, अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में इतिहास, आख्यान का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है, वास्तव में तो नित्यपक्ष ही मन्त्रों का विषय है।

(ख) निरुक्तसमुच्चय पृ० ७१—**"औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः"**।

"मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जावेगा। परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही ठीक है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है"।

(ग) निरु० १०।२७ दुर्गाचार्य टी० पृ० ७४४—**"इतिवृत्तं परकृत्यर्थ-वादरूपेण यः कश्चिद् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिष्टयुदितावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमिति-हासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः, तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपर-त्वात्"**।

अर्थात्—"जो कोई वर्णन आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अर्थ-ज्ञान के प्रकाश के लिये प्रसिद्ध किया जाता है, वह इतिहास कहाता है। सो यह सब प्रकार का इतिहास निःसंशय नित्य तथा अवि-वक्षितस्वार्थ होता है, अर्थात् मुख्यता से इतिहास अर्थ को नहीं कहता, क्योंकि वह केवल उस अर्थ को जाननेवालों के लिये उपदेश की दृष्टि से होता है (वास्तव में वह कोई इतिहास नहीं होता")।

यहाँ हमारे उपर्युक्त तीनों उद्धरणों के देने का यह प्रयोजन है कि विज्ञ पाठक स्पष्टतया देख सकते हैं कि इतिहास विषय में निरुक्तकार का क्या सिद्धान्त है और निरुक्त के पश्चाद्वर्ती नैरुक्त आचार्यों ने भी 'यास्क का यही सिद्धान्त है' इस बात को बहुत ही स्पष्ट रीति से माना है, उनका हेतु भी स्पष्ट ही है। अतः यास्क वेद को अपौरुषेय तथा नित्य मानते हैं, अतः यास्क वेद में इतिहास कभी नहीं मान सकते। इसी सिद्धान्त को हम ऋषि दयानन्द के भाष्य में यथावत् रूप में पाते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेवाले भाष्यकार भी (ऋषि दयानन्द को छोड़ कर) अपने वेदभाष्य में इस नियम वा सिद्धान्त का परिपालन नहीं कर सके।[1]

(७) यास्क अर्थ के पीछे विभक्ति वा स्वर को मानता है। **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** (निरु० २।१) **'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्'** (निरु० २।१), **'कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्, दृष्टव्ययं तु भवति'** (निरु० १।८) इत्यादि में स्पष्ट विभक्ति तथा स्वर का व्यत्यय माना है। अर्थ की प्रधानता यास्क का सिद्धान्त है। वेदार्थ की गम्भीरता कहाँ तक है, यह हमें इन उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

---

१. 'वेद में इतिहास' विषय बहुत विस्तृत है। विशद विवेचन तो पृथक् ग्रन्थ का विषय है। हाँ कुछ साधारण विवेचन आगे 'वेद में इतिहास' प्रकरण में देखें।

(८) यास्क पदपाठ के पीछे अर्थ को नहीं बाँधते, जैसा कि कई लोग भ्रमवश ऐसा समझते हैं। **मासकृत्** और **मा सकृत्** (निरु० ५।२१) आदि दो प्रकार का पदविभाग करना हमारी इस धारणा में प्रमाण है। ये ७, ८ दोनों बातें हमें दयानन्दभाष्य में बहुत उत्तम रीति से मिलती हैं।

(६) अर्थ की प्रधानता के कारण यास्क मन्त्रों के अर्थों में व्यत्यय को स्पष्ट मानता है। जैसे—'**यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्**' (निरु० २।१) अर्थात्—अर्थ के अनुकूल विभक्ति का परिवर्तन सदा करना चाहिये। तथा निरु० ६।१ में "**आशुशुक्षणिः**" पद को प्रथमान्त होते हुए यास्क ने "**पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा**" यह कह कर मनसा वाचा ही नहीं, अपितु कर्मणा भी व्यत्यय को स्वीकार किया है।

इस व्यत्यय के विषय में ऋषि दयानन्द पर आक्षेप करनेवाले अनार्ष ग्रन्थों के पृष्ठपोषक कई एक महानुभाव इतना घबराते हैं कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। कोई "वाऊला छन्दसि" बन जाते हैं, तो कोई "**बहुलं छन्दसि**" विषय के उदाहरणों का परिगणन करने का अभिमान दर्शाने लगते हैं, जिसमें वे कभी सफल नहीं हो सकते, चाहे सारी आयु लगे रहें, तो भी अन्त नहीं पा सकते।

वेदार्थ की प्रक्रिया का यथार्थ बोध न होने से ये सब अज्ञान घुसे हैं, आर्षज्ञान तथा गुरुपरम्परा से पढ़े विना यथार्थज्ञान हो भी कैसे सकता है। कई एक महानुभाव कहते हैं कि यहाँ स्वर ऐसा है, इसलिये अर्थ ऐसा ही होगा। भला ये क्या जानें ऋषियों के अभिप्रायों को। जिस बात को पाणिनि-पतञ्जलि-यास्क जैसे वेदपारदर्शी आप्त ऋषि मुनि कहें, वह बात कैसे अमाननीय हो सकती है।

व्यत्यय तभी करना होता है, जब वेद के गम्भीर अर्थ के मार्ग में विभक्ति वा वचन की बाधा उपस्थित हो। तभी तो यास्क ने कहा '**अर्थनित्यः परीक्षेत**'। व्यत्यय का सिद्धान्त दयानन्दभाष्य का एक महान् भूषण है।

(१०) यास्क मन्त्र में आये पद को ही देवता नहीं मानते, अपितु मन्त्र में आये पद के अर्थ को भी देवता मानते हैं। देखो निरु० ६।११ में '**वनस्पति**' के अर्थ 'रथ' को देवता माना है। यास्क का सिद्धान्त है कि केवल लिङ्ग अर्थात् चिह्न को देख कर देवता नहीं जाना जा सकता, देखो निरु० १।१७॥

"एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते" (निरु० ७।४) से यास्क ब्रह्म को वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानता है। 'अग्नि', 'वायु' आदि सब उसके गुणभेद से नाम हैं।

(११) विनियोग को निरुक्तकार अर्थानुसारी मानते हैं। जिस मन्त्र का जो अर्थ होगा, तदनुसार ही वह मन्त्र विनियुक्त होगा, अन्यथा वह विनियोग अयुक्त माना जायगा, देखो निरु० १।१६॥

इन उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा हमने वेदार्थ के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में यास्क का मत अतिसंक्षेप से निर्देशमात्र दिया है। यह है यास्क का वेदार्थ। ठीक यही सिद्धान्त ऋषि दयानन्द का है। दयानन्दभाष्य उपर्युक्तसिद्धान्त के आधार पर ही किया हुआ है और ठीक इसके विपरीत आर्षप्रक्रिया से अनभिज्ञ संस्कृत वा अंग्रेजी के आजकल के विद्वान् कहे जानेवालों का। यास्क के वेदार्थ के ये सिद्धान्त हमें दयानन्दभाष्य में सम्पूर्णता से मिलते हैं। यास्क के इतने प्रमाण देने का हमारा अभिप्राय यह है कि वेद के भाष्यकर्त्ता वा भाष्यशैली बतानेवाले यास्क ने वेद के अर्थ को जैसा समझा, वैसा पीछे के लोग नहीं समझ सके। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अङ्क के प्रथम मन्त्र के भाष्य के अन्त में लिखा है—

"कश्चिद् ब्रूयात्—सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रामाण्ययुक्तं भाष्यं विहितं कथं दोषवदिति ? अत्रोच्यते—निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि, परन्तु तानि तद्वचनाद् विरुध्यन्त एव" । (पृ० ६)।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यास्क ने अपने निरुक्त में **'इति च ब्राह्मणम्'** आदि लिखकर अपने इन सब सिद्धान्तों का आधार ब्राह्मण-ग्रन्थों को माना है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार वा निर्देशों से ही यास्क ने निरुक्त में इतने निर्वचनों की भरमार की है, अर्थात् यास्क के वेदार्थ का मुख्य आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं, यह हमारा कहना है।

यहाँ पर पाठक यह भी देखें कि निरुक्तकार के उपर्युक्त सिद्धान्त, जो हमने निदर्शन मात्र ही दिखाये हैं, इनका पूर्व (पृ० ८५-८८) दिखाई गई वेदार्थ की कसौटियों से कहाँ तक समन्वय हो रहा है! इस विषय में हमारा यही कहना है कि पूर्वोक्त दस कसौटियों के विपरीत हमें यास्क का वेदार्थ कहीं भी नहीं मिलता। इतना ही नहीं अपितु वेद को अपौरुषेय उसकी आनुपूर्वी को नित्य मानकर वास्तव में पूर्वोक्त दस कसौटियों का

मूलभूत सिद्धान्त तो मान ही लिया गया है। इतिहासवाद-यौगिकवाद-त्रिविधप्रक्रिया 'इति च ब्राह्मणम्' 'आप्त ऋषियों के आधार' इत्यादि बातें उन कसौटियों के साथ सीधी समन्वित हैं ही। शेष बातों में भी यास्क के वेदार्थ से हमें निर्देश अवश्य मिलते हैं।

यास्क के वेदार्थ का स्वरूप क्या था, यह इस ग्रन्थ के गम्भीर अध्ययन से विज्ञ पाठकों को स्वयं ज्ञात हो सकता है। यहाँ हमने विवशतः अतिसंक्षेप से ही कुछ लिखा है[1]।

व्याकरण और वेदार्थ

यद्यपि यास्क से पूर्व भी व्याकरण थे। पर हम पाणिनि व्याकरण के विचार से लिखते हैं। यद्यपि व्याकरण-शास्त्र वेद का भाष्य वा व्याख्यान नहीं, तथापि महाभाष्यकार के दर्शाये व्याकरणाध्ययन के १८ प्रयोजन स्पष्ट ही वेदार्थ के लिये व्याकरण-शास्त्र की परमोपयोगिता का निर्देश करते हैं—**'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्' 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति'** (महाभाष्ये पस्पशाह्निके) इत्यादि महाभाष्यकार के वचनों से यही सिद्ध होता है कि वेदार्थ जानने के लिये सब से प्रथम और सब से मुख्य व्याकरण की ही आवश्यकता है। जब कि यास्क और पतञ्जलि के मत में सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध से अर्थ बताते हैं। तब प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध का ज्ञान भला विना व्याकरण के कैसे हो सकता है! अतः वेदार्थ के लिये व्याकरण तो अनिवार्य है। यदि स्वयं व्याकरणज्ञान से रहित व्याकरण-शास्त्र को वेदार्थज्ञान में अनावश्यक बतावें तो यही कहना पड़ेगा **'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'** (निरु० १।१६)। यास्क ने भी वैयाकरण को ही निरुक्त का अधिकारी माना है (निरु० २।३)।

[2]महाभाष्यकार पतञ्जलि और भगवान् पाणिनि वेद को अपौरुषेय

---

१. इस विषय में जो सज्जन अधिक देखना चाहें, वह मेरे बनाये 'वेद और निरुक्त' और 'निरुक्तकार और वेद में इतिहास' इन लघु ग्रन्थों में देख सकते हैं, जो पंजाब यूनिवर्सिटी के ओरियण्टल मैगजीन में छप चुके हैं। अब "रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत (हरियाणा)" से मिल सकते हैं।

२. विदित रहे कि महाभाष्यकार ने पस्पशाह्निक में प्रसङ्गतः कुछ मन्त्रों के अर्थ किये हैं। आगे भी कहीं-कहीं अर्थ पर प्रकाश डाला है।

तथा नित्यानुपूर्वी वाला मानते हैं, अतः ये भी हमारी (पृ० ८५-८८) दर्शाई वेदार्थ की कसौटियों के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुकूल हैं, यह स्पष्ट है।

सायण से पूर्ववर्ती वेद-भाष्यकार और वेदार्थ

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि सायण से पूर्व उपलब्ध होनेवाले वेद-भाष्यों तथा सायण के भाष्य में मौलिक भेद बहुत अधिक नहीं। जैसे सायणाचार्य याज्ञिकवाद तक ही सीमित रहा, वहाँ इसके पूर्ववर्ती भाष्य-कार भी प्रायः सभी न्यूनाधिकता को लिये हुए इसी याज्ञिकवाद की कीली (खूँटे) के चारों ओर ही घूमते रहे। याज्ञिकवाद की रूढ़ि से कोई नहीं बच पाया। बात तो सारी यह है कि बहुत समय से ही वेदार्थ वास्तव में बहुत कुछ संकुचितरूप धारण करता गया। इन सब का परि-णाम यही हुआ कि वेदार्थ याज्ञिकवाद तक ही सीमित हो गया। परन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि जितना-जितना पुराना वैदिक साहित्य हमें मिलता है, उतनी-उतनी पुरानी वेदार्थ की परम्परा हमें अधिक सुस्पष्ट मिल रही है। इस समय हमें निम्न प्राचीन व्याख्याताओं के वेदार्थ मिल रहे हैं—

(१) स्कन्दस्वामी (संवत् ६८७ वि०)।
(२) दुर्ग (निरुक्त टीका में)।
(३) उद्गीथ (संवत ६८७ वि०)।
(४) हरिस्वामी (शतपथ ब्राह्मणभाष्य में)।
(५) उवट (यजुर्वेद भाष्य)।
(६) वररुचि (निरुक्तसमुच्चय में)।
(७) भट्टभास्कर (तै० सं० तथा तै० ब्रा० भाष्य)।
(८) वेङ्कटमाधव (ऋग्भाष्य)।
(९) आत्मानन्द (अस्यवामीयभाष्य में)।
(१०) आनन्दतीर्थ (ऋग्वेद ४० सूक्त का भाष्य) जयतीर्थटीका तथा नरसिंह यति की छलारी टीका।
(११) शत्रुघ्न (मन्त्रार्थदीपिका में)।
(१२) गुणविष्णु (छान्दोग्यमन्त्रभाष्य)।
(१३) माधव (सामवेदभाष्य)।
(१४) भरतस्वामी „

(१५) देवपाल (लौगाक्षिगृह्यभाष्य में)।
(१६) आनन्दबोधादि (काण्वशाखा)।
(१७) सायण (ऋक्-साम, अथर्व तथा काण्वभाष्य)।

सायण से पूर्ववर्त्ती इन १६-१७ व्याख्याताओं के वेदार्थ हमें मिल रहे हैं। इनके वेदार्थ का विवेचन हम सामान्यतः उपस्थित करते हैं—

आचार्य स्कन्दस्वामी दुर्गाचार्य तथा वेदार्थ

सब में पूर्व हम उपलब्ध होनेवाले वेदभाष्यकारों में प्रथम ऋग्वेद-भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी तथा निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग को लेते हैं। इन दोनों आचार्यों की निरुक्त पर टीकायें मिलती हैं। इतने से ही पाठक समझ सकते हैं, कि उन्होंने वेदार्थ पर कितना परिश्रम किया होगा, क्योंकि निरुक्त वेदार्थ-प्रक्रिया का मुख्य ग्रन्थ है।

(१) वेदार्थ की मूलभूत प्रक्रिया—सब मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं अर्थात् आध्यात्मिक-आधिदैविक तथा आधिभौतिक—में होता है, यह यास्क का सिद्धान्त है, यह हम विवरण में पृ० २१, ३२ पर तथा विवरण की इसी भूमिका के पृ० १०५ पर दर्शा चुके हैं। स्कन्द के पूर्वोक्त वचन से यह बात सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट है कि यास्क प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीन प्रकार का मानते हैं। स्कन्द ने निरु० टी० भा० २ पृ० २६३, २६४ में '**अदितिः**' का आध्यात्मिक पक्ष में '**प्रकृति**' परक व्याख्यान किया है।

इस त्रिविधप्रक्रिया के विषय में आचार्य स्कन्दस्वामी के पूर्वोक्त (पृ० १०५) लेख को पढ़ने के पश्चात् जब हम दुर्गाचार्य की निरुक्तटीका को देखते हैं तो हमें वह इस विषय में तथा अन्य कई विषयों में बहुत ही स्पष्ट प्रतीत होती है, तद्यथा—

(क) "तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्ताव-धारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाऽश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति"।

"तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु याव-

न्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रया सर्व एव ते योज्या नात्रापराधोऽस्ति ॥" (निरु० २।८ दुर्ग० टी० १२६, दाधिमथ संस्क०)।

अर्थात्—विनियोगभेद से मन्त्र का भिन्न-भिन्न अर्थ होगा। सो ये मन्त्रप्रवक्ता के अभिप्राय-भेद से भिन्नता को प्राप्त हो जाते हैं। अमुक मन्त्र का अर्थ इतना ही है, इसकी सीमा नहीं लगाई जा सकती। ये मन्त्र महान् अर्थों से युक्त हैं, अत्यन्त ही दुष्परिज्ञान, बड़े ही परिश्रम, विद्या तथा योगादि से जाने जा सकते हैं। जैसे सवार-सवार के भेद से घोड़ा अच्छा और अतीव अच्छा चलने लगता है। इसी प्रकार वक्ता जितना अधिक योग्य और तपस्वी होगा, उसके दर्शाये वेदार्थ से भी उतने ही अधिक साधु और साधुतर अर्थों का प्रकाश होगा। इस प्रकार निरुक्त शास्त्र में लक्षणोद्देशमात्र (लक्षणों को दर्शाने के लिये संकेत मात्र) के लिये ही एक-एक शब्द का निर्वचन दिखाया गया है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधियज्ञ अर्थों का बोध कराने के लिये शब्दों का निर्वचन दिखाया गया है। **अतः इन मन्त्रों में जितने भी अर्थ उपपन्न (युक्त) हो सकें, चाहे वे आधिदैविक, आध्यात्मिक आधियज्ञादि हों, उन सबकी ही योजना कर लेनी चाहिये। इसमें किसी प्रकार का भी दोष नहीं।**

दुर्गाचार्य का यह लेख कितना स्पष्ट है।

यह भी विदित रहे कि निरुक्त के द्वारा मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या करते हुये भी, इन टीकाकारों ने निरुक्त की व्याख्या याज्ञिक पक्षानुसार ही की है। टीकाकारों ने निरुक्त की व्याख्या भी केवल यज्ञपरक ही की है। कारण समय का प्रभाव, जिसमें सायण तो डूब ही गया।

(ख) पृ० २११ पर दुर्ग—"**एवं तत्र यत्र योज्यम्। प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेणेति**"। अर्थात्—इसी प्रकार आध्यात्मिक-आधिदैविक अर्थों की योजना कर लेनी चाहिये। भाष्यकार (यास्क) ने प्रकार मात्र दर्शाया है। निरु० ७।६ पृ० ५६३ दुर्ग टी० में भी यही बात अन्य रीति से कही है।

दुर्ग के ये स्थल स्कन्द के उपर्युक्त स्थल के लगभग समान ही हमें मिलते हैं। इन दोनों आचार्यों के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि मन्त्रों की त्रिविधप्रक्रिया का सिद्धान्त दुर्ग और स्कन्द के काल तक तो अध्ययनपरम्परा से अत्यन्त ही विस्पष्ट चला आ रहा था, जो सायण तक आते-आते समाप्त हो गया, या सायण ने उसे आगे नहीं

बढ़ने दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों ने निरुक्त की टीका में मन्त्रों के अर्थ याज्ञिक ही किये हैं। दुर्ग के ऋग्वेद पर भाष्य का तो पता नहीं लग रहा, स्कन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य के अर्थ प्रायः यज्ञ-परक ही किये हैं।

(२) अर्थ की प्रधानता को लेकर निर्वचन होता है, दूसरे शब्दों में यौगिकवाद वेदार्थ का आधारभूत है, इस विषय में दुर्ग कहता है—

(क) "एवं व्याकरणेऽपि लक्षणप्रधाने सति अर्थवशेन लोपागमौ विपरिणामश्च शब्दानां दृष्टः, किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव"॥
निरु० २।२ पृ० १०२ दुर्ग टी०।

(ख) "अर्थनित्य इत्युक्तेऽर्थप्रधान इति गम्यते। अर्थप्राधान्येनानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत"॥ निरु० २।१ पृ० ९७ दुर्ग टी०॥ अर्थानुसार निर्वचन का सिद्धान्त निरुक्त में है, यह दुर्गाचार्य दर्शाते हैं।

(ग) "प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते"। निरु० ५।१, दुर्ग टी० पृ० ३४६।

(घ) "मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते"। निरु० ४।१९, दुर्ग टी० पृ० ३१५।

इनमें अर्थ की प्रधानता, निरुक्त अर्थ-प्रधान है, अर्थ के आधीन लोपागमस्वरसंस्कारादि होते हैं, प्रकरण से शब्दों के अर्थों में भेद हो जाता है, 'अग्नि' के आध्यात्मिकादि अर्थ होते हैं, यह कहा गया है। दुर्गाचार्य निरुक्त के सब निर्वचनों को अर्थाधीन मानता है (देखो निरु० २।२। पृ० १०२) दूसरे शब्दों में निरुक्त में जितने निर्वचन किये गये हैं, वे सब अर्थ को लक्ष्य में रखकर ही किये गये हैं। निर्वचन ने आधार पर उन-उन शब्दों का अर्थ समझना होगा। निरु० ७।१४ दुर्ग टी० पृ० ५९१ पर भी आत्मवित् पक्ष में व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ करने की बात कही गई है।

अर्थ की प्रधानता वा यौगिकवाद के लिये स्कन्द ने भी लिखा है—

(क) "स्त्रीशब्दोऽत्र क्रियानिमित्तस्त्रातुर्वाचकः, पुंशब्दोऽपि पुरुमनसः"। निरु० ५।१ स्कन्द टी० पृ० २८६।

(ख) "रूढ्यर्थस्यासम्भवात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम्"। निरु० १।१५ स्कन्द टी० पृ० ९२। तु० दुर्ग पृ० २७६ तथा ३२४।

(ग) "स्वरसंस्कारयोः उद्देश उपदेश एषोऽपि नात्यन्तं भवतीति वाक्यशेषः । स्वरसंस्कारयोरुद्देशस्यार्थविशेषाधीनत्वात् ताभ्यामेव हि स्वरसंस्काराभ्यां युक्तः शब्दः क्वचिदर्थे साधुः, क्वचिदसाधुः" । स्कन्द निरु० टी० भाग १ पृ० ९३ पं० ८ ।

(ii) पदविभागोऽर्थज्ञानाधीनः" (द्र० पूर्ववद् पृ० १०४ पं० ५) ।

इन स्थलों में स्कन्द ने भी अर्थ[1] की प्रधानता तथा यौगिकवाद के सिद्धान्त को माना है ।

(३) व्यत्यय के सिद्धान्त को स्कन्द और दुर्ग दोनों ने अपनी टीकाओं में बराबर माना है । जिसके असंख्य उदाहरण हैं—"द्वितीयार्थे षष्ठी" (निरु० ४।१५ स्कन्द टी० पृ० २३३) । "व्यत्ययेनैते चतुर्थी द्वितीयार्थयोर्द्वितीयाचतुर्थ्यौ" (निरु० ४।१७ पृ० २४३) । इसी प्रकार दुर्ग टी० निरु० २।१ पृ० ९९, निरु० २।१२ पृ० १३३ । "चतुर्थ्यर्थे द्वितीया" । स्कन्द ने ऋग्वेदभाष्य में भी बहुत संख्या में व्यत्यय माने हैं ।

(४) इतिहासवाद के विषय में स्कन्द और दुर्ग का क्या सिद्धान्त है, यह हम पूर्व (पृ० १०७) दर्शा चुके हैं । अन्य सब विषयों में भी ये दोनों आचार्य निरुक्त के अनुगामी हैं । दोनों के निरुक्त व्याख्यान को गम्भीरता से देखने पर हमें वेदार्थ की बहुत कुछ उपयोगी सामग्री उनमें मिलती है । ये दोनों आचार्य याज्ञिकवाद से अपने आप को ऊपर नहीं उठा सके, अतः आधिदैविक अर्थप्रधान नैरुक्त मन्त्रों का व्याख्यान भी इन्होंने याज्ञिक-प्रक्रियानुसार ही किया है ।

इस प्रकार हमने त्रिविधप्रक्रिया-यौगिकवाद-व्यत्ययादि के विषय में दुर्गाचार्य तथा आचार्य स्कन्दस्वामी के कुछ स्थल निदर्शनमात्र दर्शाये हैं, इन विषयों में असंख्य स्थल शेष हैं, जो हमने नहीं दिखाये, इससे स्पष्ट है कि दोनों भाष्यकारों के काल तक वेदार्थ की मूलप्रक्रिया पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी, क्योंकि ये चारों बातें मान ली जावें (जो सबको माननी ही पड़ेंगी) तो ऋषि दयानन्द का वेदार्थ संसार की दृष्टि में अनिवार्यतया उपादेय और उत्कृष्ट स्वयं सिद्ध हो जाता है ।

---

१. इस विषय का विवेचन आगे 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण के अन्त में भी देखें ।

सायण से पूर्ववर्त्ती शेष आचार्य और वेदार्थ

अब हम सायणाचार्य से पहिले के अन्य आचार्यों के वेदार्थ के विषय में लिखते हैं—

(३) उद्गीथ—का भाष्य भी लगभग स्कन्द जैसा ही है। त्रिविध प्रक्रिया के विषय में इसका कोई स्थल नहीं मिला। हाँ यौगिकवाद के आधार पर ऋ० १०।८२।२ में इसने धात्वर्थ को लेकर '**ऋषि**' शब्द का अर्थ '**रश्मि**' किया है, और इसी मन्त्र में, "**प्रथमार्थे वा द्वितीया**" व्यत्यय भी माना है।

(४) हरिस्वामी—यद्यपि यह वेदभाष्यकार नहीं, पर इसने शतपथ ब्राह्मण का भाष्य किया है। सो भी वर्त्तमान में हस्तलिखित, अपूर्ण तथा अत्यन्त अशुद्ध उपलब्ध होता है। उसमें हमें पृ० २, ३ पर "**शाखा वेद-व्याख्यान हैं**" ऐसा मिलता है। पृ० ३० तथा अन्य अनेक स्थलों में स्कन्द के ढङ्ग पर इतिहासवाद का औपचारिकत्व मिलता है। हरिस्वामी था ही स्कन्द का शिष्य, उसे तो यह प्रक्रिया विदित होनी ही चाहिये थी।

(५) उवट—यद्यपि उवट का सारा भाष्य यज्ञपरक ही है तथापि य० ७।४२।। १०।३६ तथा ३३।७४ के भाष्य में अधियज्ञ तथा आधि-दैविक और आध्यात्मिक अर्थ का प्रतिपादन हमें मिलता है। य० १०। १६ में तो महीधर भी उवटानुसार ही अर्थ करता है। चाहे उवट, मही-धर का अर्थ यज्ञवाद को लेकर ही चला है, पर व्यत्यय, पदकारों से भिन्न पदपाठ, यौगिकवाद के सिद्धान्तों को इन्हें भी अवश्य मानना ही पड़ा है।

(६) वररुचि निरुक्तसमुच्चयकार—यद्यपि इसका उद्धरण स्कन्दभाष्य में मिलता है, पुनरपि पूर्ण निश्चय से नहीं का जा सकता कि यह ग्रन्थ किस काल का है। इसमें स्कन्द नि० टी० भाग २ पृ० ७८ वाला ऐति-हासिकवाद का उद्धरण वा सिद्धान्त सवथा वैसा ही मिलता है। (देखो, पूर्व पृ० १०७) शेष व्यत्यय-यौगिकवादादि के विषय में भी बहुत से उद्धरण मिलते हैं। नैरुक्तविषयक होने से आध्यात्मिकादि अर्थ इसमें नहीं किये, ऐसा प्रतीत होता है। "**निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः**" यह इसके आरम्भ में ही लिखा है।

(७) भट्टभास्कर—(११ वीं शताब्दी) के तै० संहिता, तै० ब्रा० और तै० आरण्यक के भाष्य में व्याकरणादि की प्रक्रिया सायण से बहुत अच्छी

मिलती है। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में अनेक शब्दों के विशेष अर्थ मिलते हैं, जैसे कि **"गावो गन्तारः"** भा० १ पृ० २९६, **'यज्ञं परमात्मानं'** भा० २ पृ० १०४, **"कक्षीवन्तमीश्वरं"** भा० २ पृ० १८४। तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य में यत्र तत्र आध्यात्मिक प्रक्रिया को भी स्वीकार किया है (देखो पृ० २७४)। पदपाठ की भिन्नता और व्यत्यय के सिद्धान्त को भी इसने अपने भाष्य में माना है।

(८) **वेङ्कटमाधव**—(सं० ११००-१२००) का ऋग्वेदभाष्य भी यज्ञपरक ही है। और यह भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। अतः इसमें उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में कुछ नहीं है। हाँ, वेङ्कट ने अपने ऋग्वेदभाष्यान्तर्गत स्वरादि-अनुक्रमणियों में वेदार्थसम्बन्धी बहुत सी आवश्यक बातों पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है, जो प्रत्येक वेदार्थजिज्ञासु को देखना चाहिये। माधव के नाम से ऋग्वेद का एक विस्तृत भाष्य भी अडियार से प्रकाशित हो रहा है, जो सम्भवतः इसी वेङ्कट माधव का है। उसमें वेदार्थसम्बन्धी कुछ उपयोगी स्थल भी मिलते हैं।

(९) **आत्मानन्द**—(सं० १२००-१३००) पृष्ठ ३ पर स्कन्दादि के विषय में कहता है—यद्यपि स्कन्द-उद्‌गीथ-भट्टभास्करादि ने वेद का भाष्य अधियज्ञपरक किया है, पर मैं आध्यात्मिक व्याख्यान ही करूँगा'। पुनः पृ० ६० पर लिखता है—**"अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतविषयम्। इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः"**। पृ० ५४ पर 'अग्नि' का अर्थ **'अग्रणीः=परमात्मा'** करता है। इसी पृष्ठ पर **"एकैव देवता परमात्मा"** ऐसा लिखता है। इस प्रकार यह भाष्यकार तो आध्यात्मिक प्रक्रिया का परमप्रतिपादक है।

(१०) **आनन्दतीर्थ**—(सं० १२५५-१३३५) ने ऋग्वेद के आरम्भ के ४० सूक्तों का भाष्य किया। जयतीर्थ ने उसी शैली पर उसकी व्याख्या की। उस पर नरसिंहयति ने छलारी नाम की टीका लिखी है। इन सबको दृष्टिकोण एक ही है। इनमें मन्त्रों का अर्थ 'विष्णु' परक किया गया है। इसमें पृ० ३ पर 'अग्नि' का अर्थ प्रभु, पृ० १ पर **"गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एव हि"** लिखा है। इसी प्रकार जयतीर्थ ने भी पृ० ३ पर त्रिविधप्रक्रिया को अङ्गीकार कर पृ० ४३ पर लिखा है—

"निरुक्तव्याख्यानं बाह्यकर्मपरम्। उपनिषद्व्याख्यानमध्यात्मपरम्। विशेषतश्च वेदानां भगवानृषिः" (पृ० ६)।

छलारीटीका में भी इसी प्रकार अनेक स्थल हैं।

इन्हीं की शैली पर **राघवेन्द्र यति मन्त्रार्थमञ्जरी** में पृ० १०४ पर **"अग्न्यादिदेवतापरत्वेन अध्यात्मपरत्वेन चेत्येवं त्र्यर्थपरतया व्याख्यातानि"**। पृ० २ **"विष्णुः सर्ववेदप्रतिपाद्यः, सर्ववेदानां विष्ण्वर्थत्वसिद्धेः"** इससे स्पष्ट त्रिविधप्रक्रिया को माना है।

वेद के जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें क्रियात्मकरूप से सब मन्त्रों की (चाहे वे संख्या में कितने ही थोड़े हों) अध्यात्मपरक व्याख्या करने का यत्न आत्मानन्द और आनन्दतीर्थ ने ही किया है। चाहे इनकी अध्यात्मपरक व्याख्या कैसी ही हो, चाहे किसी भी लक्ष्य को रख कर की गई हो, तथापि यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि त्रिविधप्रक्रियान्तर्गत आध्यात्मिकप्रक्रिया से मन्त्रार्थ करने की शैली को बहुत कुछ अंशों में इन्होंने सुरक्षित रक्खा। सायण से पूर्ववर्त्ती इन लोगों ने अपने काल में याज्ञिकवाद के प्रवाह के विरुद्ध झण्डा खड़ा किया, यह एक आश्चर्य की बात है।

(११) **शत्रुघ्नाचार्य**—मन्त्रार्थदीपिका पृ० २५० पर कहता है—

"एवमधिदैवमध्यात्मं च यः देवः पुरुषः परमात्माऽध्येयत्वेनोक्तस्तस्य प्रशंसार्थं नानारूपैरुपासनं दर्शयति तमेतमिति यः पुरुष उक्तः स परमात्मेति व्याख्येयः"। स्पष्ट ही यह त्रिविधप्रक्रिया को मान रहा है।

ये उपर्युक्त विद्वान् यौगिकवाद और व्यत्यय को भी मानते हैं।

(१२) **गुणविष्णु**—अपने छान्दोग्यमन्त्रभाष्य में प्रायः यज्ञपरक ही व्याख्या करता है। उसने ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के विषय में पृ० ११६ पर लिखा है—**"विनियोगो ब्रह्मयज्ञे"** अर्थात् आजकल प्रचलित विनियोग से भिन्न विनियोग दर्शाया है। और किसी वाद पर इसमें विशेष कुछ नहीं मिलता।

(१३, १४) **माधव और भरतस्वामी**—सं० १३५०) ने **"अत्रि"** का अर्थ **"अदनशील"** (पृ० १७, ६१) लिखा है। त्रिविधप्रक्रिया का वर्णन विशेष रूप से नहीं किया।

(१५) **देवपाल**—ने लौगाक्षिगृह्यव्याख्या में तदन्तर्गत मन्त्रों का भाष्य किया है। इसमें पृ० २७, ५५, ५७ तथा ६० में आध्यात्मिक और आधिदैविक प्रक्रिया को माना है। इसी विचार से **"इन्द्र"** तथा **"आदित्य"** का परमेश्वरपरक व्याख्यान किया है। यौगिकवाद और व्यत्ययादि को भी माना है।

इनके अतिरिक्त आनन्दबोध, अनन्ताचार्य, मुद्गल, यजुर्मञ्जरीकार, पारस्करमन्त्रभाष्य, वेङ्कटेश का तै० सं० भाष्य, षडङ्गरुद्रभाष्य, जैमिनीयगृह्यमन्त्रवृत्ति आदि इतने सामान्य हैं कि इन पर अधिक लिखने की भी आवश्यकता नहीं है।

हमने यहाँ यह दर्शाया कि सायण से पूर्ववर्त्ती भाष्यकारों तक त्रिविध प्रक्रिया पर्याप्त मात्रा में रही, न जाने सायण ने क्या इनको देखा ही नहीं वा देखने पर भी याज्ञिकवाद की ऐनक ने सायण को उससे बाहिर नहीं जाने दिया, कारण जो भी रहा हो।

यहाँ पर यह विदित रहे कि हम सायण के पूर्ववर्त्ती इन आचार्यों के सिद्धान्त वा उनके वेदार्थ को अधूरा होने से तथा केवल याज्ञिकवाद की छायामात्र होने से नहीं मानते। यह होते हुये भी हमें उनमें वेदार्थ प्रक्रिया के जो गुण दृष्टिगोचर हुए, वे हमने दर्शाये हैं, उपर्युक्त विवेचन का हमारा इतना ही अभिप्राय है।

स्कन्दादि ने त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ क्यों नहीं किया ?

एक प्रश्न पाठकों के मन में स्वभावतः ही उठता है, जो उठना ही चाहिये कि जब स्कन्द, दुर्ग तथा अन्य भाष्यकार त्रिविधप्रक्रिया के सिद्धान्त को मानते थे, तो उन्होंने सब वेदमन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में किये क्यों नहीं? इसके कारण चाहे कुछ भी रहे हों। स्कन्द की निरुक्त टीका में हम जितना विशद और प्रौढ़तापूर्ण वेदार्थ का निरूपण पाते हैं, उतना हमें उसके वेदभाष्य में दृष्टिगोचर नहीं हुआ (जितना कि हमने देखा है)। सम्भव है उसने पहिले ऋग्वेद का भाष्य किया हो, तब निरुक्त टीका लिखी हो। इसके लिये एक उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—निरुक्त टीका पृष्ठ ३६६ पर ऋ० १।११७।१६ की व्याख्या स्कन्द ने नित्यपक्ष को लेकर की है। "**वर्तिका वर्त्तते पुनः पुनरावर्त्तयते इत्युषा अत्र वर्तिकाऽभिप्रेता न चटका**" ऐसा लिखा। उधर ऋग्वेद भाष्य (मद्रास संस्करण) पृ० ४७७ पर इसी मन्त्र की व्याख्या में "**वर्तिका चटका वां युवाम्**" ऐसा लिखा, जो स्पष्ट ही निरुक्त-व्याख्या के विपरीत है। इससे तो यही विदित होता है, जो हमने ऊपर कहा। यदि ऐसा नहीं तो परस्पर में विरोध कैसा? एक और कारण भी हो सकता है कि उद्गीथ-नारायण के साथ मिलकर ऋग्वेदभाष्य करने से ऐसा हुआ हो। जो भी कारण हो, निरुक्तटीका में जिन सिद्धान्तों को माना, उनका परिपालन ऋग्वेदभाष्य में नहीं किया।

त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ न करने का इन सब वेदभाष्यकारों का मुख्य कारण उनकी आध्यात्मिक भावना की कमी वा उसमें निष्ठा का अभाव ही समझना चाहिये। अन्तर्यामी जगन्नियन्ता प्रभु में निष्ठा के कारण ही दयानन्दभाष्य में आध्यात्मिक प्रक्रिया की प्रायः सर्वत्र प्रधानता है, अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ के प्रकाश करने का श्रेय निस्सन्देह ऋषि दयानन्द को ही मिलेगा, यह कहना पड़ता है।

सायण से पूर्ववर्त्ती इन उपर्युक्त आचार्यों के वेदार्थ देखने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यास्कादि आप्त ऋषियों के वेदार्थ के सिद्धान्तों की कुछ-कुछ परम्परा इन आचार्यों तक भी रही। चाहे वह कितनी भी थोड़ी मात्रा में हो। इनमें स्कन्द और दुर्ग ही मुख्यतया अधिक उपादेय कहे जा सकते हैं। वेदार्थ की कही कसौटियों (पृ० ८५-८६) से ये भाष्य धीरे-धीरे दूर होते गये, और इस समय बहुत अंश में यास्कादि महर्षियों के वेदार्थ से दूर हैं, यह स्पष्ट है। शताब्दियों तक याज्ञिकवाद की ही प्रधानता रही। इसी के चारों ओर उस समय का सारा का सारा वैदिक साहित्य घूमता रहा और सायण के काल तक तो इसमें इतनी अधिकता आ चुकी थी कि जो मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश कर रहा हो, उसे भी जैसे बलात् (जबरदस्ती) पकड़ कर उससे कहा जावे कि तू भी याज्ञिक अर्थ को ही कह, ठोक-पीटकर ऐसे मन्त्रों के अर्थ को भी यज्ञ-प्रक्रिया में ही घसीटा गया है।

सायण का वेदार्थ

याज्ञिकप्रक्रिया का शुद्ध स्वरूप बना रहता, तब तो कुछ भी हानि नहीं थी, त्रिविधप्रक्रिया में याज्ञिक प्रक्रिया भी एक है ही, तदनुसार भी मन्त्र का अर्थ होना ही चाहिये। पर सायणाचार्य ने तो अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की प्रक्रिया को न जाने कैसे छोड़कर केवल याज्ञिकप्रक्रिया-परक ही वेदमन्त्रों का अर्थ किया और वह भी अधूरा। अधूरा इसलिये कि सायण का वेदभाष्य केवल श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर ही किया हुआ है। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में सायण का कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्रायः कुछ भी नहीं कहता। गृह्य अर्थात् स्मार्त्त प्रक्रिया में भी तो वेदमन्त्रों का अर्थ होना ही चाहिये। इस प्रक्रिया के लिये हमें गृह्यसूत्रों के भाष्यकारों के किये वेदार्थ से वेदमन्त्रों के अर्थ देखने होंगे। ऐसी दशा में सायणभाष्य को याज्ञिकप्रक्रिया में अधूरा ही कहेंगे। इतना ही नहीं श्रौतप्रक्रिया के विषय में भी सायण कहाँ तक

प्रामाणिक है, यह अभी साध्यकोटि में ही है। श्रौतविषय में भी सायण की अनेक भूलें हैं, जो कालान्तर या स्थानान्तर में दिखाई जा सकती हैं।

इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। वेदों के भाष्य तथा ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकों के भाष्य बनाये। अन्य अनेक विषयों में भी बहुत से प्रौढ़तापूर्ण ग्रन्थ लिखे, चाहे वे सब उनकी अपनी कृति न हों, उनके संरक्षण में बने हों पर उनका उत्तरदायित्व तो उन पर ही है। सायणाचार्य के इस प्रयास के लिये प्रत्येक वेदप्रेमी को उनका अनुगृहीत होना चाहिये। उनके वेदभाष्य में व्याकरण और निरुक्तादि का प्रयोग भी हमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। परन्तु मूलभूत धारणा के अनिश्चित वा भ्रान्त होने के कारण उनका मूल्य कुछ भी नहीं है और कई स्थानों में विरुद्ध भी है।

जब सायणाचार्य के मन में यह मिथ्या धारणा निश्चित हो चुकी थी कि वेदमन्त्र यज्ञप्रक्रिया का ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि वह अपना समस्त यत्न वा प्रमाणादि सामग्री यज्ञ-प्रक्रिया के लिये ही समर्पित करते। जब ऐनक ही हरी पहन ली तो सब पदार्थ हरे दिखाई देने में आश्चर्य ही क्या हो सकता है! उपर्युक्त धारणा के कारण उसके वेदार्थ में अनेक अनावश्यक और आधाररहित सिद्धान्तों तथा परिणामों पर पहुंचना अनिवार्य था। उदाहरणार्थ पाठक देखें—

(१) सायण के वेदभाष्य में प्रायः सर्वत्र जहाँ-जहाँ मूलमन्त्र में **'जन'** **'मनुष्य'** **'जन्तु'** **'नर'** **'विट्'** **'मर्त्त'** आदि सामान्य मनुष्यवाचक शब्द आये हैं, वहाँ सर्वत्र निर्वचन के आधार को छोड़कर, वाच्यवाचक-सम्बन्ध के सामान्य नियम की अवहेलना करके, सामान्य **'मनुष्य'** अर्थ न करके **'यजमान'** आदि ही किया है।

जैसा कि—ऋ० १।६०।४ में **'मानुषेषु यजमानेषु'**। ऋ० १।६८।४ में **'मनोरपत्ये यजमानरूपायां प्रजायाम्'**॥ **'मनुषः मनुष्यस्याध्वर्योः'** ऋ० १।१२८।१॥ **'जनान् यजमानान्'** ऋ० १।१४०।१२॥ **'जनानां यजमानानाम्'** ऋ० ५।१६।२॥ **'विशां यजमानरूपाणां प्रजानाम्'** ऋ० १।३१।१५॥ **'नरः कर्मणां नेतारोऽध्वर्य्वादयः'** ऋ० ३।८।६॥

भला बताइये इन मनुष्य-जन्तु-नर आदि शब्दों के अर्थ 'यजमान' ही हों, इसमें क्या नियामक है। कारण क्या! कारण यही कि यज्ञप्रक्रिया

की ऐनक चढ़ी है। प्रत्येक मनुष्य यजमान या ऋत्विक् ही दिखाई दे रहा है। भला नेता या मननशील जो कोई भी हो, यह अर्थ क्यों नहीं लेते ? सायण होते तो उनसे पूछा जाता !

(२) यह तो हमने अतिस्थूल उदाहरण उपस्थित किया है। वह प्रायः करके अपनी उपर्युक्त मिथ्या धारणा के कारण अपने परिणामों पर पहुंचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओं की ओर नियत वैदिक नियमों तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्यजनक असङ्गति दर्शाता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया में मनुष्य वा मननशील कैसा सुन्दर अर्थ बैठता है ! इस वैदिक नियम को न जानकर सायण का किया हुआ अर्थ हृदयग्राही नहीं बैठता। सायण के वेदार्थ की मूल त्रुटि ही यह है कि वह सदा अपने वेदार्थ में कर्मकाण्ड के भँवर में ही फँसा रहता है और इसीलिये वेद के आशय को निरन्तर बलपूर्वक कर्मकाण्ड के सँकुचित साँचे में ढाल कर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है। इसीलिये वह बहुत से मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना कर देता है या उसे करनी पड़ती है, जिससे प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ऊँचे से ऊँचे अर्थ में बाधा पड़ती है। उदाहरणार्थ—

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥ ऋ० १।१।६।

प्रियतम देव ! शरणागत का कल्याण करना तुम्हारा सत्य व्रत है !!

कैसा सुन्दर हृदयग्राही, सन्तप्त हृदयों की आन्तरिक ज्वाला को एक दम शान्त करनेवाला, आत्मसमर्पण का, प्रभुप्रेम वा प्रभुभक्ति में असीम निष्ठा का अद्भुत दृश्य है !!! चित्तवृत्तियों के निरोध और उससे आत्मस्वरूप में अवस्थिति का साधनभूत यह मन्त्र हमारे समक्ष है। **'ईश्वरप्रणिधानाद् वा'** (यो० १।२३) योगदर्शन के इस सिद्धान्तानुसार केवल इस मन्त्र के अनुसार ही योग की प्राप्ति हो जाती है। ईश्वरप्रणिधानमात्र से भी चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध होता है। शास्त्र का यह वचन और उपर्युक्त मन्त्र का अभिप्राय सर्वथा एक ही है। मन्त्रगत भाव को ही महामुनि पतञ्जलि ने उपर्युक्त सूत्र में दर्शाया है।

इस मन्त्र का उपर्युक्त भावनापूर्ण अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती के भाष्य में ही मिलेगा। पाठक उनके भाष्य में इस मन्त्र के अर्थ को देखें। सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

"अङ्ग अग्ने त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यथ यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि। तद्भद्रं तवेत् तवैव ..... एतच्च सत्यं (व्रतं), नात्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति .."।

अर्थात्—हे अग्ने ! तुम हविःप्रदान करनेवाले यजमान के लिये उन की प्रीति के निमित्त धन-गृह-प्रजा-पशु प्राप्ति रूप कल्याण करनेवाले हो। यह तुम्हारा सत्यव्रत है। इसमें कुछ भी विपरीतता नहीं...... इत्यादि।

सायणाचार्य यदि जानते होते कि इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी है, तब वह इसका अर्थ यही न करते, जो किया है। उनके अर्थ का स्वरूप ही कुछ अन्य होता। सायण के अर्थ में—

(क) भौतिक अग्नि से ही सम्बोधन किया गया है।

(ख) भौतिक अग्नि ही सब कल्याण का देनेवाला है।

(ग) संसार में सब से बड़ी कामना वा सब से बड़ा कल्याण धन, ऊँची अट्टालिका, सन्तान और पशु, भूमि आदि ही सायण के मत में हैं।

(घ) आत्मिक सम्पत्ति का इसमें निर्देश तक नहीं, जैसे उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं।

(ङ) हविः देनेवाले यजमान का ही कल्याण होगा, जो शुभकर्म का अनुष्ठान करे, उसका नहीं ? हविः देने का क्या स्वरूप है ? आहुति डालना मात्र ही तो !

भला बताइये जहाँ धन-गगनचुम्बीभवन-सन्तान और पशुओं की ही कामना की गई हो, वहाँ आत्मिक-सम्पत्ति की कामना का नाम तक न आना स्वाभाविक है। कारण क्या ? कारण यही कि सायण स्वयं आध्यात्मिकता से शून्य थे, या भ्रम-वश वह यह नहीं समझ सके कि वेद में आध्यात्मिकता का भी निरूपण है।

हवि देनेवाले का ही कल्याण 'अग्नि' करता है। गीता (४।२४,२५) में बताये आध्यात्मिक यज्ञ को भी भूल गये। हविः प्रदान का स्वरूप क्या है, इस पर तो कुछ प्रकाश डाला होता। ज्ञान ही न था तो डालते कहाँ से ? ब्राह्मणों में (शत० ११।२।४।८ पृ० ५५६) बताये यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का ही कुछ निर्देश कर दिया होता।

(३) इस सब में मौलिक भूल ही सर्वत्र अपना वैभव दिखा रही है कि वेदमन्त्र केवल याज्ञिक अर्थ को ही कहते हैं। यह बात हम अनुमान

वा अपनी ही कल्पना से कहते हों, यह बात नहीं। स्वयं सायणाचार्य ने ही ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखा है—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥
(सायण ऋ० भा० उपोद्घातारम्भे) ॥

अर्थात्— यज्ञों में अध्वर्यु के कर्मों की प्रधानता होने के कारण मैंने (सायण ने) प्रथम यजुर्वेद का व्याख्यान किया, इसके अनन्तर हौत्रकर्म के लिये ऋग्वेद का व्याख्यान किया जायगा।

यहाँ पर सायणाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि मैं यज्ञों में अध्वर्यु और हौत्रादि के कर्मों को बताने के लिये ही वेद का भाष्य कर रहा हूं। सायण के सामने जैसे और कुछ था ही नहीं, जिसके लिये कि वेदभाष्य करने की आवश्यकता हो।

यदि वह यहाँ पर यह भी कह देते कि भाई! मैं तो केवल यज्ञपरक व्याख्यान कर रहा हूं, शेष आध्यात्मिकादि अर्थों के लिये अन्य भाष्यों को देखें, जिसकी परम्परा सहस्रों वर्षों से चली आ रही थी। तब भी वेदार्थप्रक्रिया का लोप तो न होता।

(४) आरम्भ से उठा कर अन्त तक देखा जावे तो सायण के सम्पूर्ण भाष्य में यही मौलिक भ्रान्ति सर्वांश में मिलेगी। इसका परिणाम यही हुआ और होना ही चाहिये था कि सायणभाष्य को पढ़कर किसी को भी वेद में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती, और पढ़नेवाला कभी नहीं मान सकता कि वेद परमात्मा की बुद्धिपूर्वक कृति है, या इसमें किन्हीं उच्च-तम सिद्धान्तों, मानवसमाज सम्बन्धी उत्कृष्ट भावनाओं वा आवश्यकीय विविध ज्ञान का प्रतिपादन है। जिज्ञासु एकदम निराश होकर ऐसे वेद से ही विमुख होने लगता है, यह है सायणभाष्य की देन।

सायणाचार्य ने ऋषियों को, उनके विचारों को, उनकी संस्कृति को, उनकी अभीष्ट भावनाओं को ऐसी सारहीन-संकुचित-दरिद्रतापूर्ण रीति से उपस्थित किया है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जावे, तो वह वेद के सम्बन्ध में भारतीयों की पवित्र उच्च भावना को, वेद की पवित्र प्रामाणिकता को, नहीं-नहीं वेद की दिव्य ज्योति को हेय बना देता है, और प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रतीत होने लगता है कि सायण के भाष्या-नुसार वेद उस समय की एक अन्धी और प्रश्न उठाये जाने के अयोग्य परम्परा है। जिसका कारण सायण की अपनी ही मिथ्याधारणा है।

(५) इस विषय में हम एक अन्य दृष्टि से भी विचार करते हैं। हम देखते हैं सायण वेद में आये शब्दों के सूक्ष्म सङ्केत और उनके सूक्ष्म अन्तर को सर्वथा मिटा देता है। वेद में आये शब्दों का अधिक से अधिक स्थूल और सामान्य जो अर्थ होता है, वही कर देता है और सबके सब विशेषण जो उसके साथ लगे होते हैं, जिनका लगाया जाना किसी गम्भीर सूक्ष्म कारण का निर्देश करता है, उनको वह एकदम भुला देता है। दूसरे शब्दों में यज्ञविषयक उपर्युक्त मिथ्याधारणा सायण को उन शब्दों के वास्तविक स्वरूप तक पहुंचने ही नहीं देती।

ऐसा प्रतीत होता है कि सायण का ध्यान वेद में आये शब्दों के विशेष्यविशेषणभाव की प्रक्रिया पर गया ही नहीं। एक ही मन्त्र में **'उर्वी पृथिवी'** या **'पृथिवी मही'** में दो शब्द एक साथ आये हैं, दोनों ही पृथिवी के नाम हैं। जब एक ही शब्द पृथिवी अर्थ को कह रहा है, तो दूसरे की क्या आवश्यकता है। दो शब्द पढ़ने से वेद में पुनरुक्तदोष आवेगा, इसलिये महाभाष्य के सिद्धान्तानुसार **'व्यर्थं सज्ज्ञापयति'** व्यर्थ होकर इस बात को सिद्ध करता है कि इन दोनों में एक विशेष्य है, दूसरा विशेषण। यह निश्चय मन्त्रगत शेष पदों के अर्थ के समन्वय पर होगा।

दु:ख से कहना पड़ता है कि इन अनिवार्य सूक्ष्मेक्षिकाओं के न होने से वेद के अर्थ का स्वरूप ही संसार से ओझल हो गया और सायणभाष्य वेद की अन्तिम प्रामाणिक भित्ति बन गया।

इस विषय में हम कुछ अन्य उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—

ऋ० १।७७।१ में **"नृणां नृतमोऽसि"**। ऋ० १।२७।१ में **"अग्निं विप्रम्"**। ऋ० १।६०।१ में **"वह्निं द्विजन्मानम्"**। ऋ० १।१।१ में **"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"**। ऋ० १।४।४ में **"इन्द्रं विपश्चितम्"**। ऋ० १।११।४ में **"युवा कविरमितौजाः ......इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता"**। ऋ० १।२४।८ में **"उरुं हि राजा वरुणश्चकार"**। ऋ० १।४४।१० में **"अग्ने...असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः"**।

इन मन्त्रों में पाठक 'अग्नि', 'इन्द्र' आदि पदों के विशेषणों पर ध्यान देवें। रूढिवाद की प्रक्रिया के अनुसार ये विशेषण आपाततः चैतन्य-विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ को ही प्रकट कर रहे हैं, फिर भी घसीट कर भौतिक अर्थ में ही इन मन्त्रों के अर्थों की समाप्ति कर देना वेदार्थ का

लोप करना या यौगिकप्रक्रिया के विषय म अपनी असीम अनभिज्ञता प्रकट करना नहीं तो और क्या है? हमारे मत में तो यौगिकवाद को मानकर त्रिविधप्रक्रिया के आधार पर ये विशेषण तीनों प्रक्रियाओं में घट जाते हैं।

अग्ने॑ पू॒र्वा अ॒नूष॒सो॑ विभावसो दी॒देथ॑ वि॒श्वद॑र्शतः।
असि॒ ग्रामे॑ष्ववि॒ता पु॒रोहि॒तोऽसि॑ य॒ज्ञेषु॒ मानु॑षः।

ऋ० १।४४।१०॥

इस मन्त्र में अग्नि को विभावसु-विश्वदर्शनीय—ग्रामों में रक्षक—यज्ञों में पुरोहित—मानुष आदि कहा गया है। ये विशेषण भौतिक अग्नि में कैसे घट सकते हैं। मुख्यवृत्ति से तो ये सब विशेषण किसी चेतन में घट सकते हैं।

त्वम॑ग्ने॒ प्रम॑ति॒स्त्वं पि॒तासि॑ न॒स्त्वं व॑य॒स्कृत्तव॑ जा॒मयो॑ व॒यम्।
सं त्वा॒ रायः॑ श॒तिनः॒ सं स॑ह॒स्रिणः॑ सु॒वीरं॑ यन्ति व्रत॒पाम॑दाभ्य॥

ऋ० १।३१।१०॥

इस मन्त्र में अग्नि को प्रकृष्टमति-उत्कृष्टज्ञानवान्-पिता-जिसकी सन्तान हम अपने आपको कह सकें—सुवीर-व्रतपा और असंख्य धनवाला इत्यादि गुणविशिष्ट कहा गया है। भला ये सब विशेषण रूढिवाद के अनुसार आपाततः भौतिक अग्नि में कभी घट सकते हैं?

(६) भला इन मन्त्रों से ठोक पीट कर या जबरदस्ती (बलात्) यज्ञ की बोली बुलवाना कहाँ तक सुसङ्गत है? जब कि ऋग्वेद में आये बहुत से मन्त्रों का विनियोग ही नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रों का विनियोग हौत्रकर्म में ही होना चाहिये। सम्पूर्ण दस हजार से अधिक मन्त्रों का विनियोग वाचस्तोमादि में करना अगतिकगति है। यह तो वैसा ही है, जैसे सम्पूर्ण चारों वेद की संहिताओं से स्वाहाकारान्त होम करना। उसे मुख्य विनियोग नहीं कहा जा सकता। सायण ने अपने भाष्य में अनेक मन्त्रों का विनियोग लैङ्गिक माना है। तथा बहुत से मन्त्रों का विनियोग स्मार्त्त कर्म में खोजने को कहा (देखो सायणभाष्य ऋ० १।१५, १७, १९, २२, ३८, ३९, ४० इत्यादि अनेक स्थल हैं)। इस विनियोग के विषय में हम कभी फिर विस्तार से कहना चाहते हैं। यह एक पृथक् विवेचनीय विषय है। यहाँ तो हम इतना ही कहना चाहते हैं कि सब मन्त्रों को केवल यज्ञपरक अर्थ में घसीटना सायणभाष्य की दुर्भाग्यपूर्ण देन है। इस

से वेद सभी सम्भव अर्थों से हटकर इस निम्नतम यज्ञपरक अर्थ के साथ बँध गया। सायणभाष्य का यह सबसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ। दूसरा परिणाम यह हुआ कि सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लगा दी, जो बहुत समय तक जब तक कि बड़ा भारी प्रयास न किया जावे, दूर नहीं हो सकती।

वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करने में सायण का भाष्य मुख्य कहा जा सकता है। सायणाचार्य से पूर्व और भी वेदभाष्यकार हो चुके थे (जिनका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं), जिन्होंने "वेद का अर्थ यज्ञपरक ही होता है" इस मिथ्याधारणा के फलस्वरूप अपने भाष्य यज्ञपरक ही किये हैं, यद्यपि ये लोग भी वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया के लोप के उतने ही कारण कहे जा सकते हैं जितना कि सायण, तथापि उनके भाष्यों में वेदार्थ-प्रक्रिया के किन्हीं सिद्धान्तों का निर्देश कहीं-कहीं मिलता तो है, जैसा कि हम पूर्व दर्शा चुके हैं। परन्तु सायण ने तो उन निर्देशों का भी लोप ही कर दिया, जिससे वेदार्थ का स्वरूप शताब्दियों के लिये लुप्त हो गया।

सायणभाष्य की इस मौलिक मिथ्याधारणा का क्या परिणाम हुआ, सो हम आगे दर्शायेंगे। इससे पूर्व अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि सायण की उपर्युक्त मिथ्याधारणा का मिथ्यात्व कहाँ तक ठीक है।

सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुंचा

हमारा पूर्वोक्त विवेचन ही इस बात के सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है (जैसा कि पूर्व पृ० १०५, ११३, ११४ पर दर्शा चुके हैं)। इतने से ही सायण का सारा वेदार्थ तीसरा भाग रह जाता है, शेष दो भाग (आध्यात्मिक तथा आधिदैविक) में उसकी अनभिज्ञता वा अपूर्णता स्पष्ट सिद्ध है।

त्रिविधप्रक्रिया की अवहेलना ही वेदार्थ में एक ऐसी हिमालय जैसी भूल है, जो कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकती। सायण की भूल की समाप्ति यहीं पर नहीं हो गई। उनकी अन्य मौलिक भूलों का निर्देश भी करना हम आवश्यक समझते हैं—

(१) यज्ञ में अध्वर्यु आदि के कर्मों को बताने के लिये ही वेदभाष्य करता हूं, ऐसा सायण ने कहा है। (देखो सायण ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में)।

(२) सायण सामवेदभाष्यभूमिका में लिखता है—

'यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः ।
अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः' ॥६॥

इसमें वेद के मन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक तथा ब्रह्मपरक माना । हमें तो सायण के इस लेख से अति प्रसन्नता हुई कि चलो ब्रह्मपरक अर्थ नहीं किया तो न सही, ब्रह्मपरक का निर्देश तो कर ही दिया है। पर हमारी यह प्रसन्नता अधिक देर न रह सकी, जब हमने काण्व-संहिताभाष्य की भूमिका में सायण का यह लेख देखा—

"तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्" ।

यहाँ पर सायण शतपथब्राह्मण ही नहीं, अपितु 'संहिता' में भी **"दर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्"** इस वचन से केवल दर्शपूर्णमासादि यज्ञ कर्मों का ही प्रतिपादन मात्र मानता है ।

पाठक विचार करें कि स्कन्दस्वामी की त्रिविधप्रक्रिया (जिसे वह यास्काभिमत मानता है) उपस्थित होने पर भी, सायण **'नहि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'** वा **'पश्यन्नपि न पश्यति'** देखता हुआ भी नहीं देखता, यही तो कहना पड़ेगा। क्या सायण ने स्कन्द का भाष्य देखा ही नहीं होगा, यह कभी हो सकता है ? जबकि इस समय भी सैकड़ों वर्ष पीछे सायण की जन्मभूमि दक्षिण में ही स्कन्दभाष्य तथा निरुक्त टीका मिली है ।

कुछ भी सही, सायण वेदार्थ की दीवार बन गया। इतनी ऊँची और इतनी दृढ़ कि किसी को लाँघने का साहस नहीं होता था, पर प्रभु की असीम कृपा से आचार्य दयानन्द उस दीवार को लाँघ गये, और उनकी कृपा से आज हम शास्त्र के आधार पर लाँघ रहे हैं ।

(३) सायण ने ऋग्भूमिका में मीमांसा के सिद्धान्तानुसार वेद में अनित्य इतिहास वा व्यक्तिविशेषों के इतिहास का निषेध मान कर वा निषेध करके भी, अपने वेदभाष्य में यत्र तत्र अनित्य व्यक्तियों का इतिहास स्पष्ट दर्शाया है ।

(४) देखिये सायण ऋग्भूमिका में—

(क) **"शतं हिमा' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्"** ।

(ख) "**शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति**"। सायणकाण्वभूमिका।

इन दोनों स्थलों में शतपथ को मन्त्र का व्याख्यान मान कर भी ऋगादिभाष्यभूमिका में "**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**" की ही रट लगाई है।

इतिहास तथा वेदलक्षणविषय के परस्पर विरोध को देख कर भला थोड़ा सा ज्ञान रखनेवाला भी कौन सायण की विद्वत्ता का प्रशंसक हो सकता है? इन विषयों में वास्तव में सायण के मन में सन्देह ही बना रहा, आध्यात्मिक भावना थी नहीं, नहीं तो आचार्य दयानन्द की भाँति १८-१८ घण्टे की समाधि द्वारा वेदार्थ के इन परमावश्यक मौलिक सिद्धान्तों का निर्णय आत्मा में करता, तब लिखता तो ठीक था।

जैसा कि आजकल भी बहुत से व्यक्ति वेद का स्वाध्याय आरम्भ करते हैं, तो साथ ही उस विषय में ग्रन्थ छापना भी आरम्भ कर देते हैं। "स्वयं नष्टः परान् नाशयति" जो स्वयं ही अनिश्चित है, वह भला दूसरों को निश्चित ज्ञान कैसे दे सकता है?

यदि यह अनिश्चयात्मकता सायण के हृदय में न होती, यथावत् व्यवसायात्मक बुद्धि से वेदभाष्य करता तो संसार का महान् उपकार होता। इस अनिश्चयात्मकता के कारण ही वह—"**तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते। यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानात्**"......सायण-ऋग्-भाष्य-भूमिका॥ अर्थात्—परमेश्वर के ही इन्द्रादि रूप में होने से यह सब ईश्वर की ही स्तुति है—अपनी इस बात पर भी दृढ़ न रह सका। यह बात हम आचार्य दयानन्द में ही पाते हैं। जो बात लिखी, निश्चयात्मकता से लिखी। संसार को सन्देह में नहीं डाल गये। किसी विषय पर न लिखा हो, यह दूसरी बात है।

इस प्रकार की अन्य भी अनेक बातें दर्शाई जा सकती हैं, जिनसे प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् को इसी परिणाम पर पहुंचना होगा (और हम इस विवेचना से इसी परिणाम पर पहुंचते हैं) कि सायण वेद के मौलिक अर्थों तक नहीं पहुंच सका। सायण की हिमालय जैसी ये मौलिक भूलें कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकतीं।

पूर्व पृ० ८५ पर दर्शाई वेदार्थ की कसौटियों पर सायण का वेदार्थ नहीं ठहरता, पाठक यह बात स्वयं अपनी दृष्टि से देखें।

सायण की भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायण तक ही रह जाती या शताब्दियों तक भारत तक ही यह भूल रह गई होती, तब भी कोई बात नहीं थी। इसके परिणाम बड़े भयङ्कर हुए। यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञयागादि की इस प्रधानता ने ही बुद्ध जैसे महापुरुष, पवित्रहृदय महात्मा को यह कहने पर बाधित कर दिया था कि मैं ऐसे वेदों को मानने को उद्यत नहीं, जिनमें पशुहिंसा का विधान हो।

विदेशीय राज्य की रक्षा को लक्ष्य में रख कर, या पीछे से भाषा-विज्ञान में विशेष जानकारी प्राप्त करने के विचार से, संस्कृतभाषा में सामान्यतया और वेदविषय में विशेषतया लगनेवाले योरोप-अमेरिका आदि देशों के अनेक विद्वानों को भी (और कोई वेदार्थ उपलब्ध न होने से) सायण का ही अनुगामी बनना पड़ा और जो-जो सायण के भाष्य में पुरानी मिथ्या बातों वा मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लग चुकी थी, उसी के पीछे विदेशी विद्वानों का समूह चला। ऐतिहासिकवाद के विषय में सायण से पूर्व आचार्य स्कन्द स्वामी का **"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः"** यह सिद्धान्त चला आता था और जो प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है, यह धारणा परम्परा से स्कन्द के काल तक चली आई थी, सायण ने उनका उल्लेख भी अपने भाष्य में किया होता, तब भी वेदार्थ की मौलिक धारणायें किसी प्रकार जीवित रह जातीं। तब इन विदेशीय स्कालरों को भी वेदार्थ के विषय में सोचने का अवसर मिलता कि आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ तो अभी शेष हैं, सायण के भाष्य में ही वेदार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती और इतिहास का सारा वर्णन औपचारिक (Simile) के रूप में हैं, न कि वास्तविक। तब महान् उपकार होता। विदेशी विद्वान् हमारी सारी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य को उलटे रूप में सब के सामने न रख सकते।

मैं तो कहता हूं कि यदि सायणभाष्य का ही हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू वा अन्य जिस किसी भाषा में अनुवाद करके किन्हीं शिक्षणालयों में रख दिया जावे तो निश्चय ही समझना चाहिये कि कुछ श्रद्धालुओं को छोड़कर सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि ये वेद जङ्गलियों की यों ही बड़बड़ाहट या अण्ट सण्ट कृतियाँ हैं, जिनका मानवसमाज को कुछ भी उपयोग वा

लाभ नहीं हो सकता। पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उससे सायण की छाप के कारण शास्त्री उत्तीर्ण छात्र प्रायः वेद से विमुख ही हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक-स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता। इस सारे अनर्थ का मूल सायणाचार्य का वेदार्थ ही है। यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि **'मुख्येन व्यपदेशः'** नियमानुसार सेना जा रही हो तो भी मुख्यता से यही कहा जाता है कि 'राजा जा रहा है'। इसी प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार भाष्य करनेवाले अन्य सभी भाष्यकार इसी कोटि में आ जाते हैं। उनके पृथक् निर्देश की यहाँ आवश्यकता नहीं। सब 'यथा हरिस्तथा हरः' के अनुसार ही समझने चाहियें। सायण का नाम इसलिये भी बार-बार आता है कि वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों पर सब से अधिक भाष्य सायणाचार्य के ही हैं, जिनको लेकर आगे लोगों ने अनुवादादि किये। सायण के भाष्य को पढ़कर कोई भी समझदार वेद के उस स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता, जो ऋषि-मुनि मानते हैं, जिसका निरूपण हम पहले कर चुके हैं। जैसे—

"स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः" (मनु० २।७४)।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२।२४॥

वेद समस्त विद्याओं का स्रोत है, सम्पूर्ण ज्ञान वेद से ही मानवसमाज को प्राप्त हुआ, सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन वेद में है, इत्यादि सब बातें सायणभाष्य को पढ़कर कभी मन में नहीं बैठ सकतीं।

सायण और विदेशीय विद्वान्

विदेशीय विद्वानों को वेदविषय में सायणभाष्य ही एकमात्र आश्रय मिला। वह उनके अनुकूल निकला, क्योंकि वे तो चाहते थे कि भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य (वाङ्मय) के प्रति जितनी अश्रद्धा पैदा करने में हम सफल हो जायेंगे, उतना ही हमारा राज्य भारत में स्थायी तथा दृढ़ होता जायेगा। उन्होंने वेद या अन्य वैदिक वाङ्मय के जो अनुवाद अंग्रेजी में किये, वे सबके सब सायण की छाया से ही किये। यह ठीक है कि इन विदेशीय विद्वानों ने भारतीय न होते हुए भी हमारे संस्कृतसाहित्य में विशेष कर वैदिक वाङ्मय में, अनुपम प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उद्योग किया, इसके लिये हम उनके

अत्यन्त आभारी हैं। निस्सन्देह उन्होंने वेदिकवाङ्मय में खोज (Research)का उपक्रम करके हम भारतीयों के सामने अपने साहित्य की रक्षा का उत्तम मार्ग दर्शा दिया। जिस-जिस ग्रन्थ का भी किसी विदेशी ने सम्पादन किया है, सर्वसाधारण की दृष्टि से निस्सन्देह वह उनके अत्यन्त परिश्रम और निरन्तर धैर्य्य और गम्भीर विवेचना का परिचय देता है। यह दूसरी बात है कि उनका ज्ञान शास्त्रविषय में गहरा नहीं, अपितु बहुत थोड़ा है। अत: जिस विषय में उनका ज्ञान नहीं, उसमें उनसे भूलें रह जाना स्वाभाविक ही है। पर उन जैसा परिश्रम इस पराधीन देश के विद्वानों ने प्राय: नहीं किया, वा उनके गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया, यही कहना पड़ता है। देश की पराधीनता के बन्धन[1] ढीले होने पर आर्यों (हिन्दुओं) को या कांग्रेस को समझ आ गई (जो अभी बहुत कठिन प्रतीत होती है, प्राय: सब विदेशी संस्कृति-सम्यता और साहित्य के उपासक हो रहे हैं, यह विष भारत से न जाने कितने लम्बे काल के पश्चात् निकल सकेगा)तो सम्भव है हमारी वैदिकवाङ्मय की यह अमूल्य सम्पत्ति फिर से अपने पहले उच्च शिखर पर पहुंच जावे।

यह सब होते हुए भी हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उनकी भावना अच्छी नहीं थी, जिससे प्रेरित होकर वे हमारे साहित्य की खोज में लगे। अपने इस विचार की पुष्टि में विचारशील महानुभावों के सामने कुछ एक उदाहरण उपस्थित करते हैं। मोनियर विलियम अपने संस्कृत अंग्रेजी-कोश की भूमिका में लिखता है—

(1) "That the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion". (भूमिका पृ० ६)

---

१. भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी अभी तक स्थिति वैसी की वैसी है। विदेशीय स्कालरों से प्रमाणित हुये भारतीयों को (जिन्हें संस्कृत वाङ्मय का मौलिक ज्ञान तो है नहीं, अङ्गरेजी ढंग से संस्कृत का अध्ययन किया है) जब तक प्रश्रय मिलता रहेगा, बड़े भारी वेतन मिलते रहेंगे, तब तक स्थिति नहीं सुधर सकती। भारत की मस्तिष्क की दासता दूर नहीं हो सकती। भारत सच्चे अर्थों में तब तक स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

इसका भाव यह है कि यह संस्कृत-अंग्रेजी-डिक्शनरी या संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य जो मि० बौडन के ट्रस्ट द्वारा हो रहा है, वह सब भारतीयों को ईसाई बनाने में अपने देश(इङ्गलैण्ड)वासियों को सहायता पहुंचाने के लिये है। इस एक उदाहरण से ही विचारशील महानुभाव समझ सकते हैं कि विदेशियों ने किस ध्येय को लक्ष्य में रखकर हमारे वैदिक साहित्य तथा अन्य संस्कृतसाहित्य में इतना घोर परिश्रम किया। सब योरोपीय तथा अन्यदेशीय विद्वान् प्राय: इसी धारणा और भावना को लेकर हमारे सारे साहित्य की खोज में आये, हमारे कल्याण के लिये नहीं, यह दु:ख से कहना पड़ता है।

पाठकों की अधिक जानकारी के लिये हम यहाँ कुछ एक उदाहरण और भी उपस्थित करते हैं--

(२) बौडनचेयर के प्रथमाध्यापक हेमन विलसन ने जान मूर के दो सौ पौण्ड का पारितोषिक पाने के लिये निबन्ध लिखा, जो हिन्दू धार्मिक पद्धति के खण्डन में सर्वोत्तम लेख माना गया।

"These lectures were written to help candidates for prize of £ 200 given by John muir, a well known old Hailey-buryman and great scholar, for the best refutation of the Hindu Religious system."

Eminent orientalist Madras P. 72

(३) राथ—ह्विटने और मैक्समूलर लगभग समकालीन थे। ह्विटने मैक्समूलर का सहपाठी था, उसने लिखा—"जर्मन पद्धति के नियम एकमात्र ऐसे नियम हैं, जो वेद के सत्यता से समझे जाने का मार्ग दिखा सकते हैं।

(४) मैक्समूलर ने लिखा "Largest number of Vedic hymns ars childish in the extreme tedious, low, common place." Chips from a German Workshop, second edition. 1866 P. 27.

अर्थात्—वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या परम बालकतापूर्ण, जटिल अधम और साधारण है।

(५) मैक्समूलर ईसाई धर्म को सब से अच्छा, बाइबल को सबसे उत्तम धर्मपुस्तक और वेद को कुरान से भी नीचे बताता है—

"Would you say that any one sacred book is superior to all other in the world? I say the new Testament. After that, I should plase the koran, which in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the new Testament. Then would follow……the old Testament, the southern Buddhist Tripitikas……the Veda and the Avesta."

अर्थात्—संसार की धर्मपुस्तकों में से नई प्रतिज्ञा (ईसा की बाइबल) उत्कृष्ट है। इसके पश्चात् कुरान, जो आचार की शिक्षा में नई प्रतिज्ञा (बाइबल) का रूपान्तर है, रखा जा सकता है। इसके पश्चात् पुरानी प्रतिज्ञा (बाइबल), दक्षिणात्य बौद्ध त्रिपिटक, वेद और अवेस्ता आदि हैं। (एक पत्र में अपने पुत्र के नाम मैक्समूलर ने लिखा)।

(६) **मैक्समूलर के पत्र**—"The ancient religion of India is doomed and if christianity does not step in, whose fault it will be."

अर्थात्—"भारत का प्राचीन धर्म नष्टप्राय है, और यदि ईसाई धर्म उसका स्थान नहीं लेता, तो यह किसका दोष होगा"? (मैक्समूलर ने भारतसचिव को लिखा १६ दिसम्बर १८६८)।

(७) **मैक्समूलर के वेद के अनुवाद और रिसर्च में लगने का क्या उद्देश्य था,** वह स्वयं अपनी पत्नी के नाम लिखता है—

"The edition of mine and the translation of the Veda, will here after tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in the country. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is 'the only way of uprooting' all that has sprung from it, during the last three thousand years".

अर्थात्—वेद का अनुवाद और मेरा (सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का) यह संस्करण उत्तर काल में भारत के भाग्य पर दूर तक प्रभाव डालेगा। यह उनके धर्म का मूल है, और मैं निश्चय से अनुभव करता हूं कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन सहस्र वर्ष में इससे उत्पन्न होनेवाली सब बातों के मूलसहित उखाड़ने का एकमात्र उपाय है।

(८) **मैक्समूलर के नाम** उसके घनिष्ठ मित्र ई० बी० पुसे का पत्र—

"Your work will form a new era in the efforts for the conversion of India......"

अर्थात्—"आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नव-युग लानेवाला होगा।"

यह भी विदित रहे कि पाश्चात्यों में संस्कृतवाङ्मय के प्रति किसी को भी श्रद्धा नहीं हुई, सो बात नहीं। जर्मनी में बान विश्वविद्यालय के प्रथम संस्कृताध्यापक के सहयोगी हैम्बोल्ट ने गीता को "गम्भीरतम, और उच्चतम वस्तु" कहा। जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने उपनिषदों का लेटिन में अनुवाद किया। उपनिषदों के विषय में लिखा—"सबसे अधिक सन्तोषप्रद तथा उन्नत करनेवाले...मेरे जीवन और मृत्यु के आश्वासन"।

फ्रेंच विद्वान् जैकालियट (प्रधान न्यायाधीश चन्द्रनगर सन् १८६९) ने लिखा—

"प्राचीन भारत भूमि, मानवजाति के जन्मस्थान, तेरी जय हो ..... क्या कभी ऐसा दिन भी आयेगा, जब हम अपने पाश्चात्य देशों में तेरे अतीत काल की सी उन्नति देखेंगे।"

यह सब देख कर पाश्चात्य दिद्वानों को विशेष कर यहूदी और ईसाई मत वालों को बहुत बुरा लगा, जैकालियट के विरुद्ध इन लोगों ने घोषणा की, कि "The author seems to have been taken in by the Brahmanas in India" अर्थात् "लेखक ब्राह्मणों के धोखे में आ गया है"। उधर गोल्डस्टकर ने जब लिखा कि "पाश्चात्य दुर्भावना से भारत को गिराने का षड्यन्त्र करते हैं", तब वैबर तथा राथ ने लिखा कि "गोल्डस्टकर के मस्तिष्क में पूर्ण विकार हो गया है"।

अर्थात् उसे पागल बना दिया। गोल्डस्टकर ने इनका भाण्डा फोड़ किया कि राथ वैबर भोटलिङ्ग कूहन आदि कृतसंकल्प हैं कि भारत का गौरव नष्ट किया जावे।[1]

---

१. पाठक इस विषय का विशेष-विशद और सप्रमाण विवेचन प्राचीन भारतीय इतिहास के अद्वितीय विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थ में 'भारतीय इतिहास की विकृति के कारण' प्रकरण में पृ० ३४ से ६८ तक अवश्य देखें।

ऐसी और भी अनेक बातें इस विषय की उपस्थित की जा सकती हैं। इतने से ही पाठकों की समझ में आ सकता है कि ये पाश्चात्य लोग तथा इनकी पद्धति में की जानेवाली रिसर्च भारतवर्ष की जड़ खोदने में घोर प्रयत्नशील रही। भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी, अभी तक उसी ओर अग्रसर है। भारतीय विद्वानों को अब परतन्त्र वा विदेशी दासता की मनोवृत्ति को त्याग कर विशुद्ध भारतीयता को अपना कर देश को ऊँचा उठाना चाहिये। कहना यह है कि जब पाश्चात्य विद्वान् प्रायः भारत के गौरव को नष्ट करने में लगे थे, तो उनके वेदों के अनुवाद भी कैसे उत्तम वा ग्राह्य हो सकते थे, इसमें उन्हें सायण परम सहायक सिद्ध हुआ।

हमें प्रकृत में यह बतलाना है कि सायण की वेदार्थ विषय की मिथ्याधारणा का कितना दुष्परिणाम हुआ। सोचने की बात है कि इन विदेशी विद्वानों को यदि सायण की अपेक्षा वेद का उत्तम भाष्य मिला होता, तो इनके अंग्रेजी वा अन्य योरोपियन भाषाओं में किये अनुवाद निश्चय ही भिन्न होते (दूषित भावनावालों को छोड़कर)। अब तो वे सबके सब सायण से आगे नहीं जा सके। एक आध ने थोड़ा बहुत यत्न किया, पर धारणा सुदृढ़ न होने तथा प्रमाण न मिलने से रह गये। कर ही क्या सकते थे। यदि सायण की मिथ्याधारणा और उसके आधार पर किया वेदार्थ अर्थात् वेदभाष्य न होता तो मैक्समूलर का ऋग्वेदभाष्य पर का लेख, तथा ग्रिफिथ के ऋग्-यजु-साम और अथर्व के अनुवाद, विलसन का ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद, लुडविग (A. Ludwig) का ऋग्वेद का जर्मनानुवाद, राथ तथा ह्विटनी का अथर्ववेद का अंग्रेजी अनुवाद, बैनफी का सामवेद का जर्मनानुवाद, कीथ का तै० संहिता, ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मण का अनुवाद, हाग का ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद, ऐगलिङ्ग का शतपथब्राह्मण का अनुवाद—इन सबका स्वरूप अवश्य ही वह न होता जो अब है। सायण के वेदार्थ ने इनकी आँखों पर भी पट्टी बाँध दी।

इनके अतिरिक्त रोजन, ग्रासमैन, ओल्डनबर्ग, वैबर, कोलब्रुक्, ब्लूमफील्ड, आफ्रेख्ट, जैकोबी, स्टीवेन्सन, मैकडानल, भोटलिङ्ग आदि ने जो वैदिक वाङ्मय के भिन्न-भिन्न विषयों पर घोर परिश्रम किया, उसका स्वरूप भी अवश्य ही भिन्न होता। इसी प्रकार Adolf Kaegi, E. Hultzsch, J. Kirste, I. N. Reuter, I. W. Solomons, A.C. Burnel, Kust Klemm, D. Gaustra, I. N. Neglein आदि

श्रौत और गृह्यसूत्रादि पर परिश्रम करनेवाले विद्वानों का दृष्टिकोण भी अवश्य ही भिन्न होता। इनमें जिनका स्वार्थ इसी बात में था कि भारत की संस्कृति, सभ्यता का निम्नतम स्वरूप ही संसार के सामने आवे, और जिन्हें भारतवासियों को भी उनके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रखना ही अभिप्रेत था, उनको छोड़कर बहुत से विद्वान् वेदार्थ के शुद्ध स्वरूप को जान कर अवश्य प्रसन्न होते और भारत के सदा ऋणी रहते !!!

वेदार्थ का सच्चा स्वरूप कभी भी सामने नहीं आ सकता, जब तक सायण के वेदार्थ की भित्ति (दीवार) बीच में खड़ी रहेगी। जो व्यक्ति उस दीवार को लाँघ जायेगा, वही सच्चे वेदार्थ का दर्शन कर सकता है, दूसरा नहीं। यहाँ इस विषय के हमारे सारे कथन का सार यही है कि अन्य सामग्री के अभाव में सायण के कन्धे पर चढ़ कर पूर्वोक्त धारणाओं के आश्रय से (उसकी मिथ्या धारणाओं को छोड़कर) हमें दूर की वस्तु देखने में कुछ सहायता भले ही मिले, परन्तु हमें वेदार्थ के लिये सायण से आगे चलना होगा।

महान् दयानन्द का प्रादुर्भाव

ऐसी दुरवस्था में परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से महापुरुष दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि जगन्नियन्ता अन्तर्यामी जगदीश्वर पर पूर्ण निष्ठावान् होने के कारण ही उनको दैवी अन्तः प्रेरणा हुई कि तुम वेद और वेदार्थ के सच्चे स्वरूप को संसार के सामने रक्खो, जिससे शताब्दियों से इस विषय की फैली हुई भ्रान्ति दूर होकर विश्व का कल्याणा हो। दयानन्द ने घोषणा की—

वेद प्रभु की पवित्रवाणी है,जो सृष्टि के आदि में जीवों के कल्याणार्थ, संसार के अन्य भोग्य पदार्थों की भान्ति कर्मों की यथार्थ व्यवस्था के ज्ञानार्थ, तदनुसार आचरण करने ने लिये परम पवित्र ऋषियों द्वारा प्रदान की गई। भावी कल्पकल्पान्तरों में भी यही वाणी इसी प्रकार प्रादुर्भूत होगी। यह किसी व्यक्ति या व्यक्तिविशेषों की कृति नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। इसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता कल्पकल्पान्तरों में नहीं होती। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—समस्त संसार तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान, यह सब विधाता की यथापूर्व कृति है।

यह है वेद के सम्बन्ध में वैदिकधर्मियों की धारणा, जिसका विशद निरूपण हम पूर्व कर चुके हैं। यथार्थता की कसौटी पर ठीक उतरने से

वैदिकधर्मियों ने इस धारणा को अङ्गीकार किया है, और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है। वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहाँ तक परिश्रम करना पड़ा होगा, वह भी उस अवस्था में जब कि वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्राय ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रसम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों और शास्त्रकारों के कहे जानेवाले परस्पर विरोध की काली घटाओं, विविध वादों तथा मतमतान्तरों के तूफान (झंझा) में दयानन्द चट्टान की तरह अविचल रहे। हम तो जब उस भयङ्कर तूफान का ध्यान करते हैं, स्तब्ध हो जाते हैं। उस तूफान में दयानन्द डिगे नहीं, अपने आपको केवल सम्भाले रहे, इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने एकदम इन सब परस्पर विरुद्ध रूढ़ियों और वादों के विरुद्ध घोषणा कर दी कि **"वेद प्रभु की वाणी है, नित्य स्वतःप्रमाण है, इसमें किसी का इतिहास नहीं, अन्य सब शास्त्र वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं।"** कल्पनामात्र से नहीं, अपितु प्रमाण और तर्क के आधार पर।

ऋषि दयानन्द की इन धारणाओं का विशद निरूपण हमें उनकी **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में बहुत उत्तम रीति से मिलता है। वेदविषय का यह एक अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमें वेदविषय की सभी आवश्यक बातों का समावेश है, जो कि वेद का स्वाध्याय करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को जाननी चाहियें। इसको पढ़ने के पश्चात् ही उनके वेदभाष्य की प्रक्रिया ठीक तरह समझ में आ सकती है। यद्यपि इस वेदभाष्य का वास्तविक स्वरूप स्वयं पढ़ने पर ही बुद्धिगत होगा, तथापि हम ऋषिदयानन्दकृत भाष्य की कुछ विशेषतायें दर्शाते हैं, जिससे पाठकों को इस विषय का ज्ञान सुगमता से हो सके।

दयानन्द-भाष्य की विशेषतायें

(१) यह वेदभाष्य वेदापौरुषेयत्ववाद की धारणा के आधार पर है। इस वेदभाष्य में कहीं पर भी इस धारणा के विरुद्ध कुछ नहीं मिलेगा। वेद पूर्ण ब्रह्म जगदीश्वर द्वारा प्रदत्त होने से पूर्णज्ञान है, इसमें अज्ञान का लेश भी नहीं।

(२) इसमें लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद को ध्यान में रखकर यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि आदि ऋषि-मुनियों के आधार पर वेद के शब्दों के लिये समस्त वैदिक नियमों का आश्रयण किया गया है।

(३) वेद में आये नामशब्दों को धातुज मान कर (जैसा कि यास्क और पतञ्जलि का सिद्धान्त है) प्रकरणादि के आधार पर उनके सभी सम्भव अर्थों का निरूपण किया गया है। निर्वचनभेद से भिन्न-भिन्न अर्थों का निरूपण भी इसमें मिलता है।

(४) धातुओं के अनेकार्थत्व के सिद्धान्त को, जो सभी वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है, जिसको प्रायः सब वेदभाष्यकारों ने अपने भाष्यों में माना है, उसके आधार पर मन्त्रों के अर्थ किये गये हैं। दूसरे शब्दों में वेदों के शब्द यौगिक और योगरूढि हैं, रूढि नहीं, यह इस भाष्य की आधारशिला है।

(५) आध्यात्मिक-आधिदैविक और अधियज्ञादि तीनों प्रक्रियाओं के आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार दयानन्द-भाष्य के संस्कृतपदार्थ में प्रायः सभी प्रक्रियाओं में अर्थ दर्शाया गया है।

(६) अनेक स्थानों में वैदिक पदों के अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर किये गये हैं। जैसे य० १।१३॥

(७) 'अग्नि' शब्द से केवल भौतिक अग्नि का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु 'अग्नि' शब्द के निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक-आधिदैविक प्रक्रिया में परमेश्वर-विद्वान्-राजा-सभाध्यक्ष-नेतादि तथा विद्युत्-प्रकाश जठराग्नि आदि का भी ग्रहण होता है, इसी प्रकार वायु, आदित्य, इन्द्र, यम, रुद्र आदि शब्दों के विषय में भी समझना चाहिये। और ये इन्द्र-वरुण-मरुत्-अग्नि-वायु-मित्रादि शब्द जहाँ भौतिक पदार्थों के नाम हैं, वहाँ मुख्यवृत्ति से ईश्वर के वाची हैं। यह प्रक्रिया सारे भाष्य में बराबर मिलेगी, सबसे बड़ा और मौलिक भेद दूसरे भाष्यों से इस भाष्य में यही है। यही इसका मूलाधारभूत वाद वा सिद्धान्त है, जिसको लक्ष्य में रख कर इस भाष्य की रचना हुई है।

(८) इसमें **"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे"** (वै० ६।१।१) अर्थात् वेद में कोई बात तर्क के विरुद्ध नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेदमन्त्रों का अर्थ किया गया है।

(९) यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि आदि के दर्शाये नियमानुसार अनेक स्थानों में प्राचीन कहे जानेवाले पदपाठों से भिन्न पदविभाग भी इस वेद-भाष्य में दर्शाये गये हैं। **"यथाभिमतदृष्टयो व्याख्यातॄणाम्"** अर्थात् व्याख्या करनेवालों की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ होती हैं। **'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'** (महाभाष्य ३।१।१०९)

अर्थात् पदकारों के पीछे सूत्रकार नहीं चलेंगे, अपितु पदकारों को व्याकरण के पीछे चलना होगा। अतः इस भाष्य में व्याकरणानुसार पदकारों से भिन्न पदविभाग भी माना गया है। वेद में अर्थ के पीछे स्वर है, न कि स्वर के पीछे अर्थ। स्वर के अनुसार ही अर्थ हो, इसमें वेद बन्धा[1] हुआ नहीं, अपितु अर्थ के अनुसार भी स्वर वेद में हो सकता है, यह नियम है। जिसको न समझ कर, प्राचीन परम्परा से अनभिज्ञ वा न पढ़े होने के कारण व्याकरणादि शास्त्रों का मर्म न जाननेवाले, विद्वान् समझे जानेवाले व्यक्ति भ्रान्त देखे जाते हैं।

(१०) काव्य के अङ्गभूत श्लेषादि अलङ्कारों[2] का प्रायः उपयोग इस वैदिक काव्य में सर्वप्रथम आचार्य दयानन्द ने ही अपने भाष्य में किया है, और इन अलङ्कारों के द्वारा अर्थों में बहुविध वैचित्र्य दर्शाया है।

(११) वेद में अनित्य (अर्थात् व्यक्ति-जाति-देश-विशेषों का) इतिहास नहीं, अपितु उसमें प्रकृति के औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन हैं, ऐसा निरूपण किया गया है। जिसमें कि आज तक की परम्परा साक्षी है, जो पृ० १०७ पर पूर्व भी दर्शा चुके हैं, कुछ आगे भी दर्शायेंगे। तदनुसार इन्द्र-कण्व-अङ्गिरा आदि किन्हीं व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं हैं।

(१२) इस भाष्य में 'देवता' को मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय माना है तथा इन्द्र-मित्र-वरुणादि सब देवतावाची शब्द उसी एक महान् आत्मा परब्रह्म जगदीश्वर की विभूतियों के वाचक हैं (जैसा कि निरु० ७।४ में माना है)। ऐसा मानकर यौगिकवाद के आधार पर उनके अर्थ दर्शाये हैं। सर्वानुक्रमणी से भिन्न भी कहीं-कहीं वाच्यार्थ को देवता मानकर मन्त्रों की व्याख्या की गई है।

(१३) इस भाष्य में मन्त्रों के छन्द भी प्रायः अनुक्रमण्युक्त छन्दों से भिन्न दर्शाये हैं। यह छन्दोभेद भी प्राचीन आर्षपद्धति के मौलिक सिद्धान्त के अनुसार है। ऋषि दयानन्द ने मन्त्रों के छन्द पिङ्गल-छन्दःसूत्र के आधार पर दिये हैं, यह हम आगे छन्दोवाद-प्रकरण में सप्रमाण दर्शायेंगे।

(१४) 'व्यत्यय' के सिद्धान्त को मानकर ही वेद के विषय में 'सर्व-

---

१. इसमें श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरणादि का ध्यान तो रखना ही होगा।

२. अलङ्कार को किसी-किसी आचार्य ने कहीं-कहीं माना है। तद्यथा—

"कक्षीवान् सोमाभिषवकर्त्ता तमिव, लुप्तोपमानमेतत्।"

नीतिमंजरी भाष्य पृ० १६।

ज्ञानमयो हि सः', यह बात ठीक-ठीक प्रमाणित हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस सिद्धान्त का बहुत ही सुन्दर सप्रमाण-हृदयग्राही उपयोग इस भाष्य में मिलता है।

(१५) **'वाक्यं हि वक्तुरधीनम्'** के अनुसार मन्त्र के पदों को अन्वय में सम्बद्ध करके अर्थ किया गया है।

(१६) 'यज्ञ' आदि शब्दों से त्रिविध आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक यज्ञों का अर्थ लिया गया है। केवल भौतिक यज्ञ को लेकर तो आचार्य दयानन्द का भाष्य समझ में ही नहीं आ सकता। दूसरे शब्दों में समस्त शुभ कर्मों का नाम यज्ञ है **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"**[1] (श० १।७।१।५), न कि हवनकुण्ड में आहुति डाल देने मात्र का नाम, यह बात समझकर ही इस भाष्य को पढ़ना होगा।

(१७) पिङ्गल-छन्दःसूत्रानुसार प्रत्येक मन्त्र के[2] षड्जादि स्वर भी इस भाष्य में दर्शाये गये हैं।

(१८) वेद सर्वतन्त्रसिद्धान्त अर्थात् सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन करता है, यह बात इस भाष्य से स्पष्ट विदित होती है।

(१९) दयानन्दभाष्य में नैरुक्त शैली के अनुसार अनेक ऐसे शब्दों के निर्वचन मिलते हैं, जिनके निर्वचन निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होते।

(२०) दयानन्दभाष्य की सबसे बड़ी और अन्तिम विशेषता यह है

---

१. पूर्व पृ० ९३ पं० १६ में भी यह उद्धरण है। कोई-कोई कहते हैं कि इस प्रकरण से तो यह सिद्ध हुआ कि श्रेष्ठतम कर्मों का नाम यज्ञ है। देवपूजा-सङ्गतिकरण और दान में तो समस्त श्रेष्ठ कर्म नहीं आ जाते। इसमें हमारा यह कहना है कि समस्त श्रेष्ठतम कर्म इन तीन विभागों में अवश्य आ जाते हैं। ब्राह्मणकार को यही अभिप्रेत है। सब श्रेष्ठ कर्म नहीं तो श्रेष्ठतमकर्म तो आ ही जायेंगे। 'तमप्' प्रत्यय का यही सार्थकत्व है।

२. देखें 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पृ० ३६२—**"प्रतिछन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते। कुतः ? इदानीं यच्छन्दान्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहारासिद्धेः"**।

अर्थात्—"जिस मन्त्र का जो(षड्जादि)स्वर है, उस को वैसा बोलना चाहिये। यह परम्परा नष्ट हो चुकी है। इसीलिये हम लिख रहे हैं"। ऐसा ऋषि दयानन्द कहते हैं।

कि उसमें नैरुक्त शैली के अनुसार संस्कृतपदार्थ[1] मन्त्रगत पदों के क्रम से रक्खा गया है और उसमें यत्र तत्र मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थों को लक्ष्य में रखकर निर्वचन तथा अर्थ दर्शाया गया है, जो अन्वय में नहीं हो सकता था। अन्वय को संस्कृतपदार्थ का एक अंश समझना चाहिये। और इस संस्कृत अन्वय का ही भाषार्थ किया गया है, जो भाषा करनेवालों से ठीक-ठीक पूरा हो भी नहीं सका। इस वेदभाष्य की इस विशेषता को न समझ कर बहुत से सज्जन घबराने लगते हैं। इसका प्रकार समझ लेने से फिर कोई कठिनाई नहीं रहती। दयानन्दभाष्य की इन विशेषताओं की मूलभूत मुख्य-मुख्य सभी धारणाओं के लिये क्या आधार है, इसका विशद पर अतिसंक्षेप से निरूपण हम आगे करेंगे।

यहाँ पर हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं (जैसा कि हम पृ० ११३-११५ पर विशद निरूपण कर चुके हैं) कि जितना भी कोई विद्वान् विद्या के भिन्न-भिन्न अङ्गों का ज्ञाता तथा योगादि दिव्यशक्तिसम्पन्न होगा, उतना ही उसको वेदार्थ का भान अधिक उत्कृष्ट होगा।

वेदार्थ और यौगिकवाद

अब हम वैदिकप्रक्रिया के मुख्य-मुख्य वादों पर प्रकाश डालना चाहते हैं, ताकि वेदार्थविषय की अनेक ग्रन्थियाँ सुलझ सकें।

लौकिक और वैदिक शब्दों तथा उनके कोशों में भेद

लौकिक और वैदिक शब्दों के अर्थ में भेद होता है। लौकिक और वैदिक

---

१. विदित रहे कि यजुर्वेदभाष्य ५।२२ से ६।६ तक २७ मन्त्रों में आचार्य ने संस्कृतपदार्थ के पदों में यत्र तत्र अध्याहार करके अर्थ किया है। इसे हम निर्देश-मात्र समझते हैं, क्योंकि अध्याहारयुक्त अर्थ करना भी दोषावह तो है नहीं। अध्याहार को निरु० १२।२८ तथा ५।१६ में माना है। निरुक्त के टीकाकार तो सर्वत्र अध्याहार के सिद्धान्त को मानते ही हैं। ऋषि दयानन्द ने जब अन्वय को अध्याहारसहित सर्वत्र दर्शा दिया, तब उन्होंने सर्वत्र भाष्य में संस्कृत पदार्थ में अध्याहार नहीं दिखाया, उस अवस्था में अध्याहार दिखाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यह वास्तविक स्थिति है।

रही उपर्युक्त २७ मन्त्रों में ही अध्याहार दिखाने की बात, इसे हम निर्देश-मात्र कह सकते हैं अर्थात् अध्याहारयुक्त दिखाना भी ठीक है, उसे दोषावह नहीं कहा जा सकता। पठनार्थियों की दृष्टि से तथा अधिक लाभ की दृष्टि से संस्कृत-पदार्थ और अन्वय को पृथक्-पृथक् दर्शाना आचार्य ने अधिक लाभकर समझा, ऐसा हमारा विचार है।

शब्दों का भेद महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य के आरम्भ में दर्शाया है कि—"**केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च**" (महाभा० पस्पशाह्निक)। आगे "**नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्च**" (महाभाष्य अ० ३।३।१) यह कह कर लौकिक और वैदिक शब्द भिन्न-भिन्न हैं, यह बतलाया तथा नैगम अर्थात् वेद के शब्द रूढि नहीं होते, यह भी दर्शाया। इस भेद को न समझ कर बहुत से साधारण लोगों को या आर्षग्रन्थों की परिपाटी न समझनेवालों को भ्रम होता है। देखिये ! वैदिक निघण्टु में 'कण्व' मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् का नाम है। साधारण लोग 'कण्व' ऋषि का नाम समझने लगते हैं। 'अहि' निघण्टु में 'मेघ' को कहते हैं। 'पुरीष' निघण्टु में जल का नाम है। लौकिक कोशों में 'अहि' साँप को तथा 'पुरीष' मल को कहते हैं। निघण्टु में कण्व, वेन, उशिक्, गृत्स इत्यादि जो लोक में संज्ञावाची शब्द हैं, इनको मेधावी नामों में पढ़ा है। 'कुरवः' ऋत्विक् नामों में है, कुरुवंश वाला नहीं। 'अपः' कर्मनामों में पढ़ा है, लोक में जल का नाम है, नश् धातु वेद में व्याप्ति अर्थ वाला है, और लोक में अदर्शन होने अर्थ में।

यह सब क्यों ? यह इसलिये कि लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद होता है। जो व्यक्ति वेद के शब्दों के अर्थ इन लौकिक कोशों के आधार पर समझेंगे, उन्हें वेद का अर्थ तीन काल में भी समझ में नहीं आ सकता। इसलिये आचार्य दयानन्द ने जब 'अग्नि' शब्द का अर्थ परमात्मा किया, तो उस समय के बड़े-बड़े पण्डित माने जानेवाले विद्वान् भी एक दम चौंक पड़े कि 'अग्नि' का अर्थ भला सिवाय आग के कुछ हो सकता है!!! (देखो भ्रान्तिनिवारण, पृ० ६ तथा १३ पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न की शङ्का)।

हमारे उपर्युक्त उदाहरणों से एक साधारण पढ़ा लिखा भी भलीभाँति समझ सकता है कि वेद के शब्दों के अर्थ लौकिक कोशों के आधार पर कदापि नहीं समझे जा सकते। वास्तविक प्राचीन भाषाविज्ञान तो वह है, जो कि यास्क के निघण्टु और निरुक्त से ज्ञात होता है। वेद के शब्दों के व्यापक अर्थ की लचक वा उनकी व्यापकता को इन लौकिक कोशों ने कहाँ तक नष्ट कर दिया, यह समझा जा सकता है। वास्तव में लौकिक कोश लोक के लिये हैं, वेद के लिये नहीं, वेद के लिये उनको समझना ही नितान्त मौलिक भूल है।

'नाम सब धातुज हैं'—ऋषियों का सिद्धान्त

विचारने की बात है कि यास्क (निरु० १।१२ में) सब नामवाची पदों को आख्यातज कहता है। यही बात पतञ्जलि ने—**"नाम च[1] धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्"** (अ० ३।३।१ महाभाष्य) कही है। जब 'नाम' सब धातुज (यौगिक) हैं, अर्थात् धातु से उनकी उत्पत्ति होती है, तो जिस धातु से उनकी निरुक्ति हुई, उस धातु के अर्थ को तो वे शब्द अवश्य ही कहेंगे। उधर **"बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति"** (अ० १।३।१ महाभाष्य) महाभाष्यकार के इस सिद्धान्तानुसार एक-एक शब्द का कितना व्यापक अर्थ होगा, यह स्वयं समझने की बात है। धातुओं के अनेकार्थत्व को समस्त वैयाकरणों तथा सब प्राचीन वेदभाष्यकारों ने माना है, जो हम आगे विस्तार से लिखेंगे। अनेक धातुओं से भी एक शब्द की व्युत्पत्ति करने का सिद्धान्त यास्क ने माना है। विदित रहे कि यह नियम ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है (शत० १४।८।४।१)। यास्क ने निर्वचन करने के १०, १२ प्रकार बतलाये हैं। इनसे यही सिद्ध होता है कि यास्क के काल तक वैदिक शब्दों के अर्थों की व्यापकता बराबर मानी जाती रही। सम्पूर्ण निरुक्त का अभिप्राय ही हम तो अर्थों की व्यापकता का निरूपण करना समझते हैं। यदि निरुक्त कोशमात्र होता, तो शब्दों के वाच्यार्थमात्र बतलाता, जैसा कि अन्य कोश बतलाते हैं। हर एक पद के निर्वचन बताने का काम ही क्या था? भाषाविज्ञान का यह परमप्रतिपादक ग्रन्थ है, ऐसा समझना चाहिये, और सच्चा भाषाविज्ञान यही है।[2] यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि शब्द का निर्वचन व्याकरण बताता है। शब्द के पर्याय कोश बताता है। 'अर्थ को लक्ष्य में रखकर निर्वचन करना निरुक्त का विषय है। यह मर्म की बात है, जिसे प्रायः विद्वान् नहीं जानते, विशेषकर अंग्रजी ढंग से नाममात्र संस्कृत पढ़े लिखे पी० एच० डी० वा डी० लिट्० स्कालरों की समझ में नहीं आता, कारण यह कि उनके गुरुओं (पाश्चात्य स्कालरों) की समझ में भी नहीं आता।

---

१. प्लेटो को केवल 'नाम' और 'आख्यात' का ही ज्ञान था। जैनोडोरास सर्वनाम का ज्ञान रखता था। अरिस्टार्क्स को उपसर्ग का ज्ञान हुआ। यूनान में इस विषय का क्रमशः ज्ञान हुआ। पाणिनि को इन सबका ज्ञान था, जैसा कि यास्क को भी था, पूर्व ऋषियों को भी रहा ही होगा।

२. इसका विवेचन पूर्व पृ० १०५-१०७ तथा आगे 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण में भी देखें।

यौगिकवाद में शैथिल्य क्यों आया ?

धातुओं की अनेकार्थता और नामवाची पदों को धातुज मानने से अर्थ समझनेवालों को अपनी अयोग्यता या प्रमाद के कारण कठिनाई पड़ने लगी। **'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे'** (निरु० १।२०) यास्क के इस वचन का भी इसी बात की ओर सङ्केत है। तब अर्थों के संकोच की आवश्यकता हुई, क्योंकि व्यापक अर्थ धारण करने वा सम्भालने की सामर्थ्य न रही। उदाहरणार्थ हमने बहुत से सज्जनों को देखा है, जो हमें कहने लगते हैं—'मन्त्र का एक अर्थ बतादो, या करदो, उस मन्त्र के अनेक अर्थ हों या न हों, इसकी हमें कोई आवश्यकता नहीं', यही अवस्था उस समय रही होगी, तब लोग शब्दों के धातु से उत्पन्न होनेवाले अनेक अर्थों से तङ्ग होकर ग्लानि करने लगे होंगे, और संकुचित अर्थों के लिये प्रबल इच्छा उत्पन्न होने लगी होगी, ऐसा अनुमान होता है। इस प्रकार शनैः-शनैः यौगिकवाद का प्रकाश संसार की दृष्टि से ओझल होता गया।

अब हम इस यौगिकवाद पर अतिसंक्षेप से विचार करते हैं—

(१) वेद और यौगिकवाद—

सबसे पूर्व हमें वेद से ही देखना होगा कि वह इस विषय में क्या कहता है। यदि हमें वेद से ही पता लग जावे कि ऋ० १।१२।६ में 'अग्नि' को कवि, गृहपति, युवा कहा गया है, तथा ऋ० २।२८।१ में 'आदित्य' को कवि कहा गया है। ऋ० १।४८।४ में **"कण्व एषां कण्वतमः"** में 'कण्व' को स्पष्ट ही विशेषणवाची माना है। ऋ० १।८४।१ में **'मरुतः नृतमासः'** में मरुत् मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य ही कहे गये हैं। इन्द्र को ऋ० १।८४।२० में **'मानुषः'**, ऋ० ५।३४।६ में **"विश्वस्य दमिता"**, ऋ० १। १००।७ में **'विश्वस्य ईशे'**। इन से इन्द्र, मनुष्य कहने से विद्वान् तथा परमेश्वर का नाम वेद ने बताया, क्योंकि 'मानुष' 'इन्द्र' मनुष्य ही तो होना चाहिये, सबका स्वामी होने से परमेश्वर। ऋ० ७।७९।३ में **'इन्द्रतमा'** शब्द उपलब्ध होता है, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि 'इन्द्र' शब्द विशेषणवाची है। वाच्य और वाचक का यह सम्बन्ध कितना सुस्पष्ट है। इसमें सन्देह का लेशमात्र भी नहीं रह जाता। तब ये सब अर्थ 'अग्नि', 'इन्द्र' आदि के धातुज होने से ही तो हो सकते हैं। "नान्यः पन्था विद्यते" और कोई मार्ग हो ही नहीं सकता। यहाँ पर यह विदित रहे कि हम

इन्द्रादि को विशेषण या यौगिक अर्थ में न लेनेवालों के लिये निदर्शन दे रहे हैं, वैसे तो यौगिक प्रक्रिया के अनुसार-विशेषण विशेष्य नामादि सबका निरुक्ति वा निर्वचन के अनुसार अर्थ होगा।

यदि कोई कहे कि वेद ने धातु के योग से शब्दों का अर्थ होना माना हो यह बात नहीं, तो हम दुर्जनसन्तोषन्याय से स्वयं वेद से ही दर्शाते हैं—

ऋ० ८।६६।४ में **"च्यवनमच्युतानाम्"**, ऋ० ८।५।३१ में **"[1]अश्नन्तावश्विनौ"** लिखा है। इनसे स्पष्ट है कि निरुक्ति करने का प्रकार स्वयं वेदमन्त्र ही दर्शा रहे हैं।

ऋ० १।८९।१० में—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता[2] स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।

इस मन्त्र में 'स पिता स पुत्रः' वही पिता वही पुत्र कहा है। भला वही पिता वही पुत्र कभी हो सकता है।

इस मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद—"Aditi is the Mother and the Sire and Son." (यजुः० २५।२३ ग्रिफिथानुवाद)। यहाँ इन्होंने Sire से Father अर्थ लिया है। अन्यथा Mother का अर्थ भी कुछ और कर सकते थे।

'पिता' का अर्थ है पालन करनेवाला, जैसा कि निरु० ४।२१ में **"पिता पाता वा पालयिता वा"** तथा 'पुत्र' का अर्थ है पवित्र करनेवाला, जैसा कि निरु० २।११ में **"पुत्रः पुरु त्रायते···पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा"** लिखा है। मनुस्मृति (२।१५३) में भी **"पिता भवति मन्त्रदः"** वेद के उपदेश करनेवाले को पिता कहा है। ऋग्वेद १।१६४।४६ में अग्नि के

---

१. 'यद्वा अश्नवन्तौ व्याप्नुवन्तौ, अशू व्याप्तौ, अस्माद् व्यत्ययेन परस्मैपदं च' (ऋ० ८।५।३१ सा० भा०)।

२. श० ६।१।२।२६ 'स एष प्रजापतिः। पिता पुत्रः। यदेषो (प्रजापतिः) ऽग्निमसृजत, तेनैषोऽग्नेः पिता। यदेतमग्निः समादधत् तेनैतस्याग्निः पिता। यदेष देवानसृजत् तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवाः समादधुः तेनास्य देवाः पितरः'।

(ii) दुर्ग निरु० टी० पृ० ५५६ वेङ्कटे० सं०। (iii) नित्यपक्षः प्रकृतिरुच्यते। निरुक्तसमुच्चय पृ० ८।

इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नाम कहे हैं, जो विना यौगिकवाद के बन नहीं सकते। उक्त मन्त्र और उसकी यास्कीय व्याख्या (निरु० ७।१८) निम्न प्रकार है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

"इममेवाग्निं महान्तं [च] आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं···गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा"। यहाँ स्पष्ट ही निरुक्तकार ने इन्द्र-मित्र-वरुणादि 'अग्नि' के नाम बताये हैं। इस मन्त्र में 'अग्नि' पद दो बार आने से विशेष्यवाची स्पष्ट है, और शेष इन्द्रादि उसके विशेषण हैं।

आत्मानन्द अपने अस्यवामीयसूक्त के भाष्य पृ० ५४ में इसी के व्याख्यान में लिखता है।

"एकैव देवता परमात्मा सर्वदेवता। एकस्यैव नानानामग्रहणी ··· इन्द्रं परेशमाहुः···मित्रं परेशमाहुः·· वरुणं परेशमाहुः···अग्निं परेशमाहुः त्वमग्ने रुद्र इत्यादौ···इदानीमग्निं परेशमाहुः"। ठीक इसी प्रकार से आचार्य दयानन्द ने अपने भाष्य में माना है।

(२) ब्राह्मणग्रन्थ और यौगिकवाद

ब्राह्मणग्रन्थों का यौगिकवाद के विषय में क्या मत है, इसको विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ तो निर्वचनों से भरे पड़े हैं। वे तो शब्दों की निरुक्ति द्वारा उनके अर्थ समझने की बात पदे-पदे कहते हैं—

(क) अश्विनाविमे हीदँ सर्वमश्नुवाताम् (श० ४।१।५।१६)।

(ख) अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च (बृहद्देवता ७। १२७)।

(ग) अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः (निरु० १२।१)।

क्या कहें, ब्राह्मणग्रन्थों ने तो मानो प्रत्येक शब्द की निरुक्ति के आधार पर अर्थ समझने की बात पदे-पदे कहने का व्रत ही ले लिया हो, ऐसा जान पड़ता है।

तद्यदक्षरात् तदक्षरम् श० ६।१।३।६।। श० ६।१।१।११।। में **'अग्नि'** शब्द की निरुक्ति दर्शाई। गो० पू० १।७ में **'अङ्गिराः'**, श० १।८।२।७ में **'अनुयाज'**, जै० उ० १।२०।४ में **'अन्तरिक्ष'**, श० १४।६।११।२ में **'इन्द्र'**, श० १०।१।१।५ में **'ग्रह'**, तै० २।२।९।९ में **'देव'**, ऐ० ब्रा० ३।१८ में **'धाय्या'**, गो० पू० १।२ में **'पुत्र'**, श० १४।५।५।१८ में **'पुरुष'**, गो० पू० १।३ में **'भृगु'**, श० ३।९।४।२३ में **'यज्ञ'**, इत्यादि असंख्य शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दर्शाकर उन उनके आधार पर अर्थ समझना चाहिये, यह स्पष्ट कहा है। सो ब्राह्मणग्रन्थ तो इस यौगिकवाद से परमप्रतिपादक हैं[1]।

(३) निरुक्त और यौगिकवाद

(i) निरु० १।१२—**"तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च"** में यास्क सब नामवाची शब्दों को धातुज (प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न) मानता है, और सब नैरुक्तों का भी यही सिद्धान्त है, यह कहता है।

निरुक्त तो है ही इसीलिये, इसमें तो जितनी व्युत्पत्तियाँ दर्शाई गई हैं, वे सब इसीलिये हैं कि उन-उन शब्दों की निरुक्तियों को ले लेकर तत्तत् शब्दों का अर्थ होता है, क्योंकि ये निर्वचन अर्थ को लक्ष्य में रख कर ही किये गये हैं।

इस विषय में यास्क तथा अन्य सब नैरुक्ताचार्यों का भी यही सिद्धान्त है। देखिये यास्कीय निरुक्त—**"इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव"** निरु० ४। १३, **"मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव (समुद्गीर्णो भवतीति)"** निरु० १।२०।। ऐसे वचनों से भरा पड़ा है। **'एतस्मादेव'** क्यों कहा, यह दर्शाने को कि लोक में प्रसिद्ध शिर आदि शब्द उस लचकीले (व्यापक) अर्थ को दर्शाने

---

१. जो लोग यह समझते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों में जो **'यज्ञो वै वसुः'** **'यज्ञ एव सविता'** आदि वचन आते हैं, वे उन शब्दों के अर्थों को नहीं कहते, अपितु औपचारिक गौणीवृत्ति से अर्थ को बताते हैं, उनका यह कथन ठीक नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में आये 'वा' 'वै' आदि शब्द सायण तथा दुर्ग के मत में स्पष्ट अर्थ के बोधक हैं—

(क) **"वसुशब्दार्थमाह यज्ञो वा वसुः"** शत० सायणभाष्य भा० १ पृ० २४६।

(ख) **"यज्ञशब्देन च विष्णुरुच्यते, विष्णुर्वै यज्ञ इति ह विज्ञायते"**। दुर्गटीका पृ० ५५१।

वाली व्युत्पत्ति के एक अंश हैं, जो वेद में व्यापकरूप में थी, पर लोक में जाकर सीमित वा संकुचित हो गई। यास्क के सामने तो, **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** अर्थ की प्रधानता[1] को लेकर शब्दों का निर्वचन करना चाहिये, यह सिद्धान्त था। अनेक प्रकार से अर्थ की प्रतीति होने के कारण अनेक[2] व्युत्पत्तियाँ दर्शाईं।

निरुक्त में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यास्क ने अपने निघण्टु (२।१) में २६ 'कर्म' नाम गिनाये हैं, उधर निरु० २।९ में **"चित्तिभिः कर्मभिः"** ऐसा लिखा है। निघण्टु में 'चित्ति' शब्द कर्मनामों में नहीं पढ़ा और निरुक्त में उसका अर्थ 'कर्म' किया गया है। इसी प्रकार निरुक्तटीका पृ० ५२६ में **"बिठम् अन्तरिक्षम्, अपठितमन्तरिक्षनाम"** तथा पृ० ४०७ पर **"तूर्णाशमुदकम्, अपठितं चैतदुदकनामसु"** ऐसा दुर्गाचार्य ने लिखा है। इसी प्रकार स्कन्द स्वामी ने भी निरु० टीका ६।१८ पृ० ४५७ में **"स्वक्षत्रम् इत्यपठितमपीह बलनाम द्रष्टव्यम्"**, तथा निरु० टीका २।१ भा० २ पृ० ६९ में **"पञ्चदश तानि पठ्यन्ते अपठितान्यपि द्रष्टव्यानि"** लिखा है।

---

१. इस विषय में पूर्व पृ० ११५, पृ० १४५ पं० २२, तथा आगे 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण में देखें।

२. कई लोग निरुक्त में अनेक धातुओं से शब्द की व्युत्पत्ति और उसके साथ 'वा' शब्द का प्रयोग देखकर यह समझते हैं कि निरुक्तकार के समय तक शब्द का असली अर्थ नष्ट हो चुका था। इसीलिये सन्देह के कारण उन्होंने अनेक धातुओं से निर्वचन दिखलाया, और अपने सन्देह को स्पष्ट करने के लिये 'वा' शब्द का प्रयोग किया। यह कथन ठीक नहीं है। भला विचारने की बात है कि सम्पूर्ण निरुक्त में जहाँ अनेक व्युत्पत्तियाँ दिखाईं वहाँ कोई भी ऐसी व्युत्पत्ति नहीं, जिसमें 'वा' शब्द का प्रयोग न किया गया हो। यदि ग्रन्थकार को किसी भी शब्द के अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं था, तो भला वह ग्रन्थ लिखने क्यों बैठता? इसलिये मानना पड़ेगा कि निरुक्तकार ने सन्देह के कारण अनेक धातुओं से निर्वचन नहीं दर्शाया। ऐसे लोगों को निरुक्तकार की प्रक्रिया समझने में ही सन्देह है, न कि निरुक्तकार को सन्देह है। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' इसको लक्ष्य में रख कर जितनी धातुओं से उस अर्थ की प्रतीति हो सकती थी, उतनी भिन्न-भिन्न धातुओं से निर्वचन किये। 'वा' कहने का अभिप्राय यह है कि जितनी निरुक्तियाँ दिखाई गईं, उनसे अतिरिक्त भी निरुक्ति की जा सकती है। (इस विषय में विशेष विवेचन श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' पृ० २०-३४ में देखें)।

इन सब से स्पष्ट है कि यास्क के पढ़े निघण्टु में तत्तत् शब्दों के वाचक नाम निर्देशमात्र हैं। यह बात भी यौगिकवाद की व्यापकता को ही दर्शाती है। इससे यास्क के काल तक वेद के शब्दों की व्यापकता बराबर रही, यही कहना पड़ता है।

(४) पतञ्जलि और यौगिकवाद

यही बात पतञ्जलि भी मानते हैं—

(i) **"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।··· नैगमरूढिभवं हि सुसाधु"**। महाभाष्य ३।३।१॥ यह बात हम ऊपर लिख चुके, इस प्रकरण में पुनः लिख रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि यास्क और पतञ्जलि यौगिकवाद के परम प्रतिपादक हैं।

(ii) महाभाष्यकार ने **"भोगैः"** का **"शरीरैः"** (अ० ५।१।९ में), **"सप्तसिन्धवः"** का **"सप्तविभक्तयः"** तथा **"सखायः"** का **"वैयाकरणाः"** अर्थ किया है। सो यह विना यौगिकवाद के हो ही कैसे सकता है! पस्पशाह्निक में **'सत्यदेवः'** पर लिखते हुए नागेश लिखता है—**"यौगिकोऽयम्"** इत्यादि, पृ० ४६।

(५) भर्तृहरि और यौगिकवाद

वाक्यपदीय २।१७५ में भर्तृहरि कहता है—

"कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः। गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्।

गिरति गर्जति गदति इत्येवमादयः साधारणाः सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषास्तैस्तैराचार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः"। वाक्यपदीय टी० भा० २, पृ० ९२ लवपुरसंस्करण।

यहाँ पर भर्तृहरि व्युत्पत्ति के आधार पर शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं; यह दर्शा रहा है।

(६) मीमांसाभाष्य और यौगिकवाद

(क) **"विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते। निगमनिरुक्त व्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः। यथा सृण्येव···"**। मीमांसाभाष्य १।२।४१, पृ० १५६, १५७।

(ख) **शमयतीति शमिता, यौगिक एष शब्दः प्रकृतेष्वपि कल्पते।**
मीमांसा शा० भा० ३।७।२९॥ पृ० १०९३।

मीमांसकों के मत में वैदिक शब्द का अर्थ व्यापक होता है और वह यौगिकवाद के आधार पर होता है।

(७) निरुक्त के टीकाकार स्कन्द-दुर्ग और यौगिकवाद

यास्क के अभिप्राय को उसके टीकाकार दुर्ग और स्कन्द ने भी ऐसा ही समझा है। देखो निरु० टी० भा० १, पृष्ठ ९२—

(क) "एवमेतत् सर्वनाम्नामाख्यातजत्वं प्रतिपादितम्। तत् किमर्थम्? उच्यते—अर्थान्तरे यो रूढिशब्दस्तस्यार्थान्तरे प्रयोगः······रूढ्यर्थस्याभावात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम्"।

अर्थात्—नामों को धातुज मानने का कारण यह है कि प्रकृति-प्रत्यय के योग के आधार पर शब्द अपने व्यापक अर्थ को कह सके, रूढि अर्थ तक ही न रह जावे।

(ख) "स्त्रीशब्दोऽत्र क्रियानिमित्तस्त्रातुर्वाचकः, पुंशब्दोऽपि पुरुमनसः" निरु० स्कन्द टी० ५।१।। पृ० २८६। **तथाप्यस्य तत्र तत्र मन्त्रवाक्यार्थसमवायसम्भवादभिधेयं निश्चित्य······"**। निरु० टी० २।५।। पृ० ४२।

अर्थात्—क्रिया के निमित्त से शब्दों के वाच्यवाचक सम्बन्ध का निश्चय होता है, इत्यादि।

(ग) दुर्गाचार्य निरु० १।१४, पृ० ६४ पर—

"स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति कांचिदेव क्रियामङ्गीकृत्यावस्थितिर्भवति। अथवा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात्, यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयप्रतिलम्भो भवतीत्ययं समाधिः"।

अर्थात्—क्रिया वा प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर शब्दों का वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है इत्यादि।

(घ) "आत्मवित्पक्षे तु सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति सर्वावस्थमात्मानं सर्वाभिधानव्युत्पत्तितो निरुच्य यथार्थतः परिज्ञाय सर्वात्मन आत्मनः सर्वावस्थं विभूतितादभाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनमिति"। निरु० दुर्ग टी० पृ० ५९१।

अर्थात्—सब पदों की व्युत्पत्ति दर्शाने का प्रयोजन यह है कि आत्मवित् पक्ष में सब अभिधान अभिधेय सम्बन्ध आत्मा में अन्वित हो सकें, इत्यादि।

(ङ) "अनेकैर्नामभिरङ्गुलय एवोक्ताः, अनेकक्रियाशक्त्युपप्रदर्शनाय" निरु० दुर्ग० टी० ३।९।। पृ० १९४।

(च) "अनुपक्षीणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दा यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधाने विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रकुर्वन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति" ।। निरु० दुर्ग० टी० १।२०।। पृ० ९४।

इन उपर्युक्त उदाहरणों में स्कन्द सब शब्दों को धातुज मानकर उन के क्रियानिमित्त को लेकर अर्थ का बोध करना चाहिये, यह कहता है। दुर्ग भी कह रहा है कि अनेक निर्वचनों का अभिप्राय अनेकार्थता का बोध कराना है और वेद के शब्दों से अर्थ समझनेवाला व्यक्ति जितना योग्य होगा, उतना ही अधिक वेद के शब्दों का अर्थ समझ सकेगा। (देखो दुर्ग-टीका पृ० १२६)।

(८) निरुक्तसमुच्चय[1] और यौगिकवाद

"ब्रह्म, नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि।
नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः" ।। (पृ० २)

अर्थात्—नाम समान्यतया सब धातुज हैं, प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध को मानकर प्रयोग है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

(९) सायण से पूर्ववर्त्ती वेदभाष्यकार और यौगिकवाद

अब हम यहाँ कुछ ऐसे शब्दों का संग्रह अतिसंक्षेप से देंगे, जिनके तत्तद् भाष्यकारों के किये हुए अर्थ, विना यौगिकवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किये, कदापि नहीं हो सकते। "'अग्नि' 'वायु' आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा कभी नहीं हो सकता", ऐसा माननेवाले व्यक्ति भी हैं। (देखो भ्रान्तिनिवारण पृ० ६ पर पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न, प्रिंसिपल संस्कृतविभाग कलकत्ता यूनिवर्सिटी का लेख)। हमारे दर्शाये इन सब स्थलों को पाठक उन-उन भाष्यों में स्वयं निकाल कर भी देखें कि ये लोग भी यौगिकवाद के सिद्धान्त को नहीं छोड़ सके—

(क) स्कन्द के यौगिकवाद के कुछ और उदाहरण—

ब्रह्म=आदित्यः पूर्ववत् पृ० ७०। विष्णुः=परमात्मा भा० २ पृ० ५५। असुरः=प्राणवानुद्गाता पृ० १७२। सिन्धवः=रश्मयः भा० १ पृ०

---

१. इस विषय का विशद विवेचन 'धातुओं का अनेकार्थत्व और यौगिकवाद' प्रकरण के अन्त में देखें।

६६। ईश्वरम्=आदित्यम् भा० २ पृ० २००। सविता=यजमानः निरु० ११।४८। अदितिः=कारणं ब्रह्म पृ० २६४। शुना=वायुः पृ० २१४। मनः=विज्ञानम् भा० १ पृ० १०६ इत्यादि।

(ख) **दुर्गाचार्य** निरु० टी०—प्राज्ञश्चात्मा=परमात्मा पृ० ८५७। सुपर्णः=अग्निः पृ० ८४२। वरुणः=आदित्यः पृ० ८४१। वरुणः=विद्युत् ८५१। असुरः=प्रज्ञावान् पृ० ३६१, ७५३। असुरः=ब्रह्मा उद्गाता वा पृ० २२८। इन्द्रश्चाग्निश्च=ब्राह्मणश्च राजा च पृ० ४१७। सोमः=दुग्धम् पृ० ३५६। रश्मयः=स्त्रियः पृ० ३५६। रश्मयः=बहुप्रज्ञानाः पृ० ३५६। आपः=वाणी पृ० ४३८ इत्यादि।

(ग) **भट्टभास्कर**—तै० सं० भाष्य भाग १ पृ० २९६ पर—गावो=गन्तारो जनाः। पृ० १०४ पर यज्ञं=परमात्मानं विष्णुम्, ऐसा अर्थ करता है। तै० आ० भा० १ पृ० ६२ पर "वसवो रश्मयः" ऐसा अर्थ किया है।

(घ) **उवट**—यजुर्वेदभाष्य में—पिता=पाता (य० २।११)। इन्द्रः=यजमानः (य० ४।२७)। वरुणः=परब्रह्म। इसी प्रकार महीधर ने भी—सवितुः=परमेश्वरस्य (य० १०।६)। इन्द्रः=आत्मा (य० ६।२०) इत्यादि लिखा।

(ङ) **आत्मानन्द**—अस्यवामीय (ऋ० १।१६४) सूक्त भाष्य में—अग्ने=अग्रणीः परमात्मा पृ० ५४। सूर्यः=परमात्मा पृ० ३४। सोमः=जगदीश्वरः पृ० ४४। पुत्राः=अवयवाः अंशाः पृ० १४। स्वसारः=ज्ञानेन्द्रियाणि पृ० ७। अश्विभ्याम्=गुरुशिष्याभ्याम्[१] पृ० ३६।

(च) **जयतीर्थ** (ऋग्वेदभाष्ये)—इन्द्रः=परमेश्वरः पृ० २२। वायुः=परमेश्वरः, पृ० १३। अत्रिः=न विद्यन्ते त्रयो यासाम्, पृ० ३। श्वा=वायुः पृ० ३२।

(छ) **शत्रुघ्न**—यजुर्मञ्जरी में—अश्वः=पतिः पृ० ४०। इन्द्रः=परमेश्वरः आदित्यो वा पृ० १३३।

(ज) (i) **भरतस्वामी**—सामवेदभाष्य—देवाः=दाता पृष्ठ १०। अग्निः=रुद्रः पृ० १३। अत्रिणं=अदनशीलं पृ० १७, ६१। प्रियमेधाः=प्रिययज्ञाः पृ० १४३। तरुतारम्=गन्तृतमम्. हिंसितारम् पृ० १५१।

---

१. आचार्य दयानन्द ने अपने भाष्य में अनेक स्थलों में "अश्विनौ" का अर्थ 'गुरु शिष्य' तथा 'अध्यापकोपदेशक' किया है, जिसे मानने में अनेक व्यक्ति हिचकिचाते हैं।

(ii) "आध्यात्मिकत्वेन तावद् योज्यते पवित्रं सुखपावनं, ते तव। आत्मभूतं तेजः। परमात्माख्यं……" भरतस्वामिकृत सामवेदभाष्य मं० सं० ४०० ।

(झ) देवपाल—लौगाक्षिगृह्यसूत्रभाष्य में—इन्द्रः=परमेश्वरः पृष्ठ १६३, १८१, २२३। आदित्यः=परमेश्वरः पृ० २२८, ३४८। श्येनः= शंसनीयः पृ० २५६।

इन अर्थों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि विना यौगिक-वाद को माने उपर्युक्त अर्थ कदापि नहीं हो सकते।

एक शब्द के अनेकार्थों के उदाहरण—

अब हम यहाँ कुछ विशेष शब्दों की तालिका उपस्थित करते हैं, जिन में एक शब्द के भिन्न-भिन्न अनेक अर्थ तत्तद् आचार्यों ने अपने भाष्यों में किये हैं—

अग्निः=एष परमात्मा अग्निः(सायण अथर्वभा० २।१।४ पृ० १९६)
=ब्राह्मणः (श० १।४।२।२, सा० भा०)। जै० उ० ब्रा० पृ० १४०।
=विद्युत् (दुर्ग पृ० ३६३)।
=वेदः, सर्वज्ञः (सन्ध्याभाष्य पृ० १४, ५५, ६०)।
=परमेश्वरः (श्रीकण्ठ श्रीसूक्त भाष्य पृ० ३)।
=विष्णुः (राघवेन्द्र यति पृ० ८, २३)।
=सर्वगः सर्वविद्, नेता (भरतस्वामी ८ मन्त्रव्याख्याने पृ० ५)।
आपः=अप्शब्दो व्याप्तिवचनः, आप्नोतेः, नोदकवचनः (स्कन्द० ऋग्भा० १।९१।१)।
=परमात्मा (सन्ध्याभाष्य पृ० ४५, ४६, ४७, १६९, १७१)।
=धेनवः (शां० ब्रा० १२।१-३)।
=बहुवचनान्तोऽप्शब्दोऽन्तरिक्षनामसु पठितः (स्कन्दभा० ऋ० १। ५२।१२)।
=आपो वृत्तयः, अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिषु (सायण अथर्वभा० ४।३०।७)।
=दुग्धम् (शत्रुघ्न पृ० १८४)।
इन्द्रः=वायुः (दुर्ग पृ० ७१०)।
=आदित्यः, ईश्वरश्च। (स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ३३४)।
=सूर्यः परमेश्वरः (शत्रुघ्न पृ० ९०, १३३)।
=परमेश्वरः (जयतीर्थ पृ० २२)।

=परमात्मा (सा० ऋग्भाष्य भाग १ पृ० ५९, बम्बई संस्करण)।
=परमैश्वर्यवान् मरुद्गण: (स्कन्द ऋग्भा० १।६।७)।
=परमेश्वर: (सायण ऋग्भा० १०।९२।८)।

इन्द्रम्=परमैश्वर्यापेक्षं देवं, वणिजम्, वाणिज्यकर्त्तारम् (सायण अथर्व० भा० ३।१५।१)।
=इन्धं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते (बृह० उप० ४।२।२)।
=परमेश्वर: (देवपाल पृ० १८१, २२३)।
=ईश्वर: (तै० आ० भट्टभास्कर पृ० १०२, १०३, २७४)।

रात्रि:=परमात्मा (सन्ध्याभाष्य पृ० ४२, १५३)।

सविता=अग्नि:, वरुण:, वायु:, यज्ञ:, स्तनयित्नु:, आदित्य:, चन्द्र:, मन:, पुरुष:। (जै० उप० ब्रा० पृ० १५२)।
=परमात्मा (सन्ध्याभाष्य पृ० ४२, १३५)।
=यजमाननामसु शाकपूणिना पठितम् (स्कन्द ऋग्भाष्य १।३४।१०॥ १।९५।७)।
='देवेन सवित्रा यजमानेन प्रसूते'······(शाबर भा० मी० ९।१।९)।

प्राण:=प्राणो ह्यग्नि: परमात्मा (मैत्र्युप० ६।९)।
=प्राणो अग्नि: परमात्मा (प्राणाग्निहोत्रोप० २)।

ये उपर्युक्त शब्द और इनके अर्थ हमने निदर्शनमात्र दिये हैं। ऐसे शब्दों का बहुतसा संग्रह हमारे पास है। पाठक स्वयं विचार करें कि जब लौकिक कोशों में इन शब्दों के ये अर्थ हैं नहीं, निघण्टु निरुक्त में भी पढ़े नहीं, तो इन अर्थों के बाचक कैसे हो सकते हैं, जब तक यौगिकवाद का आश्रय न लिया जावे। क्योंकि हमारे विचारानुसार तो निघण्टु-निरुक्त की प्रक्रियानुसार अर्थात् निर्वचन के आधार पर, ये सब अर्थ उपपन्न हैं। यह भी ध्यान रहे कि हमने जो अर्थ ऊपर दिखाये हैं, वे प्राय: सायण से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के दर्शाये अर्थ हैं।

(१०) सायणाचार्य और यौगिकवाद—

अब हम यहाँ सायण के ही कुछ स्थल उपस्थित करते हैं कि जिनसे यह कहा जा सकता है, कि सायणाचार्य स्वय भी यौगिकवाद से बच नहीं सके—

अश्व:=व्यापनशील आदित्य: (ऋग्भाष्य १।१६४।२)। आदित्य:= परमेश्वर: (ऋ० भा० १।१६४।२१)। इन्द्र:=पर्जन्य: (ऋ० भा० १।

१६४।३३)। भ्राता=परोपकारकः (ऋ० भा० १।१७०।४)। वसिष्ठः =सर्वस्य वासयितृतमः (ऋ० भा० २।६।१)। रथः=यज्ञः (ऋ० भा० २।१८।१)। मनुष्यः=मनुष्येभ्यो हितः (ऋ० भा० २।१८।१)। बभ्रुः= भर्त्ता सर्वस्य (ऋ० भा० २।३३।५)। वाघवः=गन्तारः (ऋ० भा० १०।४६।६)। मनुः=मनुष्यो यष्टा माननीयो राजा वा (ऋ० भा० १०।५१।५)। इन्द्रस्य=परमेश्वरस्य परमात्मनः (ऋ० भा० १०।६२।८)। बृहस्पते=परमेश्वर (ऋ० भा० १०।१८।४)। इन्द्रतमा=सर्वस्येश्वर-तमा। अङ्गिरस्तमा=गन्तृतमा (ऋ० भा० ७।७६।३)।

उवट महीधर के उदाहरण भी हमने ऊपर दिये, वे इसलिये कि उवट महीधर आदि की गाड़ी भी यौगिकवाद के विना आगे नहीं बढ़ सकी। सायणादि की आत्मा में यौगिकवाद के स्वरूप का व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं था, यही कहना पड़ता है। जब किसी भी प्रकार ये लोग यौगिकवाद से बच नहीं सके (जैसा कि हमने ऊपर दर्शाया) तो स्वामी दयानन्द के लिये यह कहना कि 'अग्नि' 'वायु' 'आदित्य' 'सविता' आदि से परमेश्वर विद्वान् राजा आदि अर्थ कैसे लिये जा सकते हैं, यह अपनी अज्ञता ही प्रकट करना है। धन्य है दयानन्द की विमल मेधा को, जिसने सूक्ष्म दृष्टि से वेदार्थ के इस तत्त्व को पहिचाना और व्यावसायात्मक बुद्धि से वेदार्थ में प्रवृत्त हुये।

(११) ऋषि दयानन्द और यौगिकवाद—

ऋषि दयानन्द का भाष्य उठाकर देखें, उसमें आरम्भ में ही 'अग्नि' 'वायु' 'इन्द्र' 'सूर्य' 'रुद्र' 'सविता' आदि नामों से परमात्मा का सप्रमाण ग्रहण किया गया है। '**इन्द्रेण वायुना** ऋ० १।१४।१०" (य० १। १३ भाष्ये) में 'इन्द्र' को विशेष्य माना है। मूलवेद के इस उदाहरण से आचार्य दयानन्द ने विशेष्य-विशेषणभाव की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया है, जैसा कि हमने पूर्व वेद के उदाहरण दर्शाये हैं। इस विशेष्य-विशेषण-भाव के विषय में स्कन्द लिखता है—

"**अध्वरशब्दोऽयं यज्ञमित्यनेन पौनरुक्त्यान्न यज्ञनाम, किन्तर्हि विशेषणम्**"। स्कन्द ऋग्भा० १।१।४॥

"**विशेष्यविशेषणभावे कामचारः**" ॥ छलारी टी० २।४१॥

इस विशेष्यविशेषण भाव के विषय में इतना और समझना चाहिये कि "**विशेषणं विशेष्येण बहुलम्**" (अष्टा० २।१।५७) में महाभाष्यकार कहते हैं—"**विशेषणविशेष्ययोरुभयविशेषणत्वादुभयविशेष्यत्वादुपसर्जना-**

प्रसिद्धिः । तदुभयं विशेषणं भवत्युभयं च विशेष्यम्" अर्थात् जो विशेष्य है, वह विशेषण हो सकता है और जो विशेषण है वह विशेष्य हो सकता है। अन्त में यहाँ यह सिद्धान्त किया है कि जो द्रव्यवाची होगा, वह प्रधान होगा, जो गुणवाची वह अप्रधान। अब हमें—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥
ऋ० १।८९।१०॥

इस मन्त्र में[1] 'अदिति' को विशेष्य मानकर शेष सब गुणवाची अर्थात् विशेषण[2] मानने होंगे। इसी प्रकार—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋ० १।१६४।४६॥

इस मन्त्र में भी 'अग्नि' दो बार आने से विशेष्य है, शेष सब इसके विशेषण हैं।

(१२) विशेष्य-विशेषण वा यौगिकवाद—

एक ही मन्त्र में दो शब्द एकार्थवाचक आने पर एक विशेषण होगा, दूसरा विशेष्य। इससे यौगिकवाद स्वयं सिद्ध है, क्योंकि विशेषण बन नहीं सकता, जब तक धात्वर्थ के आधार पर व्युत्पत्ति करके उसे दूसरे शब्द का विशेषण न बनावें।

हमारा कहना यह है वेद में **'अदिति' 'अङ्गिराः' 'कण्व' 'इन्द्र'** आदि शब्द विशेष्य और विशेषण दोनों रूप से आते हैं। यह वेद की ही विशेषता है, लोक में यह व्यापकता नहीं रहीं।

इस विषय में वेद के अपने आन्तरिक प्रमाण हमने दर्शाये। थोड़ा सा इस विषय में और विचार कर लेना चाहिए। जैसे अध्वर और यज्ञ में

---

१. "नित्यपक्षेण प्रकृतिरुच्यते" निरुक्तसमुच्चय।

२. विदित रहे कि 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अन्त में, 'अदिति के ये सब अर्थ हैं' ऐसा कहा है, ऋ० १।८९।१० में 'अदिति = अविनाशी' विशेषण माना। सो यह दोनों ही प्रकार ठीक हैं। जब अर्थ मानेंगे तो उसमें हेतु निर्वचन के आधार पर ही हो सकेगा। जब विशेषण मानेंगे तब भी। दोनों अवस्थाओं में धात्वर्थ का आधार लेना ही पड़ता है, चाहे अर्थ मानें चाहे विशेषण मानें।

पुनरुक्ति दोष को हटाने के लिये विशेष्य-विशेषणभाव की कल्पना करनी पड़ती है, वहाँ इस प्रकार के उदाहरणों से वेद भरा पड़ा है। हम कुछ एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

उर्वी पृथिवी। ऋ० ६।४७।२०।। १।१८५।७।। ६।१।७।। ७।३८।२।। **येयं पृथिवी मही दाधार**। ऋ० १०।६०।९।। **क्षां उर्वीम्**। ऋ० ६।१७।७।। **क्षितिर्न पृथिवी**। ऋ० १।६५।३।। **तोकं तनयं**। ऋ० ६।४९।१०।। **वाजिनमश्वम्**। ऋ० १।१३५।५।। **वाजेभिरश्वेभिः**। ऋ० ६।४५।२१।। **अघ्न्याया धेनोः**। ऋ० ४।१।६।। **गावो धेनवः**। ऋ० ६।४५।२८।। **नरो मर्याः**। ऋ० ५।५३।३।। इत्यादि।

विशेष्यविशेषणभाव का यह स्वरूप विना यौगिकवाद के कदापि उपपन्न नहीं हो सकता। जिसको भी हम विशेषण मानेंगे, उसका अर्थ हमें प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध द्वारा ही निश्चित करना होगा। यौगिकवाद की यह महिमा है जो वेद में आये इन वा इस प्रकार के अन्य शब्दों को पौनरुक्त्य वा वैयर्थ्य से बचाता हुआ वेद के वेदत्व में कोई दोष नहीं आने देता।

[1]धातुओं का अनेकार्थत्व और यौगिकवाद

यौगिकवाद के इस प्रकरण में यह बात भी बहुत ही ध्यान देने योग्य है कि धातुओं की अनेकार्थता प्राचीन ऋषि-मुनियों, समस्त वैयाकरणों वा वेदभाष्यकारों को स्वीकृत है, वेदभाष्यकारों में किसी को कम किसी को अधिक, यह स्वीकार सबको है। हम इसमें अतिसंक्षेप से प्रमाणमात्र ही उपस्थित करते हैं—

(१)(i) महाभाष्यकार पतञ्जलि—**"बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति"** (अ० भा० १।३।१)।

(ii) **"करोतिश्च क्रियासामान्ये वर्त्तते"** (अ० ३।१।१९ भा०)।

(iii) शब्दकौस्तुभे—१।३।१। पृ० ५२—

**"भट्टिश्चाह—विभज्यसेनां परमार्थकर्मा सेनापतींश्चापि पुरन्दरोऽथ।
नियोजयामास स शत्रुसैन्ये करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून्"**॥

(२) (i) स्कन्द ऋग्भाष्य पृ० १०४ **कृञ् सर्वार्थत्वाद् दानेऽत्र**।

---

१. वस्तुतः यह प्रकरण भी यौगिकवाद का एक अङ्ग ही समझना चाहिये, क्योंकि धातुओं के अनेकार्थत्व का यौगिकवाद से सम्बन्ध स्पष्ट है।

(ii) निरुक्त स्कन्द टीका भाग २ पृष्ठ २१३ "करोतिरेव वा सामर्थ्याद् वधार्थः" "शेतिरत्र स्थानार्थः" पृ० २२६ ॥

(iii) "व्रीहि खाद······पुरोडाशकर्मत्वाच्च वीतेः खादतिकर्मत्वाध्यवसानम्" ।

(३) कुमारिल भट्ट—

(i) "निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः" ।

(ii) "निगमादिवशाच्चाद्य धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः" ।

कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्त्तिक पृ० १५६, १५७ ।

(iii) तन्त्रवार्त्तिके--पृ० ३८० (पूनासंस्करणे)—

"तथा करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून्" ।

(vi) तन्त्रवार्त्तिकटीकान्यायसुधायाम्—

"तथा चाहुरिति—

विभज्यसेनां परमार्थकर्मा सेनापतींश्चापि पुरन्दरोऽथ ।

नियोजयामास स शत्रुसैन्ये करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून्" ॥

(४) आत्मानन्द पृ० ७ "अनेकार्था धातवः" ।

(५) श्वेतवनवासी-उणादिवृत्ति ४।१६२ 'षो अन्तकर्मणि' अनेकार्थत्वाद् गाने वर्त्तते ।

(६) अनेकार्थत्वाद् धातूनामिति वा दसु विभेदन इत्युक्तम् ।

छलारी टी० पृ० ३७ ।

(७) अनेकार्थत्वाद् धातूनां तुञ्जतिः प्रेरणे वर्त्तते ।

जयतीर्थ टी० पृ० २७ ।

धातूनामनेकार्थत्वात् ऋञ्जते प्राप्नुवन्ति । जयतीर्थ टी० पृ० २६ ।

(८) मन्वतेऽवबुध्यते, यद्वा धातूनामनेकार्थत्वात् क्षमत इत्यर्थः ।

सा० ऋ० भा० १०।१२।६॥

धातूनामनेकार्थत्वाद् रिचिरत्र परिहारार्थे वर्त्तते ।

सा० भा० ऋ० १०।१३।४॥

अब हम इस यौगिकवाद के विषय में एक बात और दर्शाना आवश्यक समझते हैं । अब प्रश्न यह है कि जब वेद में पूर्वोक्त तथा अन्य शब्द विशेष्य वा विशेषण दोनों हो सकते हैं तथा निरुक्त के सिद्धान्त-अनुसार धातुज हैं, जितने भी धातुओं से उनके निर्वचन हो सकें, किये जा सकते हैं । साथ ही धातुओं के अनेकार्थत्व का सिद्धान्त भी सर्वसम्मत है, ऐसी अवस्था में अर्थ की नियामकता कैसे हो सकेगी ? अर्थात् अर्थ

की व्यवस्था कैसे निर्धारित होगी, इसमें नियम क्या होगा ? सो हम यहाँ अतिसंक्षेप से शास्त्रीय नियम उपस्थित करते हैं—

प्राचीनों के मत से शब्दार्थबोध में नियामकता

(१) श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् । मीमांसा ३।३।१४।।

(२) वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।।
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यमविरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
वाक्यपदीय २।३१६,३१७।।

(३) यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।। वाक्यपदीय १।३४।।

(४) अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद् देशकालतः ।
मन्त्रेष्वर्थविवेकः स्यादितरेष्विति स्थितिः ।। बृहद्दे० २।१२०।।

(५) भावतत्त्वविदः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः ।
हरिः, कैयट ४।१।३। पृ० १७।।

उपर्युक्त उद्धरणों के भावार्थ—

(१) मीमांसा के मतानुसार श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या=संज्ञा, ये छ अर्थ के नियामक हैं। इनमें भी पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व बलवान् होता है।

(२) भर्तृहरि का मत है--कि शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय केवल रूप को देख कर ही नहीं कर लेना चाहिये, अपितु इसके निर्णय के लिये हमें वाक्य, प्रकरण, औचित्य तथा देश-कालादि का भी ध्यान रखना चाहिये। संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग अन्य शब्द की समीपता इन आठ नियमों से वाच्यार्थ का भी निर्णय करना चाहिये।

(३) योग्य विद्वानों द्वारा यत्नपूर्वक निर्धारित किया हुआ अर्थ भी अन्य योग्यतम विद्वान् द्वारा अन्यथा प्रतीत होने लगता है।

(४) बृहद्देवताकार भी अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, औचित्य और देश-काल आदि द्वारा ही मन्त्रार्थ का विवेक मानता है।

(५) भर्तृहरि और कैयट आदि भी शिष्टों को ही शब्दार्थ में प्रमाण मानते हैं।

लौकिक शब्दों के अर्थनियम को बताते हुए आचार्यों ने जो नियम बताये हैं, वे वेद के सम्बन्ध में भी प्राय: लागू होते हैं, रूढिभात्र को छोड़ कर।

उपर्युक्त विषय में भाष्यकारों का मत

पूर्वोक्त विषय में कुछ ग्रन्थ प्रमाण भी उपस्थित[1] करते हैं—

(१) प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते। दुर्ग पृ. ३४६।

(२) विपर्ययेणापि ह्यभिधानानामर्थो भवत्येवं मन्यमानो भाष्यकारो बलनामसु पठितमपि सदेतदभिधानमेवमाह शुष्ममिति बलनाम। दुर्ग पृ. १५९।

(३) न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च········एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। दुर्ग पृ. १२६।

(४) तपस्विने—न हि तयोरसाध्यं किञ्चिदस्ति। तपसा हि स्वयमपि वेदार्थः प्रादुर्भवेदेव। मेधाव्यपि स्वयमप्युत्प्रेक्षितुं शक्नुयात्। दुर्ग पृ. ११२।

(५) अर्थप्रधानं निरुक्तम्॥ दुर्ग पृ० १०२।

(६) अर्थनित्य इत्युक्ते अर्थप्रधान इति गम्यते। दुर्ग पृ० ९७।

(७) अर्थप्रधानत्वाच्च नैरुक्तस्य सर्वत्रैवार्थप्रधानस्य पर्यनुयोगो निर्वचनं च, अग्निः कस्मात्, जातवेदाः कस्मात्॥ निरु० स्कन्द टी० ७। १९। भा० ३ पृ० ८३॥

सब आचार्य उपर्युक्त श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरणादि से शब्दों के अर्थों की व्यवस्था मानते हैं। अर्थ की प्रधानता को लक्ष्य में रख कर ही निरुक्तादि में शब्दों के निर्वचन भिन्न-भिन्न हैं, यह भी स्पष्ट है।

कौन शब्द प्रधान अर्थात् विशेष्य है, गुण शब्द अर्थात् विशेषण कौन है, यह सब उपर्युक्त साधनों द्वारा ही निर्धारित होंगे। 'वेद के शब्द रूढ़ि हैं' ऐसा कोई नहीं कह सकता। जब ऐसा है तो वेद के शब्द बहुत व्यापक अर्थों को कहते हैं, ऐसी अवस्था में हमें उपर्युक्त नियमों के आधार पर उनके अर्थों को समझना होगा, यही इस यौगिकवाद का तत्त्व समझना चाहिये।

---

१. इस विषय का विवेचन पूर्व पृ० ११४ तथा १४५-१४७ पर भी देखें।

अग्नि आदि शब्द मुख्यवृत्ति से परमेश्वर के वाचक

प्रसङ्गात् हमें यह भी विचारना चाहिये कि 'अग्नि-मित्र-वरुण-सविता' आदि पद मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधा वृत्ति से 'परमेश्वर-विद्वान्-नेता' आदि के वाचक हैं, या गौणी अर्थात् लक्षणा वा व्यञ्जना से। हमारा मत है कि जैसे लोक में **'सिंहोऽयं माणवकः, अग्निरयं बालकः, अग्निरियं योषा'** यह लड़का सिंह है, यह बालक आग है, यह स्त्री अग्नि है, इत्यादि में सिंह, अग्नि आदि शब्द गौणीवृत्ति से बालक आदि को कहते हैं, वैसे वेद में 'अग्नि-मित्र' आदि शब्द गौणी वृत्ति से परमेश्वर आदि के वाचक नहीं हैं, अपितु अग्न्यादि शब्द मुख्यवृत्ति से परमेश्वरादि अर्थ को कहते हैं। इस विषय में हम ऋषि दयानन्द की धारणा उपस्थित करते हैं, जिसकी ओर विद्वानों का भी ध्यान पूर्ण रूप से नहीं गया (जहाँ तक हमें ज्ञात है)। सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं--

(१) "**प्रश्न**—मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये ?

(उत्तर)—(शन्नो मित्रः शं वरुणः०) यहाँ उनका ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है, इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता; किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु, न किसी से उदासीन है। इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का नहीं हो सकता, इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण यहाँ होता है। हाँ, गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है"। (सत्यार्थप्रकाश पृ० ८, ९ संस्करण ९)।

(२) "अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है।" सत्या० प्र० पूर्ववत् पृ० ५।

(३) "**एते [अग्न्यादयो देवताः] परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत् सङ्गच्छन्ते। अतोऽन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते।**"

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ० ६९, चतुर्थ संस्करण।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द अग्नि आदि शब्दों का अर्थ परमेश्वर मुख्यवृत्ति (अभिधावृत्ति) से ही लेते हैं, गौणीवृत्ति से नहीं। यह बात उनके भाष्य पढ़ते समय भी अत्यन्त ध्यान देने योग्य है।

मैं समझता हूं आचार्य दयानन्द की यह सूझ अवश्य ही अत्यन्त हृदयग्राही और अनुपम है। यौगिकवाद पर यहाँ हम अतिसंक्षेप से ही विचार कर पाये हैं, बहुत से प्रमाणों के अर्थ भी नहीं दर्शाये। ईश्वर ने चाहा तो विस्तार से यथासम्भव कभी पृथक् ग्रन्थरूप में उपस्थित करने का यत्न करेंगे।

त्रिविधप्रक्रिया

यौगिकवाद से तो वेद में आये अग्नि-इन्द्र-वायु-मरुत्-सविता आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा, विद्वान्, ज्ञानी वा भौतिक अग्नि कैसे होता है, यह बात समझ में आ सकती है। अब यदि यह बात वेद का अध्ययन करनेवाले की समझ में आ जावे कि वेद का हर एक मन्त्र आध्यात्मिक (आत्मा परमात्मा का निरूपक), आधिदैविक (प्रकृति के तत्त्वों का प्रतिपादक), और अधियज्ञ (यज्ञविषयक), इन सब अर्थों को कहता है, तो मेरे विचार में ऐसा निश्चय हो जाने पर, समस्त वेदभाष्य, जो हमें मिल रहे हैं, उनकी स्थिति भिन्न ही प्रकार की हो जायगी। उन की अपूर्णता का हमें तत्काल निश्चय हो जायेगा।

(१) ब्राह्मण, आरण्यक और त्रिविधप्रक्रिया

स्वयं वेद में तो विशेष्य-विशेषण की व्यवस्था (जो हम पहले यौगिकवाद में विस्तार से दर्शा चुके हैं) त्रिविध अर्थों का हमें 'निर्देश' कराती है। आरण्यकग्रन्थ 'ब्रह्म' का प्रतिपादन करते हैं, वे तो हैं ही आध्यात्मिक। ब्राह्मणग्रन्थों में भी हमें आध्यात्मिक प्रक्रिया वा त्रित्रिधप्रक्रिया के निर्देश पर्याप्त मिलते हैं। उनमें से कुछ एक हम यहाँ उपस्थित करते हैं—

(क) **"अथाध्यात्मम्—उदान एव पूर्णमा······प्राण एव दर्शो······। मन एव पूर्णमा······वागेव दर्शो······"**। शत० ११।२।४।५,६॥ पृ० ५५६, ५५७।

(ख) **"शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत् प्रणीताः। प्राण एवास्मेध्मः······ मुखमेवास्य प्रथमः प्रयाजः। ···हृदयमेवास्योपांशुयाजः"**॥ शत० ११। २।६।१-५॥ पृ० ५५७, अजमेर संस्करण।

(ग) **"पुरुषो वै यज्ञः। ······तस्येयमेव जुहूः। इयमुपभृदात्मेव ध्रुवा। तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति, तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति॥ प्राण एव स्रुवः"**। शत० १।३।१-३॥ पृ० २६।

(घ) तै० ब्रा० ३।३।१ में भी "प्राणो वै स्रुवः,...आत्मा ध्रुवा" ऐसा ही कहा है। तथा शतपथब्राह्मण पृ० ५७७ में--ब्रह्मयज्ञ में मन को उपभृत्, गोपथ ब्रा० (पू० ४।५) में "वायुर्वाध्वर्यु रधिदैवं प्राणोऽध्यात्मम्"। तै० ब्रा० ३।३।१ में अन्तरिक्ष को उपभृत्, पृथिवी को ध्रुवा। तै० आ० २।१७ में धृति को ध्रुवा, प्राण को हविः आदि कहा।

(ङ) शांख्यायनब्राह्मण (३।४) में "प्रयाजान् यजन्। ऋतवो वै प्रयाजाः, ऋतूनेव तत् प्रीणाति। ते वै पञ्च भवन्ति। तैर्यत् किञ्च पञ्चविधमधिदैवतमध्यात्मं तत् सर्वमाप्नोति"।

(च) शांख्यायन आरण्यक ६।१०—"यो हैतमुपास्ते तेजस आत्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्..."।

(छ) जै० उ० ब्रा० ३।४।१,२—"आदित्यो हि निवित्। दिशः परिधानीयेत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—आत्मैव स्तोत्रियः प्रजाऽनुरूपः प्राणो धाय्या मनः प्रगाथः......"।

(ज) ऐ० ब्रा० १०।४० तथा १६।६॥

(झ) ऐ० आ० (१।२) "अन्नेन हीदं सर्वमश्नुते इति। इत्यधिदैवतमथाध्यात्मम् इति। पुरुष एवोक्थ्यमयमेव महान् प्रजापतिरहमुक्थ्यमस्मीति विद्याद् इति"।

(ञ) "मन एवास्यात्मा, वाग् जाया, प्राणः प्रजा"। बृह० उप० १। ४।७॥

(ट) "वाक् पादः, प्राणः पादः, चक्षुः पादः, श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतम्—अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः॥ छां० उप० ३।१८।२॥

ब्राह्मणों के उपर्युक्त स्थल बहुत ही स्पष्ट हैं। इनमें याज्ञिक प्रक्रिया के साथ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रिया का भी निरूपण किया गया है। ऐसे स्थल ब्राह्मणों में भरे पड़े हैं, जिनसे हमें मन्त्रों के गूढ़ार्थों को समझने में सहायता मिल रही है। उदाहरणार्थ ऋ० ३।१३।६,३ मन्त्र की प्रतीक लेकर ऐतरेयब्राह्मण (१०।४०) में कहा है—

"उतो न ब्रह्मन्नाविश इति शंसति, श्रोत्रं वै ब्रह्म, श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति, श्रोत्रे ब्रह्म प्रतिष्ठितं......स यन्ता विप्र एषामिति शंसति, अपानो वै यन्ता, अपानेन ह्ययं यतः प्राणो न पराङ् भवति......इत्यध्यात्ममथाधिदैवतम्"।

इस प्रकार ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ मन्त्रों की प्रतीकें ले-ले कर पदे-पदे मन्त्रों की आध्यात्मिकादि प्रक्रियाओं का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं।

यहाँ उपर्युक्त थोड़े से उदाहरण उपस्थित करने का हमारा इतना ही अभिप्राय है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक वेदमन्त्रों की त्रिविधप्रक्रिया के अत्यन्त पोषक वा प्रतिपादक हैं।

(२) यास्कादि ऋषि और त्रिविधप्रक्रिया

अब हम इस विषय में अन्य प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) शांख्यायनगृह्यसूत्र १।२।१८, १९—

"न श्रुतमतीयात् ॥१८॥
अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।
मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते ॥१९॥

मन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होते हैं और वे ब्राह्मणग्रन्थों द्वारा भी अभिमत हैं। यह स्पष्ट है।

(ख) निरु० ३।१२ में 'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्' ऋ० १।१६४। २१ "......आदित्य......इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्......आत्मा"।

(ग) निरु० १०।२६ "विश्वकर्मा। आदित्यः......इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् आत्मा तान्यस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे"।

(घ) निरु० १२।३७, ३८ "देवौ वाय्वादित्यौ ......इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—प्राज्ञश्चात्मा च। ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः......... इत्यधिदैवतम्।...... ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि इत्यात्मगतिमाचष्टे"।

(ङ) निरुक्त के १३वें १४वें अध्याय में तो त्रिविधप्रक्रिया का प्रतिपादन सर्वथा स्पष्ट है। यथा—

"रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते...इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्... शरीरमत्र ऋगुच्यते...... इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते"। निरु० १३।११॥

निरुक्त के[1] १४वें अध्याय में तो प्रायः सभी मन्त्रों के अध्यात्म और अधिदैवत अर्थ हैं।

---

१. निरुक्त के ये दोनों (१३ तथा १४) अध्याय कब के हैं, यह हम निश्चित नहीं कह सकते। हमारा विचार है कि ये दोनों अध्याय निरुक्त के ही भाग हैं। दुर्ग ने १३-१४वें अध्याय के उद्धरण पूर्व अध्यायों में दिये हैं। देखो दुर्गटीका निरु० १०।१२ पृ० ७३८ में निरु० १४।११ तथा १४।२६ का उद्धरण दिया है। दुर्ग की

(३) निरुक्तसमुच्चयकार (वररुचि) और त्रिविधप्रक्रिया

निरुक्तसमुच्चयकार नित्य, नैरुक्त और याज्ञिक इन तीनों पक्षों को मानते हैं, जिनके उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं। वररुचि ने ऐतिहासिक पक्ष भी दर्शाया है। इस विषय में यही समझना चाहिये कि जैसे निरुक्तकार यास्क ने भी निरुक्त में ऐतिहासिक पक्ष दिखाया है, वैसे ही यहाँ वररुचि ने भी दिखाया है। वस्तु एक ही है, जिसके नाम भिन्न-भिन्न पक्ष वाले भिन्न-भिन्न लेते हैं। वास्तविक इतिहास नहीं, ऐतिहासिक लोग उस रूप में उसका वर्णन करते हैं[1]।

उद्धरण निम्न प्रकार हैं—

(१) "वायुरिति नैरुक्ताः, सूर्य इति याज्ञिकाः।......प्रथमं तावद् याज्ञिकपक्षेण व्याख्यायते.........नैरुक्तपक्षेऽपि......"।

निरुक्तसमुच्चय पृ० ६९.७१।

(२) "इत्यैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरूरवा मध्यमस्थानो वाय्वादीनामेकतमः, पुरु रौतीति पुरूरवाः। उर्वशी विद्युत्...... औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः"। निरुक्तसमुच्चय पृ० ६९।

(३) 'नैरुक्तपक्षे तु—यमी मध्यमस्थाना वाक्। यमश्च मध्यमस्थानः। सा यमी वर्षाकाले मध्यमस्थानाभिमुख्येन सहायं सहस्थानयोगाद् सखीत्यर्थः'। निरुक्तसमुच्चय पृ० ७३।

(४) भर्तृहरि (महाभाष्यटीकाकार) और त्रिविधप्रक्रिया

भर्तृहरि महाभाष्यटीका—हमारा हस्तलेख पृ० २६८—

"यथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः

तो १३वें अध्याय की टीका भी उपलब्ध है। ऐसे ही स्कन्दस्वामी ने भी निरु० टी० भा० १पृ० २७ में निरु० १४।३ का पाठ उद्धृत किया है और निरु० १।३० में निरु० १३।१३ का। ऐसे उद्धरण अन्य आचार्यों, वररुचि तथा सायण तक के हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ये १३, १४ अध्याय भी निरुक्त के भाग हैं। दुर्ग स्कन्द आदि ने १३, १४ अध्याय के उद्धरण ठीक उसी प्रकार दिये हैं, जैसे शेष १२ अध्याय के उद्धरण देते हैं। अतः इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि दुर्ग के काल में ये अध्याय निरुक्त का भाग ही समझे जाते थे।

१. इस विषय का विशेष विवेचन हमारी बनाई "वेद और निरुक्त" नामक लघु पुस्तिका में देखें।

सन्निधिदैवतमध्यात्माधियज्ञं चात्मनि च नारायणे च शाले च तया शक्त्या प्रवर्त्तते। एवं च कृत्वा वृको मासकृदित्यवग्रहभेदेऽपि भवति चन्द्रमसि प्रवृत्तो मासशब्दोऽवगृह्यते वृके मा सकृदिति"।

इसमें भर्त्तृहरि मन्त्र के अधियज्ञ-आध्यात्मिक अर्थ दर्शाते हैं। साथ ही 'मासकृत्' का दोनों प्रकार का पदपाठ भी सहेतुक दर्शाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अर्थाधीन अवग्रह, निर्वचन तथा स्वर होता है, ऐसा वह मानते हैं।

(५) यास्क और स्कन्द का सिद्धान्त

यास्क ने न केवल उपर्युक्त वेदमन्त्रों की ही आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि व्याख्या मानी है, अपितु वह तो समस्त वेदमन्त्रों की आध्यात्मिकादिपरक व्याख्या मानता है। जैसा कि निरु० १।२० में "**अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा**" कहते हुये यास्क ने इसमें सम्पूर्ण वेदवाणी के अधियज्ञ, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थं को वाणी का पुष्प और फलस्थानीय माना है। निरुक्त के इस स्थल का यह अभिप्राय हम अपनी ओर से लिख रहे हों, यह बात नहीं, अपितु आज से १५०० वर्ष प्राचीन वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी लिखता है कि यास्क के मत में प्रत्येक वेदमन्त्र का अर्थं तीनों प्रक्रियाओं में होता है। तथ्था—

[1]"**सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्**"।

स्क० निरु० टी० ७।५ भा० ३ पृ० ३६, ३७।

अर्थात्—सब मन्त्रों का (कुछ एक का नहीं) तीनों प्रक्रियाओं में अर्थं होता है। यह यास्क का सिद्धान्त है। मैं समझता हूं, यह उद्धरण वेदार्थ-प्रक्रिया का परमावश्यक स्थल है, जिससे हमें वेदार्थं के शुद्धस्वरूप का ज्ञान हो जाता है और पता लग जाता है कि अब तक के भाष्यकार वेद के अर्थों में कहाँ तक पहुंचे हैं।

---

१. "यद्यपि सूक्तस्याग्निसूर्यादिपञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधायं मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्ताद्युक्तरीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते······एवमबादिपक्षेऽपि योज्यम्" सायण ४।५८।३ ऋग्भाष्ये।

स्कन्द के अन्य प्रमाण

स्कन्द ने तो प्रायः सर्वत्र नित्यपक्ष दिखाया है। नैरुक्तपक्ष भी दर्शाया। यास्क के ऐतिहासिक पक्ष की भी व्याख्या की है। स्कन्द के अन्य अनेक स्थलों में से हम कुछ एक और दर्शाते हैं—

(१) "एष परिव्राजकानामात्मविदां दर्शने अस्या ऋचोऽर्थः"।
(निरु० स्कन्द टीका—२।८ पृ० ६१)।

(२) "दृढां दुर्भेदां पुरं परमात्माख्यामाविविशुराविशन्ति, परमात्मनि लीयन्ते, मोक्षं गच्छन्तीत्यर्थः ॥" (निरु० स्कन्द टी० ४।१९ पृ० २५२)।

(६) दुर्गाचार्य और त्रिविधप्रक्रिया

इस प्रक्रिया के विषय में निरुक्त के टीकाकार दुर्ग के भी कुछ स्थल हम उपस्थित करते हैं। स्थानाभाव के कारण हम सब स्थल नहीं दे रहे हैं तथा इन उद्धरणों का भाषार्थ भी नहीं दे रहे हैं। तीनों प्रक्रियाओं में मन्त्रों के अर्थ दुर्ग मानता है। तद्यथा—

(क) "आध्यात्माधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते"। निरु० १।१८, पृ० ८६, दुर्ग टी० बम्बई सं०।

(ख) "सोऽयमेवमधिदैवतमधियज्ञं चोच्छिद्याध्यात्ममेवाभिसम्पादयति"। निरु० १।२०, पृ० ९०, दु० टी०।

(ग) "अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति"॥ निरु० १।२०, पृ० ९४, दु० टी०।

(घ) "तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न हि एतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देश्यमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्—आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति"। निरु० २।८, पृ० १२६, दुर्ग टी०।

(ङ) "तत्र तत्र एक एव ह्यसावादित्यमण्डले चाधिदैवते चाध्यात्मे च बुद्धयधिदेवताभूतः स एव तत्र तत्रोपेक्षितव्यः। …अध्यात्मेऽपि हृदयाकाशाद् यानीन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति, त एव रश्मयः। अधिदैवते च त एव विश्वे-

देवा इत्युक्तम् । एवं तत्र तत्र योज्यम् । प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेणेति" । दुर्ग टी० निरु० ३।१२, पृ० २११ ।

(च) "तत्रैवं सति आत्मविद आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वैकमात्मानं पश्यन्ति । तथा नानात्वैकत्वे नैरुक्ता इति त्रित्वे, तथा त्रित्वैकत्वे याज्ञिका नानात्वे । एवमेषामविरोधः । ......वैदिकानां पदवाक्यप्रमाणानामात्मभावानुशयवशेनात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिका वेदस्याविपर्यासिनीमिव मन्यमानाः परस्परतो विपर्यस्यन्ते । तदेतत् सर्वथापि भेदाभेदवर्त्ति देवतासतत्त्वं यथाग्रहं वक्तृप्रतिपत्तृवशेन प्रख्यातिमुपनयत्, स्तुतिरूपकेणात्मनोऽर्थसतत्त्वं तथाभूतं मन्त्रैराविष्क्रियते, तदुक्तम्—उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति इति" । दुर्ग० टी० निरु० ७।६, पृ० ५६३ ।

(छ) "मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेषु स्थानं याथात्म्यतो दृश्यते" । दुर्ग० टी० निरु० ४।१६, पृ० ३१५ ।

इन उपर्युक्त स्थलों का भाव यह है कि वेदमन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं अर्थात् अध्यात्म-अधिदैव तथा अधियज्ञ में होते हैं, और वह भी यथाप्रज्ञ अर्थात् जितने ही अधिक विमलमेधावालों द्वारा होंगे, उतने ही अधिक उत्कृष्ट होंगे । त्रिविधप्रक्रिया के प्रतिपादक उपर्युक्त स्थल इतने स्पष्ट हैं, कि इनकी व्याख्या की भी आवश्यकता नहीं ।

(७) सायणाचार्य से पूर्ववर्त्ती भाष्यकार और त्रिविधप्रक्रिया

अब हम त्रिविधप्रक्रिया के विषय में सायण से पूर्ववर्त्ती वेदभाष्यकारों का मत भी अतिसंक्षेप से देते हैं—

(१) हरिस्वामी

शतपथभाष्य हमारा हस्तलेख पृ० ६ पर—

"मन्त्रा आधियाज्ञिका इषे त्वादयः, त एव देवतापरत्वेनाधिदैविकाः, आधिदैविकास्त एवात्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः । ईशावास्यादय आध्यात्मिका एव" ।

(२) उवट—

(क) "अधिदैवं वागुच्यते । अधियज्ञं पत्नी" । य० १।१५ उवटभाष्य ।

(ख) "एवं तावदधियज्ञं गतोऽप्ययं मन्त्रोऽधिदैवमाचष्टे । अध्यात्मं तु वक्ष्यति" । य० ७।४२ उवटभा० ।

(ग) "इन्द्रौ परमेश्वरौ···पुरुषो गर्त्त इति श्रुतिः। अध्यात्मविषये व्याचष्टे, अधिदैवं तु गर्त्तो रथः"। य० १०।१६ उवट भा०।

(३) भट्टभास्कर—

तै० आ० ३।११। पृ० २७४ पर-—"अध्यात्मपक्षे तु परमात्मने।··· इन्द्र ईश्वरश्च"।

(४) आत्मानन्द

अस्यवामीयसूक्तभाष्य पृ० ३ पर—

(क) "यद्यपीह स्कन्दभाष्यादिषूद्गीथभास्करादिभिः, शौनकं च वेदमित्रं च बृहद्देवताकारं च अनुक्रमणीकारं च—अनादृत्य सूक्तव्याख्या कृता, तथापि वयमत्र स्कन्दादिव्याख्याऽधियज्ञविषया एव, क्वचित्तु निरुक्तानुसारादधिदैवतविषया एवेति निश्चित्य क्वचिदध्यात्मविषयां शौनकादिरीतिमाश्रित्याध्यात्मं व्याख्यास्यामः"।

(ख) देवता परमात्मैव सूक्तस्य। पृ० ३।

(ग) 'अश्विभ्याम्'=गुरुशिष्याभ्याम्। पृ० ३६।

(घ) वेदानामर्थनानात्वप्रतीतावपि सन्मतिः।
मुनिवाक्यानुरोधेन व्याख्यां कुर्वन्न दुष्यति॥
अधियज्ञं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतम्। इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः। पृ० ६०।

(५) आनन्दतीर्थ—

"स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च। स एव सर्वशब्दार्थ इत्याह उपनिषत् परा"। पृ० १॥ "गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एव हि। प्रयोजकत्वान्नान्यस्य फलाभावात् तदर्थता"। पृ० ५।

(६) जयतीर्थ—

(क) "ईश्वरपरा वेदा इति···अतस्तेषां भगवत्परत्वप्रकारदर्शनार्थं कासांचिदृचां भाष्यम्···" पृ० १॥

(ख) तथात्वं चेश्वरस्याग्निशब्दो वक्ति॥ पृ० ३॥

(ग) सकलवेदानां मुख्यतो भगवत्प्रतिपत्तिहेतुत्वात्···॥ पृ० ३॥

(७) राघवेन्द्रयति—

(क) सर्वो वेदो विष्णुपर इति॥

(ख) "अग्न्यादिदेवतापरत्वेन···तदन्तर्गतविष्णुपरत्वेन अध्यात्मपरत्वेन चेत्येवं त्र्यर्थपरतया व्याख्यातानि"। पृ० १।

(८) शत्रुघ्न—

(क) "एवमधिदैवतमध्यात्मं च यः पुरुषः परमात्मा ध्येयत्वेनोक्तस्तस्य प्रशंसार्थं नानारूपैरुपासनं तमेतमिति यः पुरुष उक्तः स परमात्मेति सर्वत्र व्याख्येयः" ।। (मन्त्रार्थदीपिका पृ० २५०)

(ख) "सूर्यमण्डलार्चिः पुरुषत्रयस्याऽधिदैवाधियज्ञाऽध्यात्मपरत्वेनार्थ उच्यते । तत्राधिदैवेऽयमर्थः" । मन्त्रार्थदीपिका पृ० २३५ ।

(९) देवपाल—

(क) "भर्गः सामर्थ्यम् । ...तदनेनाध्यात्माधिदैवतं वा सवितुर्भर्गो रूपमुक्तम्" । पृ० २७ ।

(ख) "परमात्मरूपेण स्तूयमानः सूर्यो देवता । हन्ति ध्वान्तं । गच्छति चाध्वानमधिदैवरूपेण वाऽविद्यामिति हंसः...अध्यात्मरूपेण वा सर्वजीवात्मनामन्तरिक्षं हृदयाकाश अन्तर्यामिरूपेण सीदतीत्यन्तरिक्षसत्"। देवपाल लौगाक्षि गृ० भा० पृ० ५५-५६ ।

(८) सायणाचार्य और त्रिविधप्रक्रिया

अब हम सायणाचार्य के भी कुछ स्थल दर्शाते हैं, जिनमें स्पष्ट ही उसने भी आध्यात्मिकादि प्रक्रियाओं का प्रतिपादन किया है—

(क) "चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः......प्रणवरूपस्य ब्रह्मणस्त्रयः पादाः । पद्यते गम्यते ब्रह्मतत्त्वमेभिरिति पादाः । आध्यात्मं विश्वतैजसप्राज्ञाः । अधिदैवं विराड् हिरण्यगर्भाख्यकृतानि । वृषभः प्रणवो महत्तेजोरूपं ब्रह्मतत्त्वं रोरवीति अतिशयेन प्रतिपादयति । देवः परमेश्वरो मर्त्यान् मनुष्यदेहान् आविवेश सर्वतः प्रविष्टः" । तै० आ० १०।१० पृ० ७२३ सा० भा० ।

(ख) "ऋतं च सत्यं च० (ऋ० १०।१९०।१) तै० आ० १०।१ सा० भा० अभीद्धात् परमात्मनः, ततः परमेश्वरात्, धाता परमेश्वरः" ।

(ग) 'प्रजापतिः परमेश्वरः' पृ० ७१९ । "सविता परमेश्वरः" पृ० ७४४ । परमेश्वरप्रार्थनारूपाः केचिन्मन्त्राः । पृ० ७०२ ।

"केचिन्मन्त्राः" कहने से यह विदित होता है कि सायणाचार्य को सब मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है, यह निरुक्तकार का मत है, जिसे स्कन्द स्वामी ने दर्शाया, यह सिद्धान्त या तो विदित नहीं था या उसने देखा नहीं, या आध्यात्मिक भावना की कमी होने के कारण उसकी

बुद्धि में यह सिद्धान्त बैठा नहीं, और क्या कहा जा सकता है। त्रिविध-प्रक्रिया की परम्परा चली आ रही थी, इसे सर्वथा छोड़ता भी कैसे, विवश होकर लिखना पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है।

यहाँ इतना और ध्यान रहे कि सायणाचार्य ने ऋ. १०।३०।१०; १०।८२।२॥; १०।१०६।११॥; १०।१०९।१ तथा अन्यत्र कहीं-कहीं आध्यात्मिक अर्थों का निर्देश किया है। पर उनके आत्मा में इस त्रिविधप्रक्रिया पर विश्वास नहीं था, अन्यथा वह आरम्भ से ही मन्त्रों के अर्थ करते समय इतना लिख सकते थे कि मैं केवल यज्ञपरक अर्थ करता हूं, मन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होते हैं, पर सायणाचार्य के ऐसा न लिखने से वेदार्थ की शुद्ध प्रक्रिया का नाश हो गया, यही हमारा कहने का तात्पर्य है।

यह भी हो सकता है कि स्वयं सायणादि भाष्यकारों के समय में याज्ञिकवाद का प्रवाह अत्यन्त प्रबल था? इसीलिये इन लोगों ने वेदों का जो भी कोई भाष्य रचा, वह सबका सब याज्ञिकप्रक्रियानुसार रचा।

सायणाचार्य के विषय में हम यों ही नहीं लिख रहे क्योंकि जब आज से १५०० वर्ष पहले तक मन्त्रों की त्रिविधप्रक्रिया विद्यमान थी और वह सायण से पूर्ववर्त्ती भाष्यकारों तक बराबर रही, तो फिर सायण की स्वयं अपनी अयोग्यता वा अज्ञता ही समझनी चाहिये, जो वेदार्थ की इस सर्वोत्कृष्ट विधि का नाश उसके द्वारा हो गया, और पीछे आनेवाले तथा विद्वान् कहे जानेवाले विदेशीय स्कालरों को भी वेदार्थ शुद्ध स्वरूप में न मिलकर अत्यन्त विकृत रूप में मिला, जिसको आधार मानकर अंग्रेजी-जर्मन आदि भाषाओं में वेद के जो अनुवाद हुये, वे सायण की छायामात्र थे। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत से बाहिर विश्वभर में वेद विषय की मिथ्या धारणा प्रचरित हो उठी। इसके लिये सायण ही सबसे अधिक उत्तरदायी है, यह हमारा कहना है।

(९) ऋषिदयानन्द और त्रिविधप्रक्रिया

महापुरुष दयानन्द ने वेदार्थ की इस लुप्त त्रिविधप्रक्रिया का पुनरुद्धार किया। भारत उनके इसी ऋण से सहस्रों वर्षों तक उऋण नहीं हो सकता।

अन्त में हम त्रिविधप्रक्रिया के विषय में ऋषि दयानन्द एक उद्धरण उपस्थित करते हैं—

"अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशत-

पथब्राह्मणमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति···अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते, नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति"। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३६२, ३६३ ।

अर्थात्—"इस वेदभाष्य में कर्मकाण्ड का वर्णन शब्दों के अर्थ दर्शाते हुये किया जायगा। परन्तु इन मन्त्रों के कर्मकाण्ड (के सम्बन्ध) में विनियोग द्वारा जहाँ-जहाँ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो-जो कर्त्तव्य है, वह-वह इस (वेदभाष्य) में विस्तारपूर्वक नहीं दर्शाया जायगा। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ठीक-ठीक विनियोग ऐतरेय शतपथ ब्राह्मण, श्रौतसूत्र और मीमांसादि में किया हुआ है। उसे पुनः कहने से अनार्ष ग्रन्थ के समान पुनरुक्त पिष्टपेषण दोष आवेगा। अतः उन (ब्राह्मण-श्रौत मीमांसादि) में कहा विनियोग भी वही मानने योग्य है, जो युक्तिसिद्ध-वेदादि प्रमाणों के अनुकूल तथा मन्त्र के अर्थानुसारी हो।······यहाँ (इस वेदभाष्य में) जिस-जिस वेद मन्त्र का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक अर्थ श्लेषादि अलङ्कारों के द्वारा सप्रमाण होना सम्भव है, उन-उन के दो-दो अर्थ दर्शाये जायेंगे। किसी भी मन्त्र के अर्थ में ईश्वर का त्याग नहीं है। (अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ तो हर एक मन्त्र का है ही—सं०)।"

देवतावाद

विवरण की इस भूमिका का कलेवर अधिक बढ़ जाने से हम यहाँ पर देवतावाद के विषय में अतिसंक्षेप से ही कुछ लिखने में विवश हो रहे हैं, विस्तार से पृथक् ग्रन्थ में ही अपने सब विचार कभी उपस्थित कर सकेंगे।

अपने इस यजुर्वेदभाष्य विवरण के पृ० ७, ८ तथा इसी विवरण भूमिका के पृ० १४०, १४७, पर हम देवतावाद का निरूपण अतिसंक्षेप से कर चुके हैं कि मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है, एक महान् आत्मा परमेश्वर ही मुख्य देवता है। यहाँ उसका पुनः पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते। विज्ञ पाठक संस्कृत तथा भाषार्थ के इन पृष्ठों को यदि ध्यान से पढ़ेंगे तो उन्हें पर्याप्त सारभूत सिद्धान्त वहाँ पर वर्णित मिलेंगे।

यहाँ पर हम पहले अतिसंक्षेप से देवतावाद के विषय का पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—

पूर्वपक्ष

(१) देवता किन्हीं विग्रहवती (शरीरधारी) चेतन व्यक्तियों का नाम है। वे आकाश में रहती और अपना काम करती रहती हैं।

(२) वेदों के देवता के विषय में सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवतादि ही परमप्रमाण हैं, अर्थात् उनसे भिन्न देवता मानना वा लिखना अशुद्ध है।

(३) मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय देवता नहीं।

(४) मन्त्रों में आये 'अग्नि' आदि पद ही देवता हो सकते हैं, उन पदों के अर्थ देवता नहीं हो सकते।

(५) मन्त्रों के समान देवता और छन्द भी ईश्वरीय हैं, अर्थात् नित्य हैं।

यह संक्षेप से पूर्वपक्ष दर्शाया।

उत्तरपक्ष

सर्वानुक्रमणी (२।५) में लिखा है—**"या तेनोच्यते सा देवता"**। इसी पर षड्गुरुशिष्य कहता है—**"तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता"** अर्थात्—मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है।

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"। निरु० ७।१॥

अर्थात्—जिस कामना वाला ऋषि, मैं अर्थ का स्वामी बनूं, ऐसा चाहता हुआ जिस देवता की स्तुति करता है, उस देवता वाला वह मन्त्र कहाता है।

इससे स्पष्ट है कि मुसलमानों के फरिश्तों की तरह विग्रहवती(शरीरधारी) देवताओं का तो वेद में कोई स्थान ही नहीं। नव्य और प्राचीन मीमासकों तक ने इन विग्रहवती (शरीरधारी) देवताओं का स्पष्ट खण्डन किया है। जैसा कि—

"का पुनरियं देवता नाम ?······या एता इतिहासपुराणेष्वग्न्याद्याः सङ्कीर्त्यन्ते नाकसदस्ता देवता इति ? उच्यते। तासु देवतासु अहरादीनां शार्दूलादीनां वा न सङ्ग्रहः। स्मर्यते च कालवाचिनां देवतात्वं, कालेभ्यो भववदिति, मासो देवता संवत्सरो देवतेति।

अपरं मतं, येषु देवताशब्दो मन्त्रब्राह्मणे श्रूयते, 'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता' इत्येवमादिषु तेऽत्र देवताशब्देनोच्यन्त इति। तत्राप्यहरादीनामनुपसंग्रह एव······एवं मूर्त्तानाममूर्त्तानां चेतनानामचेतनानां श्रुत्या किञ्चिदर्थं प्रति तादर्थ्येन सङ्कल्पनीयानां देवतात्वं भविष्यति। सामान्यवचनत्वं चोपपत्स्यते।······देवतायाश्च यज्ञसाधनभावो न रूपेण भवति। केन तर्हि? सम्बन्धिना शब्देन। यथाऽध्वर्युर्हस्ताभ्यामुपकरोति, एवं देवता शब्देनोपकरोति। यथा होतुः पाणौ द्विर्लेपनोपस्तृणातीति पाणिसम्बन्धेऽपि होतैवोपकरोति, एवं सम्बन्धिना शब्देनोपकुर्वती देवता उपकारिणी गम्यते। देवतायामप्युपकारिण्यां चोदितायां शब्दस्यैव यज्ञे समवायः·········शब्द एव हविषा सम्बद्धयते, तत्सम्बन्धादर्थोऽपि देवता भविष्यति। यस्य हि शब्दो हविषा तादर्थ्येन सम्बद्धयते, सा देवता। शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थे कार्यं विज्ञायते। इह तु शब्द एव कार्यं सम्भवति"। मीमांसा १०।४।२३ शाबरभाष्ये देवताभिधानाधिकरणे तथा मी० ९।१।८ अपि।

यहाँ विग्रहवती देवताओं का स्पष्ट खण्डन करते हुये शब्दमयी देवता मानी है। इस विषय में खण्डदेव ने अपने ग्रन्थ 'भाट्टदीपिका' में लिखा है—"अतः कथमपि न विग्रहादिस्वीकारः। किन्तु शब्दमात्रं देवता। अर्थस्तु प्रातिपदिकानुरोधाद् चेतनोऽचेतनो वा कश्चिद् स्वीक्रियते। न तु विग्रहादिमान्। उपासनादौ परं ध्यानमात्रमाहार्यं तस्येति जैमिनिमतनिष्कर्षः। मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यतीति हरिस्मरणमेव शरणम्" (भाट्टदीपिका ९।१।४ अधिकरण पृ० ५३)।

अर्थात्—"देवता विषय में विग्रह (शरीर) आदि किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता। (मीमांसकों के मत में) शब्दमात्र देवता है, अर्थ प्रातिपदिक के अनुसार चेतन या अचेतन कोई भी माना जा सकता है, वह मूर्ति देवता नहीं माना जा सकता। उपासनादि के समय उसका चिन्तन (विना मूर्त्ति के ही) किया जा सकता है, यह जैमिनि मत का निष्कर्ष है। यह सब (सत्य) कहते हुये मुझे पाप लग रहा हो, तो इसके लिये प्रभु का स्मरण ही मेरे लिये शरण[1] है"।

---

१. हमारे इस उद्धरण के यहाँ उपस्थित करने का यही अभिप्राय है कि 'देवता' शरीरधारी हो, यह बात नहीं। यह सब कल्पना बहुत नवीन है। खण्डदेव कहता भी जा रहा है कि देवता शरीरधारी कभी नहीं होते, यह मीमांसकों का मत है, साथ ही पौराणिक संस्कारों के कारण डरता भी जा रहा है कि कहीं मैं

इससे सिद्ध है कि विग्रहवती (शरीरधारी वा मुसलमानों के फरिश्ते के समान) देवता तो किसी अवस्था में मन्त्र के देवता नहीं माने जा सकते। मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का नाम ही देवता है।

(२) सर्वानुक्रमणी से भिन्न देवता भी हो सकते हैं। ऋ० ५।४२।१४ में एक ही मन्त्र में भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न देवता माने हैं, जो सर्वानुक्रमणी में नहीं (देखो विवरण पृ० ८)। जो देवता को नित्य मानते हैं तथा मन्त्रगत पद ही देवता होते हैं, ऐसा माननेवाले महानुभाव भी इस स्थल पर विचार करेंगे तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात होगा कि उनका कथन सर्वथा निराधार है।

(३) प्रतिपाद्यविषय देवता के सम्बन्ध में ऊपर दर्शाया जा चुका है।

(४) मन्त्रों में आये पद ही देवता हो सकते हैं, यह बात नहीं। पाठक देखें, "अञ्जन्ति त्वामध्वरे०" (ऋ० ३।८।१) इस सूक्त के आदि अन्त तथा मध्य में 'वनस्पते' ऐसा सम्बोधन पद कई बार आया है, पर ऋक्-सर्वानुक्रमणी में इस सूक्त का देवता (एक दो मन्त्रों को छोड़कर) 'यूपस्तुति' माना है। उधर निरु० ८।१७ में 'वनस्पति' देवता का वर्णन करते हुये यास्क कहते हैं—"तत् को वनस्पतिः' ? यूप इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः"। इससे स्पष्ट है कि 'यूप' और 'अग्नि' ये दोनों 'वनस्पति' पद के अर्थ हैं। इसीलिये बृहद्देवताकार ने 'यूप' और 'अग्नि' दोनों को सूक्त का देवता माना है, देखो बृह० ४।१००।

हमारे इस एक उदाहरण से ही सिद्ध है कि मन्त्र में आया पद ही देवता हो, यह बात नहीं। भला ऐसी अवस्था में देवता नियत हुआ वा अनियत ? यह बात पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

जो लोग विषय को देवता नहीं मानते, उनसे पूछना चाहिये कि—

ऋ० १।१८।५ में दक्षिणा। ऋ० १।१२६।६,७ में जायापत्योः संवादः। ऋ० ४।५०।७,९ में पुरोधातुः कर्मप्रशंसा। ऋ० ४।५७।५ में कृषिः। ऋ० ४।४७।२६ में भाववृत्तम्, इत्यादि देवता सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि में कहे हैं या नहीं ? और ये विषय हैं या नहीं ? ये तो उदाहरणमात्र हैं, परिगणन के लिये सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऐसा सत्य कहता हुआ नरक में ही न जाऊं, (या मेरी वाणी ही न जल जाये) इस के लिये मैं प्रभु का स्मरण करता हूं। देवतावाद विषय का यह स्थल बहुत ही स्पष्ट है पाठक इस अधिकरण को मीमांसा में देख सकते हैं।

अब रही पर्यायवाची वा अर्थ देवता हैं या नहीं—

ऋ० २।३३।११	का देवता सर्वा० में	'इन्द्र'	है, बृहद्देवता में	'मृग' है।
ऋ० २।४२।४३	,,	शकुन्तः	,,	कपिञ्जलरूपी इन्द्रः
ऋ० ६।७५।८	,,	रथः	,,	आयुधागारम्
,, १३	,,	प्रतोद	,,	कशा
,, १४	,,	हस्तघ्न	,,	हस्तत्राण
ऋ० ६।७।५३	,,	द्यावापृथिवी	,,	रोदसी
ऋ० १।५०	,,	सूर्य	,,	वरुण

क्या यहाँ 'प्रतोद' और 'कशा', 'हस्तघ्न' और 'हस्तत्राण', 'द्यावा-पृथिवी' और 'रोदसी' ये शब्द स्पष्टतया पर्यायवाची नहीं हैं?

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में भी देवताविषय में बहुत भेद है। ऋ० १।५० में सर्वानुक्रमणी 'सूर्य' देवता मानती है, बृहद्देवता उसी मन्त्र का 'वरुण' देवता मानते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। निरुक्तकार ने जैसे 'अग्नि' और 'जातवेदाः' को भिन्न-भिन्न देवता माना है, वैसे ही याज्ञिकप्रक्रिया में मीमांसा के मतानुसार 'इन्द्र' और 'महेन्द्र' भी भिन्न-भिन्न देवता हैं, एक नहीं, जैसा कि मीमांसा के २।१।१६ के भाष्य में स्पष्ट लिखा है—**"तस्माद् देवतान्तरमिन्द्राद् महेन्द्रः"**।

हमारा कहना यह है कि यदि किसी मन्त्र में 'इन्द्र' पद है, और अगले मन्त्र में 'वृत्रहा इन्द्र', तो यह विशेषणपद घटित होने से इन्द्र से भिन्न देवता माना जायगा, एक नहीं। इस प्रकार के देवताभेद[1] से तो सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता भरे पड़े हैं। इसको भी छोड़ यहाँ हम दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऋ० १।९४।१-१६ का देवता सर्वानुक्रमणी में 'अग्नि' माना है, उधर बृहद्देवता में 'जातवेदाः'। ऐसे उदाहरण ऋ० १।१४० तथा ऋ० २।२ आदि असंख्य स्थानों में मिलेंगे। 'अग्नि' और 'जातवेदाः' निरुक्तकार के मत में भिन्न-भिन्न देवता हैं (देखो निरु० अ० ७)। ऋ० १।५०।६ में निरुक्तकार 'वरुण' देवता मानता है, सर्वानुक्रमणी सूर्य। ऋ० ६।१४,१५ का निरुक्त (१२।१८) में 'पूषा' देवता माना है, सर्वानुक्रमणी में विश्वेदेवाः। ऋ० १०।१८५।२० में निरुक्त

---

१. देवताभेद के विस्तृत उदाहरण हमारे यजुर्वेदभाष्य विवरण पृ० ७, ८ में देखें। तथा 'वेदवाणी' काशी के वेदाङ्क सन् १९५७ के पृ० १०२ पर देखें।

'सूर्य' देवता मानता है, सर्वानुक्रमणी 'आशीः प्रायः'। पाठक देखें निरुक्त और सर्वानुक्रमणी में देवता का कितना स्पष्ट भेद है।

यदि इन भिन्न-भिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न मत से विकल्प में माना जा सकता है; तो आचार्य दयानन्द के दर्शाये देवता भला क्यों विकल्प में नहीं माने जा सकते?

ऋ० २।३०।८ **'सरस्वती'** इति सर्वानुक्रमणी, **मध्यमा वागिति** बृहद्देवता।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि विशेषणवाची पदों के निर्देश के विना भी देवता का सामान्य निर्देश हो सकता है, ऐसा सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में माना है।

पाठक पृ० ७,८ पर विवरण में दिये हुये हमारे प्रमाणों को देखें कि कैसे एक ही मन्त्र (ऋ० १०।८५।१९) का देवता सर्वानुक्रमणी आदि के मत में **'चन्द्रमा'** है, उसी मन्त्र का देवता तैत्तिरीयसंहिता-बौधायनश्रौत-सूत्र-सत्याषाढ़श्रौतसूत्रादि के मत में **'आदित्य'** है और यास्क तथा-वररुचि आदि के मत में चन्द्रमा और आदित्य दोनों। इसी प्रकार 'प्र सुष्टुतिम्' (ऋ० ५।४२।१४) इस एक ही मन्त्र का शाकपूणि के मत में 'इडस्पतिः' देवता, गालव के मत में पर्जन्य और अग्नि, यास्क के मत में पूषा, शौनक के मत में इन्द्र, और भागुरि के मत में वैश्वानर है। यहाँ पर केवल 'इडस्पति' पद तो मन्त्र में आया है, अन्यों में से कोई भी पद इस मन्त्र में नहीं आया। बताइये! जब देवतावाद के विधायक (वादी के मत में) कहे जानेवाले ग्रन्थ ही ऐसा कहते हैं, तो क्यों न माना जावे। देवता नित्य ईश्वरोक्त हैं, यह कहने वा समझनेवालों को हम क्या कहें, सिवाय इसके कि वे वेदार्थ की प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं।

यह हाल आदिष्टदेवताक मन्त्रों का है, अनादिष्ट देवतावाले मन्त्रों का तो कहना ही क्या। **'अपि वा सा कामदेवता स्यात्'** (निरु० ७।४) वहाँ प्रकरणादि से सुसङ्गत यथेष्ट देवता हो सकता है। अन्यथा **'नैरुक्तः शक्नोति दैवतं ज्ञातुम्'** (स्कन्द भा० १ पृ० १०८)। निरुक्त का जानने-वाला ही देवता का निश्चय कर सकता है, इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? विनियोगभेद से भी देवताभेद होता है, यह बात भी यहाँ ध्यान रखने की है (देखो दुर्ग टी० २।८ पृ० १२६)।

जो महानुभाव मन्त्रों में लिङ्ग=देवतावाचक पद के दर्शनमात्र से ही देवता का ज्ञान तत्काल हो जाता है, उसके लिये किसी तपश्चर्या वा

अगाध पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं, ऐसा मानते हैं, उनके लिये हम यास्क का एक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

"**अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तदेतेनोपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति। 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति'** (ऋ० ६।४।७)। **वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे**"। निरु० १।१७॥

अर्थात्—यज्ञकर्म में देवतानिर्देश द्वारा विधान किया जाता है, जैसे **'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** इत्यादि। विना निरुक्तशास्त्र के गहन अनुशीलन के देवता का यथार्थ ज्ञान (अर्थात् कौन प्रधान देवता है, कौन निपात अर्थात् गौण) नहीं हो सकता। यदि वे कहें कि हम लिङ्ग (देवतावाचकपद) को जानते हैं, तो यास्क दो मन्त्र उद्धृत करके पूछते हैं—**'इन्द्रं न त्वा'** (ऋ० ६।४।७) अग्नि देवतावाले मन्त्र में वायु तथा इन्द्र, तथा **'अग्निरिव मन्यो'**, (ऋ० १०।८४।२) 'मन्यु' देवतावाले मन्त्र में 'अग्नि' का लिङ्ग देखा जाता है, बताओ यहाँ कौन देवता है? अर्थात् यहाँ मन्त्र में आया पद देवता नहीं।

यह बात उन मन्त्रों के विषय में है जो आदिष्ट देवतावाले हैं। जब इनमें ही देवतावाची पद के दर्शनमात्र से देवता का निश्चय नहीं हो सकता, तो अनादिष्ट देवतावाले मन्त्रों के देवता का निर्णय तो बिना तपोबल वा योगबल के द्वारा अर्थ जाने विना हो ही कैसे सकता है? इसीलिये ऋग्वेद का भाष्यकार वेङ्कटमाधव अपनी देवतानुक्रमणी में लिखता है—

देवतातत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्।
शक्यते किमस्माभिर्याथातथ्येन भाषितुम्॥ पृ० ५५।

पुनः कहा—**न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्**॥

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्धचा बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवताः॥ बृह० ८।१२९,१३०।

अर्थात्—मन्त्र अनृषि को प्रत्यक्ष नहीं होते, योग, दम (इन्द्रियनिग्रह), व्यापक पाण्डित्य तथा तप आदि के द्वारा समस्त देवताओं को जानने का यत्न करना चाहिये।

यहाँ यह बात और समझ लेने की है, कि यास्क ने दैवतकाण्ड में प्राधान्यस्तुति देवताओं का निरूपण किया है। निपात (गौण) देवताओं के विषय में निरु० १।२० में निर्देश किया है। निरुक्तकार ने जो देवताओं के तीन भेद किये हैं, उनमें "पृथिवी" और "त्वष्टा" को पृथिवीस्थानीय

मध्यमस्थानीय और द्युस्थानीय माना है। निश्चय ही तीनों स्थानीय 'पृथिवी' के और 'त्वष्टा' के स्वरूप में भेद है। वरुण, यम, सविता और उषा इन चार देवताओं को निरुक्तकार ने मध्यमस्थानीय और द्युस्थानीय अर्थात् दो स्थानीय माना है। निर्वचन के आधार पर ही ये शब्द पृथिवी-स्थानीय हैं, तो शेष दोनों स्थानीय भी विशेष्य-विशेषणवाची होने से निर्वचन के आधार पर ही युक्त बैठेंगे। ऐसे ही मध्यमस्थानीय और द्यु-स्थानीय के विषय में भी समझना चाहिये। यास्क ने इसलिये इन शब्दों का निर्वचन किया है। निर्वचन दिखाने से यही सिद्ध होता है कि ये विशेषणवाची भी हैं और विशेष्यवाची भी। एक आत्मा को ही मुख्य देवता मानकर पृथिवीस्थानीय, मध्यमस्थानीय और द्युस्थानीय देवताओं का निरूपण किया है। इन सबका समन्वय विशेष्यविशेषणवाद वा निर्वचन के आधार पर ही ठीक युक्त बैठता है।

यजुःसर्वानुक्रमणी

ऊपर हमने ऋक्सर्वानुक्रमणी के विषय में लिखा, जिसके देवता आचार्य दयानन्द ने भी प्रायः माने हैं।

अब पाठक यजुःसर्वानुक्रमणी के विषय में विचार करें। इसी विवरण के पृ० ७ पर हमने विस्तार से दर्शाया है कि दुर्ग और स्कन्द "इषे त्वा" (य० १।१) इस प्रथम मन्त्र को अनादिष्टदेवता वाला मानते हैं। उनके मत में शाखाछेदनादि में इस मन्त्र का विनियोग मात्र है, शाखा देवता नहीं। इससे स्पष्ट है कि उनके काल में यह यजुःसर्वानुक्रमणी तो थी नहीं। दर्श याग के मुख्य देवता 'इन्द्र' या 'महेन्द्र' ही इस मन्त्र के देवता हैं, शाखादि नहीं।

और देखिये! जब उवट ने यजुःप्रातिशाख्य पर टीका लिखी तो वह यजुर्वेद का भाष्यकार होते हुये यजुःसर्वानुक्रमणी पर भी अवश्य ही टीका लिखता[1]। टीका लिखना तो एक ओर रहा, उवट ने तो यजुःसर्वानु-क्रमणी का नाम तक भी अपने भाष्य में नहीं लिया। सायणादि भाष्य-कार अपने भाष्यों में सर्वत्र ऋक्सर्वानुक्रमणी के उद्धरण दे देकर ऋषि,

१. डी० ए० वी० कालेज लाहौर (वर्त्तमान साधु आश्रम होशियारपुर) के लालचन्द पुस्तकालय में ऋक्सर्वानुक्रमणी की उवटकृतटीका विद्यमान है। जब उवट ने ऋक्प्रातिशाख्य की तरह ऋक्सर्वानुक्रमणी पर भी टीका रची, तब यदि उसके काल में यजुःसर्वानुक्रमणी विद्यमान होती तो उस पर टीका क्यों न लिखता?

देवता, छन्द आदि का निर्देश करते हैं। उवट यजुर्वेदभाष्य के प्रारम्भ में लिखता है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छान्दसं च यत्॥

(उवट भा० पृ० १)

इस वचन से तो उवट ने देवता के निर्णय में यजुःसर्वानुक्रमणी का इङ्गित (इशारा) मात्र नहीं किया। इस सबसे हमने विवरण पृ० ७ पर यही सिद्ध किया है कि यह यजुःसर्वानुक्रमणी अवश्य ही उवट से पीछे की है। ऐसी अवस्था में ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित यजुर्वेदभाष्य के प्रथम अध्याय के ३१ मन्त्रों में से २६ मन्त्रों के देवता भिन्न मानना किसी प्रकार भी अयुक्त नहीं कहा जा सकता।

यहाँ इतना और ध्यान रहे कि शतपथब्राह्मण (६।४।२।१५) में **"यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते"** अर्थात् जिसके लिये 'हविः' दी जावे, वही देवता कहलाता है। इसी विषय में मीमांसा शाबरभाष्य (चौखम्बा संस्करण) १०।४।२२ पृ० ६७ पर लिखा है—**"यस्य वाचकमुद्दिश्य स्मृत्वा वा हविस्त्यक्ष्यामीति संकल्पः क्रियते सा देवता भवति तत्र"** अर्थात्—जिसके लिये 'हविः' दी जाती है, वही देवता कहाता है, इत्यादि। भला ब्राह्मणों तथा श्रौत स्मार्त्त प्रक्रिया का जानने वाला कौन कह सकता है कि 'शाखा' को हविः दी जाती है, कोई सर्वथा अनभिज्ञ ही ऐसा कहने का साहस भले कर सकता है।

अब पाठक स्वयं विचार करें कि 'सविता' जो मन्त्र में आया है, वह देवता ठीक है (जैसा कि ऋषि दयानन्द ने माना) या शाखा? इसी प्रकार अन्यों के विषय में भी समझना चाहिये।

हमारे इस लेख का अभिप्राय इतना ही है कि सर्वानुक्रमणी या बृहद्-देवता ने जो देवता लिख दिये, वही अन्तिम प्रमाण नहीं। इनसे भिन्न भी देवता हो सकते हैं और मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय का नाम देवता है। ऐसी अवस्था में प्रतिपाद्यविषय में भिन्न-भिन्न दृष्टि होने से यत्र-तत्र सर्वानु-क्रमणी से भिन्न देवता मानना किसी प्रकार भी दोषावह नहीं कहा जा सकता। विकल्प मानने पर प्रकरणादि के अनुसार ग्राह्य माने जा सकते हैं।

ऋषि दयानन्द देवता किसको मानते हैं, इसके लिये ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका को स्वयं देखें, विशेषतया पृ० ६० से ७० तक। हम यहां संक्षेप

के कारण एक ही उद्धरण उपस्थित करते हैं, जिसमें उन्होंने अर्थ को देवता माना है—

"यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते" ऋ० भा० भूमिका पृ० ६०। 'तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते'। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्........" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३६८, ३६९।

अर्थात्—जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है।

देवतावाद के विषय में ये विचार अतिसंक्षेप से हमने लिखे हैं। इस छोटीसी भूमिका में इस विषय में अधिक लिखना असम्भव था। देवतावाद के विषय में विपुल सामग्री संगृहीत हो चुकी है, इस विषय का विशद निरूपण अवसर प्राप्त होने पर हम कभी पृथक् ग्रन्थ रूप में करेंगे।

वेद में इतिहास[1]

यह हम पहले कह चुके हैं कि वैदिक शब्दों के यौगिक प्रक्रिया के आधार पर अर्थ होते हैं, तथा प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है। योरुपीयन स्कालर और उनके अनुगामी बहुत से भारतीय यह कहते हैं कि 'इन्द्र' 'अङ्गिराः' और 'कण्व' आदि व्यक्तिविशेषों के नाम हैं, जो वेदों में स्पष्ट पाये जाते हैं, अर्थात् ये व्यक्तिविशेषों की संज्ञाएं (Proper Names) हैं। भला हम पूछते हैं थोड़ीसी अंग्रेजी जाननेवाला बालक भी जान सकता है कि व्यक्तिविशेष (Proper Names) के आगे आतिशायिक प्रत्यय 'तर' और 'तम', जिनको अंग्रेज़ी में er. est. अर्थात् Comparative, Superlative degrees कहते हैं, कभी आ सकते हैं ? Devdatta-Devdatter-Devdattest कभी नहीं हो सकता ? ये डिग्रियाँ विशेषणवाची शब्दों (Adjectives) के साथ ही लगती हैं। उधर स्वयं वेद इन शब्दों के विषय में क्या कहता है, सो देखें—

---

१. इस विषय का विवेचन अतिसंक्षेप से हम पूर्व (पृ० १०७) कर चुके हैं। पाठक वहाँ देखें। हमारे बनाये "निरुक्तकार और वेद में इतिहास" तथा "वेदार्थ और शन्तनु" को देखें। इस विषय में सहायक रूप में पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत 'क्या वैदिक ऋषि मन्त्ररचयिता थे' तथा "ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार" में भी देखें। ये सब ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट गुरुबाजार अमृतसर से मिल सकते हैं।

(१) अभूंदुषा इन्द्रंतमा मुघोन्यजींजनत् सुवितायु श्रवांसि ।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूंनि ॥
ऋ० ७।७९।३॥

इस एक ही मन्त्र में 'इन्द्र' और 'अङ्गिराः' इन दोनों से आगे तमप् प्रत्यय (Superlative degree) है। इसी प्रकार 'कण्वतमा' भी आता है। **अग्नि: कण्वतम: कण्वसखा** (ऋ० १०।११५।४) **कण्व एषां कण्वतम:** ......(ऋ० १।४८।४)। इससे स्पष्ट है कि वेद इन शब्दों को विशेषण-वाची (Adjectives) मानता है, व्यक्तिविशेष (Nouns) नहीं मानता।

(१) और भी देखें, ऋ० १।५९।७ में **"भारद्वाजेषु यजतो०"**, ऋ० १।७७।५ में **"विप्रेभि:"** ऋ० ३।५३।१६ में **"जामदग्नयो दधु:"** इत्यादि स्थलों के बहुवचनान्त प्रयोगों से ये शब्द व्यक्तिविशेषों के नाम कैसे हो सकते हैं, विशेषणवाची ही हैं, यह स्पष्ट है।

(२) अब निरुक्तकार ने **"तत्रेतिहासमाचक्षते"** इत्यादि कहकर (या न कह कर) जो भी देवापि, शन्तनु आदि के इतिहास दर्शाये हैं, इसके लिये हमें यास्क के **'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता'** (नि० १०।१०,४६) वचनानुसार मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान (इतिहास) आदि से युक्त कहने (व्याख्या करने) की प्रीति होती है, न कि वे वास्तविक इतिहास हैं, यह समझना चाहिये।

यास्क के इतिहास के स्वरूप को बताने के लिये हम एक और स्थल उपस्थित करते हैं। यास्क ने निरुक्त १२।१० में सरण्यू विषयक मन्त्र की व्याख्या करते हुए **'तत्रेतिहासमाचक्षते'** ऐसा लिख कर एक आख्यान लिखा है। पुन: अगले खण्ड में उस आख्यान सम्बन्धित ऋचा का व्याख्यान करके अन्त में लिखा है—**'यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश। रात्रिरादित्यस्य, आदित्योदयेऽन्तर्धीयते'**।

अर्थात्—यम की माता और महान् विवस्वान् की पत्नी विवाह होते ही नष्ट हो गई। आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय होने पर नष्ट हो जाती है।

यास्क के इस पाठ से स्पष्ट है कि निरुक्त १२।१०,११ का सरण्यू-विषयक इतिहास किन्हीं व्यक्तिविशेषों का नहीं है, अपितु रात्रि और सूर्यादि प्राकृतिक पदार्थों का आलङ्कारिक वर्णनमात्र है। इस प्रकार स्वयं यास्क के मतानुसार उसके द्वारा लिखित इतिहास के स्वरूप को

स्पष्ट करके नैरुक्त सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की इस विषय में क्या धारणा है, इसको व्यक्त करते हैं—

सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष प्राचीन ऋग्भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी अपनी निरुक्त की टीका भाग २ पृ० ७८ पर लिखता है—

"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। ......औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्"।

अर्थात्—इसी प्रकार जिन-जिन मन्त्रों में आख्यान=इतिहास का वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है ......मन्त्रों में आख्यान=इतिहास का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है। वास्तव में तो नित्यपक्ष ही मन्त्रों का विषय है।

आचार्य स्कन्दस्वामी ने केवल 'देवापि और शन्तनु' को विद्युत् और जल बताकर इन मन्त्रों या उस सूक्त की ही सङ्गति नहीं दिखाई, अपितु सारे निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त इस विषय में प्रतिपादित कर दिया। "एष शास्त्रे सिद्धान्तः" "परमार्थेन तु नित्यपक्ष इत्येव सिद्धम्" क्या ये उद्धरण कुछ भी व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं!

(३) इतना ही नहीं इससे भी पूर्ववर्त्ती कहा जानेवाला आचार्य वररुचि अपने **निरुक्तसमुच्चय** में (पृ० ७१) स्कन्दस्वामी के शब्दों में ही कहता है—

"औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः"।

अर्थात्– मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जायगा। परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही (ठीक) है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

ऊपर के दोनों उद्धरणों में सर्वथा एक जैसे शब्द हैं। जैसे दोनों ने सम्मति करके लिखे हों। यह है वेद में इतिहास विषय की नैरुक्तों की परिभाषा वा परम्परा का स्वरूप। इन दोनों प्रमाणों से सिद्धान्तरूप में ऐतिहासिक पक्ष का औपचारिकत्व (गौणत्व) सूर्य के प्रकाश की भाँति सिद्ध है। हम समझते हैं कि पक्षपातरहित विद्वानों को नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को मानने में यत् किञ्चित् भी ननुनच न होगी।

(४) निरु० १०।२६ दुर्ग टी० पृ० ७४४ **"स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः, तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्"** (देखो पूर्व पृ० १०८)।

दुर्ग और स्कन्द के इस इतिहास विषय की उपर्युक्त धारणा के अनेक स्थल हैं, जो पाठकों को स्वयं उक्त ग्रन्थों में अवश्य देखने चाहियें।

(५) इनके अतिरिक्त उद्गीथ ने ऋ० १०।८२।२ में **'ऋषि'** का अर्थ **'रश्मि'** किया है। अस्यवामीय सूक्त के भाष्य में आत्मानन्द ने **'अश्विनौ'** का अर्थ **"गुरुशिष्यौ"** किया है, और भी कई एक शब्दों का अर्थ हम पूर्व पृ० १४४ पर दर्शा चुके हैं। इसी प्रकार एकाग्निकाण्ड के भाष्य में हरदत्त पृ० १७३ पर, शबरस्वामी ने मीमांसाभाष्य १।२।१० पृ० ३३, ३६, ३८, ४३, तथा मी० ६।१।४४ पृ० १६६० में लिखा है—**"मेधातिथेर्मेष इत्येवमादि। इतिहासवचनमिदं प्रतिभाति, इतिहासे च विधौ सति आदिमत्ता-दोषो वेदस्य प्रसज्येत"** अर्थात्—यह इतिहास जैसा प्रतीत होता है (है नहीं), यदि इनिहास माना जावे, तो वेद को अनित्य मानना होगा।

कुमारिलभट्ट मीमां० तन्त्रवार्त्तिक पृ० ६४, ६६, ६७, १३३, १४७, १५३, १५५, १५६ पर इतिहास विषय में बहुत कुछ लिखा है, जिससे हमारे विचार की पुष्टि होती है। सुश्रुत सूत्रस्थान ५ अध्याय में लिखा है—

"यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः। ......रुद्रो रोषः। सोमः प्रसादः। वसवः सुखम्। अश्विनौ कान्तिः। मरुदुत्साहः। तमो मोहः। ज्योतिर्ज्ञानम् ......"। इसी प्रकार चरक में भी है।

इन प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भान्ति यह स्पष्ट है कि आज से डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व तक वेद में अनित्य वा व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं, अपितु प्रकृति के प्रवाह से नित्य पदार्थों का औपचारिक वा आलङ्कारिक रूप में वर्णन है, यह परम्परा विद्यमान थी, जिसे सायण वा पश्चाद्वर्त्ती वेदभाष्यकारों ने नष्ट कर दिया, जिसका पुनरुद्धार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया।

हमारा यह दृढ़ मत है कि समस्त वेद में किसी भी प्रकार का किसी का कोई इतिहास नहीं है। प्राकृतिक जगत् के कारण तथा कार्य रूप तत्त्वों का औपचारिक आलङ्कारिक वर्णन है[1]।

---

१. निरुक्त के समस्त ऐतिहासिक स्थलों पर विशद निरूपण होना आवश्यक है। इसी विचार से 'देवापि और शन्तनु' पर मैंने लिखा भी है, जो छप चुका है।

स्थान न होने से यहाँ इतिहास विषय में केवल निर्देश मात्र ही लिखा है[1]।

[2]व्यत्यय और वेदार्थ

यास्क अर्थ के पीछे विभक्ति वा स्वर को मानते हैं, यह हम पूर्व पृ० १०२, १०९ पर कह चुके हैं। **"अर्थनित्यः परीक्षेत", "यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्"** (निरु० २।१)। निरुक्त ५।२३ में—**"कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद् दृष्टव्ययं तु भवति"** स्पष्ट स्वर का व्यत्यय माना है। यह तो स्वर के व्यत्यय की बात हुई। सामान्य व्यत्यय में **"यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्"** (निरुक्त २।१) से यास्क का मत स्पष्ट विदित हो जाता है। इतना ही नहीं, निरु० ६।१ में **'आशुशुक्षणि'** पद को प्रथमान्त होते हुये भी यास्क ने **'पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा'** यह कह कर मनसा वाचा ही नहीं, अपितु कर्मणा भी व्यत्यय को स्वीकार किया है। इस व्यत्यय को समस्त वेद-भाष्यकारों को अपने भाष्यों में अवश्य मानना पड़ा है। उदाहरणार्थ पाठकवृन्द स्कन्द ऋग्वेदभाष्य प्रथम खण्ड (मद्रासमुद्रित) में पदे-पदे देख सकते हैं।

व्यत्यय के विषय में प्रमाणादि पाठक इस वेदभाष्य विवरण के पृ० १५, १६ तथा पृ० २८, २९ पर देखें। वहाँ संक्षेप से इस व्यत्यय के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है।

इसी प्रकार मैकडानल तथा कीथ कृत "वैदिक इण्डैक्स" (Vedic Index of names and subjects) आदि में ऐतिहासिक कहे जाने वाले सब स्थलों पर पूरा प्रौढ़तापूर्ण प्रकाश डाला जाना चाहिये। ये सब काम हैं जो आर्यसमाज को उठाने चाहियें। एक अकेला व्यक्ति कोई भी ये सब काम नहीं कर सकता। लोगों के सामने काम नहीं, मुझे तो इतने काम प्रतीत होते हैं जो दस बीस कार्यकर्त्ता निरन्तर और एक ही कार्य करें, तो जीवन भर में भी समाप्त होते नहीं दीखते। प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ये कार्य हैं, वही भिन्न-भिन्न आत्माओं में प्रेरणा करेंगे, तभी होने सम्भव हैं। अन्तर्यामी प्रभु हमें बल देवें !

१. स्वतन्त्र विषय होने से इस विषय का पृथक् वा विस्तृत विवेचन अलग होना आवश्यक है। देखें कब हो पाता है।

२. यास्क निरु० ७।९ में 'सुविदत्रेभ्यः' में 'सु' और 'वि' दो उपसर्ग मानते हैं। उधर एक उपसर्ग भी मानते हैं। इस से भी स्पष्ट है कि यास्क स्वरव्यत्यय को मानते हैं।

आचार्य दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में एक और नियम को ध्यान में रख कर भाष्य किया है। य० १।८ के भाष्य में "(असि) अस्ति वा, अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते"। इस स्थल में 'सर्वत्र भौतिकपक्षे' ये दोनों पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। भौतिकपक्ष में सर्वत्र मध्यम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष का अर्थ होता है, ऐसा उनका विचार है। इसी प्रकार जहाँ भौतिक वा जड़ पदार्थों में सम्बोधन है, वहाँ-वहाँ भी प्रथमा विभक्ति का अर्थ लेना चाहिये, ऐसा उनका अभिप्राय है। वेदार्थ जिज्ञासुओं के लिये उनकी इस धारणा को समझकर ही इस भाष्य का अध्ययन करना आवश्यक है।

इस व्यत्यय के विषय में वास्तविक स्थिति यह है कि जिस विभक्ति या वचन में जो शब्द जिस रूप में वेद में आया है, उस शब्द का उसके अपने वर्त्तमान रूप में अर्थ होगा ही नहीं, यह बात नहीं। स्थिति यह है कि **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** (अर्थ की मुख्यता को सदा लक्ष्य में रखना चाहिये) निरुक्तकार के इस सिद्धान्तानुसार अर्थ की प्रधानता को लक्ष्य में रखते हुए जो विभक्ति जिस अर्थ में सुसङ्गत और सुसम्बद्ध होती हो, वह अर्थ उस वर्त्तमान विभक्ति के अन्दर ही वेद के शब्दों में विद्यमान है, यह व्यत्यय की स्थिति है। लोक में वह विभक्ति या वचन प्रायः अपने नियत अर्थ में प्रयुक्त होता है। यही लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद है।

दूसरी स्थिति यह भी है कि वेद के शब्द की विभक्ति का लौकिक विभक्ति के अनुसार वर्त्तमान अर्थ भी होता अवश्य है, अर्थात् यदि एक पद याज्ञिक प्रक्रिया में व्यत्यय से ठीक बैठता है तो वही शब्द आधिदैविक प्रक्रिया में अपनी वर्त्तमान विभक्ति वा वचनों के अर्थों को लेकर ही ठीक उतर जायगा, इसी प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रिया में यह बात घट जायगी। यह सर्वत्र सम्भव नहीं, यह विचार केवल विभक्ति वचन में ही नहीं अपितु 'सुप्तिङुपग्रह०' (महा० भा० ३।१।८५) आदि सबके विषय में होगा। वैदिक और लौकिक शब्दों का यही मुख्य अन्तर है।

[1]पदपाठ और वेदार्थ

बहुत से लोगों का यह कहना है कि पदकारों ने जो पदपाठ किये, उनसे भिन्न पदविभाग नहीं किया जा सकता और इनमें जैसा स्वर होगा,

१. पदपाठ के विषय में विवरण पृ० ९ पर हमारी टिप्पणी (क) भी देखें।

उसके अनुसार ही उसका अर्थ होगा। ऐसा समझना उनकी भ्रान्ति है। इस विषय में इतने प्रमाण हैं, जो यहाँ लिखे नहीं जा सकते। यास्क, पतञ्जलि आदि महर्षियों के कुछ एक वचन ही उपस्थित करने पर्याप्त होंगे—

(१) निरु० ५।२१ में मासकृत् **"मासानां चार्द्धमासानां च कर्त्ता भवति चन्द्रमाः"**—इससे यास्क ने 'मासकृत्' शब्द को उपपदसमास द्वारा एक पद माना है। **'गतिकारकोपपदात् कृत्'** (अ० ६।२।१३९) से उत्तरपदान्तोदात्त स्वर भी ठीक है। उधर शाकल्य के पदपाठ में इस 'मासकृत्' शब्द को दो पद 'मा, सकृत्' ऐसा माना गया है।

ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य ऋ० १।१०५।१८ में दोनों पक्ष दर्शा दिये हैं। इससे सिद्ध है कि दोनों प्रकार का व्याख्यान हो सकता है। यास्क और शाकल्य दोनों ठीक कह रहे हैं। आचार्य स्कन्दस्वामी इसी पर लिखता है—

"मासकृदिति यस्यैकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम्। शाकल्यस्य द्वे एव पदे"। स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ३६६।

पदपाठ अर्थ के पीछे है, न कि पदपाठ के पीछे अर्थ, यह यास्क के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है।

(२) निरु० ६।२८ में—

"वेति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः"।

यहाँ यास्क ने शाकल्य के पदपाठ को न मानकर स्वर में भेद दिखाते हुये, उनका प्रत्याख्यान किया है।

(३) निरुक्त समुच्चय पृ० ६६ में—

"पदकारैरेतत् पदं नावगृहीतं, तथापि भाष्यकारवचनात् पदकारमनादृत्यैतन्निरुक्तम्"।

अर्थात्—पदकारों ने इस पद का अवग्रह (पृथक् करना) नहीं किया, तथापि भाष्यकार के वचन से पदकार की बात न मानकर ही निर्वचन दिखाया गया है।

(४) महाभाष्य ८।२।१६ पृ० ६२—

"अवग्रहोऽपि—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्, यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्"।

(५) भर्तृहरि महाभाष्य टीका—हमारा हस्तलेख पृ० २६८—

"एवं च कृत्वा वृको मासकृदित्यवग्रहभेदेऽपि भवति चन्द्रमसि प्रवृत्तो मासशब्दोऽवगृह्यते, वृके मा सकृदिति" ।

अर्थात्—यदि चन्द्रमा का प्रकरण है वा अर्थ है, तब तो 'मास-कृत्' ऐसा अलग अवग्रह करना ठीक है, जब यह अर्थ न होगा तब 'मा-सकृत्' ऐसा अवग्रह पृथक्-पृथक् पद रहेगा।

(६) (i) **"आदी केचित् पदकारा आ आदीत्यवगृह्णन्ति, केचिदैकपद्यं मन्यन्ते"** । महाभा० प्रदीप ६।४।६४। पृ० २७६ ।

यहाँ कैयट ने दो प्रकार का पदविभाग दर्शाया है।

(ii) महाभा० ३।१।१०६ पृ० १२३ कैयट—**"संहिताया एव नित्यत्वं, पदविच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम्। तथा च यत्रार्थनिश्चयाभावस्तत्रावग्रहो न क्रियते। तदुक्तम्—हरिद्रु रनवगृह्यते इति। हरिद्रु रित्यत्र किं हरिशब्द इकारान्त अथ हरित्शब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्"** ।

यहाँ भी कैयट ने पूर्ववत् दो प्रकार का पदविभाग दर्शाया है।

(७) स्कन्द निरु० टी० २।१३ भा० २ पृ० ८१—

"शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति, तदेव कारणम्। विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन 'अधीवासम्' नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु 'अधि वासम्' इत्यवगृहीतम्। तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः" ।

अर्थात्—शाकल्य, आत्रेय आदिकों ने अवग्रह नहीं किया, पूर्व निर्वचन को लक्ष्य में रखने से गार्ग्य प्रभृतियों ने अवग्रह किया है। इसमें कारण वही है। पदकारों के अभिप्राय विचित्र होते हैं, कहीं पर उपसर्ग के विषय में भी अवग्रह नहीं करते। जैसे शाकल्य ने ऋ० १।१६२।१६ में 'अधीवासम्' पद का अवग्रह नहीं किया, आत्रेय ने (तै० सं० के पदपाठ में) 'अधिऽवासम्' ऐसा अवग्रह दर्शाया है। अन्त में स्कन्द स्वामी कहता है—**"तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः"** । अर्थात् अवग्रह नियत नहीं।

इसलिये हमारा कहना यह है कि अवग्रह को नियत नहीं समझ लेना चाहिये। एक आचार्य ने किसी पद का एक प्रकार से अवग्रह दर्शाया, तो उसी को पकड़ कर न बैठ जाना चाहिये।

इन उद्धरणों से सिद्ध है कि अवग्रह ऐच्छिक है, जो भी अर्थानुसारी ठीक बैठे। ऋषि दयानन्द की भी यही धारणा है, इसी धारणा के अनु-

सार उन्होंने यत्र-तत्र पदपाठ से भिन्न पदविभाग करके भी मन्त्रों के अर्थ दर्शाये हैं।

यहाँ इतना ध्यान रहे कि सब पदकार वैयाकरण हुये हैं, ऐसी हमारी धारणा है। क्योंकि धातु, उपसर्ग, समासादि का ज्ञान विना व्याकरण के नहीं हो सकता। निरुक्तशास्त्र के ज्ञान के विना पदविभाग का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, यह हम पूर्व कह चुके हैं।

पदपाठ के विषय में भी यहाँ इस भूमिका में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा। विशद निरूपण अवसर प्राप्त होने पर पुनः कभी करने का यत्न करेंगे।

वैदिक छन्दोवाद

छन्दोज्ञान की आवश्यकता

वेदार्थविषय में वाक्यार्थबोध के लिये छन्दोज्ञान[1] की भी आवश्यकता है (इस विषय में हम कुछ पृ० ६७ पर भी दर्शा चुके हैं)। इसीलिये कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखा है—**मन्त्राणामार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति।** (परि० १।४)। छन्दों के ज्ञान से वेदार्थज्ञान में प्रौढ़ता आती है, क्योंकि वाक्यार्थबोध में इससे पर्याप्त सहायता मिलती है।

छन्दोलक्षण

ऋक्सर्वानुक्रमणी (२।६) में—**"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः"**, तथा अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी (१।१) में **"छन्दोऽक्षरसंख्याव्यवच्छेदकमुच्यते"**, अर्थात् अक्षरों के परिमाण का नाम छन्द है। जिस शब्द को सुनते ही मन्त्रगत अक्षरों की संख्या का परिज्ञान हो जावे, वह छन्द कहाता है।

छन्दों के भेद

वेद में प्रयुक्त होनेवाले छन्दों के मुख्यतया चार भेद हैं—

(१) **प्रथम सप्तक**—प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-जगती इन सात छन्दों के सप्तक (समूह) को

---

१. इस विषय का विशेष विवेचन रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत "वैदिक छन्दोमीमांसा" के पञ्चमाध्याय में देखें। छन्दोविषय में अन्य ज्ञातव्य भी उसी में देखें। इसमें छन्दोविषय में अत्यन्त उपयोगी, विस्तृत विवेचन है। पाठक इसे अवश्य देखें।

छन्दों का मुख्य भेद माना है। इनके लक्षण तथा विस्तार यथाशास्त्र देखने चाहियें। इनमें सामान्य रूप से गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पङ्क्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४ और जगती ४८ अक्षर का होता है।

(२) **द्वितीय सप्तक**—अतिजगती ५२, शक्वरी ५६, अतिशक्वरी ६०, अष्टि ६४, अत्यष्टि ६८, धृति ७२, अतिधृति ७६ अक्षरों का होता है। देखो पिङ्गलसूत्र अ० ४, ५-७; ऋक्प्रातिशाख्य १६, ८१-८६; निदानसूत्र १, ५ पृ० ८; ऋक्सर्वानुक्रमणी परिभाषाप्रकरण ३, २; बृहत्सर्वानु० १३, ३ पृ० १३३; उपनिदानसूत्र पृ० ५; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४१; वेदार्थदीपिका पृ० ७६।

(३) **तृतीय सप्तक**—कृति ८०, प्रकृति ८४, आकृति ८८, विकृति ९२, संकृति ९६, अभिकृति १००, उत्कृति १०४। देखो पिङ्गलसूत्र अ० ४, १-४; निदानसूत्र १,५ पृ० ८; उपनिदानसूत्र पृ० ५, ६ तथा १; ऋक्प्रातिशाख्य १६, ८८; बृहत्सर्वानु० पृ० १३२, १३३; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२; षड्गुरुशिष्य वेदार्थदीपिका पृ० ७६, ७७।

(४) मा ४, प्रमा ८, प्रतिमा १२, उपमा १६, समा २०। देखो ऋक्प्राति० १७, १९; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२। ऋक्प्रातिशाख्यकार ने दो अक्षरों की न्यूनता में इन्हीं 'मा' आदि को क्रमशः हर्षीका, सर्षीका, मर्षीका, सर्वमात्रा, विराट्कामा (ऋक्प्राति० १७,२०; निदानसूत्र १, ५ पृ० ९) संज्ञाओं से व्यवहृत किया है। उपनिदानसूत्र पृ० ६ में "**पञ्चादौ चोक्तात्युक्तमध्ये प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठेत्यनिर्दिष्टानि**" इन मादि के उक्तादि नाम दर्शाये हैं। ये ही उक्तादि नाम जानाश्रयी छन्दोविचितिकार ने भी माने हैं। षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका पृ० ७६, ७७ में इन उक्तादि छन्दों के उदाहरण दिखाये हैं। '**उक्तादिपञ्चकं केचिद् गायत्रीत्येव कथ्यते**' कहकर इनको गायत्री का भेद माना है। वेङ्कटमाधव ने अपनी छन्दोऽनुक्रमणी में लिखा है—

प्रातिशाख्ये निदाने च मा प्रमा प्रतिमेति च।
नानाविधानि छन्दांसि लक्षितानि च लक्षणैः॥

ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने इन मादि का उल्लेख नहीं किया। ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका वेदार्थदीपिका (पृ० ७६, ७७) में इनका निरूपण मिलता है। यह ऊपर लिख चुके।

ये चार प्रकार (यदि हृषींकादि को भिन्न मानें तो पांच प्रकार) के छन्द हैं, जिनके द्वारा समस्त वैदिक छन्दों का निरूपण किया गया है।

छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार

पूर्वोक्त चार प्रकार के छन्दों में प्रायः सर्वत्र गायत्र्यादि की ही प्रधानता सर्वसम्मत है। इन गायत्र्यादि छन्दों के निर्णय के दो प्रधान प्रकार हैं।

प्रथम—अक्षरगणना—जिसमें केवल अक्षरों की गिनती करके ही छन्द का निश्चय किया जाता है। ये प्रतिछन्द दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, आर्ची, याजुषी, साम्नी, आर्षी और ब्राह्मी भेद से अनेक प्रकार के हैं।

द्वितीय—जिसमें अक्षरगणना के साथ-साथ पादव्यवस्था का भी ध्यान रखा जाता है। दोनों ही प्रकार शास्त्रसम्मत हैं। यह इस प्रकरण का निष्कर्ष है। कई लोगों का मत है कि केवल यजुर्मन्त्रों में ही अक्षरगणना से छन्दोनिर्णय होता है, ऋङ्मन्त्रों में पादव्यवस्था से ही छन्दों का निश्चय करना चाहिये। उनका यह कथन अत्यन्त भ्रमपूर्ण है, इसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

गायत्र्यादि छन्दों के अवान्तर भेद

पूर्वोक्त छन्दों के अवान्तर अनेक सूक्ष्म भेद-प्रभेद हैं, जिनका विस्तृतज्ञान यथाशास्त्र ही हो सकता है। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि छन्दःशास्त्र के जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन सबमें परस्पर बहुत से सूक्ष्म भेद हैं। अतः जो व्यक्ति केवल एक ग्रन्थ के आधार पर ही सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय के छन्दों की विवेचना करने का दुःसाहस करेगा, वह अवश्य ही धोखा खायेगा।

अतिजगत्यादि छन्दों की पादव्यवस्था में मतभेद

कृत्यादि तृतीय सप्तक में किसी आचार्य ने पादव्यवस्था नहीं मानी। वेदार्थदीपिका (पृ० ७७) में षड्गुरुशिष्य ने कृत्यादि में दो तीन स्थलों में पादव्यवस्था दर्शाई है। अतिजगत्यादि द्वितीय सप्तक में पादव्यवस्था के विषय में मतभेद है। ऋक्सर्वानुक्रणी की टीका करते हुये षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—**"उत्तरसप्तवर्गेऽतिजगत्याद्यतिधृत्यन्तेऽक्षरसंख्यैव, न पादविशेषात् संज्ञाविशेषाः। पादाश्चानुक्रमण्यन्तरसिद्धा उच्यन्ते"** (पृ० ७५)। अर्थात् "ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने अतिजगत्यादि में पादव्यवस्था नहीं मानी, पुनरपि मैं अन्य सर्वानुक्रमणियों के मत से पादव्यवस्था

दर्शाता हूं"। इस प्रकार कृत्यादि सप्तक में पादव्यवस्था का अभाव, और अतिजगत्यादि में उभयथा है। कृत्यादि सप्तक ऋक्सर्वानुक्रमणी को छोड़कर सबने माना है। यह यहाँ का सार है।

ऋङ्मन्त्रों के छन्दों के दो प्रधान भेद

छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार हम ऊपर दर्शा चुके। अर्थात् एक वे छन्द हैं, जिनमें केवल अक्षरगणना के आधार पर निर्णय होता है। दूसरे वे हैं जो अक्षरगणना के साथ-साथ पादव्यवस्था के नियम से सिद्ध होते हैं।

याजुषमन्त्रों के छन्द अक्षरगणना से ही सिद्ध होते हैं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं। पर ऋङ्मन्त्रों में दोनों प्रकार के छन्द माने जाते हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणीकार आदि प्रायः पादव्यवस्थित छन्दों का ही उल्लेख करते हैं (कहीं-कहीं अक्षरगणना से भी छन्द माने हैं, उन्हें हम आगे दर्शायेंगे), और जहाँ पाद में अक्षर की न्यूनता होती है, वहाँ व्यूह करके (सन्धिच्छेद द्वारा पृथक् स्वतन्त्र अक्षर मान कर) अक्षरों की पूर्त्ति करते हैं। यह गणना क्यों की जाती है, इस का विवेचन आगे किया जायगा, **पर अन्य कई एक प्राचीन आचार्य केवल अक्षरगणना से भी ऋङ्मन्त्रों के छन्द लिखते हैं**। इस प्रकार ऋङ्-मन्त्रों में दोनों प्रक्रियाओं का आश्रयण करने पर सहस्रों मन्त्रों के छन्दों में भेद हो जाता है। इस व्यवस्था को न समझ कर कई लोगों को भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। भ्रान्ति अज्ञान वा अल्पज्ञता की बोधक होती है। जब तक वह दूर न हो जावे, भ्रान्ति बनी ही रहेगी।

अतः अब हम इस छन्दोवाद के विषय में अत्यन्त प्रबल कहे जाने वाले पूर्वपक्ष का उल्लेख करते हैं, जिससे विज्ञ पाठकों को इस विषय के निर्णय तक पहुंचने में सुगमता होगी।

क्या स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में छन्दों की सात हजार अशुद्धियां हैं?

आचार्य दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य में इन उपर्युक्त दोनों प्रक्रियाओं में से प्रायः अक्षरगणना वाली प्रक्रिया के अनुसार छन्द लिखे हैं। पर आजकल के कुछ अल्पश्रुत लोग (जो इस शास्त्रीय प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं) स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अक्षरगणना की प्रक्रियानुसार लिखे हुये छन्दों को सर्वथा अशुद्ध मानते हैं। इनमें से एक महानुभाव

स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में लिखे हुए छन्दों में सात हजार अशुद्धियाँ दर्शाते हुये लिखते हैं—

अथ पूर्वपक्ष

(क) "दूसरी और प्रधान अड़चन यह है कि अक्षरसंख्या से छन्दोनिर्णय जो करते हैं, वह पादव्यवस्था जिन मन्त्रों में नहीं होती, उनका ही किया जाता है। जहाँ पादबद्ध रचना होती है, उन मन्त्रों की व्यवस्था स्वतन्त्र है। "पादः" इस अधिकार सूत्र से पूर्व ही "आर्ची", "दैवी" आदि भेद छन्दःशास्त्र में कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये पादव्यवस्था न होने की अवस्था के छन्द हैं। अर्थात् जहाँ पादव्यवस्था नहीं है, उन यजुर्वेदमन्त्रों के लिये वह नियम है"।

(ख) "यजुर्वेद के पादहीन छन्दों की गणना जैसी की जाती है, वैसी ही पादवाले छन्दों की गणना करके बड़ी ही असावधानता की है"।

(ग) "अजमेरमुद्रित ऋग्वेद में दूसरे-दूसरे ही छन्द दिये हैं, वे सबके सब अशुद्ध हैं। इस तरह की सम्पूर्ण ऋग्वेद के ग्यारह हजार मन्त्रों में से ७।८ हजार मन्त्रों में अशुद्धियाँ ही अशुद्धियाँ हैं[1]।"

इनमें पूर्वोद्धरण के तीन भाग हैं—

(१) प्रथम—ऋङ्मन्त्रों के छन्द केवल अक्षरगणना से सिद्ध नहीं होते।

(२) द्वितीय—ऋङ्मन्त्रों में "दैवी", "आर्ची" आदि विशेषण नहीं लगते, क्योंकि ये "दैवी", "आर्ची" आदि छन्द पिङ्गलसूत्र में 'पादः' (३।१) अधिकार से पूर्व के हैं।

(३) तृतीय—स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में छन्दों की सात-आठ हजार अशुद्धियाँ हैं।

साधारण बुद्धिवाले को ये तीनों ही आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे। ऐसी अवस्था में जब प्रक्रिया का ही भेद हो जाता है, तो सात हजार तो क्या "सबके सब अशुद्ध हैं", पूर्वपक्षी का यह कहना भी मानना ही पड़ेगा। ऐसे अवसरों पर मनुष्य एकदम अभिमान से गर्वित हो उठता है, और उसको संसार में अपने से अधिक विद्वान् कोई नहीं दीखता। मदान्ध होकर आपे से बाहर हो जाता है। आप्त पुरुषों पर लेखनी उठाने से

---

१. देखो 'वैदिकधर्म' मई १९३८, पृ० ४३९, ४४०।

पूर्व यही सोच ले कि कहीं हमारी समझ में ही तो न्यूनता नहीं है? इतना मार्जन अवश्य रखना चाहिये। अस्तु।

उपर्युक्त आक्षेपों के उत्तर

सर्वप्रथम हम ऋग्वेद में अक्षरगणना से छन्दों का निर्णय होता है या नहीं, इस विषय को लेते हैं।

(१) ऋक्प्रातिशाख्य स्पष्ट ही ऋग्वेदसम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें ऋग्वेद तथा उसकी शाखाओं के सम्बन्ध में निरूपण किया है। इसके अन्तिम तीन पटलों में ऋग्वेद के छन्दों का निरूपण मिलता है। इसमें जो भी नियम बताये गये हैं, वे ऋङ्मन्त्रों पर अवश्य लागू होते हैं। अक्षरगणना के आधार पर ऋग्वेद के छन्द होते हैं या नहीं, इस विषय में ऋक्प्रातिशाख्य का सिद्धान्त निम्न प्रकार है—

"अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्"। ऋक्प्राति० १७।२१॥

अर्थात्—पाद, वृत्त और अक्षरों से छन्दों के निर्णय करने में अक्षर-गणना को ही मुख्यता देनी चाहिये। इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है कि ऋग्वेद में अक्षरों की गणना द्वारा छन्दों की व्यवस्था माननीय है, यह सिद्धान्त ऋक्प्रातिशाख्यकार को अभिमत है। इतना ही नहीं, अपितु अक्षरगणना को मुख्यता देनी चाहिये, इस पर बल दिया गया है।

(२) ऋक्सर्वानुक्रमणी जिसके आधार पर पूर्वपक्षी छन्दों को मानता है, उसका क्या सिद्धान्त है, सो भी देखिये—

"षष्ठ्यक्षरैरुष्णिक्"। ऋक्सर्वानुक्रमणी, ऋ० १।१२०।६, पृ० १०॥

अर्थात्—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२०वें सूक्त की छठी ऋचा अक्षरों की गणना से 'उष्णिक्' है। यहाँ इस मन्त्र में ऋक्सर्वानुक्रमणी-कार ने अक्षरों की गणना द्वारा छन्द का निर्णय करके 'उष्णिक्' छन्द बतलाया है। 'अक्षरैः' यह पद यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य है। यदि ऋग्वेद के मन्त्रों में अक्षरगणना के आधार पर छन्द का निर्णय करने का सिद्धान्त न होता, तो सर्वानुक्रमणीकार अक्षरों द्वारा उष्णिक् छन्द होता है, यह कदापि न लिखते।

(३) इसी (ऋ० १।१२०।६) मन्त्र पर ऋक्सर्वानुक्रमणी का टीका-कार षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थदीपिका पृ० ९३ में लिखता है—

"षष्ठ्यक्षरैरुष्णिक्। षष्ठ्यृगष्टाविंशत्यक्षरसंख्ययोष्णिक्त्वं सम्पाद-नीयं न तु पादभेदात्"।

अर्थात्—इस उपर्युक्त सूक्त की छठी ऋचा अक्षरों की गणना से 'उष्णिक्' छन्दवाली है। इसमें अक्षर-संख्या के द्वारा उष्णिक् छन्द का लक्षण घटता है, पादव्यवस्था से इस मन्त्र में छन्द का निर्णय नहीं किया जाता है।

इस उपर्युक्त उद्धरण में भी अक्षरगणना के द्वारा छन्दोनिर्णय स्पष्ट माना है। इतना ही नहीं, अपितु **"न तु पादभेदात्"** कह कर इस मन्त्र में स्पष्ट ही पादव्यवस्था से छन्दोनिर्णय का निषेध भी कर दिया गया है, जो विशेष ध्यान देने योग्य है। जो कहते हैं कि ऋग्वेद में पादव्यवस्था अर्थात् पादों की अक्षरसंख्या से ही छन्दों का निर्णय होगा, उपर्युक्त वचन से ही उनकी सारी बात मिथ्या सिद्ध हो जाती है।

कात्यायन और उसके टीकाकार षड्गुरुशिष्य ने यहाँ अक्षरों की गणना के आधार पर ही छन्दों को माना है और पादव्यवस्था का स्पष्ट ही निषेध कर दिया है। यह सूर्य के प्रकाश की भाँति कितना स्पष्ट है, पाठक स्वयं विचारें।

(४) सायणाचार्य ने भी इसी सूक्त के आरम्भ में अपने भाष्य में लिखा है—

"यद्यपि पादसंख्ययोष्णिक्त्वं न भवति, तथाप्यक्षरसंख्ययोष्णिग् इति"
(सा० भा० पृ० ९६ ऋ० १।१२०)।

अर्थात्—अक्षरों की गणना द्वारा यह मन्त्र 'उष्णिक्' छन्दवाला है। पादव्यवस्था से 'उष्णिक्' छन्द नहीं बनता। अर्थात् यहाँ पादव्यवस्था से छन्द का निश्चय नहीं होता।

(५) ऋ० १।१२०।२ अर्थात् उपर्युक्त सूक्त के दूसरे मन्त्र के विषय में षड्गुरुशिष्य का लेख और भी प्रबल है—

"अथवा 'विद्वांसाविद्दुर' इत्येषोष्णिक्। ननु च चतुर्विंशतिर्गायत्र्यष्टाविंशतिरुष्णिगिति लक्षणमुक्तं, तत् किं 'विद्वांसाविद्दुर' इत्यस्य गायत्रीत्वमुष्णिक्त्वं वोच्यते? इयं हि पञ्चविंशत्यक्षरा। किञ्च 'ऊनाधिकेनेति' (परि० ३।४) सूत्रे भुरिग्गायत्र्युदाहरणं चैषेत्युक्तम्? उच्यते, ब्राह्मणद्वयदर्शनादेवमुक्तम्। व्यूहेन चाक्षरसम्पत्तिः। सर्वश्रुतिदर्शी ह्ययमाचार्यः।"

अर्थात्—'विद्वांसाविद्दुरः' (ऋ० १।१२०।२) इस मन्त्र का छन्द 'उष्णिक्' है। यहाँ पर शङ्का उठाते हैं कि २४ अक्षर का 'गायत्री' छन्द होता है, २८ का उष्णिक् होता है, ऐसा लक्षण शास्त्र में माना गया है।

इस मन्त्र का छन्द 'गायत्री' होगा या उष्णिक् ? क्योंकि इस मन्त्र में तो २५ अक्षर हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि इतना ही नहीं, आपने तो स्वयं **'ऊनाधिकेन निचृद्भुरिजौ'** (ऋक्सर्वा० परि० ३।४) इस सूत्र का उदाहरण देते हुये लिखा है—**"विद्वांसाविद्दुरः पृच्छेदिति भुरिग् गायत्री"**(पृ० ६३)। अर्थात् इस मन्त्र का छन्द 'भुरिग् गायत्री' बतलाया है। यहाँ अब आप ही उसी मन्त्र का छन्द 'उष्णिक्' बतलाते हैं। यहाँ 'उष्णिक्' कैसे हो जायगा ? यह परस्पर विरोध कैसा ? तब षड्गुरुशिष्य स्वयं उत्तर देता है कि ब्राह्मण में इस मन्त्र के 'उष्णिक्' और 'गायत्री' दोनों ही छन्द माने गये हैं। अक्षरसंख्या से भुरिग् गायत्री होगा और पादव्यवस्था से जब उष्णिक् माना जायगा तब व्यूह के द्वारा अक्षरों की गिनती पूरी करनी होगी, क्योंकि आचार्य कात्यायन सर्वश्रुतिदर्शी हैं।

यहाँ भी ऋक्सर्वानुक्रमणी और उसके टीकाकार ने अक्षरगणना के आधार पर छन्दोव्यवस्था मानी है, यह स्पष्ट है।

ये सब हमने कात्यायन और उसके टीकाकार के वचन दर्शाये। हमारा कहना यहाँ यह है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी और उसके टीकाकार जो ऋग्वेद के ही छन्द आदि बताते हैं, इनके मत में अक्षरों की गणना द्वारा स्पष्ट छन्दोनिर्णय माना है, तभी तो व्यूह करने की बात कही। यहाँ यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि व्यूह अनिवार्य नहीं, इसीलिये यहाँ व्यूह होने पर 'उष्णिक्' छन्द माना है, और दूसरे पक्ष में अर्थात् व्यूह न होने पर भुरिग् गायत्री। ऋग्वेद के छन्दों में अक्षर वा पाद-व्यवस्था दोनों प्रक्रियाओं से छन्दों का निर्णय करना सर्वथा उपादेय है, यह स्पष्ट है। व्यूह भी पक्ष में होता है, न कि अनिवार्य।

हम तो इस मन्त्र के 'भुरिग् गायत्री' और 'उष्णिक्' दोनों ही छन्द मानते हैं। अक्षरगणना के आधार पर भी ऋग्वेद में छन्द होते हैं, यही दिखाना हमको यहाँ अभिप्रेत है।

(६) इसी उपर्युक्त (ऋ० १।१२०।२) मन्त्र के विषय में ऋक्-प्रातिशाख्य १६।२० पृ० ४४५ में लिखा है—

"विद्वांसाविति सा भुरिक्"

अर्थात्—ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार भी इस मन्त्र का छन्द 'भुरिग् गायत्री' है।

(७) वेङ्कटमाधव ने छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ३० पर लिखा है—**"विद्वांसाविद्दुरः पृच्छेद् गायत्री सा भुरिक् स्मृता"**। अर्थात् इस (ऋ० १।१२०।२) का छन्द 'भुरिग् गायत्री' है।

यह भी ज्ञात रहे कि आचार्य दयानन्द ने भी अपने भाष्य में इस मन्त्र का 'भुरिग्गायत्री' छन्द माना है।

पाठकों के लाभार्थ उपर्युक्त विषय में हम कुछ और भी प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(८) **नदं व ओदतीनां** (ऋ० ८।६९।२) और **मंसीमहि** (ऋ० १०। २६।४) में २७ अक्षर हैं। इन मन्त्रों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य १६। ३२ में निम्न लेख है—

"सप्ताक्षरैश्चतुर्भिर्द्वे नदं मंसीमहीति च।
पादैरनुष्टुभौ विद्यादक्षरैरुष्णिहाविमे" ॥

अर्थात्—**नदं०** (ऋ० ८।६९।२) तथा **मंसीमहि०** (ऋ० १०।२६।४) इन दोनों ऋचाओं में अक्षरों की गणना से ये दोनों मन्त्र 'उष्णिक्' छन्द वाले हैं। दोनों में २७ अक्षर हैं। यदि पादव्यवस्था के द्वारा छन्दोनिर्णय किया जाय तो ये दोनों मन्त्र 'अनुष्टुप्' शब्द वाले कहलावेंगे। इस सूक्त के अन्य मन्त्रों का छन्द प्रायः 'अनुष्टुप्' है। ऐतरेयब्राह्मण (१६।४) में भी इसका 'अनुष्टुप्' छन्द ही कहा गया है। तद्यथा—**"प्रप्र वस्त्रिष्टुभ······(ऋ० ८।६९) इति प्रज्ञाता (तृचः) अनुष्टुभः शंसति"** ऐतरेय ब्रा० १६।४॥ इसके सायण भाष्य पृ० ४४२ में लिखा है—

"एवमत्रापि पूर्वोक्तरीत्या कृत्रिमा अनुष्टुभः शंस्त्वा पश्चादेतासां स्वतःसिद्धानामनुष्टुभां शंसनं द्रष्टव्यम्"।

पाठक देखें कि यहाँ भी ऋक्प्रातिशाख्यकार ने अक्षरगणना तथा पाद व्यवस्था दोनों ही प्रक्रियाओं से छन्दों के निर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उपर्युक्त श्लोक में ग्रन्थकार ऊर्ध्वबाहु होकर इस सिद्धान्त की घोषणा कर रहा है। यदि ऋग्वेद में केवल अक्षरों द्वारा छन्दों के निर्णय का सिद्धान्त न होता, अर्थात् अक्षर और पाद एक साथ दोनों के द्वारा ही छन्दों का निर्णय होना अनिवार्य होता, तो ऋक्प्रातिशाख्यकार अक्षर-गणना से 'उष्णिक्' और पादव्यवस्था में 'अनुष्टुप्' भिन्न-भिन्न छन्द कभी नहीं बतलाते।

(९) इन उपर्युक्त दोनों मन्त्रों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य का टीकाकार उवट भी स्पष्ट लिखता है—

"सप्ताक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्द्वे ऋचावुष्णिहौ भवतः। पादैरनुष्टुभौ जानीयात्। अक्षरैः कृत्वोष्णिहौ भवतः। नदं व ओदतीनां (ऋ० ८।६९।

२), **मंसीमहि त्वा वयम्** (ऋ० १०।२६।४) **इत्येते**"। यहाँ उवट भी "**अक्षरैः कृत्वोष्णिहौ भवतः**" अर्थात् अक्षरगणना से ये दोनों मन्त्र 'उष्णिक्' छन्द वाले हैं, यही कहता है। यहाँ उसने स्पष्ट ही ऋग्वेद में अक्षरगणना के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है।

(१०) निदानसूत्र (१।२ पृ० ३) तथा इसकी छन्दोविचिति टीका (पृ० ८) में इस मन्त्र का 'चतुष्पाद् उष्णिक्' छन्द माना है। यदि अक्षरों द्वारा छन्दों का निर्णय होता है, यह सिद्धान्त न होता तो निदानसूत्रकार, तथा उसका टीकाकार 'उष्णिक्' छन्द कैसे लिख सकता था?

(११) उपनिदानसूत्र पृ० ५ में—"**नां शब्देन च नदं व वर्जम्**" सूत्र द्वारा 'नदं व' (ऋ० ८।६९।२) मन्त्र में व्यूह का निषेध किया है, अतः उसके मत में भी इस मन्त्र का 'उष्णिक्' छन्द ही है।

इस प्रकार हमने ऋक्प्रातिशाख्य तथा उसके टीकाकार उवट, ऋक्-सर्वानुक्रमणी तथा उसके टीकाकार षड्गुरुशिष्य, निदानसूत्र तथा उसके टीकाकार, उपनिदानसूत्र तथा ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कटमाधवादि वादी के मत में प्रामाणिक माने जानेवाले प्राचीन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों के आधार पर ऋग्वेद में अक्षरगणना द्वारा छन्दोनिर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

क्या 'दैवी' 'आर्षी' आदि विशेषण ऋग्वेद में नहीं हो सकते?

अब हम पूर्वपक्षी के दूसरे आक्षेप का समाधान आरम्भ करते हैं। उसका मूलभूत कहना इतना ही है कि इन "दैवी" "आर्षी" आदि का निरूपण पिङ्गलसूत्र के "पादः" सूत्र से पहले-पहले किया गया है। अतः ये सब विशेषण पादहीन याजुष मन्त्रों में ही हो सकते हैं, ऋक्-साम-अथर्व के मन्त्रों में नहीं हो सकते।

(१) ऋक्प्रातिशाख्य के १६।३-१६ सूत्रों में इन 'दैवी-आर्ची-प्राजापत्या-आर्षी' आदि छन्दों का प्रतिपादन हमें विस्तार से मिलता है। इन सबके लक्षण भी इन्हीं सूत्रों में किये गये हैं। जब ऋग्वेद में दैवी आदि विशेषण हो ही नहीं सकते, जैसा कि वादी का कहना है, तो फिर ऋग्वेद तथा उसकी शाखाओं के छन्दों के निरूपण करनेवाले ऋक्प्रातिशाख्य में इनका ही वर्णन क्यों किया गया? इतना ही नहीं, उसमें तो—

(i) "**अक्षराणि तु षट्त्रिंशद् गायत्री ब्रह्मणो मिता।
यजुषां षड्चां त्रिः षट्, साम्नां द्वादश सम्पदि॥**"

ऋक्प्राति० १६।१२,१३॥

(ii) "एवं समाहारे गायत्री ब्राह्मी षट्त्रिंशदक्षरा वेदितव्या। कथं यद् ब्रह्मणो गायत्री षट्त्रिंशदक्षरा भवतीति मन्यसे? तच्छृणु। यजुषां गायत्री षडक्षरा। ऋचां त्रिःषट् अष्टादशाक्षरेत्यर्थः। साम्नां द्वादशाक्षरा अस्यां सम्पदि षट्त्रिंशदक्षरा भवति। (ऋक्प्रातिशाख्य उवट टीका पृ० ४४३)।

(i) अर्थात्—ऋक्प्रातिशाख्य मूल में कहा कि—"ब्राह्मी गायत्री ३६ अक्षरों की होती है। याजुषी गायत्री ६ अक्षर की, साम्नी गायत्री १२ अक्षर की और आर्ची १८ अक्षर की होती है।"

(ii) इसी की व्याख्या में टीकाकार उवट लिखते हैं—"मिला देने से ब्राह्मी ३६ अक्षर की बनती है। सो कैसे बनती है, सो सुनिये। याजुषी गायत्री ६ अक्षर की होती है, साम्नी गायत्री १२ अक्षरों की, आर्ची १८ अक्षर की होती है, तीनों को मिलाने से ३६ अक्षर बनते हैं, यही ब्राह्मी गायत्री बनती है।"

यहाँ ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार शौनक और उसके टीकाकार उवट ने, याजुषी-साम्नी-आर्ची और ब्राह्मी ऋग्वेद में होती हैं, स्पष्ट माना है, इसीलिये दोनों ने इनके लक्षण यहाँ दिखाये हैं।

स्पष्ट ही इन दैवी आदि छन्दों की सत्ता स्वीकार करते हुये इनके लक्षण भी किये गये हैं। जब ऋग्वेद है ही पादबद्ध, तो फिर इसमें इन 'दैवी-आर्षी' छन्दों के कथन करने का अवसर ही क्या था। अतः यह सिद्ध है कि ऋक्प्रातिशाख्य के मत में ऋग्वेद में ये 'दैवी' आदि छन्द अवश्य होते हैं।

इसीलिये ऋक्प्रातिशाख्य १७।१ में कहा—

"एवं क्लृप्तप्रमाणानां छन्दसामुपदिश्यते"

अर्थात्—अब हम यहाँ पूर्वोक्त प्रमाण माने हुये (२१) छन्दों के विषय में कुछ विशेष कहेंगे। यही अर्थ टीकाकार ने किया है। इससे स्पष्ट है कि ऋक्प्रातिशाख्य में इससे पूर्व जो कुछ भी कहा गया है, वह इन २१ छन्दों के विषय में सामान्य रीति से कहा गया है, अब कुछ विशेष कहेंगे। इससे जो दैवी आर्ची आदि विशेषण हैं, जिनके लक्षण ऋक्प्रातिशाख्यकार पूर्व कर चुके हैं, वे सब इन सब २१ छन्दों में लग सकते हैं, यह बात यहाँ ध्वनित हो रही है।

'मा' आदि छन्द केवल अक्षरगणना के आधार पर ही होते हैं, इनका

भी निरूपण ऋक्प्रातिशाख्यकार ने क्यों किया, यह बात भी ध्यान देने योग्य है।

(२) उपनिदानसूत्र के तृतीयाध्याय के आरम्भ में लिखा है—

"देवासुरप्रजापतीनां यजु.सामर्चां च छन्दांसि भवन्ति। दैव्येकाक्षरा गायत्री। पञ्चदशासुराणाम्।" इत्यादि सम्पूर्ण तृतीयाध्याय में इन्हीं 'दैवी आर्ची' आदि का प्रतिपादन किया गया है। अतः सामवेद में ये विशेषण तो उपनिदानसूत्रकार के मत से होते ही हैं। इसमें विप्रतिपत्ति का कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। जैसा कि उपनिदानसूत्र पृ० १२ में **"भगो न चित्रा इति त्रिपदासुरी जगती"** (डा० मङ्गलदेव शास्त्री सम्पादित)। यहाँ "जगती" के साथ आसुरी विशेषण स्पष्ट मिलता है।

(३) निर्णयसागर बम्बई में छपे पिङ्गलछन्दःसूत्र की टिप्पणी में कई स्थानों पर भत्रदेव के नाम से 'आर्ची साम्नी' आदि विशेषण ऋङ्मन्त्रों के मिलते हैं, तद्यथा—

(क) **"साम्नी त्रिष्टुप्····· महिराधो विश्वजन्यम्······"** पृ० ६।

(ख) **"आर्ची त्रिष्टुप् ·····अग्निं नरो······"** पृ० ६।

ये उपर्युक्त दोनों ही मन्त्र बिना किसी भी प्रकार के सन्देह के ऋग्वेद में हैं, क्योंकि ये दोनों ऋ० ६।४७।२५ तथा ऋ० ७।१।१ के मन्त्र हैं।

(४) अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी में इन "आर्षी" "दैवी" आदि का व्यवहार हमें स्पष्ट मिलता है, यह विदित रहे कि अथर्ववेद में ऋचायें हैं।

(क) अथर्व ७।६।३ के विषय में बृहत्सर्वानुक्रमणी का लेख इस प्रकार है—**"पूषन् तव इति त्रिपदार्षी गायत्री"**। अथर्ववेद का यह मन्त्र वैसे का वैसा ऋ० ६।५४।६ तथा यजुः ३४।४१ में आया है। यह स्पष्ट पादबद्ध ऋङ्मन्त्र है। पूर्वपक्षी को बताना चाहिये कि इसमें "आर्षी" विशेषण उसके मत से कैसे आ सकता है।

(ख) **"सीरा युञ्जन्ति"** अथर्व ३।१७।१, ऋ० १०।१०१।४ तथा यजुः १२।६७ इस मन्त्र के विषय में अथर्वसर्वानुक्रमणी (पृ० २३) में **"प्रथमार्षी गायत्री"** ऐसा लिखा है।

(ग) आर्षी आदि विशेषण एक आध स्थान में ही आये हों, सो बात नहीं। अथर्व १३।२।१६-२४ **"उदु त्यं जातवेदसम् इति नवार्ष्यो गायत्र्यः"** (पृ० १३१) में नौ मन्त्र आर्षी गायत्री छन्दवाले बताये। ये नौ मन्त्र ऋग्वेद के हैं, क्योंकि ये मन्त्र प्रायः वैसे के वैसे ऋग्वेद १।५०।१ से ६ तक आये हैं। इनको पादबद्ध मानने में किसी को यत्किञ्चित् भी सन्देह

नहीं हो सकता। अथर्वसर्वानुक्रमणीकार निस्सन्देह इन विशेषणों को ऋङ्मन्त्र में भी मानता है, यह सूर्य के प्रकाश की भाँति सिद्ध है।

(घ) अथर्व १८।१।८, १५ इन दोनों मन्त्रों के विषय में सर्वानुक्रमणी में—"**यमस्य मा यम्यम् आर्षी पङ्क्तिः**·········१५, '**वतो बतासि यम' आर्षी पङ्क्तिः**" ऐसा लेख है। ये दोनों मन्त्र ऋ० १०।१०।७ तथा १३ में भी स्पष्ट मिलते हैं।

(ङ) अथर्व १६।२४।७ के विषय में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार कहता है—"**योगे योग इति त्रिपदार्षी गायत्री**"। अर्थात् इस मन्त्र का छन्द 'आर्षी गायत्री' है। यह मन्त्र ऋ० १।३०।७ में भी वैसे का वैसा विद्यमान है।

(च) इसी प्रकार अथर्व ३।१६।१ में केवल एकपद के भेद से ऋ० ७।४१।१ का मन्त्र है। आगे भी इस सूक्त में ऋङ्मन्त्र हैं। अथर्व ७।४६। १, यह मन्त्र केवल एक ही पद के भेद से ऋ० ५।४६।७ में भी है। दोनों में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने '**आर्षी जगती**" छन्द दर्शाया है। अथर्व १८। ३।५६ मन्त्र ऋग्वेद १०।१७।१४ में भी किञ्चित् पाठभेद से विद्यमान है। यहाँ इसका छन्द 'आर्ष्यनुष्टुप्' दर्शाया है। ऐसे ही अन्य बहुत से उदाहरण हैं, उन्हें हम छोड़ते हैं।

अब हम शेष "आर्ची" आदि विशेषणों के विषय में भी कुछ दर्शाते हैं—

(छ) अथर्व १६।६।१ तथा २ के विषय में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का लेख इस प्रकार है—"**अजैष्माद्या इत्येकादशोषोदेवत्याः, प्रथमाश्चत्वारः प्राजापत्याऽनुष्टुभः**"। अर्थात् इस सूक्त के प्रथम चार मन्त्र "प्राजापत्याऽनुष्टुप्" छन्द वाले हैं। विदित रहे अथर्ववेद के इन चारों मन्त्रों में से पहले दो वैसे के वैसे ऋ० ८।४७।१८ के भाग हैं। यहाँ पर एक बात और बता देना आवश्यक होगा कि कई एक लोग इन सूक्तों को पर्यायसूक्तों के नाम से पुकारते हैं। उनके मत में यह सोलहवाँ (१६) काण्ड सम्पूर्ण पर्यायसूक्तों से युक्त है। और अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी में पर्यायसूक्तों में तो इन "दैवी-आर्ची" आदि की भरमार है। फिर भी हमने दुर्जनसन्तोषन्याय से उपर्युक्त अथर्व १६।६।१,२ का उदाहरण उपस्थित किया है, जो स्पष्ट ऋग्वेदीय मन्त्र हैं। हमारे इस उदाहरण पर विद्वन्-महानुभाव गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

(ज) अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणीकार अथर्व के सब मन्त्रों में "पाद" व्य-

वस्था मानता है। पर्यायसूक्तों तक में सर्वत्र उसने स्पष्ट ही "द्विपदा" "त्रिपदा" आदि विशेषण दिये हैं (देखो पृ० १७७)। इतना ही नहीं अथर्ववेद के जो मन्त्र केवल यजुर्वेद में ही आये हैं, उनमें भी वह 'द्विपदा' 'त्रिपदा' 'चतुष्पदा' आदि शब्दों का स्पष्ट व्यवहार करता है। जैसे—अथर्व ७।९७।५ में "यज्ञ यज्ञम् इति त्रिपदार्ची भुरिग्गायत्री, ६ एष ते यज्ञः इति त्रिपाद् प्राजापत्या बृहती, ७ वषड्ढुतेभ्यः इति त्रिपदा साम्नी भुरिग् जगती"।

इस प्रकार अथर्ववेद के सब मन्त्र पादबद्ध हैं। यही बृहत्सर्वानुक्रमणी का मत है। यह (अथर्व ७।९७।५) सूक्त पर्यायसूक्त नहीं। इसके उपर्युक्त तीनों मन्त्र यजुः ८।२२ तथा २।२० में भी आये हैं। सो जो लोग यजुर्वेद में गद्य मानते हैं, उन्हें बृहत्सर्वानुक्रमणी के ऐसे स्थलों को विशेष ध्यान से देखना चाहिये (जो इसमें भरे हैं)। बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने अथर्व के समस्त मन्त्रों में 'त्रिपदा' 'चतुष्पदा' आदि व्यवहार माना है। इससे सिद्ध है कि यजुर्मन्त्रों में भी पाद-व्यवस्था होती है। पर्यायसूक्तों में भी यही व्यवस्था बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने मानी है। इनके अतिरिक्त अथर्व ५।२६।५।। ६।२।१।। ६।७९।८३।। १०।८।४२।। ये सब मन्त्र भी स्पष्ट पादबद्ध हैं और इनके उपर्युक्त 'आर्ची' 'प्राजापत्या' आदि विशेषण स्पष्ट मिलते हैं।

(५) प्रकृत में अब एक ही बात उत्तर देने योग्य रह गई है। प्रश्न यह होगा कि फिर 'पादः' से पूर्व दैवी आदि लक्षणोंवाले (पिङ्गल अ० २) सूत्रों में 'पाद' का सम्बन्ध कैसे लगेगा। सो इसमें हमारा कहना यह है कि व्याकरणशास्त्र के 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' कार्यकाल पक्ष को मानकर इनमें 'पाद' का सम्बन्ध होगा। 'निचृद्' और 'विराट्' आदि के विषय में भी यही व्यवस्था समझनी चाहिये।

बृहत्सर्वानुक्रमणी का विशेष स्थल

यद्यपि 'दैवी' 'आर्ची' आदि विशेषणों के लिये हम अनेक उदाहरण उपस्थित कर चुके हैं, तथापि अब हम बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का एक और विशेष स्थल उपर्युक्त विषय की पुष्टि में उपस्थित करते हैं—

अथर्व १८।४ के अन्त में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का लेख निम्न प्रकार है—

"एकोननवतिश्चैव यमेषु विहिता ऋचः"।

अर्थात् चतुर्थ यमसूक्त में ये ८९ ऋचायें विहित हैं।

इस बात को कुछ अधिक स्पष्ट करते हैं—

बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का यह उपर्युक्त वचन पञ्चपटलिका ४।१७ से वैसे का वैसा लिया हुआ है। वहाँ का सम्पूर्ण लेख निम्न प्रकार है—

"एकषष्टिश्च षष्टिश्च सप्ततिस्त्र्यधिकात् परः।
एकोननवतिश्चैव यमेषु विहिता ऋचः॥"

अर्थात्—अठारहवें काण्ड में क्रमशः प्रथम सूक्त में ६१, दूसरे में ६०, तीसरे में ७३, और चौथे में ८९ ऋचायें हैं। यहाँ 'ऋचः' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी तथा अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका के मत में उपर्युक्त चारों सूक्तों के (६१+६०+७३+८९=२८३) मन्त्र ऋचायें हैं। 'ऋक्' पादबद्ध को कहते हैं, यह सर्वसम्मत है।

अब हम पाठकों के समक्ष इन उपर्युक्त चारों सूक्तों में आये 'दैवी' 'आर्षी' 'आर्ची' 'प्राजापत्या' आदि विशेषण दर्शाते हैं—

(१) अथर्व १८।१।८,१५ आर्षी पङ्क्तिः।
(२) ,, १८।२।१९ त्रिपदार्षी गायत्री।
(३) ,, १८।२।२४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री।
(४) ,, १८।२।३८ सप्तार्षीगायत्र्यः।
(५) ,, १८।३।३६ आसुर्यनुष्टुप्।
(६) ,, १८।३।५६ आर्ष्यनुष्टुप्।
(७) ,, १८।४।२७ याजुषी गायत्री।
(८) ,, १८।४।६७ द्विपदार्च्यनुष्टुप्।
(९) ,, १८।४।७१ आसुर्यनुष्टुप्।
(१०) ,, १८।४।७२ तिस्रः आसुरीपङ्क्तयः।
(११) ,, १८।४।७५ आसुरी गायत्री।
(१२) ,, १८।४।८१ प्राजापत्याऽनुष्टुप्।
(१३) ,, १८।४।८२ साम्नी बृहती।
(१४) ,, १८।४।८४ साम्नीत्रिष्टुभौ।
(१५) ,, १८।४।८५ आसुरी बृहती।

इन १५ स्थलों में स्पष्ट, आर्षी-आर्ची आदि लगभग सभी विशेषण विद्यमान हैं और इस सारे काण्ड को तथा इन उपर्युक्त मन्त्रों को बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने स्पष्ट ही 'ऋचायें' माना है।

इस प्रकार हमने 'दैवी' 'आर्ची' 'प्राजापत्या' आदि विशेषण अथर्व में आये ऋग्वेद के मन्त्र तथा पादबद्ध अन्य मन्त्रों में भी दर्शाये हैं। और

अथर्व के सब मन्त्र पादबद्ध हैं, यह भी दर्शाया और उनमें पिङ्गल के पादाधिकार के पूर्व के भी सब विशेषण विपुल मात्रा में दर्शाये हैं। ऋक्प्रातिशाख्य-उपनिदानसूत्र-भवदेव की टिप्पणी तथा अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी के आधार पर इतने प्रमाणों के उपस्थित करने पर भी यदि वादी का भ्रम दूर न हो तो "**ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति**", हमारा इसमें क्या दोष है?

इस तरह हमने वादी के दोनों आक्षेपों अर्थात् ऋग्वेद में अक्षरगणना से छन्द निर्णीत नहीं होते, तथा 'दैवी' 'आर्ची' आदि विशेषण नहीं लगा सकते, इनका उत्तर ऋक्प्रातिशाख्य-ऋक्सर्वानुक्रमणी-निदानसूत्र-अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी तथा इनके टीकाकारों आदि के आधार पर दिया है। जब वादी की प्रक्रिया में ही दोष है तो स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में छन्दों की ७।८ हजार अशुद्धियों की आशङ्का स्वयं सर्वथा निर्मूल हो जाती है, हाँ छपने वा गिनती में भूल रह जाना दूसरी बात है।

अब हम इस विषय में अन्य दृष्टि से विचार प्रस्तुत करते हैं—

छन्दोनिर्णय में अन्य दृष्टि से विचार

सब से पूर्व यह विचारना चाहिये कि छन्द कहते किसको हैं? '**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः**' (ऋक्सर्वानुक्रमणी पृ० १), तथा '**छन्दोऽक्षरसंख्याव्यवच्छेदकमुच्यते**' (अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी पृ० १)। इन दोनों प्रमाणों का अर्थ यही है कि छन्द उसको कहते हैं, जिसका नाम सुनते ही मन्त्राक्षरों की इयत्ता का परिज्ञान तत्काल हो जावे। अर्थात् जिस मन्त्र के अक्षरों की इयत्ता का ज्ञान उसके छन्द के श्रवण करने से न हो, वह उस मन्त्र का वास्तविक छन्द नहीं है, यही कहना होगा। पिङ्गल के छन्दःसूत्र के आधार पर भी यही मानना पड़ता है। इस बात को हम उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

(१) देखिये! ऋ० १।६३।५ मन्त्र का छन्द ऋक्सर्वानुक्रमणी ने 'त्रिष्टुप्' लिखा है। 'त्रिष्टुप्' के ४४ अक्षर होते हैं, पर अक्षरगणना करने पर इस मन्त्र के अक्षर होते हैं ३७। यहाँ 'त्रिष्टुप्' छन्द सुनते ही प्रथम आभास यही होगा कि इसमें ४४ अक्षर हैं। पर जब अक्षरों की गणना करके देखेंगे तो ३७ अक्षर ही मिलेंगे। अतः यह सिद्ध हुआ कि छन्दःसूत्र के लक्षणानुसार सर्वानुक्रमणी के छन्द वास्तविक (वा मुख्य) छन्द नहीं हो सकते। यदि 'त्रिष्टुप्' छन्द के स्थान में इस मन्त्र का 'भुरिग् बृहती' या 'भुरिगार्ची जगती' छन्द माना जावे तो ये दोनों शब्द सुनते ही

तत्काल यह ज्ञान होगा कि इस मन्त्र में ३७ अक्षर हैं। हमारा कहना यह है कि पिङ्गलछन्दःसूत्र के आधार पर इस मन्त्र का 'भुरिग् बृहती' या 'भुरिगार्ची जगती' छन्द ही वास्तविक छन्द है, 'त्रिष्टुप्' नहीं।

यह भी विदित रहे कि इस सूक्त के ३ तथा ६ मन्त्र में भी ३८ ही अक्षर हैं, केवल ४ मन्त्र में ४२ अक्षर हैं, शेष सब में ४१-४१ ही हैं। छन्दोनिदर्शक ग्रन्थों के छन्दोनिर्णायक सूत्रों के अनुसार बिना व्यूह किये इस सूक्त का त्रिष्टुप् छन्द हो नहीं सकता।

पाठक प्रश्न करेंगे कि फिर ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने इसे **'त्रैष्टुभम्'** कह कर इसका 'त्रिष्टुप्' छन्द क्यों कहा? इसमें हमारा कहना यह है कि यज्ञ तथा सामगानदि में जब **"त्रैष्टुभं शंसति"** किसी त्रिष्टुप् छन्द वाले सूक्त वा मन्त्र का शंसन करना कहा हो, और उसमें भी इसी १।६३ सूक्त का निर्देश किया गया हो तो ऐसी अवस्था में सामगान तथा यज्ञ की प्रक्रिया के अनुकूल इसे 'त्रिष्टुप्' मान कर गाया वा उच्चारण किया जा सके, इस विचार से ही ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने इसका 'त्रिष्टुप्' छन्द बतला दिया। जो वास्तविक वा मुख्य छन्द नहीं है।

अपनी इस बात की पुष्टि में हम इस सूक्त के सायणभाष्य के आरम्भ का लेख उपस्थित करते हैं—

"समूळे दशरात्रे द्वितीये छन्दोमे मरुत्वतीये शस्त्र एतत् सूक्तं विश्वजितोऽग्नि नर इति खण्डे सूत्रितम्......"।

इससे स्पष्ट है कि मरुत्वतीय शस्त्र में इस सूक्त का निर्देश है। जो स्पष्ट साम वा यज्ञप्रक्रिया के अनुसार गान वा उच्चारण का विषय है। इस समय इस मन्त्र का 'त्रिष्टुप्' छन्द मानकर गाने वा उच्चारण करने में कोई हानि नहीं। क्योंकि यज्ञ वा सामगान की प्रक्रिया का तो विषय ही पृथक् है।

(२) इसी प्रकार ऋ० १।४०।२ में ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने इस मन्त्र का छन्द 'सतोबृहती' माना है, जिसके ४० अक्षर होते हैं। पिङ्गलछन्दःसूत्र में 'सतोबृहती' को बृहती का भेद माना गया है। कात्यायन इसे पङ्क्ति का भेद मानता है। पर इस मन्त्र में अक्षर ३५ ही हैं। इसका वास्तविक छन्द 'निचृद् बृहती' हो सकता है। कारण यहाँ भी पूर्वोक्त ही है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों में जो छन्द लिखे हैं, वे वास्तविक छन्द नहीं हैं।

इस पर यह कहा जा सकता है कि व्यूह के द्वारा इन छन्दों के अक्षरों की पूर्त्ति की जावेगी। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यूह केवल यज्ञ वा सामगान में होता है। जिसके विषय में हम आगे स्पष्ट करेंगे। व्यूह से सर्वानुक्रमणी आदि में लिखे छन्द तो ठीक उपपन्न हो जावेंगे, पर व्यूह से बढ़ाई हुई अक्षरसंख्या वास्तविक संख्या नहीं होगी। यदि हम इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में (जहाँ आवश्यक हो) अक्षर बढ़ाते जायेंगे तो केवल ऋग्वेद में ही सहस्रों अक्षर बढ़ जायेंगे।

व्यूह की कल्पना क्यों की जाती है ?

अब यह प्रश्न होता है कि ऋक्सर्वानुक्रमणीकार आदि ने व्यूह की कल्पना ही क्यों की ? इसमें कारण यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों में **'गायत्रं शंसति' 'त्रैष्टुभं शंसति'** आदि विधिवाक्यों के निर्देश हैं, जिनका भाव यह है कि अमुक यज्ञ में अमुक समय पर गायत्री या अनुष्टुप् छन्द वाले सूक्त का उच्चारण करे। सो जिस सूक्त में सब मन्त्र 'गायत्री' या 'त्रिष्टुप्' छन्द वाले न हों, और वह एक दो की न्यूनाधिकता से स्वराट्-विराट् आदि से भी पूरी न होती हो, ४, ५ या ६ **अक्षरों की न्यूनता हो, तो ऐसी अवस्था में उन एक दो मन्त्रों को अन्य मन्त्रों के समान अक्षरवाला बनाने के लिए 'व्यूह' करना होता है।**

व्यूह केवल याज्ञिक प्रक्रिया में ही होता है

ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार काल्पनिक छन्द क्यों माने जाते हैं ? इस का उत्तर यह है कि यज्ञ में समान देवता और समान छन्दों वाले अनेक-अनेक मन्त्रों की आवश्यकता होती है। प्रकृत में जब समान देवता नहीं मिलता तो समानता के लिये देवता का काल्पनिक व्यवहार किया जाता है, जैसा कि निरुक्त सप्तमाध्याय में लिखा है—

"तदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दाशतयीषु विद्यते। यत्तु किंचिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते" (निरु० ७।२०)।

अर्थात्--यज्ञरूपी कर्मकाण्ड में गायत्रीछन्दोयुक्त जातवेदा: देवतावाले अनेक मन्त्रों की आवश्यकता होती है, पर सम्पूर्ण ऋग्वेद में गायत्रीछन्दोयुक्त जातवेदा: देवता वाले तीन ही मन्त्र हैं। ऐसी विषमावस्था में अग्नि देवता वाले गायत्रीछन्दोयुक्त जो कोई मन्त्र हैं, वे उन जातवेदा: देवता वाले मन्त्रों के स्थान में विनियुक्त होते हैं। ठीक यही विषम परिस्थिति छन्द के विषय में भी उपस्थित होती है। समान देवतायुक्त एक जैसे छन्द

वाले मन्त्र अत्यल्प हैं, आवश्यकता बहुत अधिक की होती है। ऐसी परिस्थिति में पूर्वोक्त देवता की भाँति काल्पनिक छन्दों की भी सृष्टि करनी पड़ती है। जिससे 'गायत्रं शंसति' इत्यादि विधिवाक्य तथा प्रकृत कर्मकाण्ड दोनों ही भली प्रकार उपपन्न हो जावें। **बस यही कल्पना वैयूहिक छन्दों की उत्पत्ति में प्रधान हेतु है।** इसका प्रभाव सामगान पर भी पड़ता है। पर वस्तुतः **सारी कल्पना यज्ञ के लिये ही है।** अतः यह मानना पड़ेगा कि **वैयूहिक छन्द केवलमात्र याज्ञिक छन्द हैं, वास्तविक छन्द नहीं।** वास्तविक छंद वे ही हैं, जो अक्षरगणना से सिद्ध होते हैं, जो छंदःशास्त्र के मुख्य ग्रन्थ पिङ्गलछंदःसूत्र के आधार पर हैं, क्योंकि उनमें ही छंद का वास्तविक लक्षण उपपन्न होता है।

पिङ्गलछंदःसूत्र को छंदोविषय में प्रधान मानते हुये भी हमने अपने समाधान उत्तर में ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि के प्रमाणों से ऋङ्मन्त्रों में अक्षरगणना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह सब वादी को उक्त ग्रंथ प्रमाणीभूत होने से अभ्युपगमवाद वा दुर्जनसन्तोषन्याय से ही समझना चाहिये। हम तो छंदोविषय में **वर्त्तमान में छन्दोज्ञान के प्रवर्त्तक पिङ्गलछन्दःसूत्र को ही प्रधानता[1] देते हैं।**

हमारे उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि व्यूह को जो अनिवार्य वा अटल मानते हैं, यह भी उनकी भूल है। यही बात 'प्रगाथ' के विषय में भी समझनी चाहिये।

"तदभ्यासः समासु स्यात्" (मीमांसा ९।२।२१ वर्णक १)। के भाष्य में सिद्धान्त दर्शाते हुये लिखा है—

"समास्वेव गेयं न नानाछन्दस्कास्विति। किमेवं भविष्यति? गीते संशरविलेशौ न भविष्यतः। यदि न्यूनछन्दस्का ऋच उपाददीमहि गीतिं संभृणीयाम। अथ अधिकछन्दस्काः, ततो गीतिं विलेशयाम। उभयथा चार्षं बाधेमहि। समासु तूपादीयमानासु न किञ्चिद् दुष्यति। तस्मात् समासु गानं कर्त्तव्यमिति"।

---

१. पिङ्गल से पूर्व भी छन्दःशास्त्र के अनेक प्रवक्ता रहे हैं, स्वयं पिङ्गलाचार्य ने अपने से पूर्व ७ छन्दःप्रवक्ताओं के नाम स्मरण किये हैं। तद्यथा तण्डी(३।२४), क्रौष्टुकि (३।२९), यास्क (३।३०), सैतव (५।१८), काश्यप (७।९), रात (७।३३), माण्डव्य (७।३)। इनमें किसी के भी उपलब्ध न होने से इस समय पिङ्गल ही सर्वप्रधान है, यह हमारा कहना है।

यहाँ गान समान छंदों वाले मन्त्रों में ही हो सकता है, यह कहा है, समान देवता में गान होता है, इस विषय में मीमांसाभाष्य (९।२।२४ वर्णक २) में लिखा है—

"एवं च समानदेवताके त्रैशोके तृच इति तृचशब्दोपचारो युक्तो भविष्यति" ।

हमारे ऊपर के प्रमाण से सिद्ध है कि गान समानछंदोंवाली ऋचाओं में ही होता है और गान के समय ही हम व्यूहादि छंदों की पूर्त्ति करेंगे, न कि सदैव ।

क्या छन्दःसंज्ञा के भेद (बदल जाने) से वेद अनित्य हो जायगा ?

कुछ एक अल्पज्ञ, अदूरदर्शी तथा अहम्मन्य लोगों का कहना है कि मन्त्रों के छन्द अर्थात् उनकी तत्तत् संज्ञायें भी ईश्वरीय ही हैं, अर्थात् अपौरुषेय हैं। यदि उनमें अदला बदली की जायगी तो वेद ही अनित्य हो जायगा। ऐसे लोगों के भ्रमनिवारणार्थ हम विस्तृतरूप से उन कारणों पर प्रकाश डालेंगे, जिनसे छन्दों में विभिन्नता होती है और उनमें विभिन्नता होने पर भी आज तक किसी आचार्य ने वेद को अनित्य कहने का साहस नहीं किया। कहते भी कैसे, क्योंकि वे लोग उक्त वैदिक परम्परा को भली प्रकार जानते थे, जो आर्षकाल में तथा उसके पश्चात् भी अविच्छिन्नरूप से चली आ रही है।

छन्दोभेद के कारण

प्रथम कारण—छन्दोनिर्णय की प्रक्रिया के भेद से छन्दोभेद

यह हम पूर्व भली-भाँति दर्शा चुके हैं कि ऋङ्मन्त्रों में छन्दोनिर्णय अक्षरगणना तथा पादविभाग दोनों प्रक्रियाओं के आधार पर होता है। केवल अक्षरगणना से भी ऋङ्मन्त्रों के छन्दों का निर्णय होता है, इसके लिये हम अनेक प्राचीन प्रमाण दे चुके हैं। एक ही मन्त्र में अक्षरगणना से एक छन्द होता है तो पादविभाग से दूसरा। यह सब निरूपण यद्यपि बहुत हो चुका है, (देखो पूर्व पृ० १९४-२००), पुनरपि अतिसंक्षेप से हम उन उदाहरणों को यहाँ पर दोहरा देना आवश्यक समझते हैं, जिससे प्रकरणानुकूल समझने में भी सुगमता हो—

(१) **"विद्वांसो विदद्दुरः"** (ऋ० १।१२०।२) में अक्षरगणना से षड्गुरुशिष्य ने (सर्वा० टी० पृ० ६१) तथा ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२०) में

इस मन्त्र का छन्द 'भुरिग् गायत्री'' माना है। और पुनः पृ० ९३ पर उसने व्यूह से इसी मन्त्र का 'उष्णिक्' छन्द माना है।

(२) ऋ० १।१२०।६ में ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने **'अक्षरैरुष्णिक्'** लिखा है, षग्गुरुशिष्य ने भी **''षष्ठ्यक्षरैरुष्णिक्, षष्ठ्यूनगष्टाविंशत्यक्षरसंख्ययोष्णिक्त्वं सम्पादनीयम्, न तु पादभेदात्''** (पृ० ९६) में स्पष्ट पादविभाग का निषेध करते हुये अक्षरगणना से 'उष्णिक्' छन्द माना है।

(३) **'नदं व ओदतीनाम्'** (ऋ० ८।६९।२), तथा **'मंसीमहि त्वा'** (ऋ० १०।२६।४) इन दोनों मन्त्रों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य १६।६२ में लिखा है—

पादैरनुष्टुभौ विद्यादक्षरैरुष्णिहाविमे ॥ १६।३२॥

यहाँ स्पष्ट ही पादव्यवस्था से इन दोनों मन्त्रों का छन्द 'अनुष्टुप्' माना है और अक्षरगणना से 'उष्णिक्'।

निदानसूत्रकार ने इस ऋ० ८।६९।२ का 'उष्णिक्' छन्द माना है।

इस प्रकार अक्षरगणना से यदि किसी मन्त्र का एक छन्द बनता है, तो पादव्यवस्था से दूसरा बनता है। दोनों ही छन्द ठीक हैं, शास्त्रीय हैं।

इस प्रकार प्रक्रियाभेद से छन्दःसंज्ञा में भेद हो जाना कुछ भी दोषावह नहीं है।

द्वितीय कारण—मन्त्रगणना के प्रकारभेद से छन्दोभेद

(१) ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचायें हैं। इनके विषय में षड्गुरुशिष्य लिखता है—

''ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति ......समामनन्ति इति वचनात् शंसनादौ न भवन्ति। तेन 'पश्वा न तायुमिति द्वैपदमिति शंसने दशर्चत्वम्, आसामध्ययने पञ्चत्वं भवति''। (ऋक्सर्वा० टीका पृ० ७९)।

अर्थात्—अध्ययनकाल में दो दो द्विपदा ऋचाओं को मिलाकर एक-एक ऋचा करके उच्चारण करते हैं। इससे **'पश्वा न तायुम्'** (ऋ० १।६५) इस सूक्त में १० द्विपदा ऋचायें हैं। यज्ञकाल में ये दस मन्त्र माने जाते हैं, पर अध्ययनकाल में ये दो-दो की एक-एक ऋचा होकर पाँच मन्त्र ही होते हैं[1]।

---

१. नैमित्तिक द्विपदा और ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' निबन्ध देखना चाहिये।

इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि जब **'पश्वा न तायुम्'** (ऋ० १।६५) सूक्त में अध्ययनकाल में ५ मन्त्र माने जायेंगे; तब छन्द दूसरा होगा। पाँच मन्त्र मानने पर सूक्त के समस्त मन्त्रों का पङ्क्ति छन्द होगा और दस मन्त्र मानने पर **द्विपदा विराट्** छन्द होगा। वर्णानुपूर्वी तथा अक्षर वैसे के वैसे होने पर भी प्रक्रियाभेद से मन्त्रों के छन्दों में भेद हो जाता है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

(२) ऋग्वेद में **"असिक्न्यां यजमानो न होता"** (ऋ० ४।१७।१५) आदि अनेक एकपदा ऋचायें हैं, जिनका छन्द सर्वानुक्रमणी में 'एकपदा विराट्' माना है। पर आचार्य यास्क के मत में एकपदा ऋचायें (एक को छोड़कर शेष) पूर्व मन्त्र का अवयव मानी जाती हैं। तदनुसार ये मन्त्र पाँच-पाँच पाद के बन जाते हैं, जैसा कि ऋक्प्रातिशाख्य (१७।४२) में कहा है—

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः।
अन्यत्र वैमद्याः सैका दशिनी मुखतो विराट्॥

वेङ्कटमाधव ने छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२ में भी कहा है—

न दाशतय्येकपदा काचिद् यास्कस्य विद्यते।
भद्रन्नो अपि वातय सा स्यादेकपदा विराट्॥

अर्थात्—सम्पूर्ण ऋग्वेद में यास्क के मत से एक को छोड़कर कोई एकपदा नहीं है। परन्तु ऋक्सर्वानुक्रमणीकार तथा उसके टीकाकार ने ऋ० ४।१७।१५; ५।४१।२०; ५।४२।१७; ५।४३।१६ को एकपदा ऋचायें माना है। जब ये एकपदा ऋचायें स्वतन्त्र मानी जायेंगी, तब इनका तथा इनके पूर्ववर्त्ती मन्त्रों का छन्द अन्य होगा। पर जब ये ही पूर्व ऋचाओं की अन्त्यावयव मानी जायेंगी, तब दोनों को मिलाकर भिन्न छन्द होगा।

इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मन्त्रगणना की प्रक्रिया के भेद से मन्त्रों के छन्दों में बहुत अन्तर हो जाता है और इससे वेद की नित्यता पर कोई आघात नहीं आता, क्योंकि सब आचार्य संहितापाठ को अपौरुषेय मानते हैं।

तृतीय कारण—पादव्यवस्था के भेद से छन्दोभेद

मीमांसा २।१।३५ **"तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था"** इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शबरस्वामी तथा तन्त्रवार्त्तिककार कुमारिलभट्ट

दोनों ने अर्थ के आधार पर पादव्यवस्था को माना है, जैसा कि जैमिनि ने पूर्वोक्त सूत्र में लिखा है।

भाट्टदीपिका तथा उसके टीकाकार शम्भुभट्ट आदि मीमांसकों ने भी इसी व्यवस्था को स्वीकार किया है। "प्रायोऽर्थो वृत्तमिति पादज्ञानस्य हेतवः" (ऋक्प्रातिशाख्य १७।२५) में भी पाठ, अर्थ तथा वृत्त के आधार पर पादव्यवस्था मानी है। वेङ्कटमाधव की छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४८ पर भी यही बात कही है।

पादव्यवस्था अर्थ के अधीन है, यही हमारा कहना है। जब अर्थ के अधीन पादव्यवस्था का सिद्धान्त मान लिया जावेगा (जो मानना ही पड़ेगा), तब तो छन्दों की व्यवस्था में भेद पड़ना अवश्यंभावी है। ऐसा न होने से जिन-जिन आचार्यों ने जो-जो छन्द जिन-जिन मन्त्रों के निर्धारित किये हैं, वे प्रायः वैकल्पिक ही हो जायेंगे। छन्दोनिर्णय का अवधारण कभी नहीं हो सकता। अर्थात् एक मन्त्र का एक ही छन्द होगा, यह बात नहीं। छन्दोभेद का यह महान् कारण छन्दों की व्यवस्था को कहाँ तक बदल देगा, यह विद्वन्महानुभाव स्वयं विचार सकते हैं। हमारा उपर्युक्त सारा कथन निराधार वा कपोलकल्पित नहीं है। हम इस विषय में निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के टीकाकार का एक अत्यन्त हृदयग्राही उद्धरण उपस्थित करते हैं—

"त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने" ॥ ऋ० ६।१६।१॥

ऋक्प्रातिशाख्य १६।१४ में क्रमशः तीनों पादों में ६।७।८ अक्षर होने से इस मन्त्र का छन्द 'वर्धमाना गायत्री' माना है। इसी प्रकार ऋक्सर्वानुक्रमणी (परि० ६।१) के अनुसार भी इस मन्त्र का 'वर्धमाना गायत्री' छन्द ही माना गया है। अब हम इस विप्रय में निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के टीकाकार तातप्रसादशास्त्री का मत दर्शाते हैं—

"अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति। 'विश्वेषाँ हितः' इति (सामवेद पू० १।१।२॥ ऋ० ६।१६।१)।

पञ्चाक्षराणि यस्य स पञ्चाक्षरः, तस्य भावः पञ्चाक्षरता, आपञ्चाक्षरतायाः पञ्चाक्षरतापर्यन्तमष्टाक्षरः पादः प्रतिक्रामति न्यूनो भवति। अत्रोदाहरणम्—'विश्वेषाँ हितः' इति।

अयं 'त्वमग्ने यज्ञानाम्' इति गायत्र्या द्वितीयः पादः। ननु अत्र शौनकेन—

उत्तरोत्तरिणः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः ।
गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्ने यज्ञानामिति ॥
(ऋक्प्रातिशाख्य १६।२४)

पादकल्पनेन द्वितीयपादस्य सप्ताक्षरत्वावगमात् कथमस्य पञ्चाक्षरत्वनिर्णयः ? इत्युच्यते—'होता' इति पदस्य पूर्वत्रान्वयमुपगम्य द्वितीयः पादः पञ्चाक्षर इत्याह । आचार्यशौनकस्तु 'होता' इत्यस्य 'विश्वेषाम्' इत्यत्रान्वयमभ्युपेत्य सप्ताक्षर इत्यवोचत् । अर्थवशेन पादस्य व्यवस्थेति न्यायविदः । अत्र मतभेदेन व्यवस्थितोऽस्य विकल्प इति न विरोधः ॥"

इसका अभिप्राय यह है कि **"त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने"** ऋ० ६।१६।१ **'त्वमग्ने यज्ञानां'** इस पाद में ६ अक्षर हैं, **"होता विश्वेषां हितः"** इस दूसरे पाद में ७ अक्षर हैं, जैसा कि ऋक्प्रातिशाख्य १६।२४ में कहा है । सो यहाँ **"अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति"** इस सूत्र की व्याख्या करते हुये 'छन्दोविचिति' का टीकाकार तातप्रसाद शास्त्री गायत्री के पाद में पाँच अक्षर होते हैं, इस विषय में इस मन्त्र को उदाहरण रूप में देता हुआ यह कहता है कि दूसरा पाद घट कर पाँच अक्षर का हो जाता है, और पहला आठ अक्षर का हो जाता है । इस पर पुनः शङ्का उठती है कि ऋक्प्रातिशाख्य १६।२४ में जब इस मन्त्र को वर्धमाना गायत्री मानते हुये इसके तीनों पादों के अक्षरों की गणना क्रमशः ६+७+८ बताई है, तब द्वितीय पाद में पाँच अक्षर हो ही कैसे सकते हैं ? इसके उत्तर में टीकाकार कहता है कि दूसरे पाद में से 'होता' इस पद को पहले पाद में ले लेंगे, तब दूसरा पाद पाँच अक्षर का अपने आप रह जायगा और पहला पाद ८ अक्षर का बन जायगा । टीकाकार कहता है कि यद्यपि शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में "होता" इस पद को दूसरे पाद के अन्तर्गत मान कर **'होता विश्वेषां हितः'** इतने को सप्ताक्षर का दूसरा पाद माना है, तथापि **"अर्थवशेन पादव्यवस्था"** (मीमांसा २।१।३५) अर्थात् पाद की व्यवस्था अर्थ के अधीन होती है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है । अतः निदानसूत्रकार (पतञ्जलि) के मत में ८+५+८ अक्षरों के पादों की व्यवस्था होगी और शौनक के मत में ६+७+८ अक्षरों के पादों की, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं समझना चाहिये । उपर्युक्त उद्धरण का यह अभिप्राय है ।

अब पाठक विचार करें कि **"वाक्यं वक्तर्यधीनं हि"** (महाभाष्य १।१।५६) इस सिद्धान्त के अनुसार इस उपर्युक्त मन्त्र में "होता" पद को

जब पूर्वपाद में मानते हैं तो वह पाद ८ आठ अक्षर का हो जाने से छन्द बदलकर पिपीलिकामध्या (८+५+८) बन जाता है, वर्धमाना (६+७+८) गायत्री नहीं रहता। जब "होता" पद को दूसरे पाद में मानते हैं, तब वर्धमाना गायत्री छन्द बनता है। यही बात निदानसूत्र के दूसरे टीकाकार पेत्ताशास्त्री ने भी लिखी है।

पादव्यवस्था से छन्दोभेद का कितना स्पष्ट उदाहरण है।

यहाँ विज्ञ पाठक हमारे पूर्व दर्शाये **"षण्ठ्युगष्टाविंशत्यक्षरसंख्ययोष्णिक्त्वं सम्पादनीयं न तु पादभेदात्"** (वेदार्थदीपिका पृ० ९३), षड्गुरुशिष्य के इस कथन को भी पुनः ध्यान में लावें। '**न तु पादभेदात्**' कह कर उसने यह दर्शाया है कि ऋग्वेद में पादव्यवस्था से ही छन्द माने जायेंगे, यह बात नहीं।

इस प्रकार पादव्यवस्था तथा विना पादव्यवस्था के छन्दःसंज्ञाओं में भेद हो जाना स्वाभाविक ही है, इसका कोई क्या कर सकता है।

चतुर्थ कारण—आचार्यों के लक्षणभेद से छन्दोभेद

सब शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी सुविधानुसार संज्ञा वा परिभाषाओं की कल्पना करके अपने-अपने प्रतिपाद्य विषय का निरूपण किया है। परिभाषादि पृथक्-पृथक् होने पर भी विषय के प्रतिपादन में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न नहीं होती। जैसे अकारादि स्वरों की पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'अच्' संज्ञा रखी। उधर फिटसूत्रकार ने 'अष्' संज्ञा मानी। अष्टाध्यायी में प्रत्ययादर्शन की 'लोप' संज्ञा कही है, फिट्सूत्रकार ने इसकी 'स्फिग्' संज्ञा मानी। संज्ञाभेद होने पर भी किसी प्रकार की विषमता नहीं होती। इसी प्रकार प्रकृत छन्दःशास्त्र में पारिभाषिक संज्ञाओं से भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत से बहुत मात्रा में हमें भेद मिलता है। उदाहरणार्थ हम कुछ एक स्थल दर्शाते हैं—

(१) पिङ्गल ३।२८-३० में ८+१२+८+८ अक्षरों वाले छन्द को 'न्यङ्कुसारिणी' माना है। वही क्रौष्टुकि के मत में 'स्कन्धोग्रीवी' है और यास्क के मत में 'उरोबृहती'।

(२) पिङ्गल के मतानुसार २५ अक्षर का पदपङ्क्ति छन्द पङ्क्ति का अवान्तरभेद है। पर कात्यायन के मत में वही गायत्री छन्द का प्रभेद है। देखो पिङ्गल सू० ३।४६, ४७, ऋक्सर्वानु० ४।१॥

(३) ऋक्प्रातिशाख्यकार शौनक के मत में जो 'मा', 'प्रमा' आदि छन्द माने गये हैं, जानाश्रयी छन्दोविचितिकार के मत में उन्हीं के 'उक्त',

'अत्युक्त' आदि नाम हैं। अक्षरों की न्यूनता में उन्हीं के "हर्षीका", "मर्षीका" आदि नामान्तर हैं।

(४) पिङ्गल ने १२+१२+१२ को महाबृहती माना है। ताण्ड्य के मत में उसी का नाम सतोबृहती है, देखो पिङ्गल ३।३५, ३६। ऋक्-सर्वानुक्रमणीकार के मत में ऊर्ध्वबृहती संज्ञा है (ऋक्सर्वा० परि० ६।७)

(५) निदानसूत्र में अतिजगत्यादि को विधृति आदि भिन्न नामों से कहा गया है और कृत्यादि का नाम सिन्धु आदि रक्खा है।

(६) पिङ्गल के मतानुसार महाबृहती छन्द बृहती (३६ अक्षर) का अवान्तर भेद है। पर ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन के मत में 'त्रिष्टुप्' (४४ अक्षर) का प्रभेद है (ऋक्सर्वा० परि० ६।६)।

(७) ताण्डी के मत में 'सतोबृहती' के ३६ अक्षर होते हैं, और वह बृहती का भेद माना गया है(पि० ३।३६)। पर कात्यायन ने 'सतोबृहती' के ४० अक्षर माने हैं, और इसे पङ्क्ति का अवान्तर भेद माना है (ऋक्-सर्वा० परि० ८।४)।

इस प्रकार अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

हमारे उपर्युक्त प्रमाणों में दो भेद हैं। प्रथम पाँच उदाहरणों में तो अक्षर समान होने पर भी भिन्न-भिन्न संज्ञायें मानी हैं। छठे और सातवें में छन्दों की संज्ञाएँ तो समान हैं, पर संज्ञी अर्थात् उनकी अक्षरसंख्या में भेद है। अब यदि कोई व्यक्ति ३६ (८+१२+८+८) अक्षरवाले मन्त्र का न्यङ्कुसारिणी के स्थान पर उरोबृहती या स्कन्धोग्रीवी छन्द लिख दे वा कह दे, तो क्या वह अशुद्ध होगा? इसी प्रकार यदि कोई ३६ अक्षर (महाबृहती पिङ्गल, या ऊर्ध्वबृहती ऋक्सर्वानुक्रमणी) वाले मन्त्र का सतोबृहती (ताण्डी के मतानुसार) छन्द माने, तो क्या वह केवल इस-लिये अशुद्ध होगा कि कात्यायन के मत में इस (सतोबृहती) नामवाले छन्द में ४० अक्षर होते हैं? कदापि नहीं। अतः इन उद्धरणों से यह सर्वथा विस्पष्ट हो जाता है कि जब किसी भी आचार्य के लिखे वा कहे छन्दों की जाँच पड़ताल करनी हो तो सबसे पहले हमें यह निश्चय करना होगा कि उक्त आचार्य ने किस लक्षण (छन्दःशास्त्र) के आधार पर छन्द लिखे हैं। यदि उस छन्दःशास्त्र के आधार पर भी छन्दों के नाम अशुद्ध प्रतीत हों, तो पुनः विचार करना चाहिये कि कहीं आचार्य ने किसी अन्य छन्दःशास्त्र के अनुसार तो छन्दों की संज्ञाओं का निर्देश नहीं किया। क्योंकि शास्त्रों में अन्य आचार्यों की संज्ञाओं का भी व्यवहार

प्राय: देखा जाता है। जैसे आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरणशास्त्र में "वृद्ध" "औङ्" "आङ्" आदि अनेक प्राचीन आचार्यों की संज्ञाओं का उपयोग किया है।

विज्ञ पाठक स्वयं विचार करें कि इन चारों कारणों पर पूरा ध्यान दिये बिना छन्दों का यथार्थ ज्ञान कभी हो सकता है?

उपसंहार

इस प्रकार हमने छन्दोवाद के इस प्रकरण में अति संक्षेप से छन्दों के लक्षण तथा पादव्यवस्था से छन्दों के निर्णय में मतभेद दर्शाया है। आचार्य दयानन्द के भाष्य में लिखे हुए छन्दों पर विस्तृत पूर्वपक्ष उपस्थित करके ऋग्वेद में भी अक्षरगणना से छन्दों का निर्णय होना है तथा "दैवी" "आर्षी" "आर्ची" आदि विशेषण ऋङ्मन्त्रों में भी प्राचीन आचार्यों ने माने हैं। अक्षरगणना के आधार पर ही छन्दों की संज्ञा का निश्चय करने से वास्तविक छन्दों का ज्ञान हो सकता है, अन्य रीति से जो भी छन्द माने जायेंगे, वे सब गौण ही माने जा सकते हैं। व्यूह और प्रगाथ, यज्ञ तथा सामगान विषयक हैं, पुरुषकृत वा अनित्य हैं, इत्यादि अनेक विषयों पर सप्रमाण लिखा है। अन्त में छन्दोभेद के चार कारणों का संक्षेप से निरूपण किया है, तथा वादी का स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्योल्लिखित छन्दों में ७, ८ हजार अशुद्धियाँ दर्शाना कहाँ तक सत्य है, यह इस विवेचन से भली प्रकार विदित हो जायगा। वस्तुत: पूर्वोक्त समस्त शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही छन्दों का यथार्थ निर्णय हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं हो सकता। जो व्यक्ति शास्त्रीय पद्धति को समझते नहीं, या समझने की क्षमता नहीं रखते, उनके लिये ही शास्त्र कहता है—

"बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति"। महाभारत।

"पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्य: प्रशस्यो भवति"। नि. १।१६॥

कुछ थोड़ा बहुत पढ़ सुन कर यों ही शास्त्रीय प्रक्रिया में हस्तक्षेप नहीं करने लग जाना चाहिये। हमारा समझा कहीं अयुक्त ही न हो; शास्त्र में इतना मार्जिन अवश्य रखना चाहिये। अभिमान और मात्सर्य बुद्धि को मलिन करते हैं, अत: शास्त्रीय निर्णय में इससे कदापि लाभ नहीं होता, हाँ हानि अवश्य होती है। अन्त में इतना कहकर ही हम अपनी लेखनी को विराम देते हैं कि—**"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्"** समझ में न आने पर यों ही अशुद्ध कहने का दुःसाहस नहीं करना चाहिये, यही बुद्धिमत्ता की बात है।

विवरण की विशेषतायें

आरम्भ में हमारा टिप्पणी का प्रकार संस्कृत पदार्थ की पुष्टि के लिये प्रमाणसंग्रह कर देने मात्र तक ही सीमित था। बहुत काल के पश्चात् निरन्तर इस कार्य में संलग्न रहने, और इस विषय की अन्तिम धारणा निर्धारित होने पर जो क्रम हमारे इस विवरण का बना, सो संक्षेप से निदर्शनरूप निम्नप्रकार है—

(१) देवतावाद के स्वरूप को अतिसंक्षेप से हमने टिप्पणी में दर्शाया (द्र०—पृ० ७, ८ की सम्पूर्ण टिप्पणी) कि लगभग १५०० वर्ष पूर्व इस मन्त्र का देवता वह नहीं था, जो यजुःसर्वानुक्रणी के अनुसार सम्प्रति माना जाता है। अतः श्री० स्वामीजी महाराज का यजुःसर्वानुक्रमणी से भिन्न देवता लिखना किसी प्रकार भी अयुक्त नहीं। हमने अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि यास्क-पतञ्जलि तथा अनेक ऋषि-मुनियों का यही सिद्धान्त है। देवतावाद के मूलभूत सिद्धान्त का यथार्थ स्वरूप जानने के लिये हमारी यह टिप्पणी परमावश्यक समझनी चाहिये।

(२) य० १।२ में 'यज्ञो देवता' लिखा है। हमने मूलवेद का प्रमाण देकर यह दर्शाया है कि वसु और यज्ञ पर्यायवाची हैं (देखो पृ० ३६ टि० १)।

(३) श्री० स्वामीजी महाराज के भाष्य में संस्कृत तथा हिन्दी में लिखी प्रत्येक मन्त्र की विषयसङ्गति (उपक्रमणिका) पर मैंने अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार गम्भीर विचार किया है। बहुत से विद्वान् श्री० स्वामीजी महाराज के मन्त्रार्थ को परस्पर में असम्बद्ध वा विसङ्गत समझते हैं। कई इस दोष को हटाने के लिये मन्त्रों को मुक्तक (परस्पर अनाकाङ्क्षित) बनाने की कल्पना करते हैं, किन्तु मैंने जिस समय इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया तो प्रत्येक मन्त्रार्थ परस्पर में एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत हुआ। इस सम्बद्धता को प्रतिमन्त्र दर्शाने का यत्न किया है। हो सकता है कि कई स्थानों पर हमारी दर्शाई सङ्गति उचित प्रतीत न हो। हमने तो इस विषय में एक मार्ग निदर्शन करने का ही प्रयास किया है। इसके लिये पहले हमने सम्पूर्ण यजुर्वेदभाष्य के ४० अध्यायों की मन्त्रसङ्गति को एक स्थान पर संगृहीत किया और सब अध्यायों की सङ्गति पर पृथक्-पृथक् विचार किया। यह सब विचार कर लेने के पश्चात् हमने आरम्भ से १० अध्याय तक सब मन्त्रों की वेदभाष्य में प्रदर्शित विषयसङ्गति का प्रत्येक मन्त्र के पदार्थ तथा भावार्थ से मिलान

करके देखा कि यह सङ्गति मन्त्रगत पदार्थ-अन्वय-भावार्थादि के साथ कहाँ तक युक्त बैठती है। और यह भी देखा कि इसका पूर्वमन्त्र के साथ क्या सम्बन्ध है, जिसमें प्रायः करके मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का सार भी स्पष्ट समझ में आ जाता है। यह सङ्गति का काम मेरे लिये मूल हस्त-लेखों के मिलान से भी कहीं अधिक परिश्रमसाध्य रहा।

(४) पदपाठ से भिन्न जहाँ श्री० स्वामीजी का अर्थ और पदच्छेद है, वह भी ठीक है, यह बात प्रमाणसहित अनेक स्थलों में दर्शाई गई है। जैसा कि पृ० १९६ पर 'देवपणिभिः' यह पदकार के मत में दो पद हैं। श्री० स्वामीजी ने समस्त एक ही पद माना है, और स्वर की दृष्टि से ठीक है इत्यादि, ऐसा ही अन्यत्र भी समझें।

(५) (क) शब्दों के अर्थों में गम्भीरता से स्वयं मन में पूर्वपक्ष उठा-उठा कर समाधान दिया गया है, जैसा कि पृ० १० पर "इषे" का अर्थ श्री० स्वामीजी ने "अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये" लिखा है। सो "अन्न" यह अर्थ तो ठीक है, क्योंकि 'इष्' अन्ननामों में निघण्टु में पढ़ा है, 'विज्ञान' अर्थ कहाँ से आ गया? यह शङ्का उत्पन्न होने पर "सब गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक हैं" अर्थात् गति अर्थ वाले धातु-ज्ञान-गमन-प्राप्ति इन तीनों अर्थों से युक्त होते हैं, इसमें ९-१० प्रमाण सायणाचार्य से पूर्व-पूर्व के हमने उपस्थित किये हैं, इधर के नहीं। इससे श्री० स्वामीजी महाराज का यहाँ "विज्ञान" अर्थ करना सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होता है।

(ख) य० ५।३१ में 'अवस्यूः' पद को श्री० स्वामीजी ने 'अव्' पूर्वक 'सिवु' धातु से सिद्ध किया है। उधर समस्त भाष्यकारों ने 'अव् रक्षणे' धातु से ही बनाया है। हमने पहले 'अव् रक्षणे' से किया हुआ अर्थ और व्युत्पत्ति श्री० स्वामीजी महाराज के यजुर्वेदभाष्य में से ही अन्य स्थलों से दर्शाई। फिर स्वामीजी का यहाँ किया हुआ अर्थ भी ठीक है, यह सिद्ध किया है।

इसी मन्त्र में 'कृशानुः' पद पर भी श्री० स्वामीजी की व्युत्पत्ति से ही स्वर ठीक बनता है। अन्य भाष्यकारों की व्युत्पत्ति से स्वर ठीक नहीं बनता, जब तक व्यत्यय न माना जावे।

(ग) कई एक महानुभाव स्वामीजी के 'अतिथि' शब्द के किये हुये अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति पर बड़ी विप्रतिपत्ति उठाते हैं, उनके आक्षेपों का सप्रमाण निराकरण य० ३।१ पृ० २३८, २३९ पर किया है।

(घ) 'आयं गौ०' य० ३।६ के विषय में हम अन्यत्र विस्तारपूर्वक

लिख चुके हैं। यह प्रकार हमारी टिप्पणी के आरम्भ से अन्त तक चला है।

(ङ) श्री० स्वामीजी महाराज ने य० १।१३ (पृ० ७३) के पदार्थ में "इन्द्रेण वायुना० ऋ० १।१४।१०" 'इन्द्र' का अर्थ वायु वेद के मूलमन्त्र के प्रमाण द्वारा दर्शाया है। हमने भी जहाँ तक हो सका है, स्वामीजी के अर्थों की पुष्टि में मूलमन्त्र देने का यत्न किया है, जैसा कि पृ० ३२ टि० २, पृ० ४७ टि० १ इत्यादि।

(च) य० ५।२ पृ० ४२६ में "उर्वशी" का अर्थ भाष्य में 'यज्ञक्रिया' किया गया है। इसी भाष्य में अन्यत्र 'वाक्' अर्थ भी किया है। इस विषय में हमने 'उर्वशी' के प्रचलित 'अप्सरा' अर्थ का सप्रमाण निराकरण करते हुये, मूल मन्त्रों के आधार पर इस शब्द का अर्थ विद्युत्-वाक् आदि दर्शाया है।

(६) श्री० स्वामीजी के अर्थ में जो "व्यत्यय" माना गया है, उसमें हमने प्रमाण उपस्थित किये हैं। व्यत्यय के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर ही उनके वेदार्थ की उत्कृष्टता समझ में आ सकती है। हमारी दृष्टि में "व्यत्यय" का स्वरूप यह है कि भाषा (लोक) के नियमों की अपेक्षा वेद में उपलब्ध होनेवाले विलक्षण नियम ही "व्यत्यय" शब्द से व्यवहृत होते हैं। महाभाष्यकार के मतानुसार **"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्"** यह पाणिनीय व्याकरण सब वेदों का समान व्याकरण है, इस दृष्टि से वैदिक वाङ्मय के समस्त विशेष नियमों को सूत्रों द्वारा बाँधा नहीं जा सकता। इसीलिये अगाधबुद्धि पाणिनि ने उन सब विशेष नियमों का बोध **"व्यत्ययो बहुलम्" "बहुलं छन्दसि"** इत्यादि सूत्रों द्वारा दर्शाने का यत्न किया है। हमारी दृष्टि में इन विशेष नियमों के दर्शाने का प्रयोजन **"नान्यः पन्था विद्यते" तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्** (महा० ६।३।१४) बताना है कि और कोई मार्ग हो नहीं सकता। उनके परिगणन करने की बात तो दूर रही, कहना ही साहसमात्र है, क्योंकि वेद में आये शब्द तो अनिवार्यतया वैसे के वैसे ही रहेंगे। उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। व्याकरण ने उनके पीछे चलना है, न कि वेद ने व्याकरण के पीछे।

इस प्रकार "व्यत्यय" का सिद्धान्त सार्वकालिक है, इसका कोई भी कदापि निषेध नहीं कर सकता। वेद में प्रयुक्त विशेष पदों का लौकिक-भाषा के अनुसार 'व्यत्यय' करके अर्थ दर्शाया जाता है, तो कई लोग एकदम चौंक पड़ते हैं। ऐसे लोगों को पता होना चाहिये कि यह कोई

अपूर्व बात नहीं है। शब्दप्रयोग के प्रमाणीभूत आचार्य पाणिनि, पतञ्जलि आदि ने अनेक स्थानों पर 'व्यत्यय' के प्रयोग दर्शाये हैं। श्री० स्वामीजी महाराज ने भी इन्हीं के आधार पर अनेक स्थानों पर 'व्यत्यय' मानकर अर्थ किये हैं, जो कि युक्तिसङ्गत हैं। फिर भी हमने दुर्जनसन्तोषन्याय से कहीं-कहीं पर प्राचीन वेदभाष्यकारों के व्यत्यय के उदाहरण भी दर्शाये हैं। जैसा कि—

(क) पृ० १२ पर ३ (ग) टिप्पणी में "शृण्वे" मन्त्रगत पद उत्तमपुरुष एकवचन में आया है। इसका अर्थ आचार्य स्कन्दस्वामी ने "श्रूयते प्रत्याख्यायते" प्रथमपुरुषैकवचन में किया है। तो यहाँ 'स्थः' का अर्थ 'सन्ति' और 'असि' का "अस्ति वा" होने में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है!!

(ख) पृ० १५, १६ पर 'अघ्न्या' सर्वानुदात्त पद आमन्त्रित (सम्बोधन) में ही सदा होगा, यह प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। यहाँ 'व्यत्यय' का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती। परन्तु हमने यहाँ भी दुर्जनसन्तोषन्याय से यह दर्शा दिया है कि ऋ० १।१६५।७ में आये "मरुतः" सर्वानुदात्त पद का (जो लौकिक नियम से सम्बोधन में ही होना सम्भव है), आचार्य स्कन्दस्वामी तथा सायणाचार्य दोनों ने अपने भाष्य में 'व्यत्यय' मानकर अर्थ किया है। स्कन्द ने इसे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में माना है।

इसी प्रकार हमने अपने विवरण में अनेक स्थानों में स्वामीजी के भाष्य में आये ऐसे पदों के अर्थों को सप्रमाण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि हमारा यह दृढ़ मत है कि 'व्यत्यय' के सिद्धान्त को मानकर और समझकर ही श्री० स्वामीजी महाराज के भाष्य का तात्पर्य भली प्रकार समझ में आ सकता है।

(७) सायण-महीधर-भट्टभास्करादि वेदभाष्यकारों की व्याकरणादि की अशुद्धियों का निदर्शन भी तत्तत् स्थान में किया है। वह केवल इस दृष्टि से कि जिनको सायणादि की विद्वत्ता और योग्यता पर अटल विश्वास है और जो श्री० स्वामीजी महाराज की विद्वत्ता में सन्देह करते हैं, वे देख सकते हैं कि इन आचार्यों ने कैसी-कैसी भूलें की हैं। उदाहरणार्थ प्रथम मन्त्र में ही पृ० १६, १८ पर "इन्द्राय" तथा "अघशंसः" की टिप्पणी देखें। आगे भी अनेक स्थलों पर इसी प्रकार समझें।

(८) अनेक योग्य विद्वान् मित्रों तथा कृपालु महानुभावों के विशेष

आग्रह से ही हमने इस प्रथम भाग में प्रति मन्त्र "व्याकरण-प्रक्रिया" दर्शाई है। इसमें हमने यह विशेष यत्न किया है कि ऋषि दयानन्दकृत अर्थों की पुष्टि स्वरादि से भी हो। कहीं-कहीं हमने "यथाभिमतदृष्टयो व्याख्यातॄणाम्" इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही पद का निर्वचन अनेक प्रकार से भी दर्शाया है। जैसे पृ० ४३८, ८१५ पर 'अंशु' शब्द के विषय में। यह व्याकरणप्रक्रिया योग्य विद्वानों तथा अध्ययन अध्यापन करने करानेवालों की सुगमता और उनके विशेष लाभार्थ दी गई है। विद्वानों का यह मत है कि इस विषय में यह क्रम अन्त तक बराबर चलना चाहिये। मेरे विचार में श्री० स्वामीजी महाराज प्राचीन आर्ष साहित्य के वेद-व्याकरण-निरुक्तादि शास्त्रों के अपने समय के एक अद्वितीय वेत्ता थे। वह व्याकरण के पचड़े में सबको डालना नहीं चाहते थे कि जिससे व्याकरण का व्यर्थ का शास्त्रार्थ खड़ा होकर असली वेदार्थ पीछे न पड़ जावे। इसीलिये उन्होंने स्वरप्रक्रिया पर विशेष नहीं लिखा। यह कार्य तो उनके चरणचिह्नों पर चलनेवाले हम साधारण लोगों का है। आशा है विद्वजन तथा जिज्ञासुजन हमारे इस प्रयास से लाभ उठाने का यत्न करेंगे।

(६) सर्वविधज्ञान का भण्डार और सब लौकिक तथा पारमार्थिक व्यवहारों का प्रकाशक वेद है, यह सर्व ऋषि-मुनियों का सिद्धान्त है, यह हम पूर्व भूमिका के पृ० ४६-५७ में ही दर्शा चुके हैं। अतएव सब यास्कादि प्राचीन ऋषि-मुनियों का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक-अधियाज्ञिक-आधिदैविक तीनों प्रक्रियाओं में होता है (देखो विवरण पृ० २१-२२)। तदनुसार श्री० स्वामीजी महाराज ने भी सब मन्त्रों के संस्कृत पदार्थ में अत्यन्त कौशल से प्रायः करके तीनों प्रकार के अर्थों को सूक्ष्म रीति से दर्शाने का प्रयास किया है। इसीलिये स्वामीजी ने यास्क की भान्ति सर्व प्रक्रियाओं में घटित होनेवाला (अर्थात् त्रिविधार्थगर्भित) संस्कृत पदार्थ पृथक् रूप से दर्शाया है और केवल अन्वयानुसारी भाष्य नहीं बनाया। श्री० स्वामीजी महाराज के वेदभाष्य की यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है, जिसे बहुत कम विद्वान् अनुभव करते हैं। कहीं-कहीं अन्वय तथा भावार्थ से भी तीनों प्रकार के अर्थों की ध्वनि निकलती है। अन्वय प्रायः करके एक या दो प्रक्रियाओं में ही घटित होता है, इसलिये उसको पृथक् रक्खा है। भाषापदार्थ में संस्कृत पदार्थ को अन्वयपूर्वक लाने का यत्न किया गया है, किन्तु उससे तीनों प्रकार के अर्थों की विस्पष्ट प्रतीति नहीं होती। हमने पाँच अध्याय तक प्रत्येक मन्त्र में आचार्य दयानन्द-प्रदर्शित त्रिविधप्रक्रिया का दिग्दर्शन

कराया है, इसी प्रकार आगे भी बुद्धिमान् पाठक स्वयं समझने का यत्न करें।

इस विषय में भी एक विशेष घटना ही प्रेरक हुई। वेदभाष्य पर विचार करते-करते दस अध्याय तक एक बार टिप्पणी लिखने और विवरण पृ० २१, २३ की त्रिविधप्रक्रिया के आत्मा में विश्वास हो जाने पर मन्त्रों के भिन्न-भिन्न अर्थों पर विचार करते समय अन्तःप्रेरणा हुई कि श्री० स्वामीजी महाराज ने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में किया है (इससे पूर्व यही धारणा थी कि कुछ मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया में होता है, कुछ का आधिदैविक और कुछ का आधिभौतिक में)। मैंने उसी समय नेत्र बन्द करके सम्पूर्ण वेदभाष्य में जहाँ कहीं से भी अकस्मात् निकाल-निकाल कर देखा, तो मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही, जब मुझे सर्वत्र तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ विद्यमान होता हुआ किसी न किसी वाक्य वा पद से भासित हुआ। इस पर मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। उस दिन से इस विषय पर टिप्पणी लिखने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया।

निस्सन्देह श्री० स्वामीजी के भाष्य में आध्यात्मिक अर्थ की प्रधानता है, और यह भाष्य एक प्रकार से "सूत्ररूप" है। यदि श्री० स्वामीजी होते तो सम्भवतः इस वेदभाष्य का विस्तार बहुत अच्छे रूप में करते। ऋग्वेदाङ्क के नमूने से, जो संवत् १९३३ में लाजरस प्रेस काशी में छपा था, यह विदित होता है कि श्री० स्वामीजी महाराज प्रत्येक मन्त्र का अर्थ पृथक्-पृथक् दर्शाना चाहते थे।

श्री बा० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायकृत 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र' भाग प्रथम पृ० २९५ से विदित होता है कि श्री० स्वामीजी महाराज ने संवत् १९३१ में भी ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का नमूने के रूप में भाष्य बम्बई में छपवाया था, जिसके विषय में देवेन्द्र बाबू लिखते हैं—

"उसके पीछे ही स्वामीजी ने ऋग्वेद के पहले सूक्त का भाष्य जिसमें गुजराती और मराठी भाषा में अनुवाद भी था, वेदभाष्य नमूने के तौर पर प्रकाशित किया, जिसमें ऋग्वेद के पहले मन्त्र "अग्निमीळे पुरोहितम्" आदि के दो अर्थ किये थे, एक भौतिक और दूसरा पारमार्थिक। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूंगा। यदि किसी को इस पर आपत्ति हो तो पहले से ही सूचित करदे, ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूं। यह नमूना स्वामीजी

ने काशी के पण्डित बालशास्त्री, स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रभृति तथा कलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भेजा था, परन्तु किसी ने उसकी समालोचना नहीं की, न उस पर कोई आपत्ति उठाई" पृ० २६५ ।

किन्तु इस प्रकार के विस्तृत भाष्य करने में ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता, जिसका प्रबन्ध होना ही उस समय कठिन था। इसलिये उन्होंने वेदभाष्य छापते समय अपने भाष्य की प्रक्रिया का संक्षेप कर दिया, ऐसा प्रतीत होता है।

(१०) भाषापदार्थ के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहाँ संस्कृत में संशोधन कर दिया और भाषा पहिली संस्कृत की ही रह गई, ऐसे स्थलों को छोड़ कर शेष संस्कृत का जो भाषार्थ किया गया है, वह लगभग ठीक है। इतना तो है कि भाषा करनेवाले की योग्यता बहुत अधिक होनी चाहिये, जो इस भाष्य के भाषार्थ करनेवालों में पूरी मात्रा में दिखाई नहीं देती, कहीं-कहीं आर्यभाषा करनेवाले श्री स्वामीजी महाराज के अभिप्राय को पूरा-पूरा नहीं समझ सके, श्री स्वामीजी का आर्यभाषा पर पूरा-पूरा अधिकार उस समय नहीं था। अतः आर्यभाषा के संशोधन में कुछ न्यूनता रह जाना स्वाभाविक था। हाँ यदि श्री स्वामी जी महाराज स्वयं भाषा करते (और वह भी दूसरे संस्करण में) तो सर्वोत्तम बात होती। हमने मूल हस्तलेखों के आधार पर यत्र तत्र भाषा का संशोधन किया है। मूल हस्तलेखों के आधार पर किए संशोधनों का विशद निरूपण हमने अन्यत्र किया है।

यह तो हमारी सामान्य सार्वत्रिक टिप्पणियों का प्रकार है। इस विवरण में हमने वेदभाष्य में आये समस्त प्रमाणों के पाठ और उनके पते मूल ग्रन्थों से मिला-मिला कर शुद्ध किये हैं। इनके अतिरिक्त प्रथम मन्त्र में हमने कुछ अन्य विषयों पर भी विचार प्रकट किये हैं—

(१) **देवतावाद**—इसका संक्षेप से निरूपण विवरण पृ० ७, ८ तथा २६, २७ आदि पर किया है।

(२) **वाक्ययोजनाविचार**—कई एक विद्वानों का विचार है कि पदों का दूरान्वय करना दोषावह होता हैं, सो इस इस विषय में हमने इस बात को सप्रमाण दर्शाया है कि मन्त्रों के पदों का, चाहे वे कितने ही दूर-दूर पड़े हों, परस्पर में सम्बन्ध करने में कोई बाधा तथा असङ्गति नहीं है, देखो विवरण पृ० ३०, ३१।

(३) प्राय: सायणादि आधुनिक वेदभाष्यकार मन्त्रों का **केवल याज्ञिक अर्थ** ही दर्शाते हैं। इसका वैदिक वाङ्मय पर इतना दूषित प्रभाव पड़ा है कि बड़े-बड़े विद्वान् कहे जानेवाले भी मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ मानने को तय्यार नहीं होते। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कलकत्ता यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग के प्रिंसिपल पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न का वह लेख है, जो उन्होंने श्री स्वामी जी महाराज के वेदभाष्य की आलोचना करते हुये लिखा है—

"स्वामी जी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता" देखो भ्रान्तिनिवारण पृ० ६।

ऐसा भ्रम विद्वानों में अभी तक फैला हुआ है। इस महान् भ्रम को, जो कि वेदार्थप्रक्रिया का महान् विघातक है, दूर करने लिये यास्कादि प्राचीन नैरुक्ताचार्यों के प्रमाणों से हमने भलीभान्ति दर्शा दिया है कि वेद के किन्हीं मन्त्रों या मन्त्रों में आये पदों का ही आध्यात्मिकादि तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ नहीं होता, **अपितु वेद के प्रत्येक मन्त्र का तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ होता है** (देखो विवरण पृ० २२, ३३)।

यह भी विदित रहे कि वेदार्थ की यह प्रक्रिया आज से लगभग १५०० वर्ष (सायणाचार्य से लगभग ७५० वर्ष) पूर्व तक किसी न किसी रूप में सुरक्षित रही। आगे इसका लोप कैसे हुआ, यह कहना कठिन है। इस युग में ऋषि दयानन्द ही इस प्रक्रिया के पुनरुद्धारक हुये, यही कहना पड़ता है।

यजुर्वेदभाष्य के इस संस्करण की विशेषता

मूल मन्त्रपाठ का संशोधन

सब से पूर्व हमने मूल मन्त्रपाठ का मिलान, लगभग २२ हस्तलिखित तथा छपी हुई यजुर्वेद की भिन्न-भिन्न प्रतियों से किया, जिनमें ७-८ उत्तम हस्तलिखित प्रतियाँ थीं तथा तीन हस्तलेख पदपाठ के थे। इनमें तीन हस्तलेख जो कि प्राय: शुद्ध हैं, हमारे अपने संग्रह के हैं, शेष हस्तलेख [1]लालचन्द रिसर्च पुस्तकालय डी० ए० वी० कालेज लाहौर के पुस्तका-

१. भारतविभाजन के पश्चात् यह पुस्तकालय वर्त्तमान में होशियारपुर(पंजाब) में है। जो श्री पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री और उनके सहयोगियों के अनिर्वचनीय कष्ट सहन तथा उत्साह का परिणाम है। नहीं तो सर्वथा जला दिया जाता। जैसा

लय के तत्कालीन अध्यक्ष श्री० पं० भगवद्दत्तजी की उदारता से प्राप्त हुए। इतनी पुस्तकों के मिलान में हमारा पर्याप्त समय लगा। आरम्भ में किये इस परिश्रम ने हमें बहुत काम दिया।

पदपाठ का संशोधन

पदपाठ का संशोधन हमने तीन उपर्युक्त पदपाठों तथा श्री० स्वामी जी के भाष्य के अनुसार किया है। इस संशोधन में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि यदि कहीं स्वामीजी का अभिमत पदपाठ अन्यों से भिन्न प्रतीत हुआ तो उसको उसी रूप में रक्खा गया है। हाँ, लेखक-प्रमादादि से जहाँ पदपाठ में अशुद्धि रही, उसे ठीक कर दिया है। पूर्व-पाठ सर्वत्र टिप्पणी में दिया गया है।

वेदभाष्य का संशोधन

यजुर्वेदभाष्य के इस संशोधन में वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित तीनों संस्करण तथा उनकी असली हस्तलिखित प्रतियाँ, जो श्रीमती परोपकारिणी सभा के पास सुरक्षित रक्खी हैं, उनके आधार पर किया गया है।

यजुर्वेदभाष्य के हस्तलेखों का परिचय

अब हम उस सारी सामग्री का परिचय देते हैं, जिसके आधार पर इन दस अध्यायों में संशोधन का कार्य किया गया है। अजमेर में ऋषि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के हस्तलेखों की तीन कापियाँ हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(१) **प्रथम क**—यह कापी सबसे पूर्व लिखी गई है। यह असली कापी नं० १ है। इस कापी में ६-७-८ ये तीन अध्याय इस समय अनुपलब्ध हैं, शेष ३७ अध्याय पूरे हैं। इस पर अन्त तक श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ के पर्याप्त संशोधन विद्यमान हैं।

इसकी पृष्ठसंख्या प्रथमाध्याय से अ० ३ के ४८ मन्त्र तक १९९ है। आगे २०१ के स्थान में फिर १०१ से आरम्भ करके २९२ तक पाँच

कि गुरुदत्त भवन तथा स्वामी वेदानन्दजी का विशाल पुस्तकालय जला दिया गया। हमारी ५०-६० मन पुस्तकें जला दी गईं, पुनरपि हम लगभग ९० मन पुस्तकें भारत लाने में सफल हो गये। कैसे हुआ यह तो प्रभु ही जाने, जिसके रखने के लिये आज १२ वर्ष पीछे तक भी सुरक्षित स्थान का कोई प्रबन्ध नहीं। हम भी 'राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा हो'।

अध्याय समाप्त हुए हैं, अर्थात् १०० की गणना की भूल है, वस्तुत: ३६२ पृष्ठों में पाँच अध्याय समाप्त हुए हैं, ऐसा समझना चाहिये। ६, ७, ८ ये तीन अध्याय इसमें नहीं हैं। आगे नवम अध्याय से पुन: नई संख्या आरम्भ होती है। ९ से १८ अध्याय तक पृ० १ से ७५१ हैं। १९ अध्याय से फिर नई संख्या चलती है, जो १९-२० अध्याय तक १९८ तक ही है। आगे फिर २१ अध्याय के आरम्भ से नई संख्या १८१० से ३५९४ तक ४०वें अध्याय की समाप्ति तक है।

इस प्रकार इस 'क' कापी में तीन अध्यायों को छोड़कर शेष ३७ अध्याय की कुल पृष्ठसंख्या २५११ है, इसमें दुबारा लिखे गये पत्रे भी सम्मिलित हैं।

कागज—इसमें कागज सब फुलस्केप साइज का है। आरम्भ के पाँच अध्यायों में नीला बढ़िया तथा घटिया दोनों प्रकार का है। आगे ९ अध्याय से अन्त तक हाथी छाप का पतला कागज काम में लाया गया है, जो इस समय अत्यन्त मटियाले रङ्ग का तथा जीर्ण हो चुका है। अध्याय १९ से ४० तक का अभी कुछ ठीक दशा में है।

संशोधन—१ से ५ अध्याय तक काली तथा लाल स्याही से संशोधन हैं। आगे काली स्याही का संशोधन है। १६ अध्याय से कहीं-कहीं पैंसिल के संशोधन भी हैं, जो अध्याय २६ तक गये हैं। आगे पुनः लाल स्याही के ही संशोधन हैं।

ग्रन्थ के अन्त में "इति चत्वारिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः मार्ग कृष्णा १ शनि: सं० १९३९" ऐसा लिखा है। पौष शु० १३ गुरुवार संवत् १९३४ से आरम्भ करके लगभग ६ वर्ष में यह भाष्य ऋषि ने समाप्त किया, यह ज्ञात होता है। यह भी विदित रहे कि इस समय ऋग्वेदभाष्य का काम भी साथ-साथ चलता रहा।

(२) ख—दूसरी "ख" कापी है, जो आरम्भ से लेकर चतुर्थाध्याय के ३६ मन्त्र तक है। अर्थात् चतुर्थाध्याय के अन्तिम मन्त्र से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। इसकी पृष्ठसंख्या ३५५ है। यह पूर्व 'क' कापी की शुद्ध प्रति है। इस पर भी श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ के संशोधन हैं। इसका साइज और कागजादि पूर्ववत् अर्थात् नीला और हाथी छाप का है।

(३) ग—यह तीसरा हस्तलेख प्रेस कापी है। इसकी पृष्ठसंख्या १ से ५ अध्याय तक ३५५ है। ६ अध्याय में ३०१ से १७८ तक गई है।

७वें में पुनः १ से आरम्भ होकर ९६५ तक १९ अध्याय, २०वें अध्याय से पुनः १०१ संख्या आरम्भ होकर ४०वें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ९५९ तक गई है। इस प्रकार यह प्रेस कापी १९२९ पृष्ठों में समाप्त हुई है।

कागज—१-२ अध्याय तक नीला बढ़िया कागज है, जिसके दोनों ओर लिखा हुआ है। तीसरे अध्याय से नीला पतला कागज है। ५ अध्याय तक नीला मध्यम है, आगे ८वें अध्याय के पृष्ठ ९२ तक नीला साधारण है। आगे सफेद मटियाला विना रूल का है। लेख इसमें भी भिन्न-भिन्न हाथों का है।

संशोधन—संशोधन लाल स्याही का है। आगे काली स्याही का भी है। १५ अध्याय तक एक ही क्रम में जाता है। आगे २२ अध्याय तक थोड़ा सा अन्तर है। इस पर प्रारम्भ से २२वें अध्याय तक श्री० स्वामी जी महाराज के हाथ का संशोधन विद्यमान है।

उपर्युक्त हस्तलेखों के फोटो[1]

जैसा कि हम अन्यत्र लिख चुके हैं, हमें इस यजुर्वेदभाष्य का फोटो ४ अध्याय तक क. ख. ग. इन तीनों कापियों का मिला। पञ्चमाध्याय में ख. कापी न होने से केवल क. और ग. इन दो कापियों का ही मिला। ये उपर्युक्त फोटो भी कागज की मँहगाई होने से केवल Negative (नैगेटिव काली प्रति) ही लिये हुये थे, जिस पर अक्षर सफेद रहते हैं और कागज काला, यदि इसकी अन्तिम Positive फोटो ली जाती तो हमें बहुत ही सुभीता रहता। Negative (नैगेटिव काली प्रति) से मिलान करने में नेत्रों पर अत्यन्त भार पड़ता है। उधर क. प्रति में संशोधन की अत्यधिकता होने से कहीं-कहीं पर तो हमें विशेष शीशे से काम लेना पड़ता था। हस्तलेखों में काटे हुये पाठ को भी हमें जानने की आवश्यकता रहती थी। अतः फोटो के इस मिलान में हमें सबसे अधिक कठिनाई का अनुभव हुआ।

---

१. ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के हस्तलेखों का फोटो होना परमावश्यक है। बड़े हर्ष का विषय है कि श्रीमती परोपकारिणी सभा फोटो कराने के लिये दृढ़-सङ्कल्प है। सभा के वर्त्तमान सुयोग्य मन्त्री श्री डा० मानकरणजी शारदा इस पवित्र कार्य को कराने में विशेष यत्नशील हैं। आर्यजनता वा आर्यपुरुषों का परम कर्त्तव्य है कि वह इस पुनीत कार्य में सभा की पूरी सहायता करें, जिससे आर्यों की यह अपूर्व सम्पत्ति चिरकाल के लिये सुरक्षित हो जावे।

निस्सन्देह ये फोटो हमारे वेदभाष्य के पाठसंशोधन के कार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुये।

हमारे संशोधन के आधार तथा प्रकार

हमने जो कुछ भी संशोधन किया है, वह हस्तलेखों के आधार पर ही किया है। लेखन और शोधन आदि की जो साधारण भूलें (अर्थात् Clerical mistakes) थीं, उन्हें हमने ठीक कर दिया है, जो प्रत्येक सम्पादक का कर्त्तव्य होता है। संस्कृत भाग में हमने अपनी ओर से विना हस्तलेखों के आधार के कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं की। हाँ, जहाँ पर हमें कोई पाठ खण्डित प्रतीत हुआ, उसकी पूर्ति [ ] बड़े कोष्ठक में करदी है, जिससे देखते ही पृथक्ता की प्रतीति हो सके। भाषार्थ में भी प्राय: इसी प्रकार किया है।

लेखक आदि की भूलों के कुछ नमूनें

अपने पाठकों की जानकारी के लिये हस्तलेखादि के आधार पर किये हुये संशोधन के कुछ प्रकार सोदाहरण नीचे देते हैं—

१. लेखकों की भूल

संस्कृत पदार्थ में कई स्थानों पर मन्त्रगतपद और उनका व्याख्यान लेखकप्रमाद से छूटा हुआ है, उनको हमने [ ] इस बड़े कोष्ठक में पूरा कर दिया है।

(क) प्रारम्भिक लेखन में छूट गया—जैसा कि पृ० ८६, ८७ में "[(वयम्)]" और "[(वः) तान्]" हैं। पृ० ९४ में—"[(भ्रातृव्यस्य) द्विषतः शत्रोः (वधाय) नाशाय हननाय]" यह पाठ संस्कृतपदार्थ में लेखक की भूल से रह गया। पृ० ९५ पर भी पुनः यही पाठ छूटा है। ये पाठ आरम्भ में ही लेखक की भूल से रह गये प्रतीत होते हैं। अतः हमने इन्हें [ ] कोष्ठक में पूरा किया है।

(ख) प्रतिलिपिकर्त्ता से छूट गया—पृ० १०३ पर पंक्ति ८ में "व्यवहारेण तेजसा (चक्षुषे) प्रत्यक्षज्ञानाय नेत्रव्यवहाराय च (त्वा) तं" इतना पाठ क. कापी में है। प्रतिलिपि करनेवाले के प्रमाद से ख. और ग. दोनों कापियों में यह पाठ छूट गया और मुद्रित ग्रन्थ में भी इसी कारण यह पाठ छूट गया। इसी प्रकार १३२, १३३, १३३, १३४, १६१ पृष्ठों के पाठ क. ख. कापी में तो हैं, पर ग. अर्थात् प्रेस कापी और मुद्रित में प्रमाद से रह गये। ऐसे पाठ अन्त तक बहुत संख्या में हैं, जिनको हमने हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पूरा कर दिया है।

(ग) लेखक से अशुद्ध लिखा गया—पृ० ८६ पर का पाठ क. ख. में शुद्ध था। प्रेस कापी ग. में लेखक के प्रमाद से अशुद्ध लिखा गया, और इससे छपने में भी अशुद्ध छप गया।

(घ) लेखक की अज्ञानता से अशुद्ध लिखा गया—पृ० ४६ पर ख. कापी अन्वय में [2]...[2] तथा [1]...[1] संख्या दी हुई है, जिसका अभिप्राय यह है कि पिछला पाठ पहिले लाओ, इसीलिये उस पाठ के आदि तथा अन्त पर १ का अङ्क लगा दिया और पहले पाठ पर २ का अङ्क, अर्थात् यह पाठ पीछे पढ़ा वा लिखा जावे। ऐसा स्पष्ट संकेत होने पर भी ग. कापी लिखनेवाले ने मूर्खता से इस बात को न समझ कर जिस क्रम से पहिले लिखा था, वैसा नकल कर दिया। इसी से वह पाठ बहुत अस्त-व्यस्त हो गया, और मुद्रण में भी वह दोष बना रहा। इस बात को स्पष्ट करने के लिये २ तथा १ अङ्क से अंकित ख. कापी का मूलपाठ (पृ० ४६ पर) नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है।

२. संशोधक की भूल

संशोधक की अनवधानता से कहीं-कहीं पर भूलें रह गई हैं, जैसा कि—

(क) पृ० ३८० पर "(जागरणे) शयनानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा" ऐसा अजमेर संस्करण में छपा है। इसमें (जागरणे) यह पद मन्त्र में नहीं है, अतः कोष्ठक में देना अयुक्त था। वस्तुतः मन्त्र का '(पुनः)' पद कोष्ठ में चाहिये जिसका यह अर्थ है, तथा 'शयनानन्तरं' यह पाठ किसी भी हस्तलेख में उपलब्ध नहीं। अतः हमने इस प्रकार के पाठों को ठीक कर दिया है और प्रायः टिप्पणी भी दे दी है।

(ख) पृ० २४४ पर मन्त्र (य० ३।४) का वर्त्तमान संस्कृत अन्वय क. ख. ग. तीनों कापियों में नहीं है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रूफ में जाकर, यह अन्वय परिवर्त्तित किया गया। अब यहाँ भूल यह हुई है कि जब संस्कृत का अन्वय जितना बदल दिया गया उतना ही भाषा-पदार्थ भी उसी समय परिवर्त्तित कर देना चाहिये था, जो अनवधानता से रह गया है।

इसी प्रकार पृ० ३५५ तथा ३८४ पर टिप्पणी में दर्शाया हुआ भाषा का पाठ पहिली संस्कृत का है, अजमेरीय संस्करणों में वैसा ही छपता चला आ रहा है। संस्कृत में बदल जाने से भाषार्थ में भी वैसा परिवर्त्तन

करना आवश्यक था। ऐसे स्थल बहुत से हैं, जो स्थान-स्थान पर हमारी टिप्पणी में स्पष्ट हो रहे हैं।

(ग) पृ० ६२ "सर्वशक्तिमतेश्वरेण" के स्थान में अजमेर के तीनों संस्करणों में "सर्वशक्तिमतेनेश्वरेण" ऐसा अशुद्ध पाठ छपता चला आ रहा है। यह अशुद्ध पाठ तीनों हस्तलिखित कापियों में नहीं है। ग. कापी में ऊपर से किसी ने 'न' इतना बढ़ा दिया। विचित्रता तो यह है कि श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ का लिखा यजुर्वेदभाष्य का एक शुद्धिपत्र इन्हीं हस्तलेखों में पड़ा है। उसमें इस उपर्युक्त पृ० ६२ के पाठ को शुद्ध कर दिया गया है, किन्तु अभी तक वैसा ही अशुद्ध छपता चला आ रहा है।

(घ) पृ० ४४० पर [या ते अग्ने···अवधीत् स्वाहा] ये १७ पद मूल मन्त्र में तो हैं, पर आगे पदपाठ में छूट गये हैं। ये १७ पद और इनके अर्थ का इतना लम्बा पाठ संस्कृतपदार्थ, अन्वय और भाषार्थ में वराबर छूटता चला आ रहा है। यह पाठ क. कापी में विद्यमान था, किन्तु समझ में नहीं आता कि इतना लम्बा पाठ ख. कापी में कैसे काट दिया गया। तदनन्तर संशोधन-पत्र में इस भूल का संशोधन कर दिया है, अर्थात् उपर्युक्त स्थलों में जहाँ-जहाँ भी उक्त पाठ छूटा है, सर्वत्र दिखा दिया है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि वैदिक यन्त्रालय के संस्करणों में यह इतना लम्बा पाठ अभी तक बराबर छूटता चला आ रहा है।

इन उपर्युक्त प्रकार की संशोधन की भूलों को हस्तलेखों के आधार पर हमने ठीक कर दिया है, और प्रायः तत्तत् स्थानों में टिप्पणी भी दी है।

इसी प्रकार के संशोधनों के विषय में यजुर्वेदभाष्य अ० ८ मं० १४ की प्रेसकापी के हस्तलेख पृ० १०२ के हाशिये पर श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ का निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण लेख मिलता है—

"सर्वत्र त्वष्टा ही है, इसी को मन्त्र और पद में त्वष्ट्रा को ही शोध के त्वष्टा बना दिया है। जिसको हम करते हैं वह तो ठीक होता है, जो दूसरे से कराते हैं वही गड़बड़ होता है। हमने मन्त्रपद शोधवाया था सो शुद्ध है, बाकी पण्डितों से शोधवाया था वही अशुद्ध रहा"।

मुद्रणकाल में संशोधनादि

वेदभाष्य के छपते-छपते भी बहुत से संशोधन हुये हैं, जिनका होना स्वाभाविक ही था। ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में छपते-छपते अनेक परिवर्त्तन

वा परिवर्द्धन करते ही हैं, यह कोई नवीन बात नहीं है। इस प्रकार के संशोधनादि का ज्ञान तभी हुआ जब सब हस्तलेखों में तो एक पाठ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु छपा हुआ विद्यमान है, तो स्पष्ट ही वह पाठ प्रूफ के समय में परिवर्त्तित वा परिवर्द्धित किया गया होगा। जैसे पृ० ६४ पर 'शत्रवे वा' यह पाठ हस्तलेखों में नहीं, परन्तु मुद्रित ग्रन्थ में मिलता है। इसी प्रकार पृ० ७० पर "पवनपावकौ" पृ० ११५ पर 'सर्वोपकारक' के स्थान में 'सर्वोपकारी' बनाया गया है। पृ० १५१ पर "अहमच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः तं यज्ञमुत्पुनामि त्वां यजमानं च" यह पाठ क. ख. ग. तीनों कापियों में नहीं है, प्रूफ में परिवर्त्तित किया गया होगा।

विशेष स्थल

(१) यहाँ पर हम कुछ विशेष स्थल विज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। यजु० अ० २ मं० २६ के संस्कृतभावार्थ में "नैव परमेश्वरस्य विदुषो जीवस्य वा कौचिन्मातापितरौ कदाचित् स्तः, किन्त्वयमेव सर्वस्य माता पिता चास्ति" ऐसा पाठ और भाषाभावार्थ में "परमेश्वर और जीव का कोई माता वा पिता नहीं, किन्तु यही सबका माता वा पिता है" ऐसा पाठ अजमेरीय संस्करणों में छपा है। तीनों हस्तलेखों अर्थात् क. ख. ग. में इन पाठों का (तथा इसी प्रकार के अन्य पाठों का, जिन्हें हमने टिप्पणी में दर्शाया है) अत्यन्ताभाव है, अर्थात् किसी में भी ये पाठ उपलब्ध नहीं होते। कहीं आगे पीछे पैंसिल से ही लिखे हों या अन्वय तथा पदार्थ से ज्ञापित होते हों सो भी नहीं। थोड़ा विचारने से भी यही सिद्ध होता है "परमेश्वर का कोई माता वा पिता नहीं, किन्तु यही सब का माता वा पिता है" इतनी बात तो प्रत्येक की समझ में बैठ जाती है। 'विद्वान् जीव का कोई माता वा पिता नहीं किन्तु यही सब का माता वा पिता है', यह बात समझ में ही नहीं बैठती। यहाँ हमने हस्तलेखों के पाठ को ही ठीक माना है, क्योंकि वही हमें बुद्धिसङ्गत प्रतीत हुआ। यह सब परिवर्त्तन कैसे हुआ, यह हम नहीं कह सकते।

(२) विदित रहे कि यजुर्वेदभाष्य के श्री स्वामीजी महाराज के पीछे छपे संस्करणों में संशोधकों द्वारा हुई अनेकविध अशुद्धियों को पूर्वोक्त हस्तलेखों और प्रथम संस्करण के आधार पर हमने ठीक कर दिया है। और ऐसे स्थलों पर अनावश्यक समझ कर हमने कोई टिप्पणी नहीं दी। इस विषय में हम विज्ञ पाठकों के समक्ष एक ही उदाहरण उपस्थित कर देना आवश्यक समझते हैं—

यजुर्वेदभाष्य के दूसरे अध्याय के १०वें मन्त्र के भाष्य में प्रथम संस्करण (जो निर्णयसागर प्रेस बम्बई में सं० १९३५ में छपा था) के पृ० १२० की अन्तिम पङ्क्ति में संस्कृतपदार्थ के प्रारम्भ की पूरी लाइन इस प्रकार छपी हुई विद्यमान है—

"पदार्थः—(मयि) आत्मनि। (इदम्) यच्छुद्धं ज्ञानयुक्तं साधु—" आगे पृ० १२१ पर—

"कारि प्रत्यक्षं तत् (इन्द्रः) परमेश्वरः। (इन्द्रियम्) इन्द्रस्यैश्व०" शेष ऐसा युक्त पाठ छपा है।

दूसरा संस्करण संवत् १९६१ में छपा। उसमें पृ० १२० की उपर्युक्त अन्तिम पङ्क्ति अर्थात् "पदार्थः—(मयि) आत्मनि (इदम्) यच्छुद्धं ज्ञानयुक्तं साधु"—इतना पूरी एक लाइन का पाठ छूट गया। अब जब संवत् १९७८ में तीसरा संस्करण इसी यजुर्वेदभाष्य का प्रकाशित हुआ तो उसमें उपर्युक्त छूटी हुई लाइन पूरी हो जाती, तब भी ठीक था। पर उस समय के संशोधक ने पृ० १२१ पर आरम्भ के—"कारि प्रत्यक्षं तत्" इतने पाठ को जुड़ता न देख कर यह आधी लाइन भी उड़ा दी। यदि छपे हुए पहले संस्करण को ही देखने का कष्ट उठाया होता तो भी यह भयानक भूल तत्काल सुधर जाती।

ऐसी भयानक भूलों को हमने प्रथम संस्करण के आधार पर ठीक कर दिया है। यहाँ केवल एक ही उदाहरण उपस्थित किया है। यह सब दर्शाने का हमारा लक्ष्य यह है कि विज्ञ पाठक हमारी प्रयोग में लाई हस्तलेख सामग्री तथा संशोधनसम्बन्धी परिस्थिति से पूर्ण परिचित हो सकें।



ऋषिभाष्य की अध्ययनविधि

अब हम यहाँ ऋषिभाष्य के अध्ययनविषयक कुछ विशेष निर्देश[1] कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जिससे इस भाष्य का अध्ययन करनेवालों की बाधायें पर्याप्त दूर हो सकती हैं।

(१) ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य का अध्ययन करनेवाले अनेक सज्जनों की एक ही जैसी शङ्कायें हमारे सम्मुख समय-समय पर आती रही हैं—

(क) विना ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का सम्यक् अनुशीलन किये वेद-भाष्य समझ में नहीं आ सकता। सर्वप्रथम इस पर अधिकार होना आवश्यक है।

(ख) संस्कृतपदार्थ देखने से मन्त्र का अभिप्राय कुछ भी समझ में नहीं आता।

(ग) संस्कृत और भाषा मेल नहीं खाती।

जिन महानुभावों को ऐसी शङ्का होती है, वह उनका भ्रममात्र है। मन्त्र का अभिप्राय अन्वय से ही ज्ञात हो सकता है। इसलिये मन्त्रोच्चारण के पश्चात् अर्थ समझने के लिए सब से प्रथम अन्वय को ही देखना चाहिए। तत्पश्चात् ही संस्कृतपदार्थ को देखने से ज्ञात होगा कि आचार्य ने उक्त अभिप्राय मन्त्र के किन-किन शब्दों से और कैसे-कैसे निकाला। इसका रहस्य आर्षशैली से संस्कृत पढ़े लिखे ही यथावत् रीति से अनुभव कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया को न समझकर बहुत से संस्कृत पढ़े लिखे भी भूल करते देखे गये हैं। यह भी ज्ञात रहे कि भाषार्थ भाषा जाननेवालों की सुगमता को लक्ष्य में रखकर अन्वय के अनुसार ही किया गया है। "भ्रान्ति-निवारण" पृ० ६ में ऋषि का लेख निम्न प्रकार है—

"भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है। केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो यह तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं, उनको बिना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकता"।

१. सामान्य निर्देश यह है कि श्री० स्वामी जी महाराज अग्नि-वायु-इन्द्र आदि शब्दों से अभिधा (मुख्य) वृत्ति से ही परमेश्वर अर्थ लेते हैं, गौणीवृत्ति से नहीं। यह बात समझकर ही वेदभाष्य का अध्ययन करना चाहिये। जैसा कि हम पूर्व भी दर्शा चुके हैं।

इस भाषार्थ को संस्कृत के पढ़े-लिखे अपनी संस्कृत के अभिमान में नहीं देखते, वास्तव में मन्त्र का अभिप्राय 'अन्वय' से याथातथ्य ज्ञात हो जाता है। भाषार्थ देखने से वह और भी स्पष्ट विदित हो जाता है, कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। श्री स्वामी जी महाराज के उक्त अर्थ में प्रमाण क्या हैं, तथा सब प्रक्रियाओं को लक्ष्य में रखते हुए तत्तद् पद का अर्थ क्या होगा, बस इसके लिये संस्कृत पदार्थ है। ऋषिभाष्य में यह विशेष रहस्य की बात है, जिसको साधारण संस्कृत पढ़े-लिखे समझ नहीं सकते। वास्तव में संस्कृतपदार्थ ही ऋषि दयानन्द का मुख्य वेदार्थ है, अन्वय उसका एक अंश है, इसी में आचार्य की अपूर्व योग्यता और अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है।

आशा है विज्ञ पाठक इतने से समझ लेंगे कि संस्कृतपदार्थ और भाषार्थ के मेल न मिलने की बात सर्वथा अज्ञतापूर्ण है, तथा संस्कृत में पदार्थ देखने का क्या प्रकार है, यह भी उनकी समझ में आ जायेगा। जिनको इस विषय में सन्देह हो, वे सज्जन मिलकर समझ सकते हैं।

(२) श्री स्वामीजी के संस्कृतपदार्थ में सब प्रक्रियाओं का अर्थ विद्यमान है, यह समझना चाहिये। जहाँ दो प्रकार का अन्वय है, वहाँ भी कहीं तो अन्वय सबका सब समान है, केवल अर्थभेद दिखा दिया है। जैसे यजु० १।८ पृ० ५७, ५८। कहीं-कहीं तीन प्रकार का अन्वय दिखाया है जैसे १।११ पृ० ६६, ६७। यहाँ तीनों अन्वय भिन्न हैं।

(३) महर्षिकृतभाष्य में जड़पदार्थों के सम्बोधन में सर्वत्र व्यत्यय मानकर विकल्प में प्रथमान्त में अर्थ किया गया है, यह बात प्रत्येक पाठक को ध्यान में रखनी चाहिये। वर्तमान भ्रान्त संसार को जड़पदार्थों की पूजा वा उपासना से अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति होती है, इस मिथ्याविचार को दूर करने की भावना से ऋषि दयानन्द ने जड़पदार्थों के सम्बोधन में उपर्युक्त प्रकार वर्त्ता है, जो वर्त्तमान अवस्था में तो सर्वोत्कृष्ट प्रकार ही कहा जायगा। हाँ, वेदार्थ का सच्चा ज्ञान होने पर सम्बोधन मान कर भी अर्थ किया जा सकता है। जब हम वेदमन्त्रों का मुख्य अर्थ आध्यात्मिक मानते हैं (जो वास्तव में मुख्य ही है), तो आधिभौतिक अर्थ में स्वभावतः सम्बोधन पदों को प्रथमा में ही समझने से हमें वेद में सब सत्यविद्याओं का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। नहीं तो जैसे विदेशी विद्वान् कहते हैं कि वेद जङ्गलियों की भौतिकपदार्थ सम्बन्धी प्रार्थना मात्र है, यही मानना पड़ेगा, चाहे इसके लिये उन्हें विग्रहवती

(शरीरधारी) देवताओं की कल्पना ही करनी पड़ी, जैसा कि पिछले लगभग दो तीन सहस्र वर्ष से की जा रही है, जिन विग्रहवती देवताओं का मीमांसाशास्त्र के आचार्य कुमारिलभट्टादि ने भी स्पष्ट खण्डन किया है (देखो मीमांसा ९।१।५)।

(४) यजु० १।२ पृ० ३६ आदि में जहाँ-जहाँ "यज्ञो वै वसु" इत्यादि शतपथ तथा अन्य ब्राह्मणों के प्रमाणों में 'वै' शब्द का प्रयोग है, वहाँ कोई-कोई सज्जन शङ्का उठाया करते हैं कि यह 'वै' शब्द अर्थबोधक नहीं है। उनकी जानकारी के लिए हम यहाँ केवल एक ही स्थल उपस्थित करते हैं। लौगाक्षिगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल पृ० ३२ में लिखता है—'वैशब्दोऽवधारणार्थः'।

(५) (क) पाठकों को विदित होगा कि हमने भाषापदार्थ की सङ्गति, जो पूर्व संस्कृतसङ्गति के साथ ही थी, पाठकों की सुगमता के लिए भाषा पदार्थ से पहिले रखी है। इस विषय में यह विदित रहे कि तीन अध्याय तक की 'क' हस्तलेख कापी में भी भाषासङ्गति भाषा पदार्थ से पूर्व में ही है।

(ख) भाषार्थ (पदार्थ) के स्थान में 'पदार्थान्वय भाषा' ऐसे बहुत से मन्त्रों में उपलब्ध होता है। अर्थात् भाषा 'पदार्थ' अन्वय के आधार पर है।

(ग) संस्कृतपदार्थ में प्रत्येक व्याख्येय पद के अन्त में [।] इस प्रकार के विराम हैं। सो वे यजु० ५।३४ तक तो हैं, आगे ४०वें अध्याय के अन्त तक नहीं। हाँ, जहाँ प्रमाण आ जाता है, वहाँ तो प्रमाण के अन्त में विराम है। ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ-आरम्भ में विराम हैं, आगे अन्त तक प्रमाणमात्र में हैं। भाषापदार्थ में भी यजु० ५।३५ से आगे विराम नहीं हैं। पाठकों को इसका ध्यान रहे।

(घ) द्वितीय अध्याय ९वें मन्त्र से लेकर २०वें मन्त्र तक आचार्य-प्रदर्शित मन्त्र की सङ्गति विशेष देखने योग्य है।

(६) वेदमन्त्रों में एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ होने में यह हेतु है कि यह सृष्टि जीव के ज्ञान की अपेक्षा अनन्त है। कोई भी एक जीव इसका पारावार नहीं पा सकता, क्योंकि यह उसकी शक्ति से बाहिर है। इस अनन्त सृष्टि में अनन्त पदार्थ हैं, उनमें से यदि एक-एक का वर्णन होने लगे तो एक-एक ग्रन्थ बन जावे। केवल अग्नि, वायु, जल, मिट्टी, तुलसी की पत्ती वा आक (मदार) का ही वर्णन करने लगें तो एक-एक पृथक्

ग्रन्थ की रचना करनी पड़े। परमात्मा ने जीवों को ऐसा ज्ञान दिया कि एक ही मन्त्र में जिस ऋषि को जिस विषय की प्रौढ़ता प्राप्त थी, उस-उस ने उस-उस विषय का ज्ञान उस-उस मन्त्र से उपलब्ध किया। इन्हीं से वेदाङ्ग तथा उपाङ्गों की रचना पृथक्-पृथक् हुई।

इस प्रकार ही ज्ञान देने से विश्वभूमण्डल का ज्ञान जीवों को दिया जा सकता था। यह बात तभी हो सकती है, जब एक-एक शब्द के अनेक अर्थ हों। अन्यथा "सर्वज्ञानमयो हि सः" मनु के इस वचनानुसार सम्पूर्ण विद्याओं का समावेश वेद में हो ही कैसे सकता है। सब व्यवहार तथा सर्वविध ज्ञान का भण्डार तो वेद ही है। वेद का स्वाध्याय करनेवालों को यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए।

(७) वेद के प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधियज्ञपरक होता है, यह हम पृ० ४८-५० तथा ६७, ६८ पर सविस्तर निरूपण कर चुके हैं। याज्ञिक अर्थ मुख्य अर्थ नहीं, यह भी कह चुके हैं। यहाँ इतनी बात ध्यान में रखने योग्य है कि महर्षि दयानन्द ने "यज्ञ" शब्द से देवपूजा, संगतिकरण और दान इन तीनों अर्थों के आधार पर अति विस्तृत अर्थ लिये हैं। संसार के समस्त शुभकार्य "यज्ञ" शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस भाष्य का स्वाध्याय करते हुये यह बात ध्यान में रखनी अनिवार्य है, तभी इस भाष्य का स्वरूप समझ में आ सकता है।

(८) भविष्य में वेदार्थगवेषण का कार्य बहुत ही योग्यता और गम्भीरता से होने की आवश्यकता है। इसके लिए विपुल सामग्री और प्रौढ़ पाण्डित्य चाहिये, तथा अनेक श्रद्धापूर्ण विद्वानों द्वारा निरन्तर परिश्रम से ही यह कार्य हो सकता है। भावी वेदार्थ की खोज में ऋषि का भाष्य प्रकाश का काम देगा, यह हमें पूर्ण विश्वास है। हमारा यह विवरण इस ओर एक छोटा सा यत्न है। विज्ञ पाठक महानुभाव हमारे इस विवरण को इसी दृष्टि से देखने का कष्ट करें, तभी इसकी उपयोगिता का ज्ञान हो सकता है।

आशा है पाठक ऋषिभाष्य का अध्ययन करते समय हमारे इन निर्देशों पर अवश्य ध्यान देंगे और उनसे अवश्य लाभ उठावेंगे।



सम्पादक का अन्तिम निवेदन

सन् १९४३ के अन्त में मूलवेदभाष्य के दस अध्याय विवरण टिप्पणी सहित छप कर तय्यार हुए थे। जनवरी १९४४ में विवरण की इस भूमिका का विचार तथा लेखन प्रारम्भ हुआ। भूमिका लगभग ४-५ मास में पूर्ण हुई। प्रैसकापी तो फरवरी सन् ४४ के अन्त में ही अजमेर भेजनी आरम्भ कर दी थी। फिर भी वहाँ छपने में बहुत ही बाधा रही। इतने में विश्वव्यापी युद्धकाल में कण्ट्रोल के कारण कई मास तक अजमेर में न छपी। हमारा विशेष कागज (Special Ragpaper) अजमेर में ही था। शीघ्र छपने के लिए उस कागज को लाहौर लाने का यत्न किया गया, किन्तु सरकार की ओर से मनाही हो गई। कण्ट्रोलर से बहुत कुछ लिखा पढ़ी होती रही, पर आज्ञा न मिली। अन्त में अपने कोटे के अनुसार अजमेर में ही छपे, इसी पर सन्तोष करना पड़ा। अब जिस मशीन पर ये फार्म छप रहे थे, वह मशीन ही टूट गई और कई मास उसके ठीक होने में लगे। हम विवश थे, करते भी तो क्या करते। निरन्तर यत्न करने तथा आर्डर का प्रबन्ध वहीं कर देने पर भी २० मास में १२-१३ फर्मे ही छपे। जो एक मास का काम था।

कागज की कठिनाई से संस्कृतभाग रह गया

जब भूमिका लिखनी आरम्भ हुई। उस समय १० रिम ही कागज स्वीकृत हुआ, क्योंकि उतना ही था। भला इतने में संस्कृत भूमिका का तो क्या कहना, केवल हिन्दी भूमिका भी पूरी नहीं होने पाई। इसी से इस भूमिका में तथा संक्षिप्त विवरण आदि में दो तीन तरह का कागज लगाना पड़ा। अन्यथा हमारा विचार संस्कृत और आर्यभाषा दोनों में ही भूमिका छापने का था। बहुत से प्रकरण संस्कृत में लिखे हुए छोड़ देने पड़े। (कागज वालों का ट्रस्ट होने पर भी) कागज की कमी, एवं पुस्तक का कलेवर कहीं बढ़ न जाय ये दोनों आशंकायें हमारे प्रत्येक प्रकरण के अन्त में बाधक रहीं, यह पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। अन्यथा इन विषयों पर भी हम अभी बहुत कुछ लिखना चाहते थे।

भूमिका का महत्त्व

वास्तव में यह भी तो भूमिका ही है। इसमें वेदार्थप्रक्रिया के इन सब मुख्य विषयों का पूरा-पूरा समावेश हो भी कैसे सकता था। अन्त में यही सोच कर कि परमपिता परमात्मा की कृपा रही तो भविष्य में कभी इन विषयों पर प्रौढ़ता से पृथक् ग्रन्थरूप में विस्तृत लिखा जावेगा, इसी पर

सन्तोष करना पड़ा। वेदार्थप्रक्रिया के प्रधान वादों पर हमने इस संक्षिप्त लेख में ऋषि की धारणा को प्रौढ़ता से पाठकों के सम्मुख रखने का यत्न किया है। इन लाइनों (धारणाओं) पर विशेष यत्न से ही संसार दयानन्दभाष्य की महत्ता को हृदयङ्गम कर सकेगा, यह हमारा दृढ़ विश्वास है। अतः नया भाष्य आदि करने का सर्वथा विचार छोड़ कर, हमें तो इन वादों पर ही विचार करने, लिखने वा पढ़ाने आदि का रोग सा हो गया है और कुछ अच्छा लगता ही नहीं। इसी से वेदार्थ खुलेगा, ऐसी धारणा निश्चित बन चुकी है।

भूमिका में छपने से रहे विषय

समस्त भूमिका का संस्कृतभाग, वेद और ब्राह्मण, ऋषिवाद, विनियोगवाद, वाक्ययोजना, त्रिविधार्थयोजना, यज्ञों की दृष्टार्थता, वेद में यज्ञ का स्वरूप, 'अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः' का तात्पर्य, नवीन भाष्यकार आदि-आदि अनेक आवश्यक विषय कागज के अभाव के कारण लिखे हुए छपने से रह गये, या लिखे नहीं। इसी से 'विवरणभूमिकायां द्रष्टव्यः' इत्यादि कहे कुछ स्थलों में भविष्य की ही प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। ईश्वर ने चाहा तो ये भी कभी न कभी पूरे हो ही जायेंगे।

अन्त में हम प्रूफादि की अशुद्धियों के विषय में भी निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं। चार-चार पाँच-पाँच प्रूफ और वे भी तीन-तीन चार चार व्यक्तियों द्वारा देखे जाने पर भी दृष्टिदोष से तथा छपते-छपते अक्षर टूट जाने से अशुद्धियाँ रह गई हैं। उनको भी यथासम्भव **शुद्धिपत्र में दर्शाने का** यत्न किया है। अब भी सम्भवतः बहुत सी अशुद्धियाँ अवश्य रह गई होंगी। आशा है सहृदय विद्वान् इन का निर्देश कर हमें अनुगृहीत करेंगे, ताकि **आगामी संस्करण में वे** ठीक हो जावें।

निस्सन्देह वेदभाष्य के इस भाग के प्रकाशित होने में बहुत समय लगा है। इसमें अनेक कठिनाईयाँ आईं, जिनके विषय में हमने "यजुर्वेद भाष्य-विवरण की योजना का संक्षिप्त विवरण" नामक प्रकरण में लिखा है, जो विशेषतया ऋषिकृतभाष्य पर भविष्य में कार्य करनेवालों के लिये अत्यन्त उपयोगी होगा। यह भाग भूमिका से पृथक् इसी ग्रन्थ में अन्यत्र है। पाठक इसे एक बार अवश्य पढ़ें।

रावीतट (लाहौर) — वैदिकधर्म का सेवक
२६ श्रावण, २००२ वि० — ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
७ अगस्त, सन् १९४५ ई०

यजुर्वेदभाष्य का द्वितीय संस्करण

द्वितीय संस्करण की विशेषतायें

प्रथम संस्करण छप जाने पर प्रत्येक सम्पादक वा ग्रन्थकार को सब सामग्री समक्ष आ जाने पर स्वयं बहुत सी बातें सूझने लगती हैं। कुछ सुझाव भी सामने आते हैं। कुछ रह गई भूलों का भी परिज्ञान होता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही होता है। हमारा यह दूसरा संस्करण भी वैसा है। सामान्यतया प्रथम संस्करण और द्वितीय संस्करण समान हैं। निम्नाङ्कित विषयों में कुछ विशेषतायें वा भेद हुये हैं, जो विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) **विशेष परिवर्धन**—लगभग ४०० चार सौ पदों की व्याख्या वा व्याकरणप्रक्रिया नवीन लिखी गई है। ये पद सूची में भी यथास्थान परिवर्धित किये गये हैं। सूची का पुनः नये सिरे से पर्यालोचन किया गया है।

(२) **टाइपभेद**—अन्वय में पहले जिन मन्त्रगत पदों का टाइप इटैलिक नहीं था, उनका इटैलिक कर दिया गया है। इसी प्रकार अशुद्ध इटैलिक पदों का टाइप शोधन किया गया है। इससे मन्त्रगत पदों की व्यवस्था और सुन्दर बन गई है।

(३) संस्कृतभाष्य में हस्तलेखों के आधार पर जहाँ कहीं छपने आदि में भूल रही, वह ठीक कर दी गई है। यद्यपि ऐसे स्थल स्वल्पमात्रा में ही हैं। द्वितीय संस्करण में अन्य परिवर्त्तन वा भेद नहीं।

(४) **अन्य आवश्यक तथा उपयोगी परिवर्धनों का प्रकार**—हमने इस संस्करण में विवरण में अनेक स्थलों में उपयोगी परिवर्धन किये हैं। छोटे-छोटे परिवर्धन तो बहुत हैं। पाठकों की जानकारी के लिये हम केवल प्रथमाध्याय के कुछ एक आवश्यक स्थल ही दर्शाते हैं—जैसा कि पृ० ९ पं० ३० से ३८ पर ९ पङ्क्तियाँ पदपाठ के विषय में आवश्यक बढ़ाई गई हैं। पृ० १०, ११ में टिप्पणी सं० ३ में ६३ पङ्क्तियां नई लिखी गई हैं, जो निर्वचन विषय की दृष्टि से बहुत उपयोगी वा लाभप्रद हैं। पृ० २१ पं० ५ से १० छह पंक्तियाँ, इसी प्रकार पृ० ३१ पं० १४ से १७ तथा पं० ३२ से ४० तक भी वाक्ययोजना विषय में परिवर्धित हैं। पृ० ५० पं० १५ से २२ व्याकरणप्रक्रिया परिवर्द्धित है। पृ० ६६ पं० ३३

से ३७ भावार्थ में एक आवश्यक निर्देशपरक हैं। पृ० ८० पं० २६ से २६ पदकारों सम्बन्धी टि० है। पृ० ८० पं० ३४ से पृ० ८१ पं० २२ से ३७ तक ये १६ पङ्क्तियाँ व्याकरण के एक विशेष विषय पर परिवर्धित की गई हैं। पृ० ८३ पं० ११ से २७ तक पङ्क्ति त्रिविधप्रक्रिया विषयक बढ़ाई गई है। इसी पृ० पर टिप्पणी में नीचे पं० २६ से ४० तक पाठ-विषयक टि० बढ़ाई गई है। पृ० ८६ पर पं० २७ से आगे १६ पंक्तियाँ व्याकरणप्रक्रिया में बढ़ाई हैं। पृ० ६२ पं० २६ से ३५ तक सात पङ्क्ति अर्थविषयक परिवर्धित हैं। पृ० १०८ पं० २८ से ३४ तक पाठविषयक टि० परिवर्धित है। पृ० ११३ पं० २६ से २७ पर पाठ की अनन्वितता दर्शाई गई है। पृ० ११७ पं० १६ से ३३ तक विशेष प्रयोग पर टिप्पणी लिखी गई है। पृ० १२१ पं० ३० से ३८ तक दाम शब्द पर विचार किया गया है। पृ० १३४ से १४७ तक १३ पृष्ठ "वेष्प:" पद के पाठ पर विस्तृत विचार किया गया है। इसमें २५० हस्तलेखों के आधार पर विदेशीय स्कालरों और उनके अनुयायी भारतीयों के मत का सप्रमाण निराकरण किया गया है। केवल इस एक शब्द के विवेचन में हमारे लगभग ३ मास लगे। यह हमने उदाहरण (नमूने) के रूप में प्रथमाध्याय के कुछ परिवर्धित स्थल दिखाये, छोटे-छोटे परिवर्द्धन तो बहुत मिलेंगे, पाठक स्वयं देख लें। प्रथमाध्याय से आगे भी इसी प्रकार परिवर्धित स्थल पाठक स्वयं देख लें।

(५) **परिवर्त्तन**—पृ० १७ पं० १८ से व्याकरणप्रक्रिया में आवश्यक संशोधन वा परिवर्त्तन किया गया है। पृ० ४० पं० २८ से ३३ में आध्यात्मिक प्रक्रिया विषय में परिवर्त्तन हुआ है। पृ० ८६ पं० २० से आगे ६ पंक्तियाँ 'अथ व्याकरणप्रक्रिया' पं० २८ में परिवर्जित कर दी गई है, जिससे इसका रूप परिवर्त्तित भी हो गया है। पृ० ६५ पं० २६ से चार पङ्क्तियां स्वरविषयक परिवर्त्तन है। पृ० २६ पं० २८ से आगे व्याकरणप्रक्रिया में आवश्यक संशोधन है। ऐसे अनेक परिवर्त्तन यत्र तत्र किये गये हैं। छपा ग्रन्थ सामने उपस्थित होने पर बहुत कुछ सूझने लगता है। इन्हीं कारणों से दूसरे संस्करण का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। जो स्वाभाविक है। पहिले संस्करण में हमारी शक्ति मुख्यतया हस्त-लेखों के पाठों के अनुशीलन तथा तदनुसार संशोधन में अधिक लगी। टिप्पणी हमारा निजी कार्य था, अतः इसमें पर्याप्त परिवर्त्तनादि किये गये हैं, जो करने आवश्यक थे। इस दृष्टि से हम अपने इस द्वितीय संस्करण को 'परिशोधित संस्करण' भी कह सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

(६) **व्याकरणप्रक्रिया**—का हमने पुनरवलोकन कर उसमें अनेक स्थलों पर आवश्यक और महत्त्वपूर्ण संशोधन किये हैं, जिससे व्याकरण प्रक्रिया बहुत उपयुक्त बन गई है। स्वर का विषय पढ़नेवाले छात्रों तथा विद्वानों को बहुत लाभ होगा। इसकी सहायता से स्वरप्रक्रिया बहुत सुगम हो गई है।

(७) **पदपाठ**—में हमने प्राचीन हस्तलेखों तथा मुद्रित पदपाठों के आधार पर संशोधन किया है।

(८) **भाषा-पदार्थ वा भावार्थ में**—जहाँ-जहाँ टाइप भेद है, पाठकों को वहाँ समझ लेना चाहिये कि वहाँ-वहाँ हिन्दी पदार्थ वा भावार्थ में संस्कृत के प्रतिकूल-अनुवाद की भूल वा भाषा की भूलें हैं, जिन्हें संशोधित किया है। विदित रहे कि भाषापदार्थ वा भावार्थ में जहाँ-जहाँ विशेष है, वहाँ-वहाँ नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया गया है। अति साधारण स्थलों पर टिप्पणी लिखना आवश्यक नहीं समझा।

(९) कई स्थलों पर **हमने अपने मित्रों के उचित सुझावों** को मान कर, उनके कथनानुसार संशोधन कर दिये हैं। जैसा कि पृ० ५० पं० ४ में पाठ को कोष्ठान्तर्गत कर दिया है। पृ० ६५ पं० २१ पर, पृ० ७१ पं० ३ पर ऐसे अनेक संशोधन हमने किये हैं।

(१०) इसी प्रकार **विवरण की भूमिका में भी** अनेक उपयोगी लम्बे स्थल बढ़ गये हैं। आवश्यक परिवर्द्धन-परिवर्त्तन-संशोधन किया गया है। विषयों के अवान्तर शीर्षक बहुत बढ़ गये हैं, जिससे पाठकों को विषय पर अधिकार करने में बड़ी सुगमता होगी।

द्वितीय संस्करण सम्बन्धी विशेष निर्देश

(१) जहाँ तक हो सका है हमने पदों की व्याख्या (चाहे वह सामान्य व्याख्या है, या विशेष व्याख्या) में वह जहाँ भी प्रथमवार आया है, वहीं पर उसकी विशेष व्याख्या लिखने का इस संस्करण में यत्न किया है। हाँ, अपवाद रूप में कहीं-कहीं यह विशेष व्याख्या पीछे आये पदों में भी मिले, ऐसा भी सम्भव है। पाठक इस को ध्यान में रख कर ही सूची का उपयोग करें।

(२) हमारा (ट्रस्ट का) अष्टाध्यायी मूलपाठ का परिशोधित संस्करण पीछे तय्यार हुआ। इस कारण पूर्ववत् हमने अष्टाध्यायी के पते काशिका (या निर्णय सागर बम्बई की छपी अष्टाध्यायी) के आधार पर ही रखे हैं। कहीं व्यतिक्रम जान पड़े तो पाठक ठीक कर लें।

(३) शुद्धिपत्र और परिशिष्ट पर अतीव परिश्रम किया गया है। आशा से अधिक सफलता हुई है। तदनुसार पाठक पहिले ठीक कर लें। साथ में परिशिष्ट भी दिया गया है, जिसमें छपने से छूटे हुये बहुत उपयोगी स्थल आ गये हैं, पाठक इससे अवश्य लाभ उठावें।

(४) (i) टिप्पणी में यत्र तत्र "इति अ० मु० पाठः" से तात्पर्य अजमेर मुद्रित यजुर्वेदभाष्य संवत् १६६१ विक्रमी के छपे से है। यह ध्यान रहे कि आगे के संस्करणों में पाठ परिवर्तित हुये हैं। हमने तो अजमेर मुद्रित प्रथम संस्करण के आधार पर भी कई जगह पाठ संशोधित किये हैं, जो ऋषि के समय में मासिक अङ्कों में निकलता था। पीछे संवत् १६४६ वि० में जाकर पूरा छपा था।

(ii) उपर्युक्त विषय में इस कारण भी लिखा है कि भ्रान्ति न रहे, क्योंकि संवत् २०१५ के छपे यजुर्वेदभाष्य (अ० मु०) में हमारे सन् १६४६ के अनेक कोष्ठान्तर्गत पाठ पूरे किये हुये बिना कोष्ठ के ही बढ़ाये गये हैं जैसा कि हमारे पृ० १०३, पं० ४ का [पणिर्] छाप दिया गया है, पृ० १०५ पं० ६ [वः], पृ० १०६ पं० १५ का [अग्नेर्], ये सब कोष्ठान्तर्गत पाठ विना कोष्ठ के छाप दिये गये हैं। ऐसे स्थल पर्याप्त संख्या में हैं।

द्वितीय संस्करण की बाधायें

(१) पाकिस्तान की स्थापना

अगस्त १६४५ ई० में हमारे यजुर्वेदभाष्य का प्रथम संस्करण भूमिका सहित छप कर तैयार हुआ। कुछ समय जिल्द बन्धने में लगा। लगभग ४०० प्रतियाँ बिक भी गईं। अगला भाग तैयार करने में लग ही रहे थे कि ३ मार्च १६४६ को अमृतसर, लाहौर आदि में मकानों में भीषण आगें लगनी आरम्भ हुईं। रावीतट लाहौर (विरजानन्दाश्रम, बारहदरी रोड) में हम ट्रकों में पुस्तकें बन्द कर रात्रि भर पहरा देने लगे। सब आर्य (हिन्दुओं) वा नेताओं की आशा से बाहर अंग्रेजों की कूटनीति से १४ अगस्त १६४७ को हमारे नेताओं की अदूरदर्शिता से पाकिस्तान (हम तो इसे नापाकिस्तान ही कहते हैं) बन गया। जीवन और मृत्यु की घड़ियों में घिरे न जाने कितनी बार मृत्यु के द्वार पर पहुंच कर भी हम कैसे बचे रहे। २४ अगस्त १६४७ को मिलिटरी द्वारा लाहौर कैम्प में लाये गये। २८ अगस्त को भारत (अमृतसर) पहुंचे। कहाँ-कहाँ गये,

क्या-क्या बीता, यह सब दुःखद वृत्त यहीं समाप्त कर आगे की बात कहते हैं। जुलाई १९४७ के अन्त में अपने पुस्तकालय की तीस अलमारियाँ वहीं छोड़ उनमें से ५२ पेटी लगभग ९० मन पुस्तकें हमने शाहदरा स्टेशन पर फगवाड़ा के लिये बुक करा दी थीं। कई मास तक उन पुस्तकों का कुछ भी पता न चला। मैंने भी यही निश्चय कर लिया कि यदि पुस्तकें न मिलीं तो फिर आजीवन पुस्तक को हाथ नहीं लगाना। सुना कि जालन्धर में मेरे किसी प्रिय शिष्य ने पुस्तकों का वैगन कराची से निकलवाया, जिसका मुझे आज तक कोई पता नहीं कि वह कौन था और पुस्तकें कैसे आईं (५०-६० मन तो पुस्तकालय की पुस्तकें १३ अगस्त १९४७ को पैसा अखबार लाहौरवाले मकान में ट्रस्ट की बिक्री की पुस्तकों के सम्पूर्ण स्टाक के साथ जला दी गई थीं) पुस्तकें फगवाड़ा पहुंचीं। फगवाड़ा निवासी स्वर्गीय हकीम गुरुदास राम जी आर्य की सहायता को मैं भूल नहीं सकता। फगवाड़ा से पेटियाँ लुधियाना बाबूजी के गोदाम में पहुंचीं, जहाँ ५-६ बार स्थान बदलना पड़ा। अब पुस्तकें भारत में थीं। पर न तो कहीं बैठने का निश्चित सुरक्षित स्थान था, न मेरे ठहरने की व्यवस्था। ट्रस्ट के सञ्चालक अपनी २०-२५ लाख रुपये की सम्पत्ति पाकिस्तान में छोड़ चुके थे। यह क्रम मार्च १९५० तक चला। इस प्रकार पूरे चार वर्ष पाकिस्तान की भेंट हुए। इसमें वेदभाष्य की क्या चलाई थी।

(२) काशी में बैठने का प्रारम्भ

मार्च १९५० में जैसे-तैसे श्री बाबू अर्जुन देव जी अग्रवाल झरिया की प्रेरणा और सहायता से मोतीझील बनारस में बैठ गये। पुस्तकों की पेटियाँ लुधियाने से बनारस पहुंच गईं। जिनके मालगाड़ी द्वारा लाने में ट्रस्ट का लगभग एक सहस्र रुपया व्यय हुआ। पुस्तकें पहुंच गईं तो मुझे भी पुस्तक फिर से हाथ में लेनी पड़ी। वेदभाष्य का कार्य नये सिरे से आरम्भ करने के लिये यजुर्वेदभाष्य प्रथम संस्करण की कुछ प्रतियाँ इन्दौर आदि से मोल खरीद कर मँगानी पड़ीं। अब पुस्तकों का ढेर हमारे पास पड़ा था, क्योंकि पुस्तकें पेटियों में बन्द थीं, उनसे काम कैसे लेते। तीस बड़ी अलमारियाँ चाहिये थीं, जिनके लिये कई हजार रुपया चाहिये था। किराये पर पर्य्याप्त व्यय हो चुका था। धन की कठिनाई थी। अन्त में पुस्तकों के लिये लगभग २५ रैक (दोनों ओर से खुले) बनवाये गये, तब कहीं उन पुस्तकों से काम लेने योग्य व्यवस्था हो पाई। धूल

आदि के बचाने के लिये ऊपर वस्त्र लगा लिये। पुस्तकों की स्थिति अभी तक यही चल रही है।

(३) कार्यारम्भ

इस प्रकार अप्रैल १९५० से बनारस (मोती झील) में ट्रस्ट का कार्य चालू हुआ और वेदभाष्य का कार्य यथावसर होने लगा। १९५० में भी मैं १८९ दिन बनारस से बाहर रहा। आर्ष पाठविधि के कार्य में ६८दिन साधु आश्रम, ७० दिन एटा, सासनी आदि, ३२ दिन अजमेर तथा अमृतसर, २० दिन झरिया में लगे। १९५१ में १२२ दिन बाहर रहा, जिसमें साधु आश्रम ४७, मेरठ सम्मेलन १९, काङ्गड़ी १३, भुङ्गारका आदि में ११ दिन लगे। १९५२ में १५६ दिन बाहर रहा, जिसमें पाणिनि विद्यालय सुल्तानपुर ४०, देवरिया-सासनी २०, बम्बई यज्ञ १७, इलाहाबाद जिला १३ दिन लगे। अगस्त १९५२ में काशी (ललिता घाट पर सुप्रभात कार्यालय) में पाणिनि विद्यालय की शाखा चली। १९५३ में १८३ दिन बाहर रहा। मई-जून में अष्टाध्यायी का शिविर रहा। ४३ दिन सुल्तानपुर-देहली पा० वि० में, शिमला १२, खुर्जा वेदसम्मेलन १२, अमृतसर ३ बार तथा अजमेर ५४, देवरिया १५, इटावा यज्ञ आदि में १८ दिन लगे।

विदित रहे कि सन् ५१, ५२, ५३ में वेदभाष्यसम्बन्धी विषमता में पर्याप्त शक्ति और समय का अपव्यय हुआ, जो न चाहते हुए भी करना पड़ा। बुराई में से भलाई निकलती है। उसके पश्चात् हम बहुत ही परिश्रम और सावधानता से अपने काम में लगे, नहीं तो सम्भव था हम शिथिल ही रहते। प्रभु ने हम से कुछ विशेष लाभप्रद कार्य कराना था, इसीलिये ऐसा हुआ हो। अनन्त प्रभु की महिमा अपार है, सान्त जीव उसे पूर्णतया समझ नहीं सकता!!! उपर्युक्त कारणों से तथा मेरे काशी से बाहर रहने के कारण वेदभाष्य के कार्य में बाधा रही।

(४) वेदभाष्य प्रेस में

ये सब विघ्न बाधायें होते हुए भी हमने १० अगस्त १९५३ को यजुर्वेदभाष्य प्रथम अध्याय की प्रैस कापी ज्योतिषप्रकाश प्रेस (विश्वेश्वर गञ्ज) बनारस में छपने के लिए दी। दुर्भाग्यवश प्रेस मालिकों और कर्मचारियों में विषमता उत्पन्न हो गई, जिस से प्रेस लगभग १४ मास बन्द रहा।

अन्त में वेदवाणी को भी नये "आर्यविजय" प्रेस बीबीहटिया में छपवाने का विचार किया, जिसकी स्वीकृति २४ मार्च १९५४ को मिली। जिसमें २४-७-५४ को (एक वर्ष पीछे) हमने वेदभाष्य का प्रथम फार्म आर्डरी किया। उस में ३-२-५५ तक सात फार्म ही छपे। उक्त प्रेस का ढंग ठीक न था। उन्होंने परस्पर विषमता में हमारी प्रेसकापी ही गुम कर दी या जान कर न दी (हमारे साथ उनका कोई झगड़ा था नहीं)। हमें शेष प्रथम अध्याय की प्रेस कापी फिर से बनानी पड़ी। अब नये प्रेस चन्द्रशेखर मुद्रणालय में वेदवाणी और वेदभाष्य का प्रबन्ध सोचा गया, जिस का डिक्लेरेशन मार्च १९५५ में लिया गया। अप्रैल १९५५ से वेदवाणी इस नये यन्त्रालय द्वारा छपने लगी और २ जून १९५५ को हमने वेदभाष्य का आठवाँ फार्म आर्डरी किया। इस प्रकार नये प्रेस के कारण वेदभाष्य ८ मास फिर बन्द रहा। सन् ५५ के अन्त तक आठ मास में ९ फार्म ही छपे। इस प्रकार २९ मास में सब मिलाकर १६ फार्म ही छपे।

(५) वेदभाष्य का वास्तविक मुद्रण आरम्भ

अब सन् १९५६ से वेदभाष्य छपना आरम्भ हुआ, यही कहना पड़ता है। १९५६ में ३६ फर्मे छपे। आगे ५ मास वेदभाष्य छपना फिर बन्द रहा। १९५७ में १७ ही छपे, ५ मास सर्वथा बन्द रहा। १९५८ में ३५ फार्म छपे और ७ मास छपना बन्द रहा। विदित रहे कि १९५६-५७ में जो बन्द रहा, उसमें पञ्चाङ्ग के अतिरिक्त मुख्य कम्पोजिटर के कई मास प्रेस में न रहने के कारण भी काम नहीं हुआ। पञ्चाङ्ग के विषय में ज्ञात रहे कि इस ज्योतिष प्रकाश प्रेस की स्थापना ही पञ्चाङ्ग के लिये हुई, जिसका पञ्चाङ्ग भारत में सर्वोत्तम माना जाता है और इस प्रेस में न जाने कितने पञ्चाङ्ग प्रति वर्ष छपते हैं। अतः इसकी विवशता तो माननी ही पड़ेगी। हाँ, इस प्रकार १९५९ में वेदभाष्य के ७ फार्म ही छपे। मैं चार मास काशी से बाहर टङ्कारा, अजमेर आदि में रहा। इतना समय मेरे कारण वेदभाष्य का कार्य बन्द रहा।

भूमिका की छपाई—बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है कि भूमिका के लगभग २५ फार्म (२०० पृष्ठ) १० अगस्त १९५९ से १५ सितम्बर १९५९ तक लगभग १ मास में छाप दिये। जिसे हमारे सहयोगियों तथा प्रेस वालों ने दिन रात एक करके पूरा किया।

मेरी दृष्टि में यह सम्पूर्ण भाग अधिक से अधिक २॥-३ वर्ष में छप सकता था, पर ६ वर्ष का समय प्रेस में लगा।

(६) अन्य बाधायें

पाकिस्तान, वेदभाष्य की विषमता के अतिरिक्त बड़ी बाधा मेरे काशी से बाहर रहने की रही, जिसका विवरण ऊपर पर्याप्त आ चुका। इससे यह भी विदित हो जाता है कि आर्ष पाठविधि में निष्ठा के कारण एटा, देवरिया, साधु आश्रम, सासनी, पाणिनि विद्यालय सुल्तानपुर, देहली, बनारस कैम्प आदि के साथ-साथ अजमेर कार्य, अमृतसर जाना, काशी तथा अन्यत्र की संस्कृत परीक्षाएँ तथा उनका पाठ्यक्रम, वेदसम्मेलन, झरिया और लखनऊ आदि ये वेदभाष्य के अनुकूल विघ्न हैं, जो गत ३० वर्षों से तो हैं ही। इधर ७-८ वर्ष से वेदवाणी का कार्य भी वेदभाष्य के कार्य में अनुकूल विघ्न ही कहा जायेगा। अष्टाध्यायी श्रेणी वा पाणिनि विद्यालय तो बाहर जाने पर भी पीछा नहीं छोड़ता। गत मई-जून १९५९ की भर गर्मी में अजमेर में दिन भर का थका होने पर भी एक घण्टा पढ़ाता भी था, जो कुछ लोगों की दृष्टि में पागलपन हो सकता है।

अब एक प्रतिकूल विघ्न का निर्देश करना भी अनुचित न होगा। ३० जनवरी १९५७ को बम्बई से काशी लौटने पर भयानक वात का प्रकोप हुआ, जो डेढ़ वर्ष तक बहुत औषध कराने पर भी बहुत मात्रा में रहा और अन्त में औषध छोड़ने पर दूर हुआ, जो विचित्र बात है।

सम्पादक का अन्तिम निवेदन

शुद्धिपत्र के विषय में सहृदय पाठकों की सेवा में निवेदन है कि हम ने अपनी शक्ति भर अशुद्धियाँ शुद्धिपत्र में दर्शा दी हैं। ऐसा भी सम्भव है कि किसी पाठक की पुस्तक में ठीक हो और हमने अशुद्ध दिखाया हो, क्योंकि छपते-छपते मात्रायें, ऊपर का रेफ, हल् और स्वर आदि उड़ जाते हैं। किसी पुस्तक में रहा, किसी में उड़ गया, यह सब सम्भव है। हमने इस प्रकार की सभी अशुद्धियाँ दे दी हैं, जो प्रेसकापी और आर्डरी प्रूफ में ठीक थीं, छपने में अशुद्धि बन गईं। अनुमानतः आधे से अधिक अशुद्धियाँ ऐसी होंगी।

वैसे तो दृष्टिदोष की अशुद्धियाँ भी हैं। इसमें न जाने कितनी-कितनी बार और कई-कई व्यक्तियों द्वारा देखने पर भी न जाने अशुद्धि कैसे छिपी रह जाती हैं। योग्य व्यक्तियों के देखने के पश्चात् भी एक तेरह वर्षीय बालक ने "कुवन्ति" के स्थान में "कुर्वन्ति" चाहिये, यह दिखा कर हम सबको चकित कर दिया। इस विषय में हमारा तो यह मत है कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि हमारे ग्रन्थ में छपने में कोई

अशुद्धि नहीं रही। यदि मशीन का प्रूफ मिलता तो सम्भव है एक तिहाई अशुद्धियाँ ही रह जातीं। प्रेस से हम दो ढाई मील बाहर रहते हैं। वर्त्तमान स्थिति में हमारे लिये मशीन के प्रूफ का प्रबन्ध असम्भव ही था।

आशा है सहृदय पाठक हमारी कठिनाइयों को समझ गये होंगे। वे पहले शुद्धिपत्र से ठीक करके पढ़ें तो अधिक अच्छा होगा। जो कोई और अशुद्धि किसी महानुभाव को दिखाई दे, वह अवश्य सूचित करने की कृपा करें ताकि भविष्य में संशोधन हो सके।

धन्यवाद

सर्वप्रथम परमपिता परमात्मा का धन्यवाद है जो यह भाग छपकर तैयार हुआ। यह दूसरा संस्करण भी पूर्ववत् मेरा और प्रिय युधिष्ठिर का साँझा है। इसे धन्यवाद क्या दूँ। प्रभु इसे स्वस्थ रखें और दीर्घायु प्रदान करें, यही कामना करता हूं। श्री पं० भानुदत्तजी शास्त्री मीमांसाचार्य काशी ने कुछ एक स्थल दर्शाये, जिनके लिये मैं उनका आभारी हूं। प्रिय वीरेन्द्र ने भी मार्च १९५८ तक कुछ स्थलों पर उपयोगी सुझाव दिये और प्रूफ देखे। प्रिय ओ३म् प्रकाश, प्रिय विजयपाल द्वारा प्रूफ देखने तथा समय-समय पर कई उपयोगी सुझावों द्वारा सहयोग मिला तथा भूमिका के छपने तथा सूची, शुद्धिपत्रादि में इन तथा अन्यों द्वारा जो सहायता मिली, उसके लिये मैं इन सबको सप्रेम आशीर्वाद देता हूं। ऋषि के कार्य में इन सबकी निष्ठा-विश्वास-कार्यक्षमता बढ़े, यह कामना करता हूं।

पाकिस्तान में इतनी भारी क्षति हो जाने पर भी ट्रस्ट के सञ्चालक कपूर भ्राताओं तथा परिवार, विशेषकर श्री बाबू हंसराज जी कपूर की दूरदर्शिता, निष्ठा तथा तत्परता से ट्रस्ट के काम को पुनः चलाने का साहस—काशी में प्रतिमास कई सौ रुपये व्यय करने की उदारता—वेदवाणी में निरन्तर एक सहस्र रुपया वार्षिक घाटा डालकर भी चलाना और वेदभाष्य जैसे महान् ग्रन्थ को छपवाना (जो बड़ी-बड़ी सभायें भी नहीं कर सकीं) तथा ऐसे अन्य बड़े उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन इस युग में इनके महान् साहस का परिचय देता है, जो विना गहरी धर्मभावना के कदापि नहीं हो सकता। प्रभु इन्हें (सारे परिवार को) अधिक से अधिक धर्म में निष्ठा और सामर्थ्य प्रदान करें।

अब अन्त में मैं श्री धर्मनिष्ठ बाबू अर्जुनदेव जी अग्रवाल झरिया का धन्यवाद किये विना नहीं रह सकता, जिन्हों ने आरम्भ १९५० में

वेद और निरुक्त

असतो मा सद् गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।।

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो आदिसृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ संसार के अन्य भोग्यपदार्थों की भाँति, कर्मों की यथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थ, तदनुसार आचरण करने के लिये, परमपवित्र ऋषियों द्वारा प्रदान की गई। भावी कल्पकल्पान्तरों में भी यही वाणी इसी प्रकार सदा प्रादुर्भूत होगी। यह किसी व्यक्ति या व्यक्तिविशेषों की कृति नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। इसमें किसी प्रकार न्यूनाधिकता कल्पकल्पान्तरों में नहीं हो सकती।

धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।।

समग्र संसार तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान यह सब विधाता की यथापूर्व कृति है। यह है सार (निचोड़) वेद के सम्बन्ध में वैदिकधर्मियों की धारणा का, जिसे सत्य के देवता आप्त अर्थात् यथार्थवक्ता ऋषि दयानन्द ने अपने जीवनकाल में उपदेश द्वारा, तथा अपने ग्रन्थों में एक-एक पंक्ति द्वारा दर्शाया। यथार्थता की कसौटी पर ठीक उतरने से वैदिकधर्मियों ने इस धारणा को अङ्गीकार किया है—और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहाँ तक परिश्रम करना पड़ा, और वह भी उस अवस्था में जब वेद का पठन-पाठन लुप्तप्राय ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। मैं तो उस भयङ्कर झञ्झा (तूफान) का ध्यान करके स्तब्ध हो जाता हूं, जब दयानन्द को शास्त्रसम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों, सब शास्त्रकारों के नाम पर परस्पर विरोध की काली घटाओं, विविध वादों के भँवर में—मत-मतान्तरों का तो कहना ही क्या—इन सब तूफानों में चट्टान की तरह अविचल पाता हूं। नहीं-नहीं, दयानन्द उस तूफान में डिगे नहीं, अपने आपको केवल सम्भाले रहे, इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने एकदम इन सब परस्पर विरुद्ध रूढ़ियों और वादों के विरुद्ध—

घोषणा

कर दी कि—वेद प्रभु की वाणी नित्य स्वतः प्रमाण है, इसमें किसी का इतिहास नहीं। अन्य सब शास्त्र वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं, कल्पना-मात्र से नहीं अपितु सब प्रमाण-युक्ति के आधार पर। हम साधारण बुद्धि तथा विद्या वाले जितना-जितना दयानन्द का विस्तृत अध्ययन करते हैं, उतनी-उतनी उस महापुरुष में अधिक निष्ठा होती जाती है।

वेद-सम्बन्धी महर्षि दयानन्द की इस धारणा की प्रामाणिकता का दिग्दर्शन कराना ही हमारे इस प्रयास का ध्येय है क्योंकि उनकी इस धारणा के साधनों में निरुक्त एक मुख्य अङ्ग है।

१. वेद और निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध

वेद का स्वरूप ऊपर कहा गया। निरुक्त उसी वेद का अङ्ग होने से "वेदाङ्ग" है। यह प्रत्येक आर्य को आबालवृद्ध विदित है। वेद का अध्ययन अङ्गोपाङ्ग सहित ही यथावत् हो सकता है, भगवान् पतञ्जलि महाभाष्य में स्पष्ट लिखते हैं—

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

(महाभाष्य पस्पशाह्निक)।

यास्कमुनि अपनी भूमिका (निरु० १।१५) में निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन दर्शाते हुये लिखते हैं—

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम् स्वार्थ-साधकं च।

अर्थात्—इस निरुक्तशास्त्र के विना मन्त्रों में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। जो अर्थ नहीं जानना वह स्वर संस्कार (प्रकृति प्रत्ययरूप) का यथावत् अवधारण नहीं कर सकता। अतः यह शास्त्र अर्थ परिज्ञान का साधक होने से निर्वचन विद्या का स्थान है तथा व्याकरणशास्त्र की पूर्णता करनेवाला और मन्त्रार्थबोध का साधक है। इससे स्पष्ट है कि—

(१) निरुक्तशास्त्र के विना वेदमन्त्रों के अर्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता।

(२) जो अर्थ करने की ठीक-ठीक शैली को नहीं समझ लेगा, वह केवल व्याकरण के प्रकृति प्रत्यय की योजनामात्र से मन्त्रों के ठीक-ठीक अभिप्राय तक नहीं पहुंच सकता।

इससे आगे भी—

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। ......अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति, तदेतेनोपेक्षितव्यम्।......अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च ॥ नि० १।१७॥

अर्थात्—निरुक्त के विना पदविभागसम्बन्धी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा यज्ञकर्मों में देवता द्वारा बहुत से विधि-निर्देश किये जाते हैं, वह देवतासम्बन्धी ज्ञान इस निरुक्तशास्त्र द्वारा जानना होगा। जो अर्थज्ञ होता है, उसी की संसार में प्रशंसा होती है। यह सब निरुक्तशास्त्र के विना नहीं हो सकता।

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि महामुनि यास्क के मत में निरुक्त और व्याकरण वेदार्थ के मुख्य साधन हैं।

हाँ, यह ठीक है जब वेदार्थ की परम्परा अविच्छिन्न रूप से संसार में वर्तमान हो रही थी, उस अवस्था में वेदाङ्गों की भी आवश्यकता नहीं थी। केवल वेद से ही वेद का अर्थ समझा और प्रवचन द्वारा पढ़ा दिया जाता था, परन्तु यह व्यवस्था यास्क से बहुत पूर्व की थी। इसी से उसने लिखा—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे, बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च। नि० १।२०॥

अर्थात्—साक्षात्कृतधर्मा (जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार किया) ऋषि हुये। उन्होंने पीछे होनेवाले असाक्षात्कृतधर्माओं (जिनको धर्म का स्वयं साक्षात्कार नहीं था) को उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये (अर्थात् मन्त्रों का उपदेश किया)। वे उपदेश के लिये ग्लानि करने लगे। अतः (ऋषियों ने) विस्पष्ट ज्ञान के लिये इस निघण्टु निरुक्त-ग्रन्थ तथा वेद का उनको अभ्यास कराया।

यास्क से पूर्व १२ निरुक्तकार थे, जिनको उसने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है, जो निम्न प्रकार हैं—(१) औपमन्यव (२) औदुम्बरायण (३) वार्ष्यायणि (४) गार्ग्य (५) आग्रायण (६) शाकणि (७) और्णवाभ (८) तैटीकि (९) गालव (१०) स्थौलाष्ठीवि (११) क्रौष्टुकि (१२) कात्थक्य। इससे ज्ञात होता है कि यास्क ने अपने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुये निघण्टु ग्रन्थ की रचना की।

उपर्युक्त स्थल में **'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च'** इस अंश पर **"वेदं समाम्नासिषुः"** का अर्थ आधुनिक लोग "वेद बनाये" ऐसा

करते हैं। पारदर्शी दयानन्द ने (ऋ० भूमिका पृ० ३७२ शताब्दी-संस्करण) इसका अर्थ "सम्यगभ्यासं कारितवन्तः" किया है। आप सज्जनों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि इस स्थल का बहुत ही अच्छा अर्थ "निरुक्तवार्त्तिक" नामक प्राचीन ग्रन्थ में किया गया है, जो मण्डनमिश्र की "स्फोटसिद्धि" की गोपालिका नाम की टीका में है। यह हस्तलेख (ms) यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी लाहौर में वर्तमान है[1]।

वहाँ लेख इस प्रकार है—

यथोक्तं निरुक्तवार्त्तिके—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥
उपदेशश्च वेदव्याख्या। यथोक्तम्—
अर्थोयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि।
व्याख्यैवात्रोपदेशस्स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः ॥ इति ॥

उपदेशाय ग्लायन्त इति। उपदेशेन ग्राहयितुमशक्या इत्यर्थः। अपरे द्वितीयेभ्यो न्यूना इति, बिल्मग्रहणायोपायतो वशीकरणाय इमं ग्रन्थं वक्ष्यमाणं समाम्नासिषुः, समाम्नातवन्तस्तमेवाह—वेदं च वेदाङ्गानि चेति। अङ्गशब्द उपाङ्गादेरप्युपलक्षणार्थः। वेदमुपदेशमात्राद् ग्रहीतुमशक्ताः। वेदं समाम्नासिषुः वेदार्थं चोपदेशेन ग्रहीतुमशक्ताः। अङ्गानि च समाम्नासिषुरिति। यथोक्तम्—

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः ॥ पृ० १७१

अर्थात्—साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए, उन्होंने असाक्षात्कृतधर्माओं को उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये (अर्थात् मन्त्रों का उपदेश दिया)। यहाँ वेद की व्याख्या उपदेश शब्द का अर्थ है। दूसरे लोग उपदेश मात्र से आलस्य मानने लगे। वेद को उपदेश (व्याख्या) मात्र से यह लोग अब ग्रहण नहीं कर सकते, यह सोचकर उन्होंने उनको वेद तथा वेदाङ्गों का का साथ-साथ अभ्यास कराना आरम्भ किया और वे लोग अभ्यास करने लगे। बस इसी से वेदाङ्गों की उत्पत्ति हुई।

---

१. जिस समय यह निबन्ध लिखा गया था उस समय मण्डनमिश्र की उक्त टीका छपकर प्रकाश में नहीं आई थी। कुछ समय पश्चात् प्रकाश में आई। अब 'स्फोटसिद्धि' की टीका में उद्धृत निरुक्त-वार्त्तिक भी प्राप्त हो गया हे। यह ग्रन्थ ६ अध्याय तक है। इसकी प्रतिलिपि हमने श्रीमान् मित्रवर्य डा० राघवन्, अध्यक्ष सं० विभाग वि. वि. मद्रास की कृपा से प्राप्त की है। यु० मी०।

अभी तक निरुक्त पर आर्यभाषा में दो टीकायें हमारी दृष्टि में आई हैं, जिनमें प्रथम श्री पं० राजाराम जी की है,[1] द्वितीय श्री पं० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार जी की है[2]।

श्री० पं० चन्द्रमणि जी ने निरुक्त ग्रन्थ पर बहुत प्रशंसनीय उद्योग किया है, जिसके लिये प्रत्येक आर्य को उनका अनुगृहीत होना चाहिये।

यह उपर्युक्त स्थल उनकी टीका में भी विचारणीय ही है। इस स्थल का भाषार्थ वहाँ इस प्रकार है—

"साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए। उन्होंने पीछे होनेवाले असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों को उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये। उपदेश के लिये ग्लानि को प्राप्त हुए पीछे मनुष्यों ने विस्तारपूर्वक या स्पष्टतया परिज्ञान के लिये इस निघण्टु ग्रन्थ वेद और वेदाङ्गों को ग्रन्थित किया।"

ग्लानि को प्राप्त हुए मनुष्यों ने जो साक्षात्कृतधर्मा नहीं थे, निघण्टु, निरुक्तादि वेदाङ्गों को ग्रन्थित किया, यह अर्थ सुसङ्गत नहीं प्रतीत होता। विद्वज्जन इस पर विशेष विचार कर सकते हैं। कह नहीं सकते, यह स्थल कैसे इस प्रकार रह गया, अस्तु।

"**वेदं च वेदाङ्गानि च**" का अर्थ "**वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः**" कैसा स्पष्ट लेख है। क्या दयानन्द को पारदर्शी कहना पक्षपात कहला सकता है? इसी से हम कहते हैं कि अभी तक हम लोगों ने अनार्ष ग्रन्थों को अपने हृदय से नहीं छोड़ा। दयानन्द का अध्ययन हो कैसे!!!

यह एक प्रसिद्ध स्थल है, जिस पर अनेक आर्यपुरुष तथा विद्वान् शंकायें उठाते रहते हैं।

इस प्रकार वेद और निरुक्त का "साध्य साधन" रूप सम्बन्ध है। इस साध्यसाधनभाव की पुष्टि में हम एक अपूर्व ग्रन्थ का प्रमाण और उद्धृत करते हैं—

---

१. इस टीका पर यद्यपि गवर्नमेण्ट ने न जाने क्या उपयोगिता समझकर ७०० रु० का इनाम दिया है, तथापि हमें दुःख से लिखना पड़ता है, आर्यसमाज की दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वथा हेय है, तथा इनके अन्य ग्रन्थ भी प्रायः इसी प्रकार हैं।

२. रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रधान श्री पं० भगवद्दत्तजी ने भी निरुक्त का भाष्य लिखा है और इसे रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किया है। यह टीका सर्वोत्तम है। यु० मी०।

इस ग्रन्थ का नाम "निरुक्तसमुच्चय" है, जिसका कर्त्ता "आचार्य वररुचि" है, जो नैरुक्त सम्प्रदाय का एक प्राचीन आचार्य जान पड़ता है। इसके समयादि के विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, आचार्य स्कन्दस्वामी ने इसको उद्धृत किया है, अतः यह ग्रन्थ उससे पूर्व का अवश्य है, इतना तो निश्चित है। स्कन्दस्वामी का काल छठी शताब्दी कहा जाता है। वर्तमान उपलब्ध वेदभाष्यकारों में स्कन्दस्वामी सब से प्रथम वेदभाष्यकार है। इस ने आचार्य वररुचि को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

प्रकृत विषय में इस "निरुक्तसमुच्चय"[1] ग्रन्थ का उपर्युक्त स्थल निम्न प्रकार है—

पृ० १—**'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते' इति नानिरुक्तार्थविद् कश्चिन्मन्त्रं निर्वक्तुमर्हति इति च वृद्धानुशासनम्। निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। मन्त्रार्थज्ञानस्य शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा** (नि० १।१८)। **शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति** (नि० १३।१३)। **बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रचलिष्यति। इति व्यासवचनम्** (महाभा० आदिपर्व १।२६४)।

अर्थात्—जो निरुक्त के अभिप्राय को नहीं जानता, वह मन्त्र का निर्वचन नहीं कर सकता, यही (परम्परा से) वृद्धों की शिक्षा है। निरुक्त की प्रक्रिया से ही मन्त्रों का निर्वचन करना चाहिये। मन्त्रों के अर्थों का ज्ञान क्यों करना आवश्यक है, यह शास्त्र (निरुक्त) के आरम्भ में ही कहा जा चुका है·········इत्यादि।

वेद तथा निरुक्त का परस्पर कहाँ तक साध्यसाधन भाव है, इस विषय का यह कैसा ज्वलन्त उदाहरण है।

निरुक्त वेदार्थ के लिये कहाँ तक आवश्यक है, इसमें अनेक ग्रन्थों के प्रमाण तथा कारण लिखे जा सकते हैं, परन्तु विस्तारभय से हम यहाँ न लिखते हुये, केवल इतना ही लिखकर इस विषय को समाप्त करते हैं कि—वर्तमानकाल में उपलब्ध होनेवाले "वेदभाष्यों" में ब्राह्मणों को छोड़कर निरुक्त आर्ष-ऋषिप्रोक्त **सर्वतः प्रथम वेदभाष्य** है, जो वेदार्थ की शैली के

---

१. इस ग्रन्थ का सम्पादन पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने किया है। और यह पंजाब यूनिवर्सिटी के त्रैमासिक पत्र में निकल चुका है।

इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है—यु० मी०।

केवल नियम बता कर ही नहीं छोड़ देता, अदितु सोदाहरण सोपपत्तिक वेदमन्त्रों का अर्थ, आजकल की भाषा में नहीं, अपितु प्राचीन काल की भाषा में देता है।

२. निरुक्त और आर्यसमाज

आप महानुभाव इस शीर्षक को देखकर घबराहट में न पड़ जावें। ऋषि दयानन्द ने जो धारणा 'वेद और वेदार्थ' के सम्बन्ध में निर्धारित की, मेरे विचार में वह धारणा प्रथम व्याकरण अष्टाध्यायी और महाभाष्य (क्योंकि केवल यही दो व्याकरण के पुस्तक हैं) तथा द्वितीय निरुक्त—इन दो के आधार पर निश्चित की। अन्य ब्राह्मण उपाङ्गादि सहायक सामग्री कहे जा सकते हैं।

मन्त्रों के भाष्य में ऋषि ने इस बात को पदे-पदे भली-भाँति व्यक्त किया है, तथा वेदाङ्ग होने से निरुक्त को पाठ्यग्रन्थों में भी लिखा है।

ऐसी अवस्था में निरुक्त जैसे प्राचीन ग्रन्थ की अवहेलना नहीं की जा सकती। आर्यसमाज का इस विषय में निश्चित सिद्धान्त क्या है, यह मैं पूर्णतया नहीं कह सकता। इतना तो जानता हूं कि 'निरुक्त वेदानुकूलतया ही आर्यसमाज के लिये प्रमाण है' ऐसी धारणा प्रायः देखी जाती है और यह है भी ठीक। परन्तु इतना कह देने मात्र से हम किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता से मुक्त नहीं हो सकते, जब तक कोई प्रबल प्रमाण उसके विपरीत न दर्शा देवें।

वेदार्थ की शैली बतलानेवाले आचार्य ने वेद को जैसा समझा होगा, इसका कितना महत्त्व है, इसको सभी विज्ञ जानते हैं।

जो महानुभाव वर्तमान समय की विविध कठिनाइयों के होते हुए 'वेद' जैसे गहन विषय रूपी अलूनी शिला को चाटने में लग रहे हैं, वह सभी धन्यवाद के पात्र हैं। ऐसे ही महानुभावों में मैं स्वर्गीय श्रद्धेय वेद के प्रौढ विद्वान् ऋषि दयानन्द के परम भक्त, मिथिलानिवासी पूज्य श्री० पं० शिवशङ्कर जी महाराज को समझता हूं। उन्होंने वेदविषय में आर्यसमाज की अति प्रशंसनीय सेवा की है। उनके ग्रन्थ वेदविषय में उनकी अलौकिक बुद्धि का परिचय देते हैं। इन पंक्तियों का लेखक उन में गुरुबुद्धि रखता है। उनके ग्रन्थों में अन्य विद्वानों के ग्रन्थों की भाँति कुछ विचारणीय स्थलों का होना, उन ग्रन्थों के गौरव को कुछ भी कम नहीं कर सकता।

'वेद में इतिहास' विषय पर 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' जैसा अपूर्व ग्रन्थ लिख कर उन्होंने अपने अपूर्व पाण्डित्य का परिचय दिया। यदि वह केवल इस ग्रन्थ को ही लिखते और कुछ भी न लिखते, तब भी उनकी महिमा चिरस्थायी ही रहती।

प्रकृत में जो बात हम कहना चाहते हैं वह यह है कि 'वैदिक इतिहासार्थनिर्णय' 'आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब' के द्वारा प्रकाशित हुआ है, जो एक प्रतिष्ठित सभा है। इस ग्रन्थ में निरुक्त के सम्बन्ध में जो धारणायें उक्त श्रद्धेय श्री० पं० शिवशङ्कर जी ने निश्चित की हैं, उनको मैं अति-संक्षेप से लिखता हूं, जिससे यह व्यक्त हो जायगा कि आर्यसमाज की निरुक्त के सम्बन्ध में क्या धारणा रही है। सज्जनों को ज्ञात रहे कि बहुत काल तक मेरी भी लगभग ऐसी ही धारणा रही। वे उद्धरण निम्नप्रकार हैं—

(१) वैदिकेतिहासार्थनिर्णय भूमिका पृ० २३—

"सायणादि कैसे अवाच्य-घृणित-अश्लील अर्थ वेदों का कर गये हैं ·········क्या वेदों का यही अर्थ है? यह सम्मति केवल सायण की ही न समझनी, किन्तु यास्क, कात्यायन-शौनकादिकों की भी जाननी, क्योंकि यथा हरिस्तथा हरः। ऐ विद्वानो! ···"

(२) वैदिक० इतिहा० भू० पृ० ३४—

"सायण-महीधर-कात्यायन-आपस्तम्ब-शौनक-यास्क आदि ये वेदों के अर्थ कर जो दुर्मार्ज्जनीय, अकथनीय लाञ्छन वेदों पर लगा गये हैं, उन का निकालना दु:साध्य सा हो गया है। यदि यह सब वेदों पर टीका टिप्पणी न कर जाते तो अच्छा था।

ऐसी घोर अन्धकार की अवस्था में पिता दयानन्द ने ही वेदों की पुन: स्थापना की और वेदों के सत्यार्थ जानने के लिये पूर्ण विधि-उपाय और संकेत बतला गये, जिनकी सहायता से आप भारतवासी वेदों के सत्यार्थ निकाल सकते हैं यदि आप इस कार्य में तत्पर हो जायें।"

(३) वैदिक इतिहा० पृ० १२४—

"परन्तु शोक यह है कि यास्काचार्य सदृश बुद्धिमान् जन भी इन आख्यायिकाओं-कथाओं-इतिहास के आशय का संकेत मात्र भी न कर गये।"

(४) वैदिक इतिहा० पृ० १४६—

"यास्काचार्य ने और अन्य ग्रन्थकारों ने समान ही कथा लिखी हैं।"

'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव अङ्गारेष्वङ्गिराः, अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुः तस्मादत्रिर्न त्रयः (निरु० ३।१७)।'

"मुझे बहुत ही शोक होता है कि इन आचार्यों ने वेद की एक बात भी सीधी नहीं लिखी। आश्चर्य-आश्चर्य और अश्लील-अश्लील कथायें लिख कर वेदों को भ्रष्ट कर दिया।"

(५) वैदिक इतिहास० पृ० १८२—

"प्रथम यास्काचार्य का सर्वभ्रमोत्पादक लेख यह है—

तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार (निरु० १०।२६)।"

(६) वैदिक इतिहा० पृ० १८३—

"मैं नहीं कह सकता कि यास्काचार्य के समान विद्वान् प्रामाणिक ग्रन्थों [ब्राह्मणों—ले०] को छोड़कर क्यों वेदों पर कलङ्क लगा गये।"

यह सब उद्धरण इतने स्पष्ट हैं कि इन पर कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं। उक्त पूज्य पण्डित जी की सम्मति में 'निरुक्त' ग्रन्थ वेदार्थ के लिये एक दम उठाकर खूँटी पर रख देने योग्य ही है। सहृदय पाठकों की सेवा में हम विनम्रभाव से कहना चाहते हैं कि अप्रामाणिक आचार्यों की इस सूची में से अब समाधान की पर्याप्त प्रमाण सामग्री मिलने के कारण यास्क का नाम निकाल देना चाहिये।

यह सब लिखने का तात्पर्य यही है कि यास्क और निरुक्त के विषय में अभी तक बहुत कुछ आशङ्कायें बनी हुई हैं, इसलिये 'वेद और निरुक्त' के विषय में बहुत कुछ प्रकाश डाला जाना चाहिये, जिसके लिये हम यथाशक्ति पूर्णरीति से विद्वानों की सेवा में अपने विचार उपस्थित करते हैं।

३. अपौरुषेयत्व

सबसे प्रथम हम 'यास्क' का वेद का स्वरूप सज्जनों के आगे रखते हैं, क्योंकि मूल के विना वृक्ष कैसे होगा।

निरुक्त के प्रारम्भ में ही चार प्रकार के पद-विभाग तथा शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए यास्क ने—

पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

ऐसा लिखा है, जिसका अर्थ है पुरुष की विद्या अनित्य होने से वेद में कर्मों का सम्पादन (प्रकार) यद्वा कर्मों की सम्पूर्णता (यथा ऋ० भूमिका) का प्रतिपादन है—

इस लेख से निम्न बातें स्पष्ट हैं—

(१) पुरुष की विद्या अनित्य है।

(२) वेद में ऐसी अनित्य विद्या नहीं, वेद में इसके विपरीत नित्य विद्या है।

(३) वह पुरुष की (अर्थात् पौरुषेय) नहीं किन्तु अपौरुषेय है।

४. मन्त्रों के कर्ता ऋषि

इस विषय में यास्क की क्या सम्मति है सो भी सुनिये—

पूर्वपक्षी

(१) देखो निरु० ३।११—

ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानाम् इत्यौपमन्यवः।

अर्थात्—कुत्स ऋषि होता है, स्तोमों (मन्त्रों) का कर्त्ता, ऐसा औपमन्यवाचार्य का मत है। इसमें "**कर्त्ता स्तोमानाम्**" का अर्थ—मन्त्रों का बनानेवाला—कितना विस्पष्ट है। क्या इससे प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं कि यास्क ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता (बनानेवाला) मानता है?

(२) और देखिये—निरु० १०।४२—

अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते तत् परुच्छेपस्य शीलम्।

यहाँ परुच्छेप ने मन्त्र बनाये, ऐसी झलक प्रतीत होती है। आगे का पाठ निम्न प्रकार है—

परुच्छेप ऋषिः पर्ववच्छेपः परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा।

यहाँ भी परुच्छेप को 'ऋषि' कहा गया है। क्या इन प्रमाणों से ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता हैं, इसमें कुछ भी सन्देह रह जाता है?

सिद्धान्ती

(१) सबसे प्रथम हम निरुक्त के "**कर्त्ता स्तोमानाम्**" का अर्थ स्वयं न करके आचार्य यास्क के अपने शब्दों में ही दर्शा देते हैं—

देखिये निरुक्त ३।११ में "**कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः**" में जिस औपमन्यव आचार्य के मत से 'कर्त्ता स्तोमानाम्' ऐसा यास्क ने लिखा, उसी औपमन्यव आचार्य के मत से यास्क ने निरु० २।११ में ऋग्वेद दशम मण्डल के ९८ सूक्त के ५वें मन्त्र में आये हुये ऋषि शब्द का अर्थ दर्शाते हुए लिखा है—

ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः॥

अर्थात् ऋषि—द्रष्टा होने से—स्तोमों (मन्त्रों) को देखा (न कि बनाया), ऐसा औपमन्यव आचार्य का मत है।

कितना विस्पष्ट लेख है। जिस औपमन्यव आचार्य के मत से **"कर्त्ता स्तोमानाम्"** लिखा, उसी का मत दिखाते हुये यास्क ने **"स्तोमान् ददर्श"** ऐसा लिखा। यदि दूसरे के मत से लिखा होता तो पूर्वपक्षी को यह कहने का अवसर भी मिल सकता था कि एक आचार्य ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता मानता है, दूसरे द्रष्टा। परन्तु यहाँ पर तो दोनों स्थलों में वही एक ही औपमन्यव आचार्य है। अतः इसमें शङ्का का यत्किञ्चित् भी स्थान नहीं रह जाता।

(२) **"परुच्छेपस्य शीलम्"**—यहाँ दुर्गाचाय का मत निम्न प्रकार है—

"परुच्छेपस्य मन्त्रद्दशः शीलम्" स हि नित्यमभ्यस्तैः शब्दैः स्तौति। मन्त्रदृशोऽपि, स्वभाव उपेक्ष्य इत्युपप्रदर्शनायेदमुक्तम्।

कैसी हृदयग्राही सङ्गति लग रही है। इसमें भी कोई खींचातानी का व्यर्थालाप करे तो अन्धेर है।

इस विषय में एतद्देशीय तथा विदेशीय विद्वान् कुछ आशङ्कायें उठाते हैं कि—

(क) **"नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः………"**

तै० आ० ४।१।१।। तथा—शा० आरण्यक।

आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् ।।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण १३।३।२४।। तथैव आपस्त० श्रौतसूत्रे ।।

(ख) **यावन्तो वा मन्त्रकृतः** ।।

कात्यायनश्रौतसू० ३।२।८।। तथा च—बौधायन श्रौ० सू०।

(ग) गृह्यसूत्रों में—**श्रद्धाया दुहिता—स्वसर्षीणां मन्त्रकृतां बभूव** ।।

काठक गृह्यसूत्र ४१।११।।

ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः ।। सत्याषाढ श्रौ० सू० ३।१।।

इत्यादि प्रमाणों को लेकर ऋषियों को मन्त्रों के बनानेवाले बताते हैं। (विशेष देखो ऋग्वेद पर व्याख्यान पृ० ३४ से ३५)।

इस पर अधिक न लिख कर हम कुछ ही स्थलों का भाष्यकारों का अर्थ दर्शाये देते हैं—

(१) तै०आ० के भाष्य में महाविद्वान् भट्टभास्कर का निम्न लेख है—

अथ नम ऋषिभ्यो द्रष्टृभ्यः, मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्त्तृत्वम् ।।

(२) सायणाचार्य ने भी तै० आ० के इसी स्थल पर लिखा है—

ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत् करोतिधातुस्तत्र दर्शनार्थः ॥

इन दोनों उद्धरणों से सर्व श्रौतगृह्यादि में इस शब्द के अर्थ की व्यवस्था समझ में आ जाती है। इस प्रकार वेद तथा इन गृह्य श्रौत आदि सब में कर्तृत्व से द्रष्टृत्व ही यास्क और औपमन्यव सदृश ऋषियों को अभिमत है। तब हमें "मन्त्रकृतां" का ऐसा अर्थ मानने में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है।

यहाँ यास्क का प्रमाण सब प्रमाणों में सर्वतः उपरि है।

(३) आप कहेंगे कि "डुकृञ्" तो 'करणे' अर्थ में धातुपाठ में पढ़ा है। सो भी अज्ञान की बात है। देखिये महामुनि भगवान् पतञ्जलि 'करोति' का अर्थ क्या मानते हैं—

महाभाष्य "भूवादयो धातवः" के भाष्य में—

बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथा वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्त्तते केशश्मश्रु वपतीति······। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्त्तते कटे कुरु, घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु स्थापयेति गम्यते।

(महाभाष्य अ० १।३।१)

अर्थात्—धातु बहुत अर्थवाले भी होते हैं। जैसे वप् धातु बखेरने अर्थ में देखा जाता है। काटने के अर्थ में भी होता है। जैसे केशश्मश्रु को (वपति) काटता है, करोति अभूतप्रादुर्भाव (जो नहीं था और हो गया) अर्थ में देखा जाता है। निर्मलीकरण (धोने) अर्थ में भी होता है। जैसे पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु का अर्थ पृष्ठ को धोओ पाँवों को धोवो, यह है। 'इतः कुरु' का अर्थ इधर कर दो, रख दो या हटा दो, यही प्रतीत होता है इत्यादि। अकस्मात् यहाँ करोति का ही अपना अभिमत अर्थ पतञ्जलि ने दे दिया है। अब भी इसे कोई कल्पनामात्र ही समझता रहे तो परमात्मा ही उसकी बुद्धि को सुमार्ग=सीधे सरल मार्ग पर लावे। इससे अधिक और क्या कह सकते हैं।

(४) वर्त्तमान उपलब्ध आधुनिक वेदभाष्यकारों में सर्वप्रथम आचार्य स्कन्द स्वामी (जिसके हम बहुत कृतज्ञ हैं) की सम्मति देते हैं—

निरुक्त भा० २ पृ० ५८३—

क्रियासामान्यवचनत्वात् करोतिरत्र रक्षणार्थ उत्तारणार्थो वा।

धात्वर्थ पर हम पुनः किसी समय अवसर मिलने पर विचार करेंगे, यहाँ पर इतना ही पर्याप्त है।

अन्त में निरुक्त का एक स्थल और उपस्थित करते हैं—

(५) निरुक्त ७।३—

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ।

ऋषियों को मन्त्रों का दर्शन होता है, न कि वह मन्त्रों के बनानेवाले होते हैं, यह इस लेख से विस्पष्ट है ।

स्कन्दस्वामी (४।१९ पृ० २४९) ऋषि का अर्थ स्तोता करते हैं ।

च्यवन इत्येतदनवगतम् । च्यावन इत्येव न्याय्यम् । ऋषिरभिधेयः, तदाह च्यावयिता स्तोमानाम्, देवानां प्रतिगमयिता स्तोतेत्यर्थः ।

इसी प्रकार इस विषय में अन्य भी बहुत से प्रमाण हैं, परन्तु यहाँ पर इतने ही पर्याप्त हैं । अतः यास्क वेदों को अपौरुषेय मानते हैं, यह सर्वथा सिद्ध है ।

५. यास्क और वेदों का नित्यत्व तथा प्रयोजनत्व

यह भी पूर्व निर्दिष्ट प्रमाण—"पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" में पुरुष की विद्या अनित्य होने से—तद्भिन्न नित्य विद्या वाले (प्रभु) की नित्य विद्या होने से नित्यत्व सिद्ध है ।

"कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" इस वचन से वेद में सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों की सम्पत्ति (सम्पादन प्रकार) सम्पूर्णता प्रतिपादित है । इसी से वेद-ज्ञान की प्रयोजनता प्रत्येक मनुष्य को स्वकल्याणार्थ अवश्य है, यह भी सुस्पष्ट है ।

६. निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं

यास्ककृत वर्तमान निरुक्त ऋग्वेदी लोगों के पठितव्य दस ग्रन्थों में से एक है । इनके अन्तर्गत होने से यह केवल ऋग्वेद का ही निरुक्त है, ऐसा किन्हीं लोगों का विचार है । यतः अपने से पूर्व शाकपूणि आदि १२ नैरुक्तों का यास्क ने स्वयं उल्लेख किया है, इससे अनुमान होता है कि सम्भव है वे निरुक्त अन्य वेदों के तथा ऋग्वेद के भी हों । यास्क ने अपने ग्रन्थ में 'शाकपूणि' को २० बार स्मरण किया है । बृहद्देवता में भी १० बार इसका उल्लेख मिलता है । (देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, श्री० पं० भगवद्दत्त जी कृत पृ० १६९ से १७७) ।

इससे अनुमान हो सकता है कि सम्भव है वे निरुक्त भिन्न-भिन्न शाखाओं के हों, परन्तु जब तक वे ग्रन्थ समक्ष में नहीं आ जाते, उनकी किसी प्रकार की कल्पना करना व्यर्थ ही है । उपर्युक्त युक्ति के विपरीत यह भी तो युक्ति हो सकती है कि जैसे प्राचीन वैयाकरणों शाकल्य

शाकटायनादि के पश्चात् अगाधमति पाणिनि ने '**केषां शब्दानां ? लौकिकानां वैदिकानां च**' महाभाष्य के इस वचन के अनुसार सबका समन्वय करके एक ही सर्वाङ्गपूर्ण शास्त्र "अष्टाध्यायी" बना दिया और प्रातिशाख्य ग्रन्थों की व्याकरणविषयक आवश्यकता को भी पूर्ण कर दिया, ऐसा ही निरुक्त के विपय में समझना चाहिये। व्याकरण विषय के लिये इन प्रातिशाख्यों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती, ऐसा हमारा मत है। शेष उच्चारणादि की प्रक्रिया को सुरक्षित बनाये रखने के लिये तो ये ग्रन्थ उपयोगी हैं ही।

पाणिनीय अष्टाध्यायी के विषय में हमारे इस मत का आधार है महाभाष्यकार का वचन—**सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्**। (महाभाष्ये) अर्थात्—"**पारिषदकृतिरेषा तत्र भवताम्**" कह कर महाभाष्यकार एकार ओकार के उच्चारणों के स्वरूप को बताते हैं और पुनः इस पाणिनीयशास्त्र को "**सर्ववेदपारिषदम्**" सब वेदों का पारिषद ग्रन्थ बताते हैं। इतने से ही स्पष्ट है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि "अष्टाध्यायी" को सब वेदों से सम्बन्ध रखनेवाला ग्रन्थ मानते हैं, न कि ऋग्वेद के अन्तर्गत दस ग्रन्थों में होने से केवल ऋग्वेद का ही।

इस विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि "अष्टाध्यायी" से अतिरिक्त और कोई भी व्याकरण का ग्रन्थ संहिताभेद अथवा शाखाभेद को लेकर बना हो, यह कोई नहीं कह सकता।

इसी प्रकार निरुक्त भी समस्त वेदों का अङ्ग है, न केवल ऋग्वेद का ही। उपर्युक्त विषय की साक्षी हम स्वयं निरुक्त से ही देते हैं—

निरुक्त अष्टमाध्याय दैवतकाण्ड में चौथे खण्ड से १५वें खण्ड तक का सम्पूर्ण द्वितीय पाद "**अथात आप्रियः**" आप्री सूक्त परक ही है। इस प्रकरण में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस पाद के सब मन्त्र ऋग्वेद-यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों में आये हैं। आप्री देवता '**इध्मः**' से लेकर '**स्वाहाकृतयः**' तक १२ देवता निरुक्तकार ने क्रमशः व्याख्यात किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

इध्मः। तनूनपात्। नाराशंसः। इडः। बर्हिः। द्वारः। उषासानक्ता। दैव्याहोतारः। तिस्रो देवीः। त्वष्टा। वनस्पतिः। स्वाहाकृतयः।

इन बारह देवताओं के उदाहरण में १२ ही मन्त्र यास्क ने क्रमशः दिये हैं। हमें यहाँ वक्तव्य इतना है कि ऋग्वेद के दशममंडल के ११० सूक्त में ११ ही मन्त्र हैं। "नाराशंसः" तृतीय देवता का जो मन्त्र यास्क

ने दिया है, वह ऋ० १०।११० सूक्त में नहीं है, क्योंकि सूक्त में तो केवल ११ ही मन्त्र हैं, १२ आवें कहाँ से ? हाँ यास्क ने "नाराशंस:" देवता के उदाहरण में जो मन्त्र दिया है, वह ऋग्वेद में अन्यत्र ऋ० ७।२।२ में है।

यहाँ पर विचारणीय बात यही है कि यास्क यदि केवल ऋग्वेद का ही व्याख्याकार है तो उसने १२ देवताओं का क्रम क्यों रखा, जब ऋग्वेद की संहिता में १२ देवता इस प्रकार के हैं ही नहीं, अपितु ११ ही हैं[1]। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि—निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं। अन्यथा इतने भिन्न क्रम से यास्क इन देवताओं का व्याख्यान न करता।

जैसा ऊपर लिखा ये मन्त्र अथर्ववेद ५।१२ में भी क्रमश: ऋग्वेद के सर्वथा सदृश हैं, अर्थात् इसी क्रम से हैं तथा संख्या में भी ११ ही हैं।

अब देखिये यजुर्वेद अ० २६ मं० २५ से ३६ तक जैसे के तैसे १२ संख्या में और निरुक्तकारप्रदर्शित १२ देवताओं के मन्त्र ठीक वैसे ही क्रम से वर्त्तमान हैं। इससे स्पष्ट है कि यास्क ने अपने निघण्टु में जिन १२ पदों को क्रम से रखा, उनकी मन्त्रों के उदाहरणों से सहित ठीक उसी क्रम से व्याख्या की, वह यजुर्वेद का क्रम है, न कि ऋग्वेद का।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १३वें सूक्त में इन्हीं १२ आप्री देवताओं के यथाक्रम १२ मन्त्र उपलब्ध हैं। पर इस सूक्त के मन्त्र वे नहीं, जो निरुक्त में हैं। इससे हमारा कथन और भी स्पष्ट है।

इससे सिद्ध है कि निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं अपितु सम्पूर्ण वेदसंहिताओं की व्याख्यानप्रक्रिया दिखाना ही इसका प्रयोजन है।

यदि कहा जावे कि उपर्युक्त मन्त्र ऋग्वेद की किसी अनुपलब्ध शाखा में इसी क्रम से होंगे, तो यह केवल कल्पना मात्र ही है।

---

१. यहाँ ध्यान रहे कि आप्री देवतावाले ऋग्वेद में ११ सूक्त हैं, जिनमें से कुछ में नाराशंस देवता का मन्त्र नहीं हैं, कुछ में तनूनपात् का। तीन सूक्त ऐसे हैं, जिन में दोनों का समुच्चय अर्थात् १२-१२ मन्त्र हैं। इसलिए उपर्युक्त लेख का भाव इस प्रकार समझना चाहिए—यास्क ने १२ देवताओं का व्याख्यान करते हुए जिस सूक्त के मन्त्र उद्घृत किये हैं, उसमें ११ ही मन्त्र हैं। जिस सूक्त में क्रमश: १२ देवताओं के मन्त्र हैं उस सूक्त के मन्त्र उद्घृत क्यों नहीं किए ? आचार्य के इस इंगित से ज्ञात होता है कि वे यह बताना चाहते हैं कि निरुक्त का ऋग्वेद के ही साथ सम्बन्ध नही है। यु० मी०।

उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः के अनुसार हेय ही समझा जायगा।

यास्क ने सब वेदसंहिताओं तथा उनकी शाखाओं को लक्ष्य में रख कर ही सब का एक सामान्य वेदाङ्ग निरुक्त निर्माण किया। इसी से उसमें **"आचार्म्याम्नाये"** (नि० २।१३) करके किसी शाखा का वर्णन किया है (देखो वैदिकवाङ्मय का इतिहास पृ० १९९ से २०१ तक)। नि० १०।५ में **'इति काठकम्'** **'इति हारिद्रविकम्'** ऐसा वचन है जो यजुर्वेद के शाखारूप ग्रन्थों में है। इससे भी स्पष्ट है कि यास्कीय निरुक्त सम्पूर्ण वेदार्थ की शैली की दूसरी कुञ्जी है, क्योंकि प्रथम कुञ्जी तो **"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्"** महाभाष्यकार के इस वचन से पाणिनीयाष्टक अर्थात् अष्टाध्यायी ही है।

अतः यास्क का निरुक्त सब वेदों तथा उसकी शाखाओं के सम्बन्ध में अर्थ की प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है, यही कहना हमें अभिप्रेत है।

(२) इस विषय में हम निरुक्त की और भी आभ्यंतर साक्षी उपस्थित करते हैं। निरुक्त में यास्क ने केवल ऋग्वेद के मन्त्रों की ही व्याख्या की हो, यह बात नहीं। निरुक्त में अनेक ऐसे मन्त्र भी विद्यमान हैं, जो केवल यजुर्वेद आदि में ही आये हैं, ऋग्वेद में नहीं। उदाहरणार्थ कुछ स्थलों का निर्देश किया जाता है—

नि० ५।१८ में **"अवभृथ निचुम्पुण:"** यह पाठ य० ३।४८ में ही है। इसी प्रकार—

यजुः० ३।६१	निरु० ३।२१॥	५।२२	में
४।१	,,	१।१५	,,
४।१९	,,	५।५	,,
४।२२	,,	६।७	,,
५।४	,,	८।२	,,
५।५	,,	४।१७	,,

ये पाठ यजुर्वेद के ही हैं, जो निरुक्त के उपर्युक्त-स्थलों में दर्शाये गए हैं।

इसी प्रकार—

अथर्व० १।१।२	निरुक्त	१०।१८	में
१।१७।१	,,	३।४	,,

४ । १ । १ निरुक्त १ । ७ में
४ । ३६ । ६ ,, ८ । २ ,,

उपर्युक्त स्थलों में निरुक्त में आये ये मन्त्र अथर्ववेद में ही हैं ।

इन स्थलों से भी स्पष्ट है कि निरुक्त केवल ऋग्वेद का व्याख्यान नहीं ।

७. निरुक्तकार के ब्राह्मणों का स्वरूप

(१) निरुक्तकार १३।४ में निम्न पाठ है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धा वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥
ऋ० ४।५८।५॥

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः, त्रयो अस्य पादा इति सवनानि त्रीणि, द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये, सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि, त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः, वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः, यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति ।......महो देव इत्येष हि महान् देवो यद् यज्ञो मर्त्यां आविवेश ।

यहाँ पर "**त्रिधा बद्धः**" का अर्थ "**मन्त्रब्राह्मकल्पैः**" निरुक्त में किया गया है । इससे यास्क ब्राह्मणों को वेद से पृथक् मानता है, यह सुस्पष्ट है ।

(२) आश्चर्य की बात है कि गोपथब्राह्मण में भी इसी 'चत्वारि शृङ्गा' की व्याख्या में लगभग निरुक्त जैसा ही पाठ है, जो निम्न प्रकार है—

चत्वारो वा इमे वेदाः । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः......... चत्वारि शृङ्गा वेदा वा एत उक्ताः.........त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम् । गो० ब्रा० १।३४॥

इस लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यास्क ने ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना की ।

काठक ब्रा० में भी ऐसा ही पाठ है—

चत्वारि शृङ्गा वेदा वा एतदुक्तास्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिरथर्वभिः । यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति ।

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के आधार पर यास्क भी ब्राह्मणों को

मन्त्र से पृथक् मानता है। यह स्मरण रहे कि १३वें अध्याय को स्कन्द, दुर्ग, सायणादि ने निरुक्त के अन्तर्गत ही माना है।

अथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति।
निरु० ७।२४।।

निरुक्त प्रक्रिया को न समझते हुये बहुत से लोग एक शब्द का एक ही अर्थ प्रायः लेने लग जाते हैं। इस विषय पर विचार के लिए पृथक् प्रकरण चाहिये। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मणों ने गुणों के सादृश्य को लेकर अनेक शब्दों के अनेक अर्थ दर्शाये हैं। अनेकार्थ शब्द अथवा एकार्थ अनेक शब्द निघण्टु में दर्शाये हैं, उनसे इस विषय की व्यवस्था ठीक बन जाती है।

(३) निरुक्त १।१५—

अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। उरु प्रथस्वेति प्रथयति।
(श० १।१।६।८४) निरुक्त २।१६।

तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति, अङ्गिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च
तै० सं० २।४।१२।२।

अर्थात् ब्राह्मण मन्त्रों को रूपसम्पन्न करता है। मन्त्र में आये हुये **'उरु प्रथस्व'** आदि का **'इति प्रथयति'** द्वारा विनियोग बताता है। तथा **"मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च"** से मन्त्र और ब्राह्मण को पृथक्-पृथक् ही ग्रहण करते हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यास्क ब्राह्मणों के बहुभक्तिवाद को लेकर उन्हें वेद के व्याख्यान ग्रन्थ मानते हैं, जो **'उरु प्रथस्व'** आदि प्रतीकों को लेकर उनकी क्रिया बतलाते हैं, क्योंकि **"विनियोजकं हि ब्राह्मणम्"**[1] यह प्रसिद्ध है। इस विषय में अधिक श्री० पं० भगवद्दत्तजी कृत "क्या ब्राह्मण वेद हैं" तथा श्री० पं० बुद्धदेवजी विद्यालङ्कारकृत "शतपथ में एक पथ" देखें।[2]

निरुक्त के टीकाकार स्कन्द और दुर्ग तो तै० सं०, काठक सं० तथा मैत्रायणी सं० को भी स्पष्ट ब्राह्मण के नाम से उद्धृत करते हैं।

यास्क और ऋषि-देवता-विनियोग

८. ऋषि

ऋषि—इस विषय का प्रतिपादन हम "वेद का अपौरुषेयत्व ही यास्क को अभिप्रेत है" इस प्रकरण में कर चुके हैं। **"कर्त्ता स्तोमाना-**

---

१. द्र०—तै० सं० भट्टभास्कर भाष्य भाग १, पृ० ३।

२. इस विषय में हमारी 'वेदसंज्ञामीमांसा' पुस्तिका भी देखें। यु० मी०

मित्यौपमन्यवः" का अभिप्राय उसी औपमन्यवाचार्य के ही शब्दों में—।

ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः ।। नि० २।११।। से स्पष्ट है।

ऋषि को यास्क प्रवक्ता मानते हैं, यह वहीं दर्शाया जा चुका है। पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं।

६. देवता

(१) देवता का स्वरूप

देवता—देवता विषय में निरुक्त में लिखा है—

(क) यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।। निरु० ७।१।।

(ख) माहाभाग्याद्देवताया एक "आत्मा" बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

निरुक्त की व्याख्या करते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

अत्रोच्यते । ऋषिरीश्वरः सर्वदृक्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति, स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति······यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

अर्थात्—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही देवता कहलाता है तथा प्रधानत्वेन एक आत्मा (परमात्मा) ही सब मन्त्रों का मुख्य देवता है। यह निरुक्तकार के देवता का स्वरूप है, जिसका प्रतिपादन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उत्तम रीति से किया हुआ है।

(ग) या तेनोच्यते सा देवता । ओङ्कारः सर्वदेवत्यः·········अन्या देवतास्तद्विभूतयः, एकैव महानात्मा देवता······तदप्येतदृचोक्तं "इन्द्रं मित्रं·········" (सर्वानु० पृ० १।२)।

(घ) अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यमाहायमस्त्विति । प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रस्तद्दैव एव सः ।। बृ० दे० १।६।।

(ङ) तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता ।

षड्गुरुशिष्य वेदार्थदीपिका पृ० ६० ।।

यह सब प्रक्रिया निरुक्तकार यास्क के आधार पर ही बृहद्देवता तथा सर्वानुक्रमणी में व्याख्यात की गई है। आगे के विद्वानों ने मूलरूप से तो इस बात को स्वीकार ही किया है कि मन्त्र में प्रतिपाद्य विषय का नाम ही देवता है।

(२) सर्वानुक्रमणियां ही देवताविषय में एक मात्र प्रमाण (निर्णायक) नहीं।

वर्तमान में देवता का जितना व्यवहार है उसका आधार सर्वानुक्रमणियों को ही माना जाता है। यह तो सबको ही मन्तव्य है कि समय-समय पर जिन-जिन आचार्यों ने मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया, यथामति उन-उन मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय लोक के उपकारार्थ बताया। पर उन्होंने सीमा नहीं बाँध दी अर्थात् इयत्तामात्र का अवधारण नहीं कर दिया। क्योंकि ऐसा करने से उपर्युक्त देवतावाद का प्रकार ही नहीं बन सकता, जिसको कि स्वयं यास्क, बृहद्देवताकार तथा सर्वानुक्रमणीकार ने माना है।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि **"देवता नियत हैं" "जो देवता लिख दिए उनसे भिन्न देवता हो ही नहीं सकते"** यह बात नहीं।

इस विषय में निरुक्त के ही कुछ और स्थल विद्वानों की सेवा में उपस्थित करता हूं—

(१) निरुक्त ११।६ पृ० ११३—

नवोंनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥

ऋ० १०।८५।१९॥

इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क लिखते हैं—

आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके ·····प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः।

अर्थात् इस मन्त्र में द्वितीय पाद को सूर्य देवतावाला कोई-कोई मानते हैं।

इस मन्त्र का देवता कात्यायन सर्वानुक्रमणी में पृष्ठ ४० पर ऋ० १० सू० ८५ के विषय में सूक्त का देवता दर्शाते हुए निम्न प्रकार है—

सत्येन सप्तचत्वारिंशत् सावित्री सूर्यात्म-दैवतमानुष्टुभं पञ्चभिः सोममस्तौत् पराभिः स्वविवाहं सप्तदश्या देवान् परया सोमार्कौ परया चन्द्रमसं परा इत्यादि।

'सर्वानुक्रमणीकार' इस सूक्त का सूर्य-आत्मा देवता मानते हैं। अब 'बृहद्देवता' में इसी सूक्त पर निम्न प्रकार लेख है—

सप्तदशी वैश्वदेवी सौर्याचन्द्रमसी परा॥१२४॥

परस्याः प्रथमौ पादौ सौर्यौ चान्द्रमसौ परौ।
और्णवाभो द्व्यृचे त्वस्मिन् अश्विनौ मन्यते स्तुतौ ॥१२५॥
सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥१२६॥
अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक्-पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥१२७॥

अर्थात् इस ऋ० १०।८५ वें मन्त्र में **'प्रथमौ पादौ सौर्यौ''** प्रथम दो पाद सूर्य देवता वाले हैं। **''चान्द्रमसौ परौ''** पर दोनों पाद चन्द्रमा देवता वाले हैं।

ध्यान देने योग्य यहाँ इतनी ही बात है कि सर्वानुक्रमणी इस सूक्त को **सूर्य-आत्मा** देवता वाला बताती है। निरुक्तकार द्वितीय पाद को **''आदित्य-दैवतो द्वितीयः पाद इत्येके''** (निरु० ११-६ में) **''इत्येके''** पद पढ़कर स्वयं **''चन्द्रमा''** देवतापरक व्याख्यान करते हैं। उधर बृहद्देवता में इसी मन्त्र के प्रथम दो पादों को ''सूर्यदेवताक'' तथा अग्रिम दो पदों को ''चन्द्रमा'' देवता वाला माना है।

हम यहाँ इतना ही दिखाना चाहते हैं कि इन देवता-प्रतिपादक ग्रन्थों में स्वयं परस्पर भेद (दूसरे शब्दों में परस्पर विरोध) है, यदि देवता को नियत ही माना जावे तब जब देवता ''मन्त्रों का प्रतिपाद्यविषय मात्र'' है और सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ है, जैसा कि आगे चलकर सप्रमाण दिखाया जायेगा, तब देवताविकल्प से किसी को कभी घबराहट में न पड़ जाना चाहिये। जहाँ कहीं ऋषिदयानन्द ने भी इन प्रचलित देवताओं से भिन्न देवता माने हैं, वहाँ की योजना इस प्रकार समझनी चाहिये।

(२) निरुक्त १२।३० में—

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो··· । ऋ० १०।६५।१३॥

इस मन्त्र का देवता यास्क ने **'वैश्वदेव्यामृचि'** करके **विश्वेदेवाः'** लिखा है। आगे—

अतितस्थौ पवीरवान्···(ऋ० १० । सू० ६०)इत्यपि निगमो भवति।
तद्देवता वाक् पवीरवी, पवीरवी च दिव्या वाक्।

ऐसा यास्क का लेख है। अर्थात् **''अतितस्थौ पवीरवान्''** वाला (ऋ० १०।६०)सूक्त **''पवीरवी वाक्''** देवतावाला है। उधर सर्वानुक्रमणी तथा तदनुगामी सायणादि सब इस सूक्त को—

चतसृभिरसमातिमस्तुवन्। सर्वानु० पृ० ३६।
असमाति राजा की स्तुति देवता वाला बताते हैं।
बृहद्देवताकार ने इसे बृ० दे० ७।९६ में
ऋग्भिरेति चतसृभिस्तत ऐक्ष्वाकुमस्तुवन्।
ऐक्ष्वाकु की स्तुति लिखा है।

ऐक्ष्वाकु राजा—अथवा असमाति राजा–देवता का निरुक्तकार यास्क के **"पवीरवान् वाक्"** देवता के साथ भला क्या सम्बन्ध है?

(३) इस विषय में हम एक और प्रौढ़ प्रमाण विद्वन्महानुभावों की सेवा में उपस्थित करना चाहते हैं—

महाभाष्य के पस्पशाह्निक में **"चत्वारि शृङ्गा"** (ऋ० ४।५८।३) का व्याख्यान पतञ्जलि भगवान् ने इस प्रकार किया है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥
ऋ० ४-५८-३॥ गो० ब्रा०, का० ब्रा०॥

चत्वारि शृङ्गाणि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः, त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। सप्त हस्तासो अस्य, सप्त विभक्तयः।......महान् देवः शब्दः। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्। (महाभाष्य १ आह्निक)

महाभाष्यकार ने इस मन्त्र को **"महान् देवः शब्दः"** ऐसा कहकर शब्दपरक ही व्याख्यान किया है। शब्दरूप महान् देव के ही चार शृङ्ग (सींग) तीन पाद, दो शीर्ष, सात हाथ दर्शाये हैं। यहाँ यह व्याख्यान इतना स्पष्ट है कि इसमें किसी को यत्किञ्चित् भी कहने का अवसर नहीं रह जाता है।

उधर देखिये यह सर्वानुक्रमणियाँ और बृहद्देवतादि क्या कहते हैं, जिनके बोझ के नीचे दबे—ऋषि दयानन्द की धारणा का ठीक अध्ययन न करनेवाले—अनार्षविधियों और क्रमों के प्रवाह में बहते हुए वैदिकधर्मी कहलाने वाले भी इन्हीं में गोते खाते रहते हैं। देवतावाद के शुद्ध स्वरूप को प्रचलित रूढियों के चक्र में पड़े होने के कारण नहीं जान सकते, या जानते हुए भी क्यों चुप हैं? क्या ऐसे सत्योक्ति देवता के उपासक, दूसरे शब्दों में सत्य के ठेकेदार सत्य के वास्तविक स्वरूप तक कभी पहुंच सकते हैं?

नहीं तो हम यहाँ पर ही ऐसे लोगों से पूछते हैं कि—

क्या महामुनि पतञ्जलि ने "चत्वारि शृङ्गा०" की व्याख्या तुम्हारी सर्वानुक्रमणियों या बृहद्देवतादि के पीछे चलकर की ?

देखिए, ऋक्सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का देवता पृ० १८ पर निम्न प्रकार है—

आग्नेयं सौर्यं वापं वा गव्यं वा घृतस्तुतिर्वा ।

अर्थात्—सर्वानुक्रमणीकार के मत में इस मन्त्र का देवता अग्नि, सूर्य, आप, गव्य अर्थात् गो विकार दुग्ध दधि आदि तथा घृत की स्तुति ये पाँच देवता हैं ।

उधर बृहद्देवताकार ने बृ० दे० ५।१० में निम्न प्रकार माना है—

समुद्रादित्यग्नेर्मध्यमस्य ।

आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टम् आग्नेयं वाप्याज्यसूक्तं हि दृष्टम् ।
अपां स्तुतिं वा यदि वा घृतस्तुतिं गव्यमेके सौर्यमेतद् वदन्ति ।।

अर्थात्—मध्यमाग्नि ब्राह्मणों के अनुसार आदित्य, अथवा अग्नि इस सूक्त का देवता है । कई एक के मत में जलों की स्तुति, घृत की स्तुति, गव्य गो विकार, सूर्य—ये देवता इस सूक्त के हैं ।

यहाँ पर बृहद्देवता तथा सर्वानुक्रमणी लगभग एक जैसा ही दर्शाते हैं । परन्तु महाभाष्यकार के "महान् शब्दः" देवता की इनमें गन्ध भी नहीं ।

भला बतलाइये ! सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में बतलाई घृतस्तुति अग्नि सूर्य आदि देवताओं की सङ्गति पतञ्जलि के महाभाष्योक्त **"महान् देवः शब्दः"** शब्ददेवता के साथ कुछ भी लग सकती है ?

और देखिये । यह तो हुआ महाभाष्य से विपरीत सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता का लेख । निरुक्त का इन सबसे भेद है । इसी 'चत्वारि शृङ्गा' का व्याख्यान नि० १३।७ में यज्ञपरक किया गया है—

अथैषा यज्ञस्य······चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा·········चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः······महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञः मर्त्यां आविवेशेति एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय······।

यहाँ पर स्पष्ट ही "एष हि महान् देवो यद्यज्ञः" यज्ञ को मन्त्रगत महादेव बताया है ।

यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि निरुक्त के इस १३ वें अध्याय को सायणाचार्य ने द्वादशाध्यायी के अन्तर्गत ही माना है तथा दुर्ग-स्कन्द दोनों ने ही १३-१४ वें अध्याय को इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ही माना है। कई स्थलों में उन्होंने इन अध्यायों का प्रमाणरूप में लेखन किया है।

यह भी ज्ञात रहे कि बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी दोनों ही निरुक्त की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता से भी पीछे की है। देवताविषय का एक और ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, जिसका नाम "नीति-मञ्जरी" है[1] जो लगभग ३-४ सौ वर्ष का कहा जाता है। उसमें भी अनेक स्थलों में भेद है, जिसे विस्तार से कभी पुनः दिखाने का यत्न किया जायगा।

हमारे उपर्युक्त लेख से सिद्ध है कि "चत्वारि शृङ्गा" की व्याख्या में बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी एक ओर हैं, जो घृतस्तुति आदि देवता मानते हैं। उधर महाभाष्यकार पतञ्जलि शब्ददेवता और निरुक्तकार यास्कमुनि यज्ञदेवता मानते हैं।

क्या इसको कोई देवता का नियतत्व कह सकता है? जब नियत नहीं, तब सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता की देवतावाद पर अन्तिम मुहर नहीं। इसीलिये स्वामी जी महाराज ने यत्र तत्र मन्त्रों के अर्थ करने में प्रचलित देवता की उपेक्षा कर दी है। इसका आधार ऋषि मुनि प्रणीत ग्रन्थ ही हैं न कि स्वामी जी की अपनी कल्पना।

इसी से हम कहते हैं पक्षपात और अनार्षत्व को छोड़ कर दयानन्द का जितना अधिक अध्ययन किया जायगा, उनकी वेदसम्बन्धी धारणाओं में उतनी ही अधिक निष्ठा बढ़ेगी।

देवता विषय में एक बात यह भी विचारणीय है कि जो देवता मन्त्रों के देवता-प्रतिपादक ग्रन्थों में लिखे हैं, उन देवतावाचक शब्दों का क्या अर्थ है? जैसे किसी मन्त्र या सूक्त का देवता सोम है, पर सोम शब्द का अर्थ चन्द्र भी है और अन्य अर्थ भी हैं। सोम शब्द से उस मन्त्र या सूक्त में कौन सा अर्थ अभिप्रेत है, इसके निर्णायक उस मन्त्र या सूक्त के शब्द या वाक्य ही हो सकते हैं। इसकी स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये स्वामी जी महाराज ने कहीं-कहीं देवता शब्द के अर्थ का निर्देश यौगिकप्रक्रिया के आधार पर कर दिया है। इन देवताओं का भी निर्वचन के आधार पर

---

१. नीतिमञ्जरी साक्षात् देवताविषयक ग्रन्थ नहीं है। उसमें यत्र तत्र देवता का विवेचन मिलता है। यु. मी.

अनेक अर्थ कर लेने के लिए यास्क भी प्रमाण है। निरुक्त (देवताकाण्ड १२।१) में अश्विनौ की व्युत्पत्ति करते हुए अनेक अर्थ दिखाये गये हैं। यास्क की यह बात वेदार्थ-जिज्ञासुओं को देवतावाद का रहस्य समझने के लिये अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। इसलिये महर्षि दयानन्द सरस्वती का देवता-प्रतिपादक ग्रन्थों से भिन्न देवता मानना और उन ग्रन्थों द्वारा बताये देवताओं का निर्वचन के आधार पर अनेक अर्थ करना यास्क आदि सब ऋषियों को अभिमत है।

देवता-ऐच्छिकत्व में अन्य प्रमाण

उपर्युक्त ग्रन्थकारों के पश्चात् भी आचार्यों की यही धारणा रही है। इस विषय में बहुत संक्षेप से कुछ प्रमाण और दिये जाते हैं—

(१) दुर्गनिरुक्तटीका पृ० ७२८—

कामतो देवताः कल्प्याः।

अर्थात् इच्छानुसार देवता की कल्पना कर लेनी चाहिये।

(२) दुर्गनिरुक्तटीका पृ० २३१—

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।

ऋग्० ५।४४।१। नि० ३।१६॥

स एष सर्वथाप्येवं दुरवधारदेवतो मन्त्रः॥

(३) दुर्गनिरुक्तटीका पृ० २३२—

एवमेष यथाभिमतदैवतं योज्यः॥

अर्थात्—इस मन्त्र के देवता का निश्चय नहीं हो सकता। यद्वा अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार इस मन्त्र में यथाभिमत देवता मान कर मन्त्र के अर्थ की योजना कर लेनी चाहिये। **'यथाभिमतदैवतम्'** पद विशेष ध्यान देने योग्य है।

(४) उव्वट ने यजुर्वेदभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छान्दसं च यत्॥

अर्थात् गुरु से, तर्क द्वारा तथा शतपथ से वेदमन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द कहूंगा। केवल शतपथ से नहीं अपितु गुरु परम्परा और तर्क से भी वेदमन्त्रों के ऋषि देवतादि की कल्पना की जा सकती है, यह उव्वटभाष्य के इस लेख से स्पष्ट है।

(५) स्कन्द निरु० भा० १ पृ० १०८

नैरुक्तः शक्नोति दैवतं ज्ञातुम् ॥

अर्थात्—निरुक्त शास्त्र को जाननेवाला देवता जान सकता है। दूसरे शब्दों में देवता का ज्ञान निरुक्तशास्त्र के आधार पर करना चाहिये। अर्थात् देवता नियत नहीं, क्योंकि देवता यदि नियत ही हैं तो पुनः निरुक्त शास्त्र से जानने योग्य हैं, यह बात नहीं बनती।

(६) स्कन्द निरु० भा० २ पृ० १५५

पूर्वो देवताविषयः।

अयमात्मविषय इति विशेषः ॥

इस से यह स्पष्ट है कि स्कन्द स्वामी के मत में आध्यात्मिक पक्ष में **"एक आत्मा बहुधा स्तूयते"** के अनुसार किसी भिन्न देवता की आवश्यकता नहीं। आत्मा ही सबका देवता है। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक पक्ष में भिन्न देवतावाद का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

इस प्रकरण में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वेद के सम्पूर्ण मन्त्रों का अर्थ आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार का होता है, जिसको इसी आचार्य स्कन्द स्वामी ने भी स्वीकार किया है। इस अवस्था में आध्यात्मिक पक्ष में इन सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी दृष्टि से प्रत्यग्दर्शी दयानन्द ने (प्रचलित देवतावाद को देखते हुए) इनके व्यर्थ के भार के नीचे दबे हुए वेद का उद्धार कर दिया। नहीं तो इन बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणियों के देवतावाद के भँवर में पड़े हुए पवित्र वेदार्थ का सहस्रों वर्षों तक भी आर्यजाति को दर्शन न हो पाता।

स्वामीजी ने तत्-तत् स्थल पर वेदभाष्य में देवताओं को भी यौगिक-प्रक्रिया के आधार पर व्याख्यात किया है, जिससे लोग बहुत चौंकते हैं। परन्तु यह भी स्वामीजी महाराज की अपनी कल्पना नहीं, अपितु प्राचीन ऋषि-मुनियों के आधार पर है। इसकी विशेष व्याख्या आगे करेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि निरुक्त के दैवतकाण्ड में देवता-प्रकरण में यास्क ने निरु० १२।१ में अश्विनौ की व्युत्पत्ति 'यद् व्यश्नुवाते सर्वम्' करके अनेक अर्थ दिखाये हैं।

यौगिकप्रक्रिया ही इसका आधार है। इसके लिए इसका आश्रयण अनिवार्य है। इस सब से सिद्ध है कि 'यास्क देवतावाद में भी यौगिक-वाद के आधार पर अर्थ करते हैं।' वेदार्थ के जिज्ञासुओं के लिए यह बात बहुत ही ध्यान देने योग्य है।

बृहद्देवता-सर्वानुक्रमणी का परस्पर विरोध (भेद)

बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी में वैदिक देवताओं का जो उल्लेख है, उनमें अनेक स्थलों में परस्पर विरोध (भेद) है। इससे भी "देवतावाद का नित्यत्व" सिद्ध नहीं हो सकता। अतः जब बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी ही देवता के विषय में सहमत नहीं तो देवतावाद नियतरूपेण कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

इस विषय में कुछ उदाहरण विज्ञ सज्जनों के सम्मुख रखे जाते हैं—

बृहद्देवता में	सर्वानुक्रमणी में
(१) ऋ० १०।१७।३ में "अग्नि"	पूषा देवता लिखा है।
(२) ऋ० १०।१७।११-१३ में सोम।	आपः अथवा सोम है।
(३) ऋ० १०।१८।१०-१३ में पृथ्वी।	पितृमेध।
(४) ऋ० ,, ,, ,, १४ में आशीः।	पितृमेध अथवा प्रजापति।
(५) ऋ० १०।३६।१३-१४ सवितृ इत्येके। (तीनों मन्त्र) यह कई एक आचार्यों का मत है। शौनक-यास्क गालव के मत में केवल अन्तिम १४वें मन्त्र का ही सवितृ देवता है।	सामान्य विश्वेदेवा माना है। इन तीनों मन्त्रों का कोई उल्लेख नहीं।
(६) ऋ० १०।५५ सूर्याचन्द्रमसौ	सर्वानुक्रमणी में कोई उल्लेख नहीं, सामान्य इन्द्र देवता है।
(७) ऋ० १०।६०।१५ में ऐक्ष्वाक्वर्थं स्तुति।	असमाति राजा। इसी मन्त्र का यास्क १२।३० में पवीरवी वाक् देवता मानते हैं।
(८) ऋ० १०।९३।१४-१५ राज्ञां दानस्तुतिः।	अनुवृत्या-विश्वेदेवाः।
(९) ऋ० १०।११४। विश्वेदेवाः। देवाः इन्द्रः। छन्दांसि। मध्यमोऽग्निः इत्येके।	विकल्प नहीं।
(१०) ,, ।११७ अन्नम्।	धनान्नदानप्रशंसा।
(११) ,, ।१२०।६ इन्द्रो देवता। निपातितस्तु 'आप्त्याः'।	इसका उल्लेख नहीं।

बृहद्देवता	सर्वानुक्रमणी
(१२) ऋ० १०।१२९। परमेष्ठी तथा भाववृत्तम्।	केवल भाववृत्तम्।
(१३) ऋ० १०।१३७।६,७। "आपः"	वैश्वदेवम्।
(१४) ,, १४१। अग्निः तथा विश्वेदेवाः।	केवल विश्वेदेवाः।
(१५) ,, ।१६१। ऐन्द्राग्नं मन्यते यास्क एके लिङ्गोक्तदैवतम्। रक्षोघ्नाग्नेयमित्युक्तम्।	अनादिष्टदैवते तु इन्द्रो देवतेति न्यायेन "इन्द्रो देवता" इति।

यहाँ पर षड्गुरुशिष्य का लेख निम्न प्रकार है—

यक्ष्मनाशनो नाम प्रजापतिपुत्रः।······अनादेशादिन्द्रो देवता। अत्र बृहद्देवतायां विकल्प उक्तः—

"ऐन्द्राग्नं मन्यते यास्क एके लिङ्गोक्तदैवतम्"। नैतदस्ति। अत्रान्येषां मतमुक्तम्। स्वयं शौनकस्येन्द्रः। एक इत्यादेशादैन्द्रत्वमेवानेनाङ्गीकृतम्।

वेदार्थदीपिका पृ० १६४।

(१६) ऋ० १०।१७७।१ सूर्यं तथा मायाभेद।	केवल मायाभेद।
(१७) ,, १०।१७७।२ वाग् इति शौनकः।	इसका उल्लेख नहीं।
(१८) ,, १०।१८५। शान्त्यर्थं पावमानसूक्तम् आदित्य-सूर्य—वरुण-मित्र।	स्वस्त्ययनम्। आदित्यम्। आदित्यदैवतमिति षड्गुरुशिष्यः।
(१९) ऋ० ।१०।१८९।आयं गौरिति यत् सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ। तस्मात् सा देवता तत्र सूर्यमेके प्रचक्षते। मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः। त्रिस्थानाधिष्ठितं वाचं मन्यन्ते प्रत्यृचं स्तुतम्। अर्थात्—सार्पराज्ञीदेवता है। कई एक आचार्यों के मत में सूर्य देवता	(सार्पराज्ञी) आत्मदानस्तुतिः सौर्यं वा।

बृहद्देवता	सर्वानुक्रमणी
है। मुद्गल शाकपूणि तथा शाकटायन के मत में प्रत्येक मन्त्र का वाक् देवता है।	
(२०) ऋ० १०।६५।१२ अश्विनौ।	विश्वेदेवा:।

ऋ० १०।१७।३ का देवता बृहद्देवता में तो 'अग्नि' बताया गया है, उधर सर्वानुक्रमणी "पूषा" बताती है।

अग्नि पृथिवीस्थान है और पूषा द्युस्थान।

ऋ० १०।११।१३ में बृहद्देवता केवल सोम देवता कहता है। सर्वानु० में "सोम" या "आप:" ऐसा कहा है। भला इस विकल्प का क्या कारण। यदि कोई कहे कि "सोम" और "आप:" एक ही वस्तु हैं, तब तो यौगिक-प्रक्रिया के आश्रय के विना कोई आधार नहीं, उसी की शरण आना पड़ा। ऐसी अवस्था में देवतावाद की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही बदल जाती है।

क्या पृथिवी और पितृमेध (ऋ० १०।१८।१०-१३) एक ही हैं?

इतना ही नहीं कि इनमें भेद है प्रत्युत स्वयं बृहद्देवता में ही अनेक विकल्प तथा अनेक मत दर्शाये गए हैं। जैसे (ऋ० १०।३६।१२-१४) में कई एक आचार्य तो तीनों मन्त्रों का देवता 'सविता' बताते हैं, उधर शौनक, यास्क और गालव तीनों आचार्य केवल अन्तिम मन्त्र का ही सविता देवता मानते हैं।

क्या यह देवता-विकल्प का स्पष्ट विधान नहीं। इसी का देवता सर्वानुक्रमणी विश्वेदेवा प्रतिपादन करती है।

ऐसे ऋ० १०।६०।१-४ का निरुक्त बृहद्देवता सर्वानुक्रमणी इन सब में भेद हम पूर्व दिखा चुके हैं। इसी प्रकार ११४, १६१, १८९ इन सूक्तों के देवता भिन्न मत से बृहद्देवता में दर्शाये गये हैं। देवता के विकल्पत्व में इससे अधिक और क्या साक्षी दी जा सकती है।

हमने यह देवता-विकल्पत्व के उद्धरण ऋग्वेद के केवल एक ही मण्डल अर्थात् दशम मण्डल के ही दिये हैं। शेष ९ मण्डलों के तथा अन्य संहिताओं के उदाहरणों को विस्तरभिया छोड़ते हैं।

एक उदाहरण देवताविषय पर अन्य प्रकार से प्रकाशक होने के कारण और उपस्थित कर देना अनुचित न होगा—

(२१) ऋग्वेद ८।२४।२८ से ३० इन तीनों मन्त्रों के विषय में बृहद्-देवता में ऐसा लेख है—

यथा वरः सुषाम्ण इत्युक्तमस्त्वौषसस्तृचः। बृ० दे० ६।६३॥

अर्थात्—"यथा वरो सुषाम्णे" ऋ० ८।२४।२८ मन्त्र को लेकर तीनों मन्त्रों का उषा देवता है। उधर सर्वानुक्रमणी में निम्न प्रकार पाठ है—

सौषाम्णस्य वरोर्दानस्तुतिरन्त्यानुष्टुप्। सर्वानु० पृ० २९॥

अर्थात् सौषाम्ण वरु की दानस्तुति इन तीनों मन्त्रों का देवता है। यहाँ षड्गुरुशिष्य कहते हैं—

अन्त्यस्तृचः सुषामाख्यराजपुत्रस्य वरुनाम्नो राज्ञो दानस्तुतिः।

अर्थात् अन्त की तीनों ऋचायें सुषाम नामक राजा के पुत्र वरुनामक राजा की दानस्तुति देवतावाली हैं।

भला बताइये कहाँ बृहद्देवता का "उषा देवता" और कहाँ वरु की दानस्तुति !!! है कुछ इनका परस्पर सम्बन्ध ? बृहद्देवता में दानस्तुति की गन्ध भी नहीं। क्या देवतावाद का यही नियतत्व है ? इस देवतावाद के नियतत्व के भँवर से आर्यजाति को निकालनेवाले दयानन्द को प्रत्यग्दर्शी न कहें तो और क्या कहें ?

यहाँ पर हम सत्य के उन ठेकेदारों को (जिन्होंने सत्य का स्वरूप "केवल जो हमारी बुद्धि मानें" के आधार पर मानकर आर्यसमाज को भी अपने सत्याभास के पीछे चलाने को कमर बाँध रखी है) चेतावनी देना चाहते हैं कि वे अपनी बुद्धि को विमल बनावें। ऋषि मुनि आप्तों के दर्शाये मार्ग को समझने का यत्न करें। व्यर्थ बुद्धिभेद को पैदा न करें। अन्यथा चन्द्रमा पर धूल फेंकने से चन्द्रमा का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। जब भी पक्षपात का आवरण हटेगा, सम्पूर्ण विश्व में दयानन्द एक दिव्य ज्योति के रूप में चमकेगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

सर्वानुक्रमणी की सदोषता

हम ही ऐसा नहीं कह रहे परन्तु पुराकाल से इस देवतावाद के विषय में ऐसा ही मत चला आता है। दुःख की बात तो यह है कि दयानन्द को दूसरों के आधार पर माना (परखा) जाता है। एक बात जब दयानन्द कहता है, तब नहीं मानी जाती, पर यदि वही बात सायण कह दें या किसी और की मिल जावे तो तत्काल बिना ननु नच के मान ली जाती है। औरों की तो क्या कहें—आर्य कहलानेवालों (जो विद्वान् प्रसिद्ध हो रहे हैं) का भी यही हाल है।

ऐसे लोगों के सन्तोष के लिये 'दुर्जनसन्तोष न्याय' से हम दयानन्द से पूर्व का भी प्रमाण देकर इस देवताप्रकरण को समाप्त करते हैं—

ऋग्वेदभाष्य आनन्दतीर्थ—इस भाष्य की छलारी नामक टीका के पृ० ५५ पर—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ऋ० १।६।१॥

के व्याख्यान में निम्न लेख है—

अनुक्रमणिकायां युञ्जन्त्यादहेत्येताः षण् मारुत्य इति वाक्ये युञ्जन्तीति सूक्तप्रतीकं तत्र सुरूपकृत्नु दशेत्यनुवृत्तेः सूक्तसंख्यासिद्धिरिति भावः । अनुक्रमणिकोक्तदेवतानां भाष्ये (आनन्दतीर्थभाष्ये—ले०) दूष्यमाणत्वाद् भाष्यानुसारेण सूक्तदेवता आह (जयतीर्थः) ॥

यहाँ ऋग्वेद के प्रथम ४० अध्यायों का भाष्य "आनन्दतीर्थ" ने किया। उस पर जयतीर्थ ने टीका की है, उस पर आगे फिर नृसिंहदेव यति ने टीका की, जिसका नाम छलारी टीका है। वह लिखता है—

"अनुक्रमणिका (कात्यायनसर्वानुक्रमणी) में कहे हुए देवताओं को भाष्य (आनन्दतीर्थ के भाष्य) में दूषित माना गया है। इसी से भाष्य के टीकाकार जयतीर्थ ने भाष्य के अनुसार सूक्त का देवता कहा है।"

इस विषय में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ इतना ही पर्याप्त है। "वैदिक देवता" पर एक पृथक् स्वतन्त्र लेख होता तो इस विषय की अधिक विवेचना हो सकती थी।

वेद से देवता (यास्कमुनि के मतानुसार मन्त्र-प्रतिपाद्य विषय) का जो निर्णय तपस्वी पूर्णविद्वान् महायोगी पुरुषों के द्वारा निर्धारित हो वही माननीय है। हमारी इस विषय में यही धारणा है। यास्कमुनि के मत की पुष्टि के निमित्त ही हमारा उपर्युक्त लेख है।

१०. छन्द

इस विषय में हम संग्रह नहीं कर सके। पुनः किसी समय अपने विचार उपस्थित करेंगे।

११. विनियोग

(१) विनियोग के सम्बन्ध में निरुक्त १।८ में—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ।
(ऋ० १०।७१।११) ।

इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे ।

ऐसा पाठ है। यास्क कहते हैं कि इस मन्त्र से (यज्ञ में) ऋत्विग् लोगों के कर्मों का विनियोग—नियुक्त प्रतिनियम अथवा प्रयोग—यह इस मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय है। यथार्थ विनियोग मन्त्र के अर्थ द्वारा ही जाना जाता है। मन्त्रलिङ्ग से तत् तत् कर्म में नियुक्ति ही विनियोग का लक्ष्य है। यह निरुक्तकार के उपर्युक्त वचन से ज्ञात हो जाता है।

यास्क के इस स्थल का व्याख्यान आचार्य स्कन्दस्वामी ने इस प्रकार किया है—

(२) भा० १ पृ० ७१—

ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्ट इति समस्तार्थकथनम्। विनियोगः प्रतिनियमः। एक ऋत्विगिदं कर्म करोत्वन्य इदमन्य इदमिति, ऋचां पोषमिति यथाविधि कर्मणि प्रयोगम्।

(३) इसी मण्डल के इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र की व्याख्या महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस प्रकार की है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
ऋ० १०।७१।१॥

धीरा ध्यानवन्तः। मनसा प्रज्ञानेन। वाचमक्रत वाचमकृषत।...अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते...य एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते वैयाकरणाः।...एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति।

इसके विवरण में नागेश (उद्योत पृ० ४४) लिखते हैं—

एते च मन्त्राः सर्वानुक्रमभाष्येऽन्यत्र विनियुक्ता अपि भाष्यप्रामाण्याद् एतत्तात्पर्यका अपीति।

अर्थात्—इन मन्त्रों का विनियोग सर्वानुक्रमभाष्य में अन्य प्रकार से कहा गया है। परन्तु महाभाष्यकार के प्रमाण से यह समझना चाहिये कि यह वाग्-विषयक—शब्दविषयक भी हैं।

अब इस विषय में पुनः निरुक्त का एक और उद्धरण विद्वज्जनों की सेवा में उपस्थित करता हूं, जिससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि विनियोग मुख्यतया मन्त्रों के लिङ्ग अर्थात् तत्तन्मन्त्र में ही व्यक्त शब्दार्थ के ही आश्रित है। दूसरे शब्दों में कोई मन्त्र किसी कर्म में विनियुक्त (applied) लगाया हुआ यदि अपने अर्थ में उस कर्म का बोधन नहीं कराता तो वह विनियोग, विनियोग ही नहीं हो सकता।

जैसे "उद्बुध्यस्वाग्ने" मन्त्र से हम अग्नि प्रज्वलित करते हैं, यह इस मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अर्थात् मन्त्रलिङ्ग से ही इस कार्य का द्योतन हो रहा है। इससे अग्नि प्रज्वालन में इस मन्त्र का विनियोग ठीक है।

निरुक्त १।१५ में मन्त्र अनर्थक हैं, इस पूर्वपक्ष में यास्क ने जहाँ कौत्स का मत दिया, उसमें आक्षेप उठाते हैं—

अनर्थका हि मन्त्रा……अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते 'उरु प्रथस्व' इति प्रथयति।

अर्थात् मन्त्र अनर्थक हैं क्योंकि यदि ब्राह्मण न हों तो 'उरु प्रथस्व' आदि का स्वरूप ही कुछ नहीं बनता। ब्राह्मण ने बताया कि 'इति प्रथयति' तब ज्ञात हुआ कि 'उरु प्रथस्व' का यह अर्थ है। अतः मन्त्रों का अर्थ ब्राह्मण के अधीन हुआ। यह पूर्वपक्षी ने स्थापना की।

यास्क इसके उत्तर में नि० १।१६ के प्रारम्भ में कहते हैं—

एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं, यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः॥

अर्थात्—यही तो यज्ञकर्म की समृद्धता (उत्तमता) है कि उस-उस कर्म को मन्त्र के शब्द ही बतलाते हैं (उस मन्त्र से वह कर्म हो तो सम्पूर्णता को प्राप्त होता है) इसी को आगे और स्पष्ट करते हैं कि "यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति" अर्थात् समृद्धता तो यही है कि ऋग् या यजुः क्रियमाण कर्म को ही कहता है।

दूसरे शब्दों में तत्तत्कर्म में विनियुक्त हुआ मन्त्र स्वयं अपने अर्थ के कारण ही उस-उस कर्म का द्योतन करने से उस-उस कर्म में विनियुक्त है। शेष ब्राह्मण ने फिर 'इति प्रथयति' आदि कहकर क्या किया, सो यास्क इसको 'इति च ब्राह्मणम्' कह कर दर्शाते हैं कि ब्राह्मण भी उस मन्त्र के लिङ्ग से (तद्गत शब्दों से ही) उस अर्थ को कहता है। इसमें दुर्गाचार्य भी लिखते हैं—

शब्दसामान्यात्, ब्राह्मणप्रामाण्याच्चेति च शब्दः। ब्राह्मणमपि च मन्त्राणामर्थवत्त्वमेव दर्शयति। अनर्थका हि सन्तः कथं कर्माभिवदेयुः कथं वानभिवदन्तः समर्द्धयेयुः॥ (दुर्गटीका पृ० ७४)।

अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण ने न केवल स्वतन्त्र किसी मन्त्र का विनियोग बताया अपितु मन्त्र के अनुकूल ही उसका विनियोग दर्शाया। ऋग्-यजुः क्रियमाण कर्म को कहता है, इसका उदाहरण यास्क विवाहकर्म में विनियुक्त विवाह संस्कार के प्रसिद्ध मन्त्र "क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः" द्वारा देते हैं। समग्र मन्त्र इस प्रकार है।

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

ऋ० १०।८५।४२॥

मन्त्र का अर्थ सर्वथा विस्पष्ट है—यहीं (गृह) पर ही रहो। पृथक् मत हो, स्वगृह में धर्मानुसार आमोद-प्रमोद करते हुये पुत्र और पौत्रों से खिलवाड़ करते हुए सम्पूर्ण[1] आयु को भोगो।

बतलाइये मन्त्र पुकार-पुकार कर कह रहा है कि मुझे विवाह-कर्म में लगाओ। कहने का तात्पर्य यह है कि विनियोग मन्त्रार्थ के अधीन है—न कि मन्त्रार्थ विनियोग के अधीन।

यह यास्काचार्य को अभिमत है।

अब हम इस विषय में प्रत्यग्दर्शी दयानन्द की धारणा को भी दिखा देना आवश्यक समझते हैं—

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रतिज्ञाविषय पृ० ३६६ संस्करण ६—

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते, परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।

---

१. अनेक वेदार्थप्रक्रिया से अनभिज्ञ व्यक्ति 'विश्वमायुर्व्यश्नुतम्' सम्पूर्ण आयु गृहस्थाश्रम में बिताओ, ऐसा अर्थ समझ कर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम को अवैदिक बताते हैं। यह भूल है। वेद के वाक्यार्थ विचार के लिए मीमांसाशास्त्र रचा गया है। उस में लिखा है—'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (पू० मी० १।२।१६) अर्थात् अपने अधिकारविषयक सर्वत्व ही सर्वत्र समझना चाहिए। तदनुसार 'विश्वमायुः' का अर्थ गृहस्थाश्रम के लिए नियत आयु का सर्वत्व ही मन्त्र में अभिप्रेत है अर्थात् २५ वर्ष तक जो गृहस्थ की पूर्ण आयु है, उस में तुम्हारा वियोग न हो। यु० मी

तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ।

भावार्थ—इसलिये जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल, युक्तिप्रमाणसिद्ध, मन्त्रार्थानुसारी (जिसे कि मन्त्र का अर्थ ही बता रहा हो) को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं। यह है धारणा विनियोग विषय की, जिसे भूमिका में लिखा।

यहाँ प्रकृत में इतना ही है कि ऋषि दयानन्द ने विनियोग का मन्त्रार्थानुसारी होना ही मुख्य स्वरूप बताया है।

यही बात यास्क का ऊपर वाला लेख कहता है।

मूल वेदमन्त्रों पर विचार करने से विनियोग के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

१२. यास्क और पदपाठ

(१) निरुक्त की भूमिका १।१७ में लिखा है—

अथापीमदन्तरेण पदविभागो न विद्यते ।

अर्थात्—निरुक्त के विना पदविभाग सम्बन्धी ज्ञान नहीं हो सकता।

(२) निरुक्त ६।२८—

वेति च य इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्, असुसमाप्तश्चार्थः ।।

अर्थात्—**"वनेन वायो न्यधायि चाकन्"** ऋ० १०।२९।१ इसमें **'वायः'** शब्द को यास्क **"वेः पुत्रः"** लिखते हैं। अर्थात् यह एक पद है। आगे लिखते हैं कि शाकल्य ने इसको दो पद माना है **"वा"** तथा **"यः"**। यास्क कहते हैं कि यदि दो पद माने जावें तो **'न्यधायि'** आख्यात **'तिङ्ङतिङः'** (अष्टा० ८।१।२८) सूत्र से निघात नहीं होगा क्योंकि **"यद्वृत्तान्नित्यम्"** (अष्टा० ८।१।६६) इसका अपवाद है। यदि पाणिनि के सूत्र यास्क के काल में न भी रहे हों, तो भी व्याकरणरूप वेदाङ्ग तो कोई न कोई किसी न किसी रूप में रहा ही होगा, जो पाणिनि के समान ही यत् के योग में निघातत्व का प्रतिषेध करता होगा। यत् के योग में सर्वनिघात का प्रतिषेध हो जाने से **'न्यधायि'** आख्यात उदात्त हो जायेगा। अतः एक पद मानना ही ठीक है। ऐसा यास्क कहते हैं।

(३) निरुक्त ४।१७—

"नूचिदिति निपातः" दुर्ग नूचित् को एक निपात मानता है। परन्तु पदकार शाकल्यादि तथा आचार्य स्कन्दस्वामी इसे दो पद मानते हैं।

(४) निरुक्त ५।२१—

अरुणो मासकृद् वृकः··· ऋ० १ १०५।१८॥

मासकृत् मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमाः ॥

इससे यास्क ने मासकृत् की व्युत्पत्ति 'मासं करोतीति मासकृत्' करके उपपदसमास द्वारा एक पद माना है। "गतिकारकोपपदात् कृत्" (अ० ६।२।१३९) सूत्र से उत्तरपदान्तोदात्त स्वर भी ठीक है।

उधर शाकल्य के पदपाठ में इस 'मासकृत्' शब्द को दो पद असमस्त 'मा सकृत्' ऐसा माना गया है।

ऋषिदयानन्द ने अपने भाष्य (ऋ० १।१०५।१८) में इस प्रकार लेखन किया है—

(मा-सकृत्) मामेकवारम्। अथैकपद्यम्—मासानां चार्धमासादीनां च कर्त्ता। अत्र मासकृदित्येतत् पदं निरुक्तकारप्रामाण्यादनुमीयते। शाकल्यस्तु (मा-सकृत्) इति पदद्वयमभिजानीते।

इससे सिद्ध है कि दोनों प्रकार का व्याख्यान हो सकता है। आचार्य स्कन्दस्वामी इस प्रकार लिखते हैं—

मासकृदिति यस्यैतदेकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम्। शाकल्यस्य तु द्वे एव पदे। (निरु भा० २ पृ० ३६६)

(५) निरुक्त ४।४—

यदिन्द्र चित्रं मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः ॥

(ऋ० ५।३९।१)।

यदिन्द्र चित्रं चायनीयं, मेहनीयं धनमस्ति। यन्म इह नास्तीति वा। त्रीणि मध्यमानि पदानि ॥

यहाँ पर यास्क ने "मेहना" पद को एक पद और तीन पद दोनों ही माना है। "मेहनीयं" अर्थ लिखकर एक पद दर्शाया। 'म इह नास्ति' ऐसा दूसरे पक्ष में भी दर्शा दिया। यह ज्ञात रहे कि शाकल्य ने इसको एकपद माना है, तथा सामवेद के पदकार गार्ग्य ने त्रिपद।

विशेष यहाँ यह है कि यास्क ने दोनों ही पक्षों को स्वीकार किया है, जिससे यह भी स्पष्ट सिद्ध है कि यास्क का निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं, केवल ऋग्वेद ही की अर्थप्रक्रिया दिखाना इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं, अपितु सर्व वेदों की प्रक्रिया का दर्शाना ही इसका मुख्य ध्येय है। यह बात हम पूर्व भी लिख चुके हैं।

(६) निरुक्त ४।२१—

शंयुः सुखंयुः । अथा नः शंयोररपोदधात् ॥

ऋ० १०।१५।४॥

शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् ।

अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते ॥

पदकार तथा सायण ने "शंयुः" को द्विपद माना है। यास्क इसको एकपद तथा द्विपद मानकर दोनों प्रकार का व्याख्यान करते हैं। जिससे पदपाठकारों की व्यवस्था का स्वरूप भली-भाँति ज्ञात हो जाता है। 'पदपाठ अर्थ के पीछे है न कि पदपाठ के पीछे अर्थ'।

यह यास्क के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है। इसी से तो यास्क (नि० ६।२८) में जैसा कि हमने ऊपर दिखाया, शाकल्य के पदपाठ को न मान कर स्वर में दोष दिखाते हुए उसका प्रत्याख्यान करते हैं। हेतु यह है "यद्वृत्तान्नित्यम्" सूत्र से 'यद्वृत्त' होने से 'न्यधायि' आख्यात सर्वानुदात्त (निघात) नहीं हो सकता, तथा 'असुसमाप्तश्चार्थः' अर्थ भी सुसङ्गत नहीं होता। अतः एक ही पद रखना चाहिये। यह यास्क का कथन ठीक है। हाँ, जब स्वर में भी छान्दसव्यत्यय माना जाय, जिसका विधान पाणिनि और पतञ्जलि ने किया है, उस अवस्था में (दृष्टिभेद से अर्थभेद होने पर) दो पद हो जाना भी ठीक हो सकता है क्योंकि पद भेद तो यास्क भी मानते ही हैं, जैसा कि 'शंयोः' में हम दिखा चुके हैं।

(७) (क) और देखिये, आधुनिक उपलब्ध वेदभाष्यकारों में सर्वप्रथम स्कन्दस्वामी पदपाठ की व्यवस्था कैसी विस्पष्ट बताते हैं। निरु० २।१३ भा० २ पृ० ८१, में आदित्य' शब्द पर लिखा है—

शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वंनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति तदेव कारणम्, विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः, क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति यथा शाकल्येन "अधीवासम्" इति नावगृहीतम्, आत्रेयेण तु "अधिवासम्" इत्यवगृहीतम्। तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः।

(ख) पृ० १६१—**समभिव्याहृतत्वेऽपि च पदकाराणां वैचित्र्यम्। केषांचिदेकपदत्वं न चैकेषाम्।**

अर्थात्—पूर्व निर्वचन को लक्ष्य में रख कर शाकल्य, आत्रेय आदिकों ने अवग्रह नहीं किया। गार्ग्यप्रभृतियों ने अवग्रह किया है। कारण वही है, पदकारों के अभिप्राय विचित्र होते हैं, कहीं पर उपसर्ग के विषय में

भी अवग्रह नहीं करते। जैसे शाकल्य ने ऋ० १।१६१।१६ में 'अधीवासम्' का अवग्रह नहीं किया। आत्रेय ने (तै० सं० के पदपाठ में) 'अधि वासम्' ऐसा अवग्रह दर्शाया है। [स्वामी दयानन्द ने भी यजुर्वेदभाष्य २५।३६ में इस पद का अवग्रह किया है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य में नहीं किया। तै० प्रातिशा० त्रिभाष्यरत्न पृ० १०२, १०५ में भी अवग्रह है]।

अन्त में स्कन्दस्वामी कहते हैं—"**तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः**"।

इसलिये अवग्रह को निश्चित नहीं समझ लेना चाहिये। एक आचार्य ने किसी पद का एक प्रकार के अवग्रह दिखाया तो उसी को पकड़ कर ही बैठे न रहना चाहिये।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी 'अवग्रह ऐच्छिक है' ऐसा मानते हैं, नियत नहीं मानते। यही यास्क का मत है। स्वामी दयानन्द की भी यही धारणा है।

(८) अब इस विषय में हम अन्तिम सम्मति महर्षि पतञ्जलि भगवान् की भी दिये देते हैं, जो स्वयं पदकार हुये हैं। ऐसा हमारा विचार है।

अवग्रहेऽपि। न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्। (अ० ८।२।१६)

अर्थात् व्याकरणसूत्र के पीछे पदकारों को चलना पड़ेगा, न कि पदकारों के पीछे व्याकरणसूत्रों को।

यहाँ इतना ध्यान रहे कि पदकार सब वैयाकरण हुये हैं। ऐसी हमारी धारणा है। निरुक्तशास्त्र के बिना भी पदविभाग का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, यह पूर्व कह चुके हैं।

पदपाठ के विषय में हम बहुत कुछ लिखना चाहते थे, परन्तु उसके लिये तो पृथक् एक बहुत बड़े स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है। यहाँ संक्षेप से विद्वज्जनों के सम्मुख इतना ही पर्याप्त है।

१३. यास्क और यौगिक प्रक्रिया

यौगिकवाद में जो कुछ भी प्राचीन और अर्वाचीन विचार उपस्थित किये जाते हैं, उनमें वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों के पश्चात् यह निरुक्तशास्त्र इस वाद का 'आदि प्रधान' ग्रन्थ है, ऐसा कहना अनुपयुक्त न होगा। निरुक्तशास्त्र की रचना ही इस वाद को संसार में व्यक्त करने के लिये हुई। निरुक्त नाम है निर्वचन का, निर्वचन प्रकृति प्रत्यय की योजना का ही तो नाम है, जो अर्थ को लक्ष्य में रखकर की गई हो। यास्क ने

वेद में से जिन-जिन अनन्वित अथवा अस्पष्ट शब्दों को एकार्थ या भिन्न अर्थ में जाना, लोक के उपकारार्थ उन-उन शब्दों का संग्रह कर दिया, अर्थात् उन शब्दों के पढ़ देने से यास्क ने अपने काल तक उन-उन शब्दों के तत्तत् प्रवृत्तिनिमित्त को दर्शा दिया, और वह भी निर्देशमात्र, जो अविच्छिन्न परम्परा द्वारा उनके काल तक चला आ रहा था। दूसरे शब्दों में शब्द-अर्थ के नित्यसम्बन्ध को यास्क ने अपने निघण्टु में दिखला दिया।

यास्क ने केवल अपनी कल्पना से ही ऐसा कर दिया, "गौ" के २१ नाम अपनी इच्छा से ही निकाल-निकाल कर रख दिये हों, यह बात नहीं, अपितु इसका आधार स्वयं मूल वेदसंहिता तथा तद्व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मणादिक हैं। प्रथम हम इसमें वेद का ही प्रमाण देते हैं—

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नामाघ्न्या बिभर्ति।
विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्र उपराय शिक्षन्॥
ऋ० ७।८७।४॥

अन्वयः—वरुणो विद्वान् मेधिराय मे उवाच "अघ्न्या" त्रिः सप्त नामा बिभर्ति। (स) विप्र उपराय युगाय शिक्षन् पदस्य गुह्या (नामा) न (च) वोचद्।

अर्थ—वरुण विद्वान् मुझ बुद्धिमान् (जीव) को बताता है कि "अघ्न्या" गौ २१ नामों को धारण करती है (गौ के २१ नाम हैं)। उस विप्र वरुण ने युक्त हुए उपरत योगी को शिक्षा देते हुए इन गुप्त नामों को बताया है।

कितना विस्पष्ट अर्थ है। इससे यह सिद्ध है कि यास्क ने निघण्टु में जो नाम लिखे हैं, वे सब वेद के ही आधार पर हैं।

इन शब्दों के व्युत्पत्तिनियम को यास्क ने निघण्टु के व्याख्यानरूप निरुक्तग्रन्थ में दिखाया। निरुक्त और निर्वचन एकार्थवाची शब्द हैं।

यास्क ने अपनी भूमिका में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—यह चार प्रकार के शब्द दिखा कर आगे स्पष्ट अपना सिद्धान्त लिखा—

इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके॥ (नि० १।१२)

अर्थात्—इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—यह चार पद अनुक्रम से दर्शाये जा चुके। इन नामों के विषय में "सब नाम

आख्यातज-प्रकृति प्रत्यय के योग से बने हैं" ऐसा शाकटायन तथा नैरुक्तों का मत है। गार्ग्य तथा वैयाकरणों में से कुछ एक ऐसा मानते हैं कि सब नाम आख्यातज नहीं।

इस प्रकार यहाँ इस विषय को उठा कर इसमें उत्तमतया पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष द्वारा यौगिकवाद की स्थापना की। यह प्रकरण बड़ा ही मनोरञ्जक है, यह इस ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाले सब जानते हैं।

आगे ग्रन्थ के प्रयोजन बताये—तत्पश्चात् द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में निर्वचन की रीति बताई। तत्पश्चात् निघण्टु के प्रारम्भ से गौ शब्द से लेकर देवपत्न्यन्त तक क्रमशः नैघण्टुक, नैगम और दैवत काण्डों द्वारा सब शब्दसमाम्नायों का निर्वचन दिखाया, यह निरुक्त का प्रधान विषय है। मध्य में जहाँ-जहाँ प्रसङ्गतः अन्य बातों का उल्लेख भी है।

सब निर्वचन देकर उनका प्रयोग कहाँ-कहाँ हुआ है, यह दिखाने के लिये वेद का प्रमाण देते गये। तत्तत् निर्वचन को तत्तत् वेदमन्त्र के अर्थ की योजना द्वारा पुष्ट किया, जिससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यास्क व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ दशाने के लिये मन्त्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं।

दैवतकाण्ड में आचार्य ने देवतावाद की उत्तम रीति से स्थापना की है। परन्तु निर्वचन को वहाँ पर भी साथ-साथ निरन्तर दर्शाते गये हैं। इससे यह सिद्ध है कि यास्क इस यौगिक प्रक्रिया के परम उपासक आदि मूल महापुरुष हैं।

(२) यौगिकवाद के विषय में भगवान् पतञ्जलि का मत निम्न प्रकार है—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥

"नैगमरूढिभवं हि सुसाधु" नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः। (अ० ३।३।१ भा०)।

अर्थात्—नाम को निरुक्त में धातुज माना है, तथा व्याकरण में भी शाकटायन का ऐसा मत है। जो विशेष प्रकृति प्रत्यय से व्युत्पादित न हो उसमें—

प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या।

प्रकृति को देखकर प्रत्यय की ऊहा कर लेनी चाहिये और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की।

इससे स्पष्ट है कि महाभाष्यकार 'नाम' को धातुज निरुक्तकार के मत से बताते हैं तथा विशेष ध्यान देने की बात यह है कि **"नैगमरूढिभवं हि सुसाधु"** नैगम पृथक् हैं, रूढ़ि पृथक् हैं। अर्थात् वेद में रूढ़ि शब्द नहीं, यह भगवान् पतञ्जलि का मत है।

इसी से दयानन्द की धारणा सप्रमाण—यथार्थ सबको मानने योग्य है। इसी की व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा उणादिसूत्र की भूमिका में भली प्रकार की है। वहाँ देखी जा सकती है।

(३) इस यौगिकप्रक्रिया में यास्क का आधार वेद और ब्राह्मणग्रन्थ हैं। इस विषय में हम प्रथम वेदमन्त्रों द्वारा ही विचार करते हैं—निरुक्त ७।१५ में यास्कप्रदर्शित ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र ही को लेते हैं—

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ ऋ० १।१।१ ॥

इस मन्त्र का अभिधेय क्या है? समस्त मन्त्र किसकी स्तुति करता है? "ईडे" 'स्तुति करता हूं' इस क्रिया का कर्म कौन है? अग्नि या पुरोहित, देव या ऋत्विज्, होता या रत्नधातम कौन है? यदि कहा जावे ये सब पृथक्-पृथक् हैं और "ईडे" क्रिया के भिन्न-भिन्न कर्म हैं, तब यह अर्थ होगा—मैं अग्नि की स्तुति करता हूं, इसी प्रकार पुरोहित की, यज्ञ के देव की, ऋत्विक् की, होता की और रत्नधातम की। अब इस मन्त्र का देवता तो अग्नि है, अतः पुरोहितादि ये सब अग्नि शब्द के विशेषण ही माने जाने चाहियें। तभी अर्थ सुसंगत होता है।

एक बात और यहाँ विशेष है कि निरुक्तकार के मत में मुख्यत्वेन एक आत्मा की ही सब स्तुति है **"माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते"** (नि० ७।४) के अनुसार **"अग्निमीळे पुरोहितम्"** में अग्नि भी आत्मा का विशेषण है, ऐसा मानना पड़ेगा।

अथवा अग्नि शब्द को ही परमात्मा का वाचक मानना पड़ेगा। 'उभयतःपाशा रज्जुः' दोनों ही प्रकार से यौगिकवाद की सिद्धि अनिवार्य है, विना यौगिक-प्रक्रिया के 'अग्नि' शब्द परमात्मवाची सिद्ध नहीं हो सकता। इन शब्दों को परमात्मा के विशेषण मानते हैं तब पुरोहित आदि शब्दों को यौगिकवाद द्वारा ही अग्नि के विशेषण बना सकते हैं, अन्य कोई भी प्रकार नहीं। इसी कारण यास्क ने दैवतकाण्ड में अग्नि शब्द की अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति दर्शायी और इसके उदाहरणार्थ भी वही उपर्युक्त ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र उदाहरण में दिया।

देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता। (निरु० ७।१५)।

इस वचन से तथा अन्य इस स्थल के सम्पूर्ण लेख में सब शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शाई। इससे यास्क का हृदय स्पष्ट है।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है—

(पूर्वपक्षी) हम को तो वेद से ही वेद का अर्थ बताओ। हम वेदाङ्ग उपाङ्गादि किसी को नहीं मानते। सीधा वेद जो हमें बता दे वह हम मान लेंगे। हम तो वेद को ही स्वतःप्रमाण मानते हैं, परतःप्रमाण के पचड़े में हम नहीं पड़ते।

(सिद्धान्ती) बहुत अच्छा, सुनो! "**अग्निमीळे पुरोहितम्**" में विशेष्य विशेषण भाव से पुरोहितादि—ये सब अग्नि के विशेषण ही माने जाने चाहियें। दुर्जनसन्तोष-न्याय से निरुक्त की बात छोड़ भी दी जावे तब भी स्वयं वेद ही कहता है कि इन अग्नि, अश्विनौ आदि का यौगिक अर्थ लेना चाहिये, यथा—

(क) आ वंहेथे पराकात् पूर्वीरश्नन्तावश्विना। ऋ० ८।५।३१॥

यहाँ पर "**अश्नन्तावश्विना**" यह पद ध्यान देने योग्य है। वेदसंहिता में ही अश्विनौ की व्युत्पत्ति परमपिता परमात्मा ने दर्शा दी, जिससे इन शब्दों का व्युत्पत्ति द्वारा ही अर्थ करना चाहिये, यह शिक्षा दी। "**अश्नन्तौ**" होने के कारण '**अश्विनौ**' कहलाते हैं, यह स्वतःप्रमाण वेद से ही सिद्ध है।

अब परतःप्रमाण, जिसको तुम पचड़ा कहते हो, उसकी व्यवस्था भी सुनो।

जब स्वयं वेद ने ही यौगिकवाद का मूल रख दिया, तब उसके अनुगामी ब्राह्मणादि ऐसा क्यों न करते।

(ख) अश्विनाविमे हीदँसर्वमश्नुवाताम्।

(शतपथ ब्रा० ४।१।५।१६)

(ग) अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।

(बृहद्देवता ७।१२७)

(घ) अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः। अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत् कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके, राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः॥ (निरु० १२।१)।

शतपथ और बृहद्देवताकार ने "**अश्विनौ**" की वही व्युत्पत्ति दिखाई, जो ऊपर वेद के मन्त्र (ऋ० ८।५।३१) में दर्शाई गई। निरुक्तकार ने वही व्युत्पत्ति दिखाई, साथ ही उस व्युत्पत्ति का फल भी दिखा दिया। अर्थात् "**यद् व्यश्नुवाते सर्वम्**" सब में व्याप्त हैं, अत: अश्विनौ कहे जाते हैं।

इसीलिये कई एक आचार्यों के मत में द्यावा और पृथिवी को ही अश्विनौ कहते हैं। कई एक अहोरात्र को अश्विनौ मानते हैं। ऐतिहासिक लोग इन्हीं अश्विनौ को पुण्यकृत् राजा मानते हैं।

यौगिकप्रक्रियावाद में ये स्थल कितने स्पष्ट हैं। इन प्रमाणों से वेद में केवल यौगिकत्व ही सिद्ध नहीं होता, अपितु यह भी सिद्ध होता है कि देवतावाद में भी यौगिक प्रक्रिया का आश्रय अवश्य करना पड़ेगा। देवता के प्रकरण में ही यास्क ने अश्विनौ की व्युत्पत्ति दर्शाकर उसके भिन्न-भिन्न अर्थ दिखाये। यह बात अतीव ध्यान देने योग्य है।

अब पूर्वपक्षी को कहने का कोई अवसर नहीं रह जाता। अत: विशेष्यविशेषण भाव अवश्यम्भावी है। इसी से "**अग्निमीळे पुरोहितम्**" में पुरोहित, ऋत्विक्, होता, देव और रत्नधातम–ये सब अग्नि के विशेषण हुये। यह तभी हो सकता है जब ये यौगिक हों। नहीं तो आप ही बताइये कैसा अग्नि पुरोहित? कैसा अग्नि ऋत्विक्? कैसा अग्नि होता, यह कथन मूर्खों के आलाप के समान ही तो सिद्ध होगा।

अत: ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही यौगिकप्रक्रिया का संस्थापक है, यह हमारी धारणा है। इसको कोई अन्यथा सिद्ध नहीं कर सकता।

(४) वेद के कुछ और भी स्थल इस विषय में देना हम आवश्यक समझते हैं, तद्यथा—

अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑। ऋ० १।१।४॥

मन्त्र में जब '**यज्ञ**' यह पद आ गया तो पुन: **अध्वरं** की क्या आवश्यकता रह जाती है। इसी प्रकार "**गावो न धेनवः**" (ऋ० ६।४५।२८) '**उर्वीं पृथिवीम्**' (ऋ० ७।३८।२) '**भूमिं पृथिवीम्**' (अ० १२।१।७) **तोकं च तनयं च** (ऋ० १।९२।१३) '**यथेयं पृथिवीं महीं दाधार**' (ऋ० १०।६०।९) यहाँ प्रथनशील मही भूमि अथवा महान् गुणशाली पृथिवी, ऐसा विशेषण विशेष्यभाव कर लेने से मन्त्र की यथार्थ सङ्गति सुसम्बद्ध हो जाती है। इस विषय में विशेष 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (वेदों के भाष्यकार भाग) पृ० १४४, १४५ में देखो, यहाँ प्रत्येक जोड़े में

एक शब्द को विशेषण तथा दूसरे को विशेष्य मानना अनिवार्य है, इसके विना यहाँ दूसरी गति नहीं हो सकती।

(५) मन्यें त्वा य॒ज्ञियं॑ य॒ज्ञिया॑नाम् मन्यें त्वा च्यव॑न॒मच्यु॑तानाम्।
ऋ० ८।९६।४॥

यहाँ भी अच्युतों में च्यवन से (अगति-शीलों में गति-शील) ऐसा मूलमन्त्र में कहा गया है, च्यवन से यहाँ किसी व्यक्तिविशेष (Proper Name) का अभिप्राय ग्रहण नहीं होता।

निरुक्त में जो लिखा है—

च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तोमानाम्। (निरु० ४।१९)

इसका भी यही अर्थ है "च्यवन ऋषि (साक्षात्-कृतधर्मा द्रष्टा) होता है, स्तोमों—मन्त्रों का ज्ञान करानेवाला होने से"। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं, यह वैयाकरण लोग जानते हैं।

अतः यहाँ भी मन्त्र में '**च्यवनमच्युतानाम्**' कहने से स्पष्ट है कि यहाँ 'च्यवन' का अर्थ च्युङ् गतौ धातु को लेकर ही किया जायगा। क्या यह स्पष्ट यौगिकवाद का प्रतिपादन नहीं?

(६) इतना ही नहीं कि वेद इस यौगिकवाद का प्रतिपादन करते हैं, ब्राह्मण-ग्रन्थ भी सब के सब इसका स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। इसके लिए तो लाहौर डी० ए० वी० कालिज से श्री पं० भगवद्दत्तजी द्वारा सम्पादन कराया श्री पं० हंसराज जी कृत वैदिक कोष ही देखा जा सकता है। अब हम पुनः नैरुक्त-प्रक्रिया को ही लेते हैं—

(७) स्वयं यास्क ने भी ब्राह्मणादि के आश्रय ही से तो निघण्टु में **कण्वः, वेनः, ऋभुः, उशिजः, गृत्सः** इत्यादि शब्द जो लौकिकबुद्धि रखने वाले पुरुषों में संज्ञावाची ही प्रसिद्ध हैं, ये सब '**मेधावी**' नामों में पढ़े हैं। "**कुरवः**" जिसको सामान्य जन इन्द्रप्रस्थ के कुरुवंशज समझते हैं, यास्क ने उसको ऋत्विक् नामों में पढ़ा है अर्थात् उनके मत में यह शब्द ऋत्विग्-वाची है। "**कुत्सः**" वज्र नामों में पढ़ा है, **उशिक्** कर्मनामों में है।

यौगिकवाद को न माननेवालों से हम पूछते हैं—क्यों साहब? यहाँ "कण्व" का अर्थ कण्व ऋषि क्यों नहीं लेते हो? "कुत्स" से ऋषि ही क्यों न लिया जावे। वज्र अर्थ कैसे लिया गया? इसका उत्तर भला हो ही क्या सकता है, विना यौगिकवाद की शरण स्वीकार करने के। सच्ची बात का स्वीकार ही उत्तर होता है।

(८) अब हम निरुक्त के प्राचीन आचार्य वररुचि कृत ग्रन्थ "निरुक्त-समुच्चय" की साक्षी और देते हैं, जिससे यह ज्ञात होगा कि हमने यौगिक प्रक्रिया के विषय में ऊपर निरुक्तकार का जो अभिप्राय लिखा है, वह सब प्राचीन नैरुक्तों का मत है, हमारी अपनी कल्पना नहीं—

(क) ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्। यजु० १३।३॥

इसका व्याख्यान करते हुये आचार्य वररुचि 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ आदित्य करते हुये लिखते हैं—

ब्रह्मनामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः। तथा हि तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। बृह, बृहि वृद्धौ इत्यन्येभ्योऽपि दृश्यते इति मनिन्। मनिन्प्रत्ययान्तस्यैतद्रूपं सर्वतः परिवृद्धत्वात् ब्रह्मशब्देन आदित्यमण्डलमुच्यते...। (निरु० समु० पृ० २)।

अर्थात् सामान्यतया ब्रह्मवाचक सब नाम आख्यातज (यौगिक) हैं, यह निश्चय है। इसीलिये इस विषय में नाम सब आख्यातज (यौगिक) हैं, यह सब नैरुक्त तथा शाकटायन मानते हैं। बृह बृहि से मनिन् प्रत्यय कर ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है, परिवृद्ध होने से ब्रह्म शब्द का यहाँ 'आदित्य-मण्डल' अर्थ है।

सब यौगिक क्यों हैं—इसमें युक्ति दी—"**नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः**" अर्थात् यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है, क्रियायोग(यौगिक-प्रक्रिया) को स्वीकार करके प्रयोग है। यौगिकप्रक्रिया की परम्परा कितनी प्राचीन है, यह इस लेख से ज्ञात हो सकता है।

(ख) मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

ऋ० १।१८०।२॥ के व्याख्यान में—

"**पवि" एतदपि वज्रनाम पुनरुक्तदोषपरिहारार्थं क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तते। अहं पार्थो धनञ्जय इति यथा। पवतिर्गतिकर्मा पवि, गन्तारम्।**
(निरु० समु० पृ० ५५)।

यहाँ पर भी क्रियायोग (यौगिकप्रक्रिया) को मानकर पुनरुक्तदोष के परिहार के लिये पवि का अर्थ वज्र है। यौगिकप्रक्रिया के ये दोनों उदाहरण कितने हृदयग्राही हैं।

(९) यास्क ने निघण्टु में जो नाम दिये हैं तथा निरुक्त में जिन-जिन

शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शाई है, वह सब उपलक्षणमात्र ही है। इसका प्रमाण हम निरुक्त से ही देते हैं—

"चित्तिभिः कर्मभिः" ऐसा यास्क का पाठ (२।६) है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि 'कर्म' नामों में 'चित्ति' पद नहीं पढ़ा तथापि कर्म का वाचक है। यह सब यौगिकप्रक्रिया की ही कृपा है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऋषि दयानन्द और यौगिकवाद

वर्त्तमान युग में वैदिक विज्ञान के सम्बन्ध में प्रचलित रूढियों के जाल में न फँस कर, प्रभु की कृपा से योगसमाधि द्वारा प्राप्त विमलमेधा से, उस दिव्यप्रेरणा के आश्रित होकर, लोकवाद को प्रधानता न देकर, अपने विचार का कोई अनुगामी होगा या नहीं, इसकी भी कुछ अपेक्षा न करके, महापुरुष दयानन्द ने वेदार्थप्रक्रिया में यौगिकवाद का पुनरुद्धार किया, यह कहना अनुचित न होगा।

उनके सब ग्रन्थ इस विषय में प्रमाण हैं। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका तो इस विषय का विशेष प्रतिपादक ही है। वेदभाष्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

यह यौगिकप्रक्रिया उन की अपनी मनमानी कल्पना नहीं। यह हमने अनेक पुष्ट प्रमाणों द्वारा ऊपर दिखा दिया है। जो प्रमाण ऊपर दिये गये हैं, उनके आधार पर ही स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ में यौगिकवाद का आश्रयण किया।

यहाँ पर उनके वेदभाष्य में से एक उपयुक्त स्थल दिया जाता है—

युष्मा इन्द्रो॑ वृणीत वृत्रतू॑र्ये यू॒यमिन्द्र॑मवृणीध्वम् ।

यजुर्वेदभाष्य अ० १ मं० १३, पृ० ३६।

इस मन्त्र का अर्थ करते हुये स्वामी जी महाराज लिखते हैं—

(यूयम्) विद्वांसो मनुष्याः। (इन्द्रम्) वायुम् ॥ इन्द्रेण वायुना (ऋ० १।१४।१०)। इतीन्द्रशब्देन वायोर्ग्रहणम् ॥ (अवृणीध्वम्) वृणत, स्वीकुरुध्वम्……।

यहाँ पर स्वामीजी ने इन्द्र का अर्थ "वायु" किया है। इसमें प्रमाण ऋ० १।१४।१० मन्त्र देते हैं, जो निम्न प्रकार है—

विश्वे॑भिः सो॒म्यं मध्व॒ग्न इन्द्रे॑ण वा॒युना॑ ।

पिबा॑ मि॒त्रस्य॒ धाम॑भिः ॥ ऋ० १।१४।१०॥

अन्वय—अग्ने इन्द्रेण वायुना मित्रस्य विश्वेभिर्धामभिः सोम्यं मधु पिब ॥

हे अग्ने ! परमैश्वर्यवन् ! वायु के साथ प्राण (वायु) के सब स्थानों के द्वारा सोम्य मधु का पान करो, अथवा अग्नि पान करता है । प्रकृत में इतना ही है कि मन्त्र में **'इन्द्रेण वायुना'** इन्द्र वायु का विशेषण है तथा इन्द्र और वायु एक ही पदार्थ है, यह स्वामीजी के भाष्य से स्पष्ट है । मूलमन्त्र से यह बात व्यक्त है ।

इस पर कुछ लोग आक्षेप करेंगे कि यह तो स्वामीजी की अपनी कल्पनामात्र है, हेतु वही पुराना देंगे कि किसी भी भाष्यकार ने इस मन्त्र का ऐसा अर्थ नहीं किया ।

ऐसे लोगों से पूछना चाहिये—क्या आप लोग इन्द्र, अङ्गिरा आदि शब्दों को व्यक्तिविशेषों के नाम (Proper Names) मानते हैं वा कुछ और भी ?

इनको व्यक्तिविशेष मानकर ही सायणादि भाष्यकार तथा उनके उच्छिष्ट-भोजी एतद्देशीय स्कालर अङ्गिरा आदि नामों से व्यक्तिविशेष (Proper Names) को ही लेकर सम्पूर्ण वेद को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भरा मानते हैं । हम उन से ही पूछते हैं, क्या नामों(ProperNames) के आगे Degrees (good better best की भाँति) लगती हैं या नहीं ? कभी नहीं ।

परन्तु वेद में—

अभूँदुषा इन्द्रंतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि ।
विद्दिवो देवी दुंहिता दंधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥
ऋ० ७।७६।३॥

इस मन्त्र का देवता उषा है । मन्त्र में भी उषा शब्द पढ़ा है । यहाँ **इन्द्रतमा अङ्गिरस्तमा** यह दोनों पद उषा के विशेषण हैं । यह मूलमन्त्र को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है । क्या किसी ने Devadatter Devadattest ऐसा प्रयोग भी कभी संसार में सुना है ?

ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने यदि **'इन्द्रेण वायुना'** (ऋ० १।१४।१०) में इन्द्र को वायु का विशेषण लिख दिया तो क्या अनर्थ हो गया ? उपर्युक्त मन्त्र में **'इन्द्रतमा'** विशेषण नहीं ? क्या तीन काल में भी कोई इसको विपरीत कर सकता है ?

पक्षपात के गर्त्त में गिरे हुये तथा जान बूझकर दयानन्द को Misrepresent करने (उलटा दर्शानेवालों), सत्योक्ति का मिथ्याराग अलापने वालों को हम चैलेंज करते हैं कि वह इस बात को विपरीत सिद्ध करके दिखावें! ऐसे लोगों का गुरु तो सायण है। 'दुर्जन सन्तोष' न्याय से हम सायणाचार्य का ही इस मन्त्र का भाष्य प्रस्तुत करते हैं।

इन्द्रतमा सर्वस्येश्वरतमा धमोनी धनवती उषा अभूत् प्रादुरभूत्...... दिवो दुहिता देवी द्योतमाना। अङ्गिरस्तमा गन्तृतमा.........

सायणाचार्य ने **'इन्द्रतमा'** का अर्थ **'ईश्वरतमा'** तथा **'अङ्गिरस्तमा'** का अर्थ **'गन्तृतमा'** अत्यन्त गमनशील किया है।

क्या दयानन्द की यह धारणा तीनकाल में भी विपरीत हो सकती है?

हमें तो ऐसे लोगों की बुद्धि पर हँसी आती है। अभी तो ये लोग वेदार्थ की ऊपरी तल तक भी नहीं पहुंचे। पहुंचें कैसे? मार्ग तो पकड़ा है राजपूताने के रेगिस्तान का, गङ्गोत्तरी कैसे पहुंचेंगे? सारी आयु भी चलते जावें तो कुछ लाभ न होगा।

'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (वेदान्त) महर्षि व्यास ने "आकाश" शब्द को ब्रह्म-परक बताया। क्या यौगिकप्रक्रिया के विना ऐसा कभी हो सकता है?

अतः यौगिकवाद वेदाभ्यासियों का परमावश्यक सर्वतोमुख्य परम सहायक है। डंके की चोट पर इसकी घोषणा करनेवाले पारदर्शी दयानन्द को कोई अन्यथा सिद्ध नहीं कर सकता।



निरुक्तकार और वेद में इतिहास

सज्जन वृन्द ! वेदों में इन्द्र, मरुत्, अङ्गिरस परुच्छेप-वसिष्ठ विष्णु-ब्रह्मा पराशरादि शब्द अनेक बार आए हैं। इनका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में भी विविध रूप से किया गया है। वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर ही यास्क तथा उससे पूर्व नैरुक्तों ने इन शब्दों के सम्बन्ध में लेखन किया है। निरुक्त का वेद के साथ साध्यसाधनरूप सम्बन्ध है, यह पूर्व लेख में दिखाया जा चुका है। वेदाङ्ग होने से भी निरुक्त का महत्त्व मानना ही पड़ेगा। यहीं तक नहीं अपितु यह ग्रन्थ वेदार्थ का प्रतिपादक है। वेदार्थ की प्रक्रिया बताना ही इसका मुख्य ध्येय है। इसी से जो बात निरुक्त के आधार पर कही जायगी, उसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता।

पूर्वपक्ष

इतिहास के सम्बन्ध में जो वाद फैला हुआ है, मेरे विचार में उसमें मुख्य कारण निरुक्त में इतिहास का प्रतिपादन है। अर्थात् जब वेदार्थ-प्रक्रिया का प्रतिपादक ग्रन्थ निरुक्त ही स्वयं वेद में स्पष्ट इतिहास बतावे, तब इसको कौन वैदिकधर्मी वेदानुयायी हेय बतला सकता है? जब स्पष्ट रूप से निरुक्त में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का इतिहास उनकी कुल-परम्पराओं तथा तात्कालिक घटनाओं आदि का सर्वथा स्पष्ट वर्णन पाया जाता है, तब यह कैसे कहा जावे कि यास्क मुनि वेद में इतिहास नहीं मानते।

मेरे विचार में निरुक्त में यत्र तत्र आये "**तत्रेतिहासमाचक्षते**" इस वर्णन को देखकर प्रायः लोगों ने वेद में 'व्यक्तियों' के इतिहासवाद की धारणा बनाई। इसी से यास्क के निरुक्त को कई एक महानुभावों ने हेय तक कह डाला।

इसका प्रमाण "गङ्गा" मासिक पत्र के "वेदाङ्क"[1] से दिया जाता है जो बहुत उत्तम निकला है, जिसके लिये सम्पादक महोदय को हार्दिक धन्यवाद है। पर वे लेख प्रायः वेद पर पूर्वपक्षरूप ही हैं, जिनके समाधान

---

१. सन् १९३२ में यह अङ्क छपा था।

का भार आर्यसमाज पर है। देखें भविष्य में आर्यसमाज इसके लिये क्या आयोजन करता है।

इस "वेदाङ्क" में गुरुकुल वृन्दावन के एक पण्डित महानुभाव का लेख है। उस लेख के सारभूत शब्द दे देने से ही ज्ञात हो जायगा कि जिन सज्जनों से समाधान की आशा रखनी चाहिये, उनको भी कहाँ तक इस विषय में भ्रम है।

लेखक महोदय के शब्द निम्न प्रकार हैं—

(क) "यास्क का निरुक्त देखने से पता चलता है कि पुराणों के अनुसार यास्क भी वेदों में इतिहास मानते थे"।

देवापि शन्तनु की कथा देते हुए लिखते हैं—

(ख) "तब शन्तनु ने देवापि से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। देवापि ने कहा—मैं तुम्हारा पुरोहित बनूंगा और यज्ञ कराऊँगा जिससे पानी बरसेगा"।

"ये निरुक्तकार यास्काचार्य के शब्द हैं। इससे महाभारत और यास्क के उपाख्यानों में घनिष्ठता आ गई है"।

(ग) आगे—'वत्' उपमावाची शब्द पर लिखते हुये (नि० ३।१६) में यास्क ने एक मन्त्र दिया है—

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हुवम्॥

इसका वे अर्थ करते हैं—"ईश्वर! जैसे तुमने प्रियमेध आदि ऋषियों की प्रार्थना को सुना है। उसी प्रकार मुझ प्रस्कण्व की भी प्रार्थना सुनो। हमें यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिये कि इस मन्त्र में आये हुये सब नाम यास्क के अनुसार ऋषियों के ही हैं। यास्क ने उनके विषय में लिखा है "प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः" आदि।"

(घ) तथा च······**तत्र ब्रह्मे तिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।**
(निरु० ४।६)।

अर्थात् "वेद, इतिहासों, ऋचाओं, गाथाओं से युक्त है"
(गङ्गा-वेदाङ्क १९३२ पृ० २६८, २६९)।

हम लेखक महोदय को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने "निरुक्त में इतिहास" पर बहुत संक्षिप्त तथा उत्तम पूर्वपक्ष लिख दिया। यद्यपि मैं आप सज्जनों के सम्मुख बहुत से और भी पूर्वपक्ष रखता परन्तु प्रकृत

विचार के लिये इतना ही पूर्वपक्ष पर्याप्त है, अतः अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

बस इस मौलिक भ्रम को दूर करना ही मेरे इस लेख के इस भाग का अभिप्राय है। इस इतिहासवाद के ठीक समझ में आ जाने से निरुक्त सम्बन्धी शेष शङ्कायें बहुत ही सुगमता से निराकृत हो जाती हैं।

अथात्र समाधिः

निरुक्तकार यास्कमुनि ने अपने ग्रन्थ में विविध वादों का वर्णन किया है—

१. अध्यात्मम्, २. अधिदैवतम्, ३. आख्यानसमयः, ४. ऐतिहासिकः, ५. नैदानाः, ६. नैरुक्ताः, ७. परिव्राजकाः, ८. पूर्वयाज्ञिकाः ९. याज्ञिकाः।

यह नौ प्रकार के वाद यास्क ने दर्शाये हैं। हम यहाँ केवल ऐतिहासिक-आख्यान पक्ष को ही लेंगे। शेष वादों के विषय में आगे लिखेंगे। निरुक्त में **इतिहास** शब्द ६ स्थलों में आता है। ३ स्थलों में "**इति ऐतिहासिका.**" ऐसा है। ८ स्थलों में "**आख्यान**" शब्द का उल्लेख मिलता है।

इन सब का समाधान निम्न प्रकार है—

हर एक ग्रन्थ की अपनी-अपनी परिभाषा (Techniques फारमूले Formula) हुआ करती है। जब तक उन पर भली प्रकार से विचार नहीं हो जाता, तब तक उस ग्रन्थ के अभिप्राय को नहीं समझा जा सकता। व्याकरणशास्त्र को ही ले लीजिये, उसमें 'अ, ए और ओ' इन तीन अक्षरों की "**गुण**" संज्ञा है, इसी प्रकार "**वृद्धि**" से व्याकरणशास्त्र में 'आ, ऐ और औ' इन तीन को ही समझा जाता है। "**बहुलं तणि**" भाष्यकार पतञ्जलि "तणि से संज्ञा और छन्द का ग्रहण करते हैं", "**किमिदं तणीति संज्ञाछन्दसोरिति**"।

व्याकरण में जहाँ-जहाँ गुण, वृद्धि, तणि आदि शब्द आवेंगे, वहाँ-वहाँ पर उपर्युक्तों का ही ग्रहण करना होगा, न कि वैशेषिक का गुण इत्यादि। यह बात प्रत्येक शास्त्र के विषय में सर्वसम्मत है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

यास्क की इतिहास की परिभाषा

अब इस विषय में यास्क की अपनी परिभाषा क्या है, इसका निरुक्त से ही प्रतिपादन किया जाता है।

(१) निरुक्त में दिशा के नाम बताते हुए "काष्ठा" शब्द के उदाहरण में यास्क का निम्न लेख है—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ।।

ऋ० १।३२।१०।।

तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च ।। (निरु० २।१६) ।

अर्थात् (यहाँ इस मन्त्र में) वृत्र कौन है ? नैरुक्तों के मत में "वृत्र" नाम है मेघ का । ऐतिहासिकों के मत में "वृत्र" का अर्थ "त्वाष्ट्र असुर" (त्वष्ट्रा का पुत्र) है । जल सूर्य तथा विद्युत् के मिलने से वर्षा होती है । इसके जो युद्ध (संग्राम) का वर्णन है, वह उपमारूप से है (न कि वास्तविक किन्हीं मनुष्यों का युद्ध है) । इसमें अन्य हेतु भी देते हैं कि 'अहि' शब्दवाले मन्त्रों का वर्णन तथा ब्राह्मणवचन भी इस विषय में पाये जाते हैं । अर्थात् मन्त्रों और ब्राह्मणों में 'वृत्र' के सदृश 'अहि' को भी इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा गया है । यहाँ **'उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति'** यह वचन यास्क के इतिहास की परिभाषा का एक अङ्ग है । भाव स्पष्ट है, अधिक क्या लिखें ।

(२) अब हमें यह देखना है कि यास्क के मत में उपमारूप युद्ध तथा अन्य इतिहास और आख्यानों को क्यों कहा गया है । इसका उत्तर यास्क स्वयं देते हैं—

"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" निरु० १०।१०।।

मन्त्रार्थों के द्रष्टा ऋषि की आख्यान अथवा इतिहास को लेकर (आख्यानों से युक्त) मन्त्रार्थ कहने में प्रीति होती है ।

मन्त्रों के अर्थों में जहाँ-जहाँ आख्यान-इतिहास बतलाये गये हैं, वे सब उन-उन ऋषियों ने ऐसा कहने की प्रीति प्रेम के कारण से बतलाये हैं, वे वास्तविक नहीं अर्थात् किन्हीं मनुष्यादि व्यक्तिविशेषों के इतिहास या आख्यान नहीं हैं । इस बात को भी ऊपर 'उपमार्थेन' कह कर यास्क ने अपना हृदय समक्ष रख दिया है ।

अब ग्रन्थकार स्वयं ही स्पष्ट अपना भाव बता रहे हैं, तब ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय से विरुद्ध भाव लेने से उस ग्रन्थ का यथार्थ तत्त्व कैसे समझ में आ सकता है ? व्याकरणशास्त्र में **"मिदेर्गुणः"** (७।३।८२) 'गुणोत्ति-

संयोगाद्योः" (७।४।२६) के गुण से वैशेषिक का गुणपदार्थ तथा महाभाष्यकार का **"विपरीतं तु यत् कर्म तत् कल्म कवयो विदुः"** (१।४।५१) कल्म संज्ञा से उसके अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण न करके वैशेषिक का गुण वैशेषिक का कर्म अर्थ लेनेवाले क्या त्रिकाल में भी यथावत् अर्थ तक पहुंच सकते हैं ? कदापि नहीं।

यह "आख्यान की प्रीति" कहानी द्वारा समझाने की प्रीति, मेरे विचार में विश्व भर में व्यापक है। जैसा कि देखा जाता है बच्चों को स्वभाव से ही कहानी सुनने में प्रीति होती है। वे माता पिता को बार-बार कहते सुनाई देते हैं, "माता जी कहानी सुनाओ।" रात्रि को सोते समय प्रायः भारत में यह बात सर्वत्र देखी जाती है।

और देखिये ! व्याख्यानों में अथवा सामान्य पाठ पढ़ाने में भी इसी प्रीति का अवलम्बन देखा जाता है। वही व्याख्यान का पाठ अधिक सरल तथा सर्वग्राही समझा जाता है, जिसमें कोई दृष्टान्त हो (परन्तु आजकल जो मर्यादा से बहुत अधिक दृष्टान्तों की भरमार तथा वास्तविक तत्त्व का प्रायः अभाव रहने से ग्राह्य नहीं, केवल हँसी मजाक का प्रेमी बना देना बहुत हानिकर है) शुष्क युक्तियां मात्र तो केवल तार्किक लोग ही सुनने को तैयार होंगे।

इसी बात का प्रतिपादन पुनः निरुक्त १०।४६ **"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता"** में किया है। इससे स्पष्ट है कि "यास्कमुनि मन्त्रों में आख्यान के कथन को ऋषियों की इस (आख्यान) रूप में कहने की प्रीति ही कारण बतलाते हैं, न कि वास्तविक आख्यान"।

(३) इन आख्यानों में व्यक्तिविशेषों का इतिहास होता है, यह बात नहीं। इसके लिये निरुक्त ५।२१—

आह्वयदुषां अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्।

अर्थात्—उषा ने अश्वियों को बुलाया। आदित्य ने उसको अभिग्रस्त किया हुआ था। उसको अश्वियों ने छुड़ाया। ऐसा आख्यान (इतिहास) है। ऐसा वर्णन है।

प्रातः सूर्योदय से लेकर सायंकाल के समय सूर्यास्त पर्यन्त उषा को सूर्य अभिग्रस्त किये हुये होता है[1]। उसको अश्वि मुक्त कराते हैं। ऐसा

१. सूर्योदय होने पर उषा नष्ट हो जाती है। उषा काल में अह=प्रकाश, रात्रि+तमः का संयोग होता है।

"अश्विनौ" कौन हैं इस विषय में भी अपनी कल्पना न लिखकर हम यास्क के शब्दों में ही देते हैं—

तत् कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके ।
सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः ।।

निरु० १२।१।।

अर्थात् वे 'अश्विनौ' कौन हैं । वह द्यावापृथिवी है, कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं । दूसरे आचार्य कहते हैं, नहीं 'अश्विनौ' दिन और रात्रि का नाम है । तीसरे आचार्य इन दोनों अश्वियों को सूर्य और चन्द्रमा बतलाते हैं । इधर ऐतिहासिक (इतिहास को मानने वाले) लोग इन्हीं अश्वियों से "पुण्यशील दो राजा" ऐसा अर्थ लेते हैं ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी है—

(क) द्यावापृथिवी वा अश्विनौ । काठक सं० १३।५।।
(ख) इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ । श० ४।१।५।१६।।
(ग) अहोरात्रे वा अश्विनौ । मै० सं० ३।४।४।।
(घ) अश्विनावध्वर्यू । श० १।१।२।१७।।
(ङ) सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणाप्रानौ च तौ स्मृतौ ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ।।१२६।।
अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च ।
पृथक् पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ।।१२७।।

बृहद्देवता ७।१२६, १२७।।

ये सब प्रमाण निरुक्त के पूर्वोक्त स्थल की पुष्टि में ही दिये गये हैं ।

अतः "तामश्विनौ प्रमुमुचतुः" का अर्थ उस "उषा" को "अश्विनौ" अर्थात् दिन और रात्रि ने मुक्त किया । रात्रि के अन्त में ही अह=प्रकाश का संयोग होने से उषा का प्रादुर्भाव होता है । यहाँ निरुक्तकार के आख्यान का स्वरूप ज्ञात हुआ कि 'उषा' को अश्वियों ने छुड़ाया । क्या उषा और अश्विनौ यहाँ व्यक्तिविशेष के नाम हैं ?

(४) पिता दुहितुर्गर्भमाधात् (ऋ० १।१६४।३३) ।
पिता दुहितुर्गर्भं दधाति, पर्जन्यः पृथिव्याः । निरुक्त ४।२१।।

यहाँ पिता और दुहिता शब्द यौगिक हैं रूढ़ि नहीं, यह बात स्वयं यास्क ने पर्जन्य—मेघ और पृथिवी यह दोनों अर्थ निर्देश करके बतला दी ।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि पिता, पुत्र, दुहिता, माता आदि शब्द केवल लौकिक माता पिता परक ही नहीं होते अपितु इनके अर्थ अनेक प्रकार से होते हैं। उधर जड़ पदार्थों के लिये भी पुत्रादि शब्दों का प्रयोग यास्क ने किया है। तद्यथा—

(क) तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः। नपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयं, निर्णततमा भवति। गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः, तस्याः पयो जायते पयस आज्यं जायते। निरु० ८।५॥

अर्थात्—कात्थक्य आचार्य के मत में तनूनपात् आज्य (घृत) का नाम है। नपात् अनन्तरापत्य (=पौत्र) प्रजा का नाम है। यहाँ तनू का अर्थ है गौ। क्योंकि उसमें भोग विस्तृत होते हैं (दुग्ध दधि रूप में) उससे दूध उत्पन्न होता है और पयः (दुग्ध) से घी निकलता है अतः घृत गौ का पौत्र है।

इससे स्पष्ट है निरुक्तकार पुत्रपौत्रादि शब्दों का प्रयोग जड़ वस्तुओं में भी मानते हैं। अतः केवल पुत्र पौत्रादि शब्दों का प्रयोग हो जाने से इतिहास की घबराहट में पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

(ख) सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने॥

इस मन्त्र में सभा और समिति दोनों को प्रजापति की दुहिता= लड़की बताया है।

(५) शेष रहा ब्राह्मणादि में इतिहास का वर्णन, इस सम्बन्ध में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कह कर यास्क के अपने शब्द ही देता हूं—

यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। (निरु० ७।२४)।

अर्थात्—ब्राह्मणों का इस प्रकार जो कथन है, वह भक्तिवाद को लेकर है—अर्थात् किन्हीं गुणों को लेकर वैसा कहा गया है। वास्तविक घटनायें इस प्रकार की हुई हैं, यह बात नहीं। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि ब्राह्मण सर्वांश में भक्तिवाद को लेकर ही कहता हो, ऐसा नहीं। न ही यास्क का ऐसा अभिप्राय है। क्योंकि निघण्टु तथा निरुक्त में आये हुये अनेक शब्द इसके प्रमाण हैं, जिनका ब्राह्मणों में भी उसी प्रकार से व्याख्यान किया गया है। वास्तव में यास्क के इन निर्वचनों का आधार ब्राह्मणग्रन्थ ही हैं। इतने से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि में आये हुये इतिहासों को यास्क कैसा मानते हैं?

(६) मूल निरुक्त के ये सब प्रमाण हमने दिये, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इतिहास के विषय में निरुक्तकार उपमार्थ—आख्यान की प्रतिमात्र ब्राह्मणों के आधार पर बहुभक्तिवाद—मानते हैं।

अब इस प्रसङ्ग में यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि जब यास्क जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि "**पुरुषविद्यानित्यत्वात्**" (निरु० १।२) तथा "**ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत**" (निरु० २।११) "**नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।**" (नि० १।१५) यह कह कर वेद को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं तब वह वेद में अनित्य इतिहास मान ही कैसे सकते हैं? जो कहा जाता है वह "**गौणिक-उपमारूप, औपचारिक**" है। इस विषय का मूल हमने निरुक्तकार के अपने शब्दों में बतलाया।

निरुक्त के आधार ब्राह्मण आरण्यक तथा वेद में इतिहास

इस विषय में मैं बहुत संक्षेप से निरुक्त की पुष्टि में कुछ एक स्थल निर्देश कर देना ही पर्याप्त समझता हूं।

(१) निरुक्त २।१६ की उपर्युक्त वृत्रासुर की कथा पर 'ब्राह्मण' क्या कहता है, देखिये शतपथ ११।१।६।९ में लिखा है—

तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद् दैवासुरमिति। पृ० ५५०।

अर्थात् 'वृत्रासुर' युद्ध हुआ नहीं, अपितु उपमार्थ युद्ध का वर्णन है, यह शतपथ के लेख से सर्वथा स्पष्ट है।

(क) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्येन यास्यामिति ताँ सम्बभूव।...स वै यज्ञ एव प्रजापतिः।

शतपथ १।७।४।१-४॥

(ख) प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमध्यैदुषसम्॥

(मै० सं० ३।६।५; ४।२।१२॥ (मनुस्मृतिमेधातिथिभाष्येऽपि १।३२)

(ग) स (प्रजापतिः=संवत्सरः=वायुः) आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्। श० ६।१।२।४॥

(घ) प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधावद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। ऐ० ब्रा० ३।३३॥

प्रजापति की इस कथा का वर्णन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २९७ में ऐसा ही है, जैसा कि इन ऊपर के प्रमाणों में है। इस से इस प्रकरण

के इतिहास को ब्राह्मणकार उषा सूर्यादि नित्य पदार्थपरक ही बतलाते हैं। यह इन उपर्युक्त उद्धरणों से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

(२) शतपथब्राह्मण के अष्टम काण्ड के प्रथम तीन ब्राह्मणों में यजुर्वेद अध्याय १३ के ५४-५८ तक के मन्त्रों में आये 'वसिष्ठ' आदि शब्दों का स्वरूप शतपथकार बताते हैं—

(क) वसिष्ठ ऋषिरिति (य० १३।५४ प्रतीक) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद् वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः……। श० ८।१।३।६॥

(ख) भारद्वाज ऋषिरिति (य० १३।५५ प्रतीक) मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं………वाजं भरति तस्मान्मनो भारद्वाज ऋषिः।
श० ८।१।१।६॥

(ग) जमदग्निर्ऋषिरिति। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। श० ८।१।२।३॥

(घ) विश्वामित्र ऋषिरिति। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः।
श० ८।१।२।६॥

(ङ) विश्वकर्मऽऋषिरिति वाग् वै विश्वकर्मर्षिः। वाचा हीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः……। श० ८।१।२।८॥

इन उद्धरणों में "वसिष्ठ" ऐसा यजुः मूल मन्त्र का पाठ है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

वसिष्ठऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः॥
यजु० १३।५४॥

यहाँ पर शतपथब्राह्मण में वसिष्ठ ऋषि का अर्थ प्राण, भरद्वाज का मन, जमदग्नि का चक्षुः, विश्वामित्र का श्रोत्र और विश्वकर्मा का वाग् अर्थ किया गया है। और अपनी ओर से ही वसिष्ठ ऋषि का अर्थ प्राण किया हो यह बात नहीं, अपितु मन्त्र में आये हुए शब्दों का ही क्रमशः व्याख्यान किया गया है। इस सम्पूर्ण प्रकरण को पढ़ जाने से इस में वसिष्ठादि से इन भौतिक पदार्थों का ही ग्रहण किया गया है और कुछ भी नहीं। अतः इस से स्पष्ट है कि—ब्राह्मणकार संहितान्तर्गत वसिष्ठादि शब्दों को व्यक्तिविशेष नहीं मानते। हमको यहाँ यही दिखाना अभिप्रेत है॥

पूर्वोक्त कथन में हरिस्वामी की साक्षी

(क) यद्यपि किञ्चिदनित्यार्थवचनमिव दृश्यमानं ततो वृत्तान्तादर्वाक् प्रवृत्तं वा ग्रन्थस्यांशं कथयति—

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्य इत्यादि तदपि नैरुक्तदिशा प्रवाह-नित्यमेष विद्युदादिव्यवहारवाचित्वेन, ऐतिहासिकदिशां वा सर्ववृत्तान्ता-नामेव शीतोष्णवर्षाद्यावर्त्तवद्यथाकालवर्त्तमानानां अनाद्यनन्तानां वेदेन कर्मकालेऽतीतरूपेण प्रतिपादनाददोषः।

(शतपथ हरिस्वामिभाष्य हमारा हस्तलेख पृ० १४) ॥

(ख) एवमपि (इतिहासदृष्टयाऽपि) व्यवहारमुक्त्वा नैरुक्तदृष्टया प्रत्यक्षमिन्द्रवृत्रव्यवहारं दर्शयन्नाह—

"तद् वा ऐते देवा इति।" अत्र च वृत्रहा आदित्योऽभिप्रेतः। वक्ष्यति हि "तद्वा ह एष एवेन्द्रो य एष तपति" तस्य वृत्रं हनिष्यतो यज्ञमिदमुपाय-भूतं……। (पूर्ववत् पृ० १६०)।

(ग) आधिदैविकं सूक्ष्मार्थं दर्शयति। (पूर्ववत् पृ० ७१)

शतपथब्राह्मण के भाष्यकर्त्ता हरिस्वामी के उपर्युक्त उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि वह विद्युत् आदि प्रवाह से नित्यपदार्थों का इतिहास ही मानते हैं।

उपनिषद् तथा आरण्यक (प्रायः) मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। उनमें तो इस विषय के अत्यधिक प्रमाण मिलते हैं। यहाँ केवल तै० आ० का एक ही स्थल दिया जाता है—

इन्द्र ईश्वरः। मेधातिथिरग्निः। अहल्या वाक्। कुशिकः अग्निः। ऐतिहासिकास्त्वाहुः ॥ भट्टभास्करभाष्य पृ० १०२, १०३॥

इस प्रकार ब्राह्मण तथा आरण्यकों की परम्परा में भी इन इतिहास परक शब्दों का अर्थ नित्य पदार्थों में लगाया है। यही संक्षेप से दिखाना हमारा लक्ष्य था। इस विषय की अतीव मनोग्राही व्याख्या वेदों के प्रौढ़ विद्वान् श्रद्धास्पद श्री पं० शिवशङ्कर जी कृत "वैदिकेतिहासार्थनिर्णय" में देख सकते हैं। यहाँ निरुक्त से सम्बन्ध रखनेवाली बात ही केवल हमने लिखी है।

यास्क के अनुवर्त्ती नैरुक्ताचार्यों की ऐतिहासिक परिभाषा का स्वरूप

यास्क के पश्चात् अनेक आचार्यों ने निरुक्त का व्याख्यान किया, इस

के अनेक प्रमाण मिलते हैं। सामान्यतया प्रसिद्धि तो इतनी ही है कि दुर्ग ने निरुक्त पर टीका लिखी। परन्तु अब विविध महानुभावों की खोज से इस विषय के लगभग ६-७ आचार्यों का ज्ञान हमको प्राप्त हो रहा है, जो निम्न प्रकार है—

(१) निरुक्तवार्त्तिक (इसका वर्णन पूर्व कर चुके हैं)[1]
(२) वर्वर स्वामी (देखो स्कन्द निरुक्त टीका)
(३) स्कन्द महेश्वर
(४) दुर्ग
(५) श्रीनिवास (देखो देवराज यज्वा निघण्टु भाष्य)
(६) नागेशोद्धृत निरुक्तभाष्य (वैयाकरणभूषणे)
(७) वाररुच निरुक्तसमुच्चय

नैरुक्तप्रक्रिया के इतने आचार्यों का हम को इस समय तक पता लगा है। अन्य भी इस प्रक्रिया पर न जाने कितने ग्रन्थ लिखे गये होंगे। परन्तु काल के चक्र और हम भारतवासियों के प्रमाद के कारण न जाने कितने ग्रन्थ नष्ट हो गये तथा इस समय भी पर्याप्त प्रयत्न न होने से नष्ट होते जा रहे हैं।

(८) महाभाष्य पर सबसे प्रथम जो ग्रन्थ लिखा गया, वह "भर्तृहरि" की टीका है, जिसका असली हस्तलेख जर्मनी में है। उसके फोटो दो एक स्थानों पर भारतवर्ष में भी हैं।[2] उसके पृ० ४२ पर निम्न पाठ है।

निरुक्ते त्वेवं पठ्यते। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। तत्रायमर्थः क्रियते—अच्प्रत्ययान्तस्य यो विकार एकदेशस्तमेव भाषन्ते न शवतिं सर्वप्रत्ययान्तां प्रकृतिमिति। भर्तृहरि महाभाष्य टीका पृ० ४२।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भर्तृहरि किसी निरुक्त के भाष्य को लक्ष्य में रख कर ही "**तत्रायमर्थः क्रियते**" ऐसा लिखते हैं। इससे यास्क के पश्चाद्वर्त्ती नैरुक्ताचार्यों की संख्या ८ हो जाती है। इन सब आचार्यों के ग्रन्थ यदि मिल जावें तो यह निश्चय से कहा जा सकता है कि वेद-विषयक अनेक रहस्य खुलें तथा स्वामी दयानन्द जी महाराज की धारणाओं के लिये अधिक से अधिक प्रमाण मिलें।

---

१. अर्थात् पूर्व छपे 'वेद और निरुक्त' नामक निबन्ध में। नीलकण्ठ गार्ग्य रचित निरुक्तश्लोकवार्तिक छप चुका है। रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्राप्य है।

२. पूर्व लाहौर जो अब पाकिस्तान में है, के अतिरिक्त ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट बड़ोदा और गवर्नमेण्ट मेनुस्क्रप्ट लायब्रेरी मद्रास में है।

इन सबके उद्धरण हम प्रकृतविषय में नहीं दे सकते क्योंकि जब ग्रन्थ ही उपलब्ध नहीं तो उद्धरण कहाँ से दिये जा सकते हैं। जो ग्रन्थ मिलते हैं वे तीन ही हैं, प्रथम "वररुचि" आचार्य का "निरुक्तसमुच्चय", द्वितीय स्कन्दस्वामी तथा तृतीय दुर्ग इन दोनों की टीकायें।

आचार्य स्कन्दस्वामी वर्त्तमान में उपलब्ध होनेवाले वेद-भाष्यकारों में सर्वतः प्रथम हैं। अतः ऐसे योग्य आचार्य की निरुक्तटीका को हमें अधिक आदर और सम्मान की दृष्टि से देखना होगा। तथा हमारे प्रकृत विषय में जितनी उपर्युक्त सामग्री हमें स्कन्द की निरुक्तटीका में मिलती है, इतनी कहीं नहीं। अतः इन से पूर्ववर्ती प्राचीन 'आचार्य वररुचि' के "निरुक्तसमुच्चय", जिसको स्वयं स्कन्द ने उद्धृत किया है, का प्रमाण भी हम पीछे प्रस्तुत करेंगे।

स्कन्द स्वामी का काल सन् ६३० निश्चित किया जाता है। दुर्ग के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। पर हम दुर्ग के प्रमाण स्कन्द तथा वररुचि से पीछे देंगे।

स्कन्द स्वामी और वेद में इतिहास

आचार्य स्कन्द स्वामी की निरुक्त टीका पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की ओर से छप चुकी है। मैं कह सकता हूं यदि उक्त ग्रन्थ मुझे प्रकाशन से पूर्व छपे पृष्ठों के रूप में न मिला होता तो मैं निरुक्तसम्बन्धी अपनी सम्पूर्ण धारणाओं को इतने बलपूर्वक इस रूप में आप सज्जनों के सम्मुख न रख सकता।[1]

जिस "देवापि और शन्तनु" की कथा को लेकर विदेशीय तथा एतद्देशीय विद्वान् भ्रम में पड़ जाते हैं, जैसा कि इस लेख के आरम्भ में दर्शाया जा चुका है, इस प्रकरण का कैसा मनोरञ्जक व्याख्यान आचार्य स्कन्द स्वामी करते हैं—

(क) अथवा ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनाम्, अन्तश्चरशत्रूणां सेना समुदायः, स चेन्द्रियाणाम्। एतदुक्तं भवति—विषयाभिलाषवैमुख्यात् कामादिचित्तमलरेषणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य, दूषिता वा प्रेषिता वा गता, पराङ्मुखीभूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य।

स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ७३॥

---

१. यह निबन्ध सन् १९३२ में लिखा गया था। अतः उस समय की दृष्टि से यह पंक्ति लिखी है।

अर्थात् ऋष्टिषेण उसका नाम है, जिसकी इन्द्रियाँ रूपी सेना विषयों से पराङ्मुख पृथक् हो चुकी हों।

(ख) नित्यपक्षे ऋग्द्वयस्यान्यदर्थयोजना आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणो मध्यमं तत्र भवत्वाच्चार्ष्टिषेणो वैद्युतः। तस्य पार्थिवात्मावस्थितस्य होतृत्वेन देवापित्वम्। शिष्टो मन्त्रः पूर्ववद् योज्यः॥ (पृ० ७७)

अर्थात्—"नित्य पक्ष में दोनों ऋचाओं (ऋ० १०।९८।७,८) की भिन्न रीति से अर्थ की योजना करनी चाहिये, जो निम्न प्रकार है—ऋष्टिषेण मध्यम का नाम है। उसमें रहनेवाला मध्यमस्थानी हुआ आर्ष्टिषेण, सो नाम है विद्युत् का। वह जब पार्थिवरूप से अर्थात् पृथ्वी में वर्त्तमान होता है, तब उसका होतारूप से देवापित्व देवापिपन होता है। शेष मन्त्र की योजना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये"।

(ग) देवापिर्विद्युत्। शन्तनुरुदकं वृष्टि-लक्षणम्। यद् यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकं……पूर्ववद् योज्यम्॥

स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ७०।

अर्थात्—देवापि यहाँ विद्युत् का नाम है और शन्तनु उदक=जल का नाम है। वृष्टिरूप जल विद्युत् से ही बरसता है। इस देवापि विद्युत् को मन्त्र में 'पुरोहितः' लिखा है। इसको स्कन्द स्वामी बताते हैं—"**पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्।**" पहले विद्युत् चमकती है तब वर्षा होती है, अतः देवापि-विद्युत् पुरोहित कहलाता है। …आगे पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिये।

(घ) अथवा कश्चिद् राजा जायमानोऽनावृष्ट्या क्षतसेन ऋष्टिषेण उच्यते।

अर्थात्—जिस राजा की सेना अनावृष्टि से हत हो जावे, उसको ऋष्टिषेण कहते हैं।

देवापि-शन्तनु की सारी कथा के नित्य अर्थ की योजना स्कन्द स्वामी ने दर्शा दी, जिससे वेद में इतिहास का निरुक्तकार यास्क का क्या स्वरूप है, यह भली-भाँति ज्ञात हो गया। परन्तु एक इस कथा की योजना सङ्गति (जिसको आज-कल के हतबुद्धि लोग खींचातानी बतलाते हैं) लग जाने से सम्पूर्ण निरुक्तशास्त्र की कथाओं, यद्वा वेद में आये हुये ऐसे सर्वस्थलों का समाधान नहीं हो जायगा, ऐसी आशङ्का को मन में

रखकर ही आचार्य स्कन्दस्वामी ने सुहृद होकर इतिहास की परिभाषा का स्वरूप कैसे उत्तम शब्दों में दर्शाया है—

(ङ) **एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति (नि० २।१६)—तत् को वृत्रः, मेघ इति नैरुक्ताः इत्यादि। मध्यमञ्च माध्यमिकां च वाचम् इति नैरुक्ताः (निरु० १२।१०)। रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयत इति। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।** स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ७८॥

अर्थात्—"इसी प्रकार जिन-जिन मन्त्रों में आख्यान इतिहास का स्वरूप वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त है, जैसा कि आगे आचार्य (यास्क) कहेंगे। वृत्र कौन है? नैरुक्तों के मत में वृत्र का अर्थ है मेघ। (सरण्यू से एक जोड़ा पैदा हुआ—यम और यमी) ये यम और यमी नैरुक्तों के मत में विद्युत् और माध्यमिक वाक् के नाम हैं। ऐतिहासिकों के मत में इसका अर्थ यम यमी कहा गया है। इत्यादि······**मन्त्रों में इतिहास, आख्यान का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है। वास्तव में तो नित्य पक्ष ही मन्त्रों का विषय है**"।

हमारे विचार में इससे बढ़कर और स्पष्ट साक्षी क्या हो सकती है? केवल "देवापि और शन्तनु" को विद्युत् और जल बना कर इन मन्त्रों या सूक्त की ही सङ्गति नहीं दिखाई, अपितु इस विषय में सारे निरुक्त-शास्त्र का सिद्धान्त भी प्रतिपादित कर दिया। "**एष शास्त्रे सिद्धान्तः, परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्**" क्या ये उद्धरण कुछ भी टिप्पणी की अपेक्षा रखते हैं?

निरुक्तसमुच्चय

अत्यन्त प्रसन्नता तथा आश्चर्य की बात है कि '**वररुचि**' आचार्य के हस्तलिखित ग्रन्थ[1] "निरुक्तसमुच्चय" (जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है)

---

१. जब सन् १९३२ में यह लेख लिखा गया था, तब तक यह ग्रन्थ छपा नहीं था। इसकी एक ही हस्तलिखित मूल प्रति मद्रास में है, उसी की प्रतिलिपि श्री पं० भगवद्दत्त जी ने लालचन्द पुस्तकालय लाहौर में मंगाई थी। उससे हमने प्रतिलिपि की थी।

में भी आचार्य स्कन्दस्वामी के उपर्युक्त शब्द पूर्वलेख के ही सर्वथा अनुरूप अर्थात् एक जैसे मिलते हैं। यह ध्यान रहे कि इस 'निरुक्तसमुच्चय' ग्रन्थ को स्कन्दस्वामी ने निरुक्तटीका में उद्धृत किया है। लेख निम्न प्रकार है—

औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः॥ (पृ० ७१)[1]।

अर्थात्—मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जायगा। परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही (ठीक) है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

सर्वथा स्कन्दस्वामी जैसे ही ऊपर के शब्द हैं, जैसे दोनों ने सम्मति कर के ही लिखे हों। यह है वेद में इतिहास विषय की नैरुक्तों की परिभाषा का स्वरूप। इन दोनों प्रमाणों से सिद्धान्त-रूप से ऐतिहासिकपक्ष का औपचारिकत्व गौणत्व सूर्य-प्रकाश की भाँति सिद्ध है। हम समझते हैं पक्षपातरहित विद्वानों को नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को मानने में अब यत्किञ्चित् भी ननु नच न होगी। हाँ, जो इस पर भी न मानें उनके लिये तो कहा ही है—

"ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति"

अब हम विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ इन दोनों ग्रन्थों के आवश्यकीय कुछ स्थल और उपस्थित करते हैं, जिससे यदि कोई कहे कि न जाने एक आध स्थल प्रक्षेप ही हो गया हो या कुछ और, इस विचार को भी कुछ स्थान न रह जावे—

आचार्य वररुचि के शेष स्थल

(क) ऊपर वाले उद्धरण से पूर्व ऋ० १०।९५।१४ **"सुदेवोऽद्य"** के व्याख्यान में—

एवमितिहासपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरुरवा मध्यमस्थानः वाय्वादीनामेकतमः पुरु रौतीति पुरुरवा, उर्वशी विद्युद् विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुते दीव्यत इति उर्वशी वर्षाकाले विद्युति .....। (निरुक्तसमुच्चय पृ० ७१)।

यहाँ पुरुरवा को मध्यमस्थानी और उर्वशी को विद्युत् बताया।

१. यह ग्रन्थ ओरियण्टल मेगजीन लाहौर की पत्रिका में सन् १९३९ में छपा था। उसका पुनः संस्करण १९६५ में छपा है। पृष्ठसंख्या लाहौर संस्करण की दी गई है। यु० मी०

(ख) ओ चित् सखायं सख्या ववृत्याम्...। ऋ० १०।१०।१।।

प्रथमं तावदैतिहासिकमतानुसारेणायं मन्त्रो व्याख्यायते.........एवमैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः (निरु० १२।१०) यमी मध्यमस्थाना वाक्। यमश्च मध्यमस्थानः। सा यमी वर्षाकाले मध्यमस्थानाभिमुख्येन सखायं सहस्थानयोगात्......एवं नित्यत्वाविरोधेन योज्यम्।

(निरुक्तसमुच्चय पृ० ७३)

(ग) अथाभिव्यक्त्यर्थं प्रथमं तावदाख्यानं प्रस्तौति।

(निरुक्तसमुच्चय पृ० ६६)।

अर्थात्—यमयमी मध्यमस्थानी हैं। वेद के नित्यत्व में विरोध न आवे, इस प्रकार योजना कर लेनी चाहिये।

अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आख्यान (इतिहास) प्रस्तुत करते हैं।

ये सब प्रमाण भी आचार्य 'वररुचि' की वेद में इतिहास की परिभाषा-भावना के स्वरूप को विस्पष्ट दर्शा रहे हैं।

स्कन्दस्वामी के शेष स्थल

स्कन्दस्वामी के शेष कुछ आवश्यक स्थल और देते हैं—

'गङ्गा' के उपर्युक्त देवापि-शन्तनु प्रकरण पर हमने संक्षेप से स्कन्दस्वामी का समाधान दिया है। इस विषय पर कभी फिर विशेष रूप से विचार किया जायगा।

अब इस प्रकरण के आरम्भ में दिये हुए पूर्वपक्ष वाले लेख के दूसरे स्थल "प्रियमेधवदत्रिवत्........" को उठाते हैं, जिससे पूर्वपक्षी लेखक महोदय तथा ऐसे ही अन्य विदेशीय तथा एतद्देशीय विद्वान् कहते हैं कि "हमें यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए कि इस मन्त्र में आये हुए सब (प्रियमेध, अत्रि, जातवेदः, विरूप, अङ्गिरस, प्रस्कण्व) नाम यास्क के अनुसार ऋषियों के ही हैं (गङ्गा वेदाङ्क १९३२ पृ० २६८,२६९)।

सो इस पर हम स्कन्दस्वामी का लेख उद्धृत करते हैं—

(१) नित्यपक्षे तु सततप्रवृत्तयज्ञः कश्चिद्यजमानः प्रियमेध उच्यते, तथा भृग्वादयोऽपि यजमानविशेषा एव। भृगुः पञ्चतपःप्रभृतिना तपसा भृज्यमानोऽपि देहे। गार्हपत्योपायित्वादिना अङ्गारेषु वसतीत्यङ्गिराः।

श्रवनाद् भक्षणाद् रागादीनां दोषाणामत्रिः। विविधं खननाद् वेदार्थ-वस्तूनां वैखानसः। वैरूप्यात् तपसा विरूपः। यथैतेषामृषीणाम् दर्शनाद् ऋषयः। प्रस्कण्वः कण्वस्य मेधाविनः पुत्रः। एकवाक्यता तु पूर्ववद् योजनीयेति। (स्कन्द नि० टी० भा० २ पृ० १८०)।

अर्थात्—"नित्यपक्ष में प्रियमेध किसी यज्ञ में निरन्तर प्रवृत्त रहने वाले यजमान का नाम है। इसी प्रकार भृगु आदि भी यजमानविशेष ही हैं। गार्हपत्य अग्नि के उपाय में लगने के कारण अङ्गारों में रहने से (यजमान) 'अङ्गिराः'। रागादि दोषों के खा जाने (नष्ट कर देने) के कारण 'अत्रिः'। वेद के अर्थरूप तत्त्वों की खोज करनेवाला होने के कारण वैखानस। विविरूप वाले से विरूप। जैसे इन ऋषियों को—(वेदार्थादि का) दर्शन करने ऋषिः। (ये सब ऊपर यजमानविशेष कहे गए हैं)। प्रस्कण्व कण्व का पुत्र, कण्व नाम है मेधावी बुद्धिमान् का, उस का पुत्र। एकवाक्यता पूर्ववत् समझ लेनी चाहिये"।

कैसा उत्तम अर्थ है। कहाँ इतिहास और कहाँ यह उत्तम अर्थ। कहाँ पूर्वपक्षी की घोषणा कि यास्कप्रदर्शित ये नाम ऋषियों के ही हैं। देखिये ऊपर वाले लेख में तो स्पष्ट "**यजमान-विशेषाः**" ही लिखा है। इसी से शास्त्र कहता है—"**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदः**"।

यहाँ हम एक बात प्रसङ्गतः और कहना आवश्यक समझते हैं, वह यह कि ऐसा अर्थ स्वामी दयानन्द ने किया होता तो और तो और कोई-कोई विद्वान् कहलानेवाले मनचले आर्य भी झट स्वामी दयानन्द पर खींचातानी का दोष आरोपित कर देते। पर्याप्त विद्या न होने से अथवा अनार्षपद्धति का ही अनुसरण करते रहने से ऐसे लोगों की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। जब इन को सायण या किसी दूसरे का अर्थ दिखा दिया जाता है, तब ऐसे लोग एक दम शान्त हो जाते हैं। उस समय इन लोगों को उसी अर्थ में (जिसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते थे) सुसङ्गति, सुसम्बद्धता, सोपपन्नतादि प्रायः सम्पूर्ण गुण दीखने लग जाते हैं!!! ऐसे लोगों को वेदार्थ क्या कभी समझ में आ सकता है? चाहे ऐसे लोग आर्यसमाज में कुछ भी क्यों न बने रहें, पर इन से आर्यसमाज को लेश-मात्र भी लाभ नहीं हो सकता। हाँ, हानि तो अकथनीय हो ही रही है।

इस ऊपर वाले "प्रियमेधवत्........."ऋ० १।४५।३ मन्त्र का ऋषि दयानन्द का किया हुआ अर्थ भी दिये देते हैं—आश्चर्य और प्रसन्नता

की बात है—स्वामीजी महाराज ने इस मन्त्र का अर्थ लगभग वैसा ही किया है, जैसा कि आचार्य स्कन्द स्वामी ने।

(प्रियमेधवत्) प्रिया तृप्ता कमनीया प्रदीप्ता मेधा बुद्धिर्यस्य तेन तुल्यः। (अत्रिवत्) न विद्यन्ते त्रय आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकास्तापा यस्य तद्वत् (जातवेदः) यो जातेषु पदार्थेषु विद्यते सः (विरूपवत्) विविधानि रूपाणि यस्य तद्वत् (अङ्गिरस्वत्) योऽङ्गानां रसः प्राणस्तद्वत् (महिव्रतः) महि महद् व्रतं शीलं यस्य सः (प्रस्कण्वस्य) प्रकृष्टश्चासौ कण्वो मेधावी (श्रुधी) शृणु.........। यास्कमुनिरेवमिमं मन्त्रं व्याख्यातवान्......। (ऋ० १।४५।३ भा०)।

यह अर्थ स्कन्दस्वामी के अर्थ के समान ही है। अत्रि का अर्थ कोई ऋषि-विशेष नहीं, अपितु जिसने रागादि दोषों का नाश कर दिया हो, जिस में ये दोष न रहें। यद्वा जिसके तीनों प्रकार के दुःख न रह जावें, वह 'अत्रि'। 'कण्व' किसी ऋषिविशेष(Proper Name) का नाम नहीं अपितु मेधावी का नाम है, ऐसा अर्थ दोनों आचार्यों ने किया है।

निरुक्त के इस स्थल के अन्य प्रकरणों के समान आज कल के प्रायः सभी अध्ययन-अध्यापन करनेवाले "ऋषिविशेष" अर्थ के रूप में ही पढ़ते-पढ़ाते हैं। उसी का अर्थ स्वामीजी ने किया है–"**न विद्यन्ते त्रय आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकास्तापा यस्य तद्वत्**" अर्थात् जिसके आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों ताप न रहें, वह अत्रि कहलाता है। स्कन्दस्वामी ने इसी 'अत्रि' शब्द का अर्थ "अदनाद् भक्षणाद् रागादीनां दोषाणामत्रिः" अर्थात् जिस ने रागादि दोषों का अदन, भक्षण अर्थात् इनको खा लिया, नष्ट कर दिया हो, जिस के रागादि दोष न रहें, वह "अत्रि" कहलाता है।

पाठक स्वयं विचारें कि यदि यहाँ 'अत्रि' का अर्थ ऋषिविशेष होता, तो प्रकृतिप्रत्यय का सम्बन्ध दर्शाने की आवश्यकता ही क्या थी। सीधा 'अत्रि नाम का ऋषि' अर्थ कर सकते थे। ऐसा नहीं करने से स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी इन शब्दों को व्यक्ति-विशेष (Proper Names) नहीं मानते।

"अत्रि" आदि का जो अर्थ दिखाया है, वह है यौगिकप्रक्रिया की कृपा, जिसका आश्रयण करके आचार्य दयानन्द ने समग्र संसार को उपकृत किया। और देखिये! स्वामीजी ने निरुक्त का भी वही स्थल उद्धृत

किया है, जिस में आज कल के विद्वान् कहलानेवालों को इतिहास ही दीखता है। दयानन्द को उसी में इतिहास की गन्ध भी नहीं दीखती। इसी से हम उस महात्मा दयानन्द को ऋषि, प्रत्यग्दर्शी कहते हैं। इसी से हम उसको अपनी नौका का लङ्गर मानते हैं।

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् ।।

हम जितना भी दयानन्द का अधिक अध्ययन करेंगे, उतना ही अधिक उनको पायेंगे। स्कन्द के अन्य स्थल भी मनोरञ्जक हैं, अतिसंक्षेप से उन्हें भी दे देते हैं—

(२) सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलभूताः । ते चान्यपरा विधिशेषभूताः । अतस्ताननावृत्य स्वयमविरुद्धं निरुक्तदर्शनमुपोद्बलयन्नाह—मेघ इति……तत्र मुख्ययुद्धसम्भवाभावादौपचारिकी उपमालक्षणार्थेन युद्धवर्णना । किं सादृश्यम् ? सङ्घर्षः । तस्मादसति युद्धे कल्पनैषा तथा च कल्पितरूपा मन्त्रवर्णा मन्त्रलिङ्गाः ।।

(स्क० नि० टी० भा० २ पृ० ७३)।

अर्थात्—"सम्पूर्ण इतिहास अर्थवादमूलक हैं। वे अन्यपरक हैं अर्थात् विधि और प्रतिषेध के शेषभूत हैं, उनका सामान्यरूप से प्रतीयमान स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। इसी से (यास्क ने) इनको आदर न देकर स्वयं वेद से अविपरीत सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर कहा कि नैरुक्तों के पक्ष में वृत्र का अर्थ मेघ है।

यहाँ (=वर्षारूपी कर्म में) मुख्य युद्ध की सम्भावना के अभाव में युद्ध की औपचारिक अर्थात् उपमारूप से कल्पना है। उसमें सादृश्य क्या है ? सो सङ्घर्ष का होना ही सादृश्य है। इसलिए युद्ध न होते हुए भी यह युद्ध की कल्पना है। इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ भी मन्त्रों का वर्णन हो, वहाँ मन्त्र के लिङ्गानुसार कल्पना कर लेनी चाहिए"।

(३) पूर्वपक्षी ने 'त्रित' को भी इतिहास बताया है—प्रकृत मन्त्र निम्न प्रकार है—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः । मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी ।। ऋ० १।१०५।८।।

पूर्वपक्षी कहता है कि निरुक्त के इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क ने लिखा है—

त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ ।

स्कन्दस्वामी लिखते हैं—

नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः, कर्मपाशैस्त्रिः स्वर्गनरकमर्त्त्येषु बद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गमनाप्नुवन् नरके घटीयन्त्रवद् संघटिते सारे बम्भ्रम्यमाणः परिदेवयाञ्चक्रे। सन्तापयन्ति मां पुनर्मातुरुदरे मग्नमशुचिप्रस्तरके पुरीषजन्तुजालके यकृल्लोमावष्टम्भादविभक्तोच्छ्वासं बीभत्समानमसृक्पङ्कमध्यशायिनं तमसि निरालोके संवर्त्तमानमभितो मातुः पर्शव इव तत्रस्थस्य च मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः सम्यग् दर्शनविषयाः कामा असम्पद्यमानाः। परं समानयोजनम्…।
(स्कन्द नि० टी० भा० २ पृ० २१०, २११)।

भाव यह है कि "नित्यपक्ष में त्रित नाम है किसी 'क्षेत्रज्ञ' (जीव) का। जो कर्मपाशों के द्वारा स्वर्ग, नरक और मर्त्त्यलोक इन तीनों में तीनों बार बन्धता है (अर्थात् आता जाता है)। कर्म और ज्ञान के समुच्चय के न होने से मोक्ष को प्राप्त न होता हुआ घटीयन्त्र की भाँति सदैव चलते रहनेवाले संसार में भटकता हुआ दुःखित हुआ अपवित्रता से पूर्ण, मल के आगार, माता के उदर में मग्न हुए यकृल्लोमादि में फँसे, जिसका श्वास भी ठीक अवस्था में नहीं, गर्ह्य, रक्तरूपी पङ्क में फँसे, घोर अन्धकार में पड़े, मुझको असम्पद्यमान (अपूर्ण) कामनायें मूष (चूहे) की भाँति काटती चली जा रही हैं……इत्यादि आगे पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिए।"

यहाँ 'त्रित' का अर्थ माता के गर्भ में पड़ा जीव, ऐसा स्कन्दस्वामी करते हैं।

(४) अब हम इन प्रमाणों को छोड़ते हैं, केवल तत्-तत् शब्द का अतिसंक्षेप से निर्देश करना ही उपयुक्त होगा—

(क) भा० २ पृ० २५३ पर "अदितिः" का अर्थ 'प्रकृतिः' किया है।

(ख) भा० २ पृ० २७४ पर 'यम' को आदित्य और 'यमी' को रात्रि लिखकर यमयमीसूक्त की सङ्गति लगाई है। [1]यमयमीसूक्त के इस प्रकरण के सम्बन्ध में स्कन्दस्वामी का लेख निम्न प्रकार है—

---

१. ऋषि दयानन्द ने यमयमी सूक्त के पूर्वार्ध का विषय जलविद्या वर्णन माना है। उत्तरार्ध का प्रश्नोत्तर-विद्या। द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द कृत 'चतुर्वेद-विषय सूची'। यह ग्रन्थ अभी सन् (१९७३) तक अप्रकाशित श्रीमती परोपकारिणी सभा के संग्रह में पड़ा है। यु० मी० [अब यह ग्रन्थ छप गया है।]

नित्यपक्षे तु काचिद् ब्राह्मणी पत्यौ प्रव्रजिते कामार्त्ता प्रब्रवीति इति योज्यम् ।

अर्थात्—नित्यपक्ष में इस यमयमी सूक्त में कोई ब्राह्मणी पति के परिव्राजक होने पर कामार्त्त हुई कहती है—ऐसी योजना कर लेनी चाहिये ।

यहाँ इतना ध्यान रहे कि यहाँ का पाठ कुछ व्यस्त सा है । हमने मुद्रित पाठ के अनुसार ही लिखा है । अन्य हस्तलेख मिलने पर इस पर और विचार हो सकता है । परन्तु ऊपर भी मन्त्र यमयमी का ही है, अतः हमने इसको यहाँ लिखा है । विद्वान् इस पर और विचार करें ।

(ग) भा० २ पृ० ३४५, ३४६ पर **'उर्वशी'** का अर्थ **'विद्युत्'** किया है ।

(घ) भा० २ पृ० ४२४ पर **'कक्षीवन्तं य औशिजः'** पर निम्न प्रकार लेख है—

न ऋषिनाम । चोपमानम् । किं तर्हि ? आत्मनो विशेषणम् । उशिक् शब्दोऽपि मेधाविनाम········उशिजश्च मेधाविनः कण्वस्य पुत्रः ।

अर्थात्—'कक्षीवान् ऋषि का नाम नहीं, और न ही उपमा है । तो फिर क्या है ? आत्मा का विशेषण है । उशिक् शब्द भी मेधावी का नाम है । उशिग् मेधावी कण्व बुद्धिमान् का पुत्र' ।

स्कन्दस्वामी के इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि निरुक्त में जो इतिहास है, वह सब औपचारिक है, गौण है । अनित्य व्यक्तियों (Proper names) का इतिहास नहीं । यही मत 'निरुक्त-समुच्चय' का भी है ।

दुर्गाचार्य और इतिहास

दुर्ग ने यद्यपि निरुक्त के अनेक स्थलों में ऐतिहासिकपक्ष की पर्यालोचना बहुत उत्तम रीति से की है, परन्तु जिस स्पष्टता से आचार्य स्कन्दस्वामी ने नैरुक्तों की ऐतिहासिक परम्परा को सूर्य के प्रकाश की भाँति व्यक्त कर दिया है, वास्तव में उसको देख कर अब विज्ञ-पाठकों को आचार्य दुर्ग की इतिहास-विषयक धारणा को अवगत करने में कुछ भी कठिनता न होगी । यद्यपि दुर्ग की टीका में बहुत ही उत्तम-उत्तम स्थल विद्यमान थे, परन्तु स्कन्द की निरुक्त टीका के प्रकाशन से पूर्व इतनी प्रबलता से वेद के इतिहास का समाधान विस्पष्ट रीति से नहीं हो सका, इस बात को निरुक्त के पढ़ने पढ़ानेवाले सभी अनुभव करेंगे ।

हमारे विचार में यहाँ इतना और ध्यान में रहे कि यद्यपि स्कन्द और दुर्ग अपने काल की उन रूढ़ियों से बच नहीं सके, जो उनके काल में वेदार्थ के विषय में प्रचलित थीं (यह बात स्थान-स्थान पर इनके मन्त्रार्थ के देखने से ही ज्ञात हो जाती है), परन्तु यह सब होने पर भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि इन दोनों आचार्यों के काल तक निरुक्त की परम्परा कुछ सीमा तक उत्तम रीति से चली आ रही थी। मेरे विचार में तो स्कन्द ने १०० में ७५ हमारे समाधान कर दिये हैं। लगभग इतना ही दुर्ग ने भी हमारे लिये निरुक्त की प्रक्रिया का मार्ग कण्टक-रहित कर दिया है। शेष उनकी धारणा को तो हम भी सर्वांश में नहीं मानते। परन्तु इनके इतने महान् उपकार के लिए हमें इनका अतीव कृतज्ञ होना चाहिए।

अब सज्जनों के सम्मुख इतिहास विषय की दुर्ग की धारणा रखते हैं—

(क) तत्र एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविदः। इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण यः कश्चिद् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थं आख्यायते दिष्ट्युदितार्थविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः तदर्थप्रतिपत्तृणामुपदेशपरत्वात्। (निरु० १०।२५ दुर्ग टी० पृ० ७५४ बम्बई संस्करण)।

अर्थात्—"यह ऋचा आत्मगति को कहती है। इस **'विश्वकर्मा भौवन'** के विषय में आत्मज्ञानी इतिहास बतलाते हैं, जो कोई भी अर्थवाद रूप से इतिवृत्त का व्याख्यान करते हैं, जो कोई भी आध्यात्मिक आधिदेविक आधिभौतिक अर्थ (दिष्टयुदितावभासनार्थं) ज्ञान के उदय (प्रकाश) होने के लिये प्रख्यात किया जाता है, वही इतिहास कहलाता है।

सो यह सब प्रकार का इतिहास निःसंशय नित्य तथा अविवक्षित-स्वार्थ होता है अर्थात् अपने मुख्य इतिहासार्थ को नहीं कहता। क्योंकि वह केवल उस अर्थ को जाननेवाले लोगों के लिये केवल उपदेशपरक (उपदेश मात्र) ही होता है (वास्तव में वह कोई इतिहास नहीं होता)।"

(ख) यथो एतत् पौरुषविधकैर्द्रव्यसंयोगैरिति। एतदपि तादृशमेव औपचारिकं रूपकमात्रमित्यर्थः। यथैव हि आस्यादिकल्पना दृष्टव्यभिचारित्वाद् ग्रावप्रभृतिषु न सम्भवति, रूपकमात्रं स्तुत्यर्थं सङ्कल्पतो बाह्वादिकार्यसिद्धिः। एवं हरिरथजायादिस्तुतयो रूपकमात्रमिति।......न चास्यां स्तुतौ यथाभूतार्थत्वोपपत्तिरस्ति, असम्भवात्। कथमसम्भवः? नह्यु द-

कात्मिकाया नद्या वहन्त्या रथेऽवस्थानं सम्भवति······तदेवमादिष्वसम्भवात् मुख्यार्थकल्पनायाः सर्वत्र रूपकप्रवादाः स्तुतय इत्युपेक्ष्यम् ॥
(निरु० ७।७ दुर्ग टी० पृ० ५६९)।

अर्थात्—"मूल निरुक्त में जो '**यथो एतत्-पौरुषविधकैर्ङ्ग व्यसंयोगैः**' यह कहा कि पुरुष सदृश अङ्गों से स्तुति की जाती है अतः ये देवता चेतन हैं ···यह भी वैसा ही है। अर्थात् औपचारिक रूपक है। जिस प्रकार ग्रावादि में आस्यादि (मुखादि) की कल्पना सम्भव नहीं, अपितु, स्तुति के लिये रूपकमात्र होती है, कल्पना से ही बाहु आदि कार्यों की सिद्धि होती है, न कि वास्तविक (शृणोत ग्रावाण इत्यादि में)। इसी प्रकार इन्द्र के हरि रथ जायादि की स्तुतियाँ रूपकमात्र हैं, वास्तविक नहीं······इस स्तुति में यथा-भूतार्थ (सचमुच) ऐसा कथन नहीं। क्यों? असम्भव होने से। असम्भव कैसे? जल रूप चलती हुई नदी का रथ में बैठना सम्भव नहीं इत्यादि।"

कितना स्पष्ट लेख है; जिस पर कुछ भी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना और ध्यान रहे कि महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने **धातोः कर्मणः समान०** (अ० ३।१।७) सूत्र के भाष्य में '**सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्**' सारे पदार्थों में चेतनवदुपचार मानकर '**शृणोत ग्रावाणः**' यह उदाहरण दिया है, इतना ही नहीं, किन्तु '**दामहायनान्ताच्च**' (अ० ४।१।२५) के भाष्य में तो '**अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः**' स्पष्ट ही लिखा है, जिस से यह सब औपचारिक है, यह स्पष्ट सिद्ध है। इसी प्रकार शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष अनावृष्टि भी तो असम्भव ही है। अतः यहाँ भी औपचारिक ही कथन है।

(ग) तत्रैवं सति आत्मविद आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वैकमात्मानं पश्यन्ति। तथा नानात्वंकत्वे नैरुक्ता इति त्रित्वे। तथा त्रित्वैकत्वे याज्ञिका नानात्वे एवमेषामविरोधः।

अस्ति हि शब्दार्थयोर्वक्तृप्रतिपत्तृवशेन तद्बुद्ध्यपेक्षयान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्त्तितुं शक्तिः। न तु स्वाभाविकमभिधानाभिधेयसम्बन्धमकृतकमप्रच्यवमानावभिधानाभिधेयौ जहीतः। न ह्यग्नेरवभास्यं प्रत्यवभासनशक्तिरवभास्यस्य चावभास्यमानताशक्तिर्व्यवधानमन्तरेण विहन्यते। नह्यकृतकं स्वयमप्यधीतको विकल्पते वैदिकानां पदवाक्यप्रमाणानाम्॥ आत्मभावानुशयवशेनात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिका वेदस्याविपर्यासिनीमप्यध्यात्माधिदेवाधियज्ञविषयनियताम् अर्थाभिधानशक्ति विपर्यासिनीमिव

मन्यमानाः परस्परतो विपर्यस्यन्ते। तदेतत्सर्वथापि भेदाभेदवर्त्ति देवतासतत्त्वं यथाग्रहं वक्तृप्रतिपत्तृवशेन प्रख्यातिमुपनयत् स्तुतिरूपकेणात्मनोऽर्थसतत्त्वं तथाभूतं मन्त्रैराविष्क्रियते। तदुक्तं—'तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति' दर्शितञ्चैतन्मन्त्रेण 'न त्वं युयुत्से······' इति। निष्ठितरूपत्वेन स्वे स्वे विषयेऽध्यात्मादौ परमार्थतया ऐकात्म्ये निष्ठा तदन्तत्वाद् वाचः। तदुक्तम्·········यतो वाचो निवर्तन्ते·········।

(निरु० ७।५ दुर्ग टी० पृ० ५६३)।

यह समग्र स्थल बड़ा ही उत्तम है। बहुत लम्बा होने से सम्पूर्ण का अर्थ न कर भावमात्र ही लिखा जाता है—

आध्यात्मिक नैरुक्त-याज्ञिक आदि पक्षों में परस्पर विरोध नहीं। कथन के प्रकार का भेद मात्र है·········इन वादों में शब्द और अर्थ की शक्ति वक्ता और प्रतिपत्ता (बोद्धा) के बुद्धिवैशद्य के भेद से भिन्न-भिन्न है। स्वाभाविक नित्य अकृतक अभिधानाभिधेय सम्बन्ध को शब्द और अर्थ नहीं छोड़ते। आत्मा के अपने-अपने भावों के अधीन नैरुक्त-अध्यात्मवादी और याज्ञिकलोग वेद की कभी विपरीत (विरुद्ध) न होनेवाली अध्यात्म-अधिदेव-अधियज्ञविषयक नियमवाली अभिधानशक्ति को (विपर्यासिनीमिव) परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध सी होती हुई मानते हुए भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करते हैं।

·········यह सब (यथाग्रह) अपने-अपने ज्ञानानुसार (वक्तृप्रतिपत्तृवशेन) वक्ता और ज्ञाता की विद्याशक्ति के भेद से होती हैं। इसी से यास्क मुनि ने कहा—

तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

इसी को मन्त्र बताता है। भिन्न-भिन्न विषयक मन्त्र होते हुए भी परमार्थ से (प्रधानतया) उनकी एक 'ब्रह्म' में परिसमाप्ति है क्योंकि वाणी की परिसमाप्ति भी अन्ततोगत्वा उसी में होती है। जैसा कि उपनिषद् में कहा—**'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**।

दुर्ग के ये शब्द ऋषि दयानन्द की वेदसम्बन्धी धारणा को पुकार-पुकार कर सर्वांशेन पूर्णरीति से पुष्ट कर रहे हैं। इसको विज्ञ महानुभाव भली प्रकार समझ सकते हैं।

(घ) ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता····· ···॥

(निरु० १०।१०)

इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य का लेख निम्न प्रकार है—

अतश्च दर्शयति मन्त्राणामैतिहासिकोऽप्यर्थं उपेक्षितव्योऽसावपि तेषां विषयः । (निरु० १०।१० दुर्ग टी० पृ० ७२२) ।

अर्थात्—यास्क के '**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।**' का यही अभिप्राय है कि मन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ भी होता है। वह भी उन का विषय होता है । यहाँ 'अपि' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है ।

जिन मन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ दर्शाया जाता है, उनका अन्य भी अर्थ है, यह दुर्ग के लेख से स्पष्ट है । दुर्ग के शब्दों में यास्कमुनि को यह अभिमत है कि मन्त्रों का नित्य ऐतिहासिक अर्थ भी होता है।

यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि यह सब इतिहास औपमिक है, तथा नित्यपदार्थों का वर्णन गौणतया औपचारिकरूप से वर्णित है, यह दुर्ग का मत है ।

दुर्ग के शेष स्थल

अब हम दुर्गाचार्य के भिन्न-भिन्न उपयोगी स्थल अतिसंक्षेप से दर्शाते हैं । जिससे यह भली प्रकार व्यक्त होता है कि वे वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास न मान कर वेद के अर्थ को नित्य मानते हुये नित्य इतिहास का ही प्रतिपादन करते हैं—

(क) 'सरमा' का अर्थ निरुक्त में **देवशुनी**=देवताओं की कुतिया लिखा है । निरुक्त का लेख इस प्रकार है—

देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम् ।

निरु० ११।२५॥

दुर्ग कहते हैं—

इत्याख्यानविद एवं मन्यन्ते । वाक्पक्षे तु चिरकालीनवृष्टिव्युपरमे कदाचिदभिनवमेघसंप्लवे सहसैव स्तनयित्नुमुपश्रुत्य कुत इयं माध्यमिका वाक् चिरेणागतेति विस्मितस्तामसूयन्निव ब्रवीति·········किमिच्छन्ती सरमा·········

(ऋ० १०।१०८।१ निरु० ११।२५ दुर्ग टी० पृष्ठ ७६५)

यहाँ 'सरमा' का अर्थ **मध्यमस्थानी वाक्** किया है ।

(ख) **युद्धवर्णा भवन्ति । युद्धरूपकाणीत्यर्थः । नह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति । नहीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति ।**

(निरु० २।१६ दुर्ग टी० पृ० १४५) ।

(ग) निरुक्तपक्षे ऋष्टिषेणो मध्यमः शन्तनवे सर्वस्मै यजमानाय।
(निरु० २।१२ दुर्ग टी० पृ० १३४)

(घ) मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेरध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेऽव-वस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते। (निरु० ४।१६ दुर्ग टी० पृ० ३१५)

(ङ) पृ० ३६५—'उर्वशी का अर्थ विद्युत् पूर्ववत् किया गया है।'
(निरु० ५।१३ दुर्ग टी० पृ० ३६५)।

(च) कोऽयमग्निः।………आत्मा इत्यात्मविदः।……अविवक्षित-स्थानविशेषो निर्ज्ञाततदभिधानो देवताविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः। विवक्षितविशिष्टस्थानकर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽयमग्निरिति नैरुक्तसमयः………आत्मवित्पक्षे तु सर्वमभिधान-मात्मार्थमेवेति सर्वावस्थं………विभूतितादूभाव्यमनुभवतीति सर्वपद-व्युत्पत्तिप्रयोजनम्॥ (निरु० ७।१४ दुर्ग टी० पृ० ५६०, ५६१)।

अर्थात्—"अग्नि कौन है? आत्मविदों के मत में 'अग्नि' का अर्थ है आत्मा। याज्ञिकों के मत में अग्नि' यज्ञकर्म का अङ्गभूत है। नैरुक्तों के मत में उसको पार्थिव अग्नि कहा गया है। अध्यात्मपक्ष मे तो यह सब कुछ कथन-उपकथनादि आत्मा के लिये ही है। सब में स्थित हुई 'आत्मा की विभूति को अनुभव करता है, सब पदों की व्युत्पत्ति का यही प्रयोजन है।"

दूसरे शब्दों में 'अग्नि' आदि शब्दों की प्रकृतिप्रत्यय की विविध कल्पना द्वारा व्युत्पत्ति—निर्वचन, जो यास्क ने दिखाया है और जो इस ग्रन्थ का मुख्य ध्येय है, वह इन 'अग्नि' आदि शब्दों से एक 'आत्मा' का अर्थ संघटित करने के लिये ही है।

यहाँ पर कुछ अविवेकी लोग—व्याकरण तथा निरुक्त की प्रक्रिया को न समझते हुए, 'अग्नि' शब्द की व्युत्पत्ति—

अग्निः कस्माद्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेह-यति॥………इतादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्।……… इत्यादि।
(निरु० ७।१४)।

इत्यादि यास्क के लेख पर कहते हैं कि यास्क को स्वयं निश्चय नहीं था कि कौन से धातु से अर्थ करूँ। सन्देह में अनेक धातु गिना दिये।

दुर्ग इसका उत्तर देता है—

सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति·····सर्वावस्थं विभूतिताद्भाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनम् । (दुर्ग टी० पृ० ५६१)

अर्थात्—"सब पदों की व्युत्पत्ति वा निर्वचन करना सब अभिधान (कथन) को एक आत्मा में संघटित करने के लिये होता है"।

यही तो यौगिकप्रक्रिया है। नैरुक्त परम्परा के जाननवाले आचाय इसको कितना महत्त्व देते चले आ रहे हैं। इसी को आधार बता कर ऋषि दयानन्द ने तमआच्छादित वेदार्थ को संसार के आगे रखा। इसके विना और कोई प्रक्रिया हो ही नहीं सकती, जिससे वेदत्व सिद्ध हो सके। सम्पूर्ण निरुक्त इस प्रक्रिया को आधार बना कर ही प्रवृत्त हुआ है, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं।

(छ) विश्वानरविद्यायां तावत् 'आत्मा' इत्यात्मविदः, इन्द्रादित्य-वाय्वाकाशोदकपृथिव्यादयश्च पृथक् पृथगेव वैश्वानरत्वेन विज्ञायन्ते।
(निरु० ७।२२ दुर्ग टी० ६०३)।

अर्थात्—विश्वानर आत्मवादियों के मत में आत्मा है—इन्द्र, आदित्य, वायु, आकाश, उदक, पृथिवी आदि पृथक्-पृथक् वैश्वानर रूप से जाने जाते हैं (ब्राह्मणादि ग्रन्थों में)।

(ज) भक्तिमात्रं भवति तद्गुणतः संवादो दुर्बला हि समाख्या।
(निरु० ८।२ दुर्ग टी० पृ० ६३२)।

(झ) आत्मस्तुतिरेवेयं सर्वा। (निरु० ९।११ दुर्ग टी० पृ० ६७६)।
नित्यपक्षे तु माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचम्।
(निरु० ११।३४ दुर्ग टी० पृ० ८०४)।
ऐतिहासिकपक्षाभिप्रायोऽयमर्थवादः।
(निरु० १२।१४, दुर्ग टी० पृ० ९३५)।
रश्मयो वै विश्वेदेवाः। (पृ० २११)

इत्यादि दुर्ग के इतने स्थल हैं कि हम सबको उद्धृत नहीं कर सकते। अन्त में एक विशेष उद्धरण देकर दुर्ग का विषय समाप्त करते हैं—

वेदार्थ में दुर्ग की धारणा

वेदार्थ में दुर्ग की धारणा क्या है, इसका दिग्दर्शन निम्न लेख से भली भाँति हो जाता है—

(क) तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्ताव-

धारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाऽश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति।

तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्।

तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति।

(निरु० २।८, दुर्ग टी० पृ० १२६)।

(ख) ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसङ्कटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते, वयं त्वेतावदत्रावबुध्यामहे।

(निरु० ७।३१, दुर्ग टी० पृ० ६२४)।

(क) अर्थात्—"ऐसी अवस्था में विनियोग के भेद से इस का भिन्न-भिन्न अर्थ होगा। सो ये मन्त्र वक्ता के अभिप्रायभेद से भिन्नता को भी प्राप्त हो जाते हैं, अतः इस से घबराने की कोई बात नहीं।"

"इन मन्त्रों का बस इतना ही अर्थ है, इसकी कैद नहीं लगाई जा सकती, मन्त्र महान् अर्थवाले होते हैं, अत्यन्त ही दुष्परिज्ञान अर्थात् बड़े ही परिश्रम-विद्या-योगादि की शक्ति से जाने जा सकते हैं। जैसे सवार-सवार के भेद से एक ही घोड़ा अच्छा और अतीव अच्छा चलने लगता है, उसी प्रकार वक्ता जितना अधिक योग्य और तपस्वी होगा, उसको मन्त्रों में उतने ही अधिक गम्भीर और गम्भीरतर अर्थों का प्रकाश होगा"।

आजकल के वेदभाष्यकार इससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि स्वयं यास्क ने भी तो कहा है—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति······ ॥ (निरु० १३।१२)।

"इस प्रकार निरुक्तशास्त्र में लक्षणोद्देशमात्र (लक्षणों को दर्शाने के लिये संकेतमात्र ही) एक-एक शब्द का निर्वचन दिखाया गया है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधियज्ञ-अर्थों का बोध कराने के लिये शब्दों का निर्वचन दिखाया है।"

"अतः इन मन्त्रों में जितने भी अर्थ उपपन्न (युक्त) हो सकें, चाहे वे आध्यात्मिक, अधियज्ञ वा आधिदैविक हों, उन सब की योजना कर लेनी चाहिये। इससे किसी प्रकार का भी दोष नहीं।"

(ख) "इस प्रकार शब्दार्थ के निर्णय में सङ्कट उपस्थित होने पर जहाँ पर भी मन्त्रों के दुरवबोध अर्थों को यथावत् घटाना होता है, वहाँ बड़े-बड़े बुद्धिमानों की ही बुद्धियाँ प्रतिहत नहीं होतीं—नहीं रुकतीं—हम तो यहाँ पर इतना ही समझ सके हैं।"

इस ऊपर के लेख से दुर्ग का वेदार्थ सम्बन्धी हार्दिकभाव इतना स्पष्ट है कि इस पर कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं। ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे स्वयं ऋषि दयानन्द ही बोल रहे हों। एक-एक शब्द में ऋषि दयानन्द की वेदार्थ-प्रक्रिया की पुष्टि हो रही है।

हजारों ग्रन्थों को पढ़कर लगभग तीन ३ हजार ग्रन्थों को प्रामाणिक माननेवाले दयानन्द[1] की अगाधबुद्धि का परिचय हम साधारण बुद्धि-वालों को तभी होता है, जब हम भारतीयों को उनकी धारणा के सम्बन्ध में उन से पूर्वाचार्य्यों का कोई प्रमाण मिल जाता है। हम लोगों की अपनी कोई स्वतन्त्र बुद्धि नहीं, अपितु हमने अपनी बुद्धि को इन लोगों के हाथ बेच सा दिया है। **'गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः'**। दयानन्द में यह बात नहीं थी। उनकी हर एक धारणा शास्त्र, प्रमाण तथा तर्क के आधार पर थी।

उनकी कोई भी धारणा निराधार नहीं थी। और जितना-जितना हम अधिक प्राचीन ग्रन्थों की खोज करेंगे, उसकी अधिक से अधिक पुष्टि पावेंगे।

क्या अब मूल निरुक्त के प्रमाणों से यास्क के नित्य इतिहास का स्वरूप सूर्य की भाँति स्पष्ट नहीं? उसके पीछे 'आचार्य वररुचि' के 'निरुक्तसमुच्चय' से वही बात स्पष्ट नहीं होती? क्या नैरुक्तों की परम्परा जिसे आचार्य स्कन्दस्वामी और दुर्ग ने दिखाया, उससे इस बात के मानने में यत्किञ्चित् भी सन्देह का स्थान रह जाता है? हम समझते हैं 'निरुक्तकार वेद में अनित्य इतिहास मानता है' इस वाद की अन्त्येष्टि ही कर देनी चाहिये।

शेष रह जाता है निरुक्त के सब ऐतिहासिक स्थलों की पर्यालोचना का क्या किया जाये। मेरे पास इतना समय नहीं, तथापि इस विषय के

---

१. ऋषि दयानन्द ने भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ में 'तीन सहस्र' ग्रन्थों को प्रमाणभूत माना है। तीन सहस्र प्रमाणभूत ग्रन्थों को छाँटने के लिए दयानन्द ने कितने सहस्र ग्रन्थ पढ़े होंगे, यह पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं। यु० मी०

कुछ स्थल अवकाश मिलने पर विद्वानों की सेवा में विस्तार से उपस्थित करने का पूरा यत्न किया जायगा।

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रभु की कृपा से उन स्थलों पर बहुत कुछ विचार किया जा चुका है। उनके पक्षपातरहित पूर्ण समाधान होने में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु यह समझा तभी जायगा, जब यह कार्य विद्वानों की सेवा में उपस्थित होगा, क्योंकि यह कार्य बहुत समय तथा परिश्रमापेक्षित है।

वेद में इतिहास तथा अन्य आचार्य

नैरुक्तों की परम्परा के अनुसार इतिहास का स्वरूप हमने ऊपर दिखाया। अब इस विषय में अन्य आचार्यों को क्या अभिमत है, यह भी दर्शा देना अनुपयुक्त न होगा। यह विदित रहे कि सायण से अतिरिक्त विविध खोज द्वारा लगभग ५० वेदभाष्यकारों का निश्चितरूपेण पता इस समय तक लगता है, जिसका पूरा विवरण 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १ खण्ड २ (वेदों के भाष्यकार नामक) में विस्तार से मिलेगा। जितने वेदभाष्य अब तक मिल रहे हैं, इनका इसमें विस्तृत वर्णन है।

इन पूर्वोक्त ५० वेदभाष्यकारों के सभी भाष्य तो मिलते नहीं, हाँ लगभग १० पूर्ण तथा अपूर्ण भाष्य अभी तक मिले हैं। इन सब के उदाहरण हम इस समय कुछ कारणों से उपस्थित नहीं कर रहे हैं, कालान्तर में हम उपस्थित करेंगे।

जितने पूर्ण तथा अपूर्ण भाष्य अभी तक मिलते हैं, उसमें से प्रकृत विषय में कुछ एक स्थल विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) **उद्गीथ**—इस आचार्य ने स्कन्द स्वामी तथा नारायण के साथ मिलकर ऋग्वेद का भाष्य किया है।[1] पूर्व भाग पर उन दोनों का भाष्य है। अन्तिम दशम मण्डल पर उद्गीथ का भाष्य मिलता है, जिसके कुछ पृष्ठों का सम्पादन श्री पं० भगवद्दत्तजी ने किया है—

विश्वकर्मा विमना आद् विहाया, धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति, यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः॥

(ऋ० १०।८२।२)

---

१. सायण के अतिरिक्त उद्गीथ स्कन्द वेङ्कटमाधव और मुद्गल कृत वेद-भाष्य के जितने अंश उपलब्ध हुए हैं, उन सबका मुद्रण अभी-अभी विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर से कई भागों में प्रकाशित हुआ है। यु० मी०

इस मन्त्र के भाष्य में उद्गीथाचार्य लिखता है—

यस्मिन् आदित्यमण्डले सप्त ऋषीन् ऋषिर्दर्शनात्, प्रथमाथ वात्र द्वितीया (व्यत्ययः) सप्तसंख्याकाः सर्पणशीला वा सर्वार्थान् द्रष्टारो रश्मयः स्थिताः।

परश्चोत्तरपुरुषो मण्डलस्याधिष्ठितस्तत्रेत्यर्थः। तच्चैतत् सर्वमुदक-मण्डले रश्मीनधिष्ठातारश्च विश्वकर्माणमेवैकमाहुर्वदन्ति तत्त्वविदस्तस्य सर्वात्मकत्वात्। (ऋ० १०।८२।२ उद्गीथभाष्य)

अर्थात्—यहाँ मन्त्र में आये हुए सप्त ऋषि का अर्थ उद्गीथ ने रश्मि-परक किया है।

(२) **अस्यवामीयसूक्त**—आत्मानन्दकृत

यह भाष्यकार भी आध्यात्मिकप्रक्रिया से मन्त्रों का स्थल-स्थल पर अच्छा अर्थ करता है, इसमें—

(क) **अहं जीवात्मा हिरण्यस्तूपाख्यः।** पृ० २६

यहाँ हिरण्यस्तूप का अर्थ जीवात्मा किया है।

(ख) **अश्विभ्यां गुरुशिष्याभ्याम्।** पृ० ३६

अश्विनौ का अर्थ गुरुशिष्य किया है। कैसा मनोहर सुन्दर अर्थ है। यहाँ पर यह बात बहुत ही ध्यान देने योग्य है कि ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में अनेक स्थलों पर 'अश्विनौ' का अर्थ 'अध्यापकोपदेशकौ' किया है—

परन्तु स्वामी दयानन्द के इस अर्थ का मखौल उड़ाने वालों को याद रखना चाहिये कि पारदर्शी दयानन्द ने असत्य वा मिथ्या कल्पना द्वारा कोई बात भी नहीं लिखी। यह दूसरी बात है कि उनके पीछे आर्यसमाज ने उनके प्रत्येक विचार की प्रामाणिकता को दर्शाने में यथेष्ट यत्न न किया हो।

(ग) **सोमो जगदीश्वरो जीवमनःप्रेरकः।** पृ० ४४

सोम का अर्थ जीव के मन का प्रेरक जगदीश्वर है।

(घ) **ऋषयः प्राणाः।** पृ० १८

ऋषि का अर्थ प्राण किया है।

(ङ) **एकैव देवता परमात्मा।** पृ० ५४

वेद के मन्त्रों का देवता (प्रतिपाद्य विषय) एक परमात्मा ही है।

(च) **पुत्रा अवयवा अंशाः।** पृ० १४

यहाँ पुत्र का अर्थ अवयव वा अंश किया है।

(छ) सप्त महदादयो जगत्प्रकृतयः पुत्राः कार्य्यंभूता विकृतयो यस्य।
पृ० ५, ६

यहाँ पुत्र का अर्थ विकार किया है।

(ज) परमार्थतस्तु सर्वत्र ब्रह्मपरत्वाद् ब्रह्मैव प्रतिपादयन्ति वेदाः।
पृ० १०

अर्थात्—सब मन्त्रों के ब्रह्मपरक होने से सब वेद ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं।

(झ) सर्वोऽपि वेदो ब्रह्मपरः। पृ० ७

सम्पूर्ण वेद ब्रह्मपरक है।

(३) शङ्कराचार्य रुद्रभाष्य—

एतानि शतरुद्रीयाम्नातान्यमृतस्य नित्यमुक्तस्य परमेश्वरस्य नामधेयानीत्यर्थः। पृ० ३

(४) एकाग्निकाण्डे हरदत्तः—

उशिजः, मेधाविनामैतत्। तत्रेतिहासमाचक्षते। पृ० ११६

मध्यमस्थानो रुद्रो वर्षिता इति नैरुक्ताः। जगदुत्पादने स्ववीर्यस्य सेक्तेति पौराणिकाः। तस्मै मीढुषी मध्यमस्थाना वाक्। रुद्रस्य पत्नीति नैरुक्ताः। जगत्प्रतिकृतिरूपेति पौराणिकाः। पृ० १७३

शबरस्वामी-कुमारिलभट्ट
तथा
वेद में इतिहास

अब अन्त में हम मीमांसा के आचार्यों का मत भी इस विषय में दर्शाते हैं, जिससे यह ज्ञात हो जायेगा कि इनके काल तक फिर भी वेदार्थ की प्रक्रिया कुछ अच्छे रूप में परम्परा द्वारा जीवित रही। वास्तविक वेदार्थ का काल तो इन आचार्यों से भी बहुत पूर्व ही रहा है। इसमें शङ्कराचार्य का वेदार्थप्रक्रिया पर कुछ न लिखना ही स्पष्ट प्रमाण है। इन उपर्युक्त आचार्यों के प्रत्येक सिद्धान्त को हम सर्वांशतः ही मानते हैं, यह आवश्यक नहीं। प्रकृत 'वेद में इतिहास' विषय पर इनके विचार दिखाना मात्र ही हमारे इस प्रकरण का प्रयोजन है।

शबरस्वामी

(क) असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन, प्रशंसाया गम्यमानत्वात्।

(ख) वृत्तान्तान्वाख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत ?...............(उ०) नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्, वायुः, आकाशः, आदित्यो वा। मीमांसाभाष्ये १।२।१० पृ० १२५, १२६।

अर्थात्—असद्वृत्तान्त (जो हुआ नहीं, अर्थात् कल्पित) का अन्वाख्यान स्तुति द्वारा प्रशंसा के अभिप्राय से होता है। इस पर आगे पूर्वपक्ष उठा कर कहते हैं—

यदि कहो कि इससे तो वेद की आदिमत्ता (अनादि न होना रूप) दोष होने लगेगा, तब उस पर कहते हैं कि प्रजापति आदि कोई अनित्य व्यक्तियाँ नहीं, अपितु ये सब नित्य पदार्थ ही हैं।

अर्थात्—इनका अन्वाख्यान इतिहासादि रूप से कथन करना गौण ही है।

(२) ननूक्तमसंवादो वेदे...........गुणवादेन प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे। गौणत्वात् संवादः। किं सादृश्यम्? यथान्नं प्रीतेः साधनमेवमिदमपि प्रीतिसाधनशक्तियुक्तं प्रशंसितुं प्रशंसावाचिना प्रीतिसाधनशब्देनोच्यते॥ मी० भा० १।२।२२ पृ० १३६।

अर्थात्—'वेद में जो संवाद कहा जाता है वह गुणवाद से प्ररोचना के लिए है, ऐसा हम समझते हैं। संवाद गौणता से है।.....जिस प्रकार अन्न प्रीति (सन्तुष्टि) का साधन होता है, इसी प्रकार यह संवाद भी प्रीति के साधनों की शक्ति से युक्त (पदार्थ) की प्रशंसा के निमित्त प्रशंसावाची, प्रीति के साधन, शब्दों द्वारा कहा जाता है।'

वेद में संवाद प्ररोचनार्थ, गौण होता है। इतना यहाँ अभिप्रेत है।

(३) वृत्तान्तान्वाख्यानं न वृत्तान्तज्ञापनाय। किं तर्हि? प्ररोचनायैव। मी० भा० १।२।३० पृ० १४३।

(४) नदीति नद्याः स्तुतिः। यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यमुपपादयितुकाम आमन्त्रणशब्देन लक्षयति। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' इति। 'शृणोत ग्रावाण' इति।.....यत्राचेतनाः सन्तो ग्रावाणोऽपि शृणुयुः, किं पुनर्विद्वांसोऽपि ब्राह्मणा इति। पृ० १५५, १५६।

अर्थात्—वेद में चेतनों के सादृश्य से अचेतनों में चेतनावद् व्यवहार होता है। सम्बोधन आमन्त्रण आदि होने से यह न समझ लेना चाहिये कि ये चेतन ही हो गये।

इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि 'हेतुमति च' तथा 'धातोः कर्मणः०' (३।१।७) सूत्र के भष्य में 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः। ऋषिः पठति, शृणोत ग्रावाणः। पिपतिषति कूलम्' लेख भी द्रष्टव्य है। यह पूर्व भी लिखा जा चुका है।

कुमारिल भट्ट

(१) **यथैव च व्याकरणेन नित्यपदान्वाख्याने क्रियमाणे लोपविकारादीनामुपायत्वेनोपादानम्, अव्युत्पन्नाश्च तैरेव पदोत्पादनमिव मन्यन्ते। तथाऽत्र नित्यवाक्यार्थप्रतिपत्ता आर्षोपाख्यानमनित्यवदाभासमानं उपायत्वं प्रतिपद्यते। तत्र यथा कश्चिद् व्याचक्षाणः पदतदवयवादीनां चेतनत्वमिवाध्यस्य विशेषबाधादिव्यापारं निरूपयत्येतेनैवमुक्तोऽयमेवं प्रत्याहेति। यथा च पूर्वपक्षोत्तरपक्षवादिनौ व्यवहारार्थं कल्पितावेवमृष्यार्षेयविषया कल्पना।**

मीमांसा १।२।४१ तन्त्रवार्त्तिक पृ० १५६, १५७ आनन्दाश्रम संस्करण

भाव यह है कि नित्यवाक्यार्थ के ज्ञान में ऋषियों सम्बन्धी उपाख्यान (कथा संवादादि) अनित्य जैसा प्रतीत होता है। अनित्यवदाभासमानं —अर्थात् वह होता तो नित्य है परन्तु अनित्य सा प्रतीत होता है। उसमें जैसे कोई व्याख्यान करता हुआ किन्हीं पदों तथा उनके अवयवों को चेतन के सदृश अभ्यास (अध्यारोप) करता हुआ तद्विषयक वधादि का निरूपण करता है, उनके परस्पर संवाद का वर्णन करता है, इसी प्रकार ऋषि तथा तत्सम्बन्धी आर्षेय (उपाख्यानादि) की कल्पना की जाती है।

अर्थात्—यह उपाख्यानादि कल्पित ही होते हैं, न कि वास्तविक।

(२) **एकेन प्रयत्नेनापिबत् साकं यौगपद्येन, सरांसि पात्राणि सोमस्य पूर्णानि, इन्द्रः काणुका कामयमानः, कामुकशब्दस्य छान्दसो वर्णव्यत्ययः। आकारस्तु विभक्त्यादेशः। अथवा कान्तकानीत्यादयो निरुक्तोक्ताः काणुकाशब्दविकल्पा योजनीयाः।**

तदेवं सर्वत्र केनचित् प्रकारेणाभियुक्तानामर्थोत्प्रेक्षोपपत्तेः प्रसिद्धतरार्थाभावेऽपि वेदस्य तदभ्युपगमात् सिद्धमर्थवत्त्वम्।

मी० १।२।४१, तन्त्रवार्तिक पृ० १५८।

अर्थात्—काणुका आदि शब्द कान्तकादि अर्थों के बोधक हैं न कि कोई व्यक्तिविशेष। निरुक्त की इस यौगिकप्रक्रिया के आधार पर वेद के अप्रसिद्ध शब्दों के अर्थ की योजना भी कर लेनी चाहिये।

(३) कीकटा नाम यद्यपि जनपदाः । तथापि नित्याः । अथवा सर्वलोकस्थाः कृपणाः कीकटाः………।

मी० १।२।४२, तन्त्रवार्त्तिक पृ० १५८।

कीकटा का अर्थ पक्ष में 'कृपणाः' ऐसा दर्शाते हैं।

(४) यत्तु प्रजापतिरुषसमभ्यैत् स्वां दुहितरम्, अहल्यायां मैत्रेय्यां इन्द्रो जार आसीदित्येवमादिदर्शनादितिहासदर्शनाच्च शिष्टाचारेषु धर्मातिक्रमं पश्यद्भिः शिष्टाचारप्रामाण्यं दुरध्यवसानमिति । तत्रोच्यते……
…प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते । स चारुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत्, सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते, तस्यां चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः। एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रशब्दवाच्यः सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज् जीर्यत्यस्मादनेनेवोदितेनेत्यादित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते न तु परस्त्रीव्यभिचारात् ॥

मी० १।३।७ तन्त्रवार्त्तिक पृ० २०७, २०८।

अभिप्राय इतना ही है कि प्रजापति नाम है आदित्य का और अहल्या नाम है रात्रि का, उसकी दुहिता है उषा। जीर्ण करने से जार नाम है आदित्य का। कुमारिल भट्ट भी इन कथाओं को औपचारिक मानते हैं, यही दिखाना यहाँ हमको अभिप्रेत है।

(५) तस्माद्ये याज्ञिकैर्येषां वेद्यैर्वार्था निरूपिताः।
तेषां त एव शब्दानामर्था मुख्या हि नेतरे ॥

मी० १।३।९ तन्त्रवार्त्तिक पृ० २१७।

मन्त्रों के अर्थ याज्ञिकप्रक्रिया तथा वैद्यक की रीति से भी होते हैं।

(६) अर्थवादकृताप्यर्थप्रतिपत्तिर्बलीयसी।
तद्ग्राह्यत्वादृते नान्यत्तस्या ह्यस्ति प्रयोजनम्।

मी० १।३।९ तन्त्रवार्त्तिक पृ० २२३।

अर्थवाद से भी अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। अर्थ को ग्रहण कराना ही उसका प्रयोजन होता है।

(७) गौणं लाक्षणिकं वापि वाक्यभेदेन वा स्वयम्।
वेदोऽयमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलयेत् ॥

मी० १।३।९ तन्त्रवार्त्तिक पृ० २२३।

वेद का अर्थ गौण तथा लाक्षणिक वाक्यभेद से होता है। उसको कोई अन्यथा नहीं कर सकता।

(८) अनन्तेषु हि देशेषु कः सिद्धः क्वेति गम्यताम् ।
निगमादिवशाच्चाद्य धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः ।।
मी० १।३।१० तन्त्रवार्त्तिक पृ० २२५ ।

वेदार्थ में धातु से अर्थ की योजना करनी ही पडेगी ।

कुमारिल के इन अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि वह इन उपाख्यान, इतिहासादि को औपचारिक मानते हैं ।

आयुर्वेद की प्रक्रिया से मन्त्रों के अर्थ की क्या व्यवस्था है, उसे उपस्थित करते हैं—

वैद्यकशास्त्र और इतिहास

हम पूर्व पृष्ठ पर (३२२) कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्त्तिक पृ० २१७ का लेख दर्शा चुके हैं—

तस्माद्ये याज्ञिकैर्येषां वेद्यं र्वार्था निरूपिताः ।
तेषां त एव शब्दानामर्था मुख्या हि नेतरे ।।

अर्थात्—वैद्यक की प्रक्रिया से भी वेद मन्त्रों के अर्थ होते हैं । सो इस विषय में मैं विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ एक विचार उपस्थित करता हूं—

देखिये वैद्यक शास्त्र में सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ५ में जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है, लिखा है—

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ।।२५।।

इस की टीका में निम्न लेख है—

यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः ।·········रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानम् ।

अर्थात्—लोक में जो इन्द्र है—वह पुरुष में अहङ्कार है । रोष रुद्र है । सोम नाम है प्रसाद का, प्रसन्नता का । वसवः सुख का नाम है । कान्ति का नाम अश्विनौ है । उत्साह का नाम मरुत् है । मोह तम है । ज्ञान ही ज्योति है इत्यादि ।

इससे भी स्पष्ट है कि—इन्द्र, रुद्र, अश्विनौ आदि व्यक्तिविशेषों के नाम नहीं अपितु शरीर में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं ।

वैदिक गाड्ज़् (Vedic Gods) और इतिहास

इस नाम की एक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित हुई है, जिसके लेखक श्री रेले महाशय हैं । उन्होंने वेदों के मन्त्रों को लेकर

उन से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अश्विनौ मरुत् आदि शरीर सम्बन्धी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ तथा नाड़ी आदि अवयव हैं, जो भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं। सज्जनों के विनोदार्थ हम उसके कुछ विचार उपस्थित करते हैं—

उक्त ग्रन्थ में क्रमशः लगभग २० देवताओं पर विचार किया गया है—१. त्वष्टा २. ऋभवः ३. सविता ४. अश्विनौ ५. मरुत् ६. पर्जन्यः ७. उषा ८. विष्णु ९. रुद्र १०. पूषा ११. सूर्य १२. अग्नि १३. इन्द्र १४. आदित्य १५. बृहस्पति १६. सोम १७. वरुण १८. मित्र १९. आपः।

ग्रन्थकार ने इन देवताओं को शरीर में ही घटाने का प्रयास किया है। केवल कल्पनामात्र से नहीं, अपितु तत्तद् विषय में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के प्रमाण भी दिये हैं। जिनसे लेखक की वेदविषय में अच्छी योग्यया प्रतीत होती है। उसमें विभिन्न देवताओं का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

पृ० ७८—पूषा को सैरीबैलम् (छोटा दिमाग)
,, ९५—इन्द्र को सैरीब्रम (बड़ा दिमाग)
,, ५४—मरुतः को क्रेनियल नब्ज (दिमाग की नाडियाँ-तन्तु)
,, ५८—पर्जन्य को Reflex Activity बाह्य संस्कारों से प्रतिबिम्बित प्रेरणा
,, ६२—उषा को वेगस नर्व्ज (हृद् और श्वास प्रश्वास का केन्द्र)
,, ६३—विष्णु को स्पाइनल कार्ड (रीढ की अन्दर की सुषुम्णा)
,, ७५—रुद्र को पौन्ज pons (ज्ञानतन्तुओं का एक समूह)
,, ८३—सूर्य को कार्पस स्ट्राइएटम (प्रेरक मुख्य ज्ञानतन्तु)
,, ८६—अग्नि को थैल्मस (अनुभव करनेवाले मुख्य ज्ञानतन्तु समूह)
,, १०५—अदिति को दिमाग का एक भाग (मध्यवर्त्ती प्रेरक)
,, ११८—बृहस्पति को Speech center (वाणी का केन्द्र)

यह सब व्याख्या वेदमन्त्रों के आधार पर की है। कैसी उत्तम योजना है। वास्तव में जब तक वेदाङ्ग-उपाङ्ग-आयुर्वेद-धनुर्वेद-अर्थवेद-गान्धर्ववेद इत्यादि में प्रतिपादित शिल्पादिक्रिया, ज्योतिष, औषध गानादि का पूर्णज्ञान नहीं होता, तब तक वेदार्थ बालकों का खेल नहीं है, जो पुस्तक उठाई भाष्य रच डाला। वास्तविक वेदार्थ का प्रकाश तभी हो सकेगा,

जब अङ्गों-उपाङ्गों तथा उपवेदादि का प्रौढ़ता से ज्ञान प्राप्त करने की योजना की जायेगी।

उपर्युक्त Vedic Gods नामक ग्रन्थ आङ्गलभाषा जाननेवालों को अवश्य पढ़ना चाहिये। ऐसे ग्रन्थों का आर्यभाषा में भी अनुवाद होना चाहिये। कोई योग्य डाक्टर और वेदविषय को समझनेवाले इस पर सम्भवत: अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और ऐतिहासिक पक्ष

ऋषि दयानन्द ने वेद पर अपने अपूर्व ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस विषय में अपनी धारणा निम्न प्रकार लिखी है—

(क) एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किंच नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखिताः, तासां……सविता सूर्य……स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः। अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्त-ब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्याः। ऋ० भा० भू० पृ० २६८।

"जो वह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्त आदि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, इसको ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्याग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है तथा ऐसी-ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग सत्य कथाओं को कभी न भूलें।" (पृ० २६९)

(ख) ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। (पृ० ३०६)

(ग) एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैव ताः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति। (पृ० ३१३)

(घ) अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्। (पृ० ८६)

अतः यहाँ मन्त्रभाग में इतिहास का लेश भी नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। इसलिये जो सायणाचार्यादिकों ने अपने भाष्यों में जहाँ कहीं इतिहास का वर्णन किया है, वह भ्रम के कारण ही है, ऐसा जानना चाहिये। पाठक उपर्युक्त सारा प्रकरण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देखें।

ऋषि दयानन्द की घोषणा कैसे प्रबल शब्दों में है। हमारा उपर्युक्त सम्पूर्ण लेख वस्तुतः ऋषि की इस धारणा की पुष्टि के निमित्त ही लिखा गया है। एक भी शब्द प्रमाणरहित नहीं।

सायणाचार्य तथा ऐतिहासिक पक्ष

हमें बहुत यत्न करने पर भी सायणाचार्य के भाष्य में स्कन्द स्वामी की ऐतिहासिक प्रक्रिया का स्वरूप दृष्टिगत नहीं हुआ। हमें अत्यन्त आश्चर्य होता है कि सायणाचार्य ने अपने से पूर्ववर्त्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख तक नहीं किया। उनके समय में ये सब आचार्य सर्वथा अज्ञात अवस्था में हों, यह बात साधारण बुद्धिवाला भी नहीं मान सकता। उस ने केवल माधव का नाम ही लिखा है। सायणाचार्य का कर्तव्य था कि वह अपने पूर्व के भाष्यकारों के भाष्यों पर प्रकाश डालते और उनके भाष्यों से अपने भाष्य की विशेषताओं का प्रतिपादन करते, पर जानकर वा न जानकर ऐसा नहीं किया, यही कहना पड़ता है। हम कह सकते हैं कि यदि वह अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की परम्परागत इन प्रक्रियाओं को लेकर भाष्य करते तो संसार में वेदार्थ के विषय में इतना अन्धकार न होता।

जिन लोगों को सायणाचार्य ही वेद के अपूर्व विद्वान् दृष्टिगोचर होते हैं, उनका भाष्य ही सुसङ्गत-सुसम्बद्ध और सोपपन्न जान पड़ता है, वह किञ्चित् चक्षु खोल कर इस विषय में देखें कि इनसे पूर्वाचार्यों ने वेदार्थ को कहाँ तक व्यक्त किया है।

वेद की ऐतिहासिकप्रक्रिया सायणाचार्य की समझ में ही नहीं आई, यही विवशतः कहना पड़ता है। यदि समझ में आई होती तो वह अवश्य इसका व्याख्यान करते।

यास्क के अनेकवाद

यह बात तो सभी विद्वान् स्वीकार करेंगे कि यास्क ने अपने निरुक्त में अनेकवादों का उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार है—

१. अध्यात्मम् लगभग १०-१२ स्थलों में ॥
२. अधिदैवतम् ,, ,, ,, ॥
३. आख्यानसमयः }
४. ऐतिहासिकाः } १९ स्थलों में ॥
५. नैदानाः }
६. नैरुक्त पक्ष २० स्थलों पर ॥
७. परिव्राजक मत १ स्थल पर ॥
८. पूर्वे याज्ञिकाः १ ,, ,, ॥
९. याज्ञिकाः ८ स्थलों पर ॥

ऐतिहासिक नैदान और आख्यानसमय इन तीनों पर (जो वास्तव में अतिस्वल्प भेद होते हुए एक ही पक्ष है) पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। परिव्राजक और अध्यात्म लगभग एक ही हैं। इनका तथा नैरुक्त पक्षों की व्याख्या उन्हीं वादों से हो जाती है। अर्थात् प्रवक्तृभेद से दर्शन-भेद होता है। इस विषय की बहुत सामग्री अनेक आचार्यों के मत से दर्शा दी गई है। मन्त्रों के आध्यात्मिक आधिदैविक और आधियाज्ञिक भी अर्थ होते हैं। इस विषय की अनेक साक्षियाँ ऊपर दी गई हैं। इन सब वादों में वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं, यह सब वैदिकधर्मियों को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं।

निरुक्त के शेष ऐतिहासिक स्थल

ऐसे ऐतिहासिक स्थल जिनकी योजना इन पूर्वोक्त स्कन्द तथा दुर्ग आदि आचार्यों ने नहीं दर्शाई, उनको हम क्रमशः पृथक् निबन्ध द्वारा दिखाने की इच्छा रखते हैं। अवकाश तथा समुपयुक्त सामग्री प्राप्त होने पर (जिसमें बहुत सी प्राप्त हो चुकी है) हम सम्पूर्ण निरुक्त पर ही विचार उपस्थित करना चाहते हैं।

"**ईश्वराधीनं सर्वम्**" प्रभु की कृपा से ही ऐसे महान् कार्य पूरे हो सकते हैं। अतः वह '**बलदा**' परमात्मा बल प्रदान करे, जिससे ऋषियों के शुद्धस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभु की पतित-पावनी वेदवाणी का सत्य स्वरूप संसार में विस्तृत हो। यही उस प्रभु से पुनः-पुनः प्रार्थना है!!

उपसंहार

उपर्युक्त प्रकरण में हमने निम्न बातें स्पष्ट करने का यत्न किया—

निरुक्त में अनेक स्थलों पर यास्क ने ऐतिहासिक पक्ष दिखाया है, पर वह सब उपमार्थ ऋषियों की आख्यान सहित कहने की प्रीति से है। ब्राह्मणों में विश्वामित्र-जमदग्नि-वसिष्ठादि शब्द जड़ पदार्थ प्राण आदि के लिये स्पष्ट कहे गये हैं। निरुक्त के पीछे प्राचीन नैरुक्त आचार्य वररुचि ने—

औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमय इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।

मन्त्रों में आख्यान-इतिहास औपचारिक हैं, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है। ऐसी घोषणा स्पष्ट शब्दों में की है। इस स्पष्ट घोषणा के इन्हीं शब्दों को वर्तमान उपलब्ध वेदभाष्यकारों में सर्वतः प्रथम आचार्य स्कन्द स्वामी ने खुले शब्दों में घोषित किया और एक प्रकार से अपनी निरुक्त-टीका में इसी घोषणारूपी धारणा का सर्वत्र अवलम्बन कर इतिहास की लुप्तप्रक्रिया को संसार में पुनः जीवित कर दिया, जिसके लिये हमें उसका अतिकृतज्ञ होना चाहिये।

दुर्ग ने भी इसी औपचारिकप्रक्रिया का अनेक स्थलों में परिपालन किया। इन दोनों आचार्यों के अनेक प्रमाण दर्शाये गये। जिन से किसी को भी 'निरुक्तकार वेद में इतिहास मानता है' इस विषय का सन्देह नहीं रह जाता। हाँ, हठधर्मी दूसरी बात है।

अन्तिम निवेदन

अन्त में हम एक बात और कह देना आवश्यक समझते हैं कि निरुक्त के सभी स्थल हमने पूर्णरीति से जान लिये हैं, यह बात नहीं है। हाँ, ऐतिहासिक पक्ष के विषय में हमें कुछ भी सन्देह नहीं। अन्य विषय के कुछ स्थल विचारणीय अवश्य हैं। पर वे वैसे ही हैं जैसे अन्य ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं पर मिलते हैं। वे सब भी अन्य आर्ष ग्रन्थों की भाँति धीरे-धीरे निःसंशय हो सकेंगे, ऐसी हमें पूरी आशा है।

अब निरुक्त से पूर्व वेदार्थ की क्या अवस्था थी? यास्क की वेदार्थ-प्रक्रिया का उद्गम स्थान क्या है? निघण्टु, निरुक्त की आवश्यकता ही कैसे हुई? वर्तमान व्याकरण की प्रक्रिया को यास्क ने क्यों ग्रहण नहीं किया? इत्यादि और भी अनेक विचार निरुक्त के विषय में हो सकते हैं। पर मैंने इन विषयों को अपने प्रकृतविषय के अधिक उपयोगी न समझ कर ही छोड़ दिया है। जिन पर पुनः किसी समय विचार हो सकता है।



देवापि और शन्तनु
के
वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप

सम्पादकीय वक्तव्य

[सन् १९३१ के मई मास में लाहौर में "निरुक्तकार और वेद में इतिहास" इस विषय के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ से निवृत्त होकर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि निरुक्त में आये 'तत्रेतिहासमाचक्षते' वाले सब स्थलों पर विशद और सप्रमाण विचार विना किसी प्रकार की निजी कल्पना के लेखबद्ध कर देने चाहियें। तदनुसार यह लेख उसी समय लिखा गया था। इसका अन्तिम भाग अर्थात् सम्पूर्ण सूक्त की व्याख्या भी उस समय थोड़ी सी लिखी गई थी। इसके पश्चात् यह लेख उसी अवस्था में अब तक पड़ा रहा। पिछले वर्ष ट्रस्ट की ओर से जब वैदिक निबन्ध माला का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तब इसकी ओर भी ध्यान दिया गया। इसमें ऋग्वेद के मण्डल १० के ९८वें सूक्त की संगति अर्थ व्याख्या आदि का काम कुछ कठिन सा प्रतीत हुआ। वास्तव में तो इसका मुख्य कारण कुछ संकोच सा ही रहा। मन में यही विचार आता था कि तू वेद-भाष्यकार तो है नहीं, ऋषि दयानन्द का भाष्य भी इस सूक्त पर नहीं है, वेद के किसी सूक्त पर लेखनी उठाना अनधिकार चेष्टा तो न होगी? विना सूक्त का अर्थ किये यह लेख पूरा नहीं होता था। अन्त में प्रकाशकों के विशेष आग्रह से मैं सूक्त के अर्थों की पूर्ति में लग ही गया, यह विचार कर कि जिन मण्डल वा सूक्तों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य नहीं है, उन पर तो कुछ लिखना ही चाहिये। अन्त में जब इसमें लगा तो यह शीघ्र पूरा भी हो गया। व्याख्यादि इतने विस्तृत हो गये कि इस लेख में उन का समावेश होना भी कठिन हो गया। अन्त में यही निश्चय किया कि समस्त सूक्त की तीनों प्रक्रियाओं में पूरी व्याख्या पृथक् ही छापनी चाहिये। अतः इस लेख में अतिसंक्षेप से केवल आधिदैविक प्रक्रिया में ही इस सूक्त का अर्थ और वह भी केवल आर्यभाषा में दिया गया है। शेष सब प्रक्रियाओं में व्याख्या पाठक पृथक् पुस्तिका (ट्रैक्ट) में देख सकेंगे।

'वेद में देवापि और शन्तनु' इस निबन्ध में हमने प्रारम्भ में विस्तृत पूर्वपक्ष अपनी ओर से दिया है और उत्तर में उन सब पर पूरा विचार करने का यत्न किया है। स्वयं वेद से ही हमने सिद्ध किया है कि वेद में व्यक्तिविशेषों का कोई इतिहास नहीं। निरुक्त, महाभारत, भागवतादि में भी आये देवापि और शन्तनु विषय के सब प्रकरणों में आये इतिहास की विवेचना भी की गई है, जिसमें उनकी परस्पर अत्यन्त विरुद्धता दर्शाई है।

जिन महानुभावों को 'वेद में इतिहास है वा नहीं', इस विषय में आकांक्षा है, अथवा जो गुरुकुलों, विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में निरुक्त आदि का अध्ययन करते हैं। जिनके सामने सदा पूर्वपक्ष ही प्रबलरूप में आया करता है, उनके विचार के लिये इसमें पर्याप्त सामग्री मिलेगी। विदेशी विद्वानों वा उनके अनुगामी भारतीय विद्वानों को भी पक्षपातरहित होकर एक बार इस निबन्ध को अवश्य पढ़ना चाहिये। इसी भावना से यह लिखा गया और इसके विरुद्ध यदि आशंकाएँ हों तो इसके साथ "वेद और निरुक्त" और "निरुक्तकार और वेद में इतिहास" "त्वाष्ट्री सरण्यू के वैदिक आख्यान का स्वरूप" आदि निबन्धों को पढ़ें और पुनरपि समाधान न हो तो मिलकर वा पत्र द्वारा अपनी आशंकाओं को शुद्ध भावनाओं से निवारण कर सकते हैं। मुझे भी इस विषय में कोई हठ वा दुराग्रह नहीं है। विचार तो होता है कि 'वेद में इतिहास' विषयक विस्तृत ग्रन्थ लिखा जावे, यह काम है अत्यन्त अन्तर्वृत्ति और निरन्तर परिश्रम का—लोहे के चने कौन चबाये—नहीं तो यह काम कभी का हो गया होता। सब काम एक व्यक्ति नहीं कर सकता। भविष्य का ज्ञाता परमेश्वर है, प्रभु को स्वीकार हुआ तो यह कार्य हो ही जायगा, चाहे जब भी हो।

हम चाहते हैं कि विज्ञ पाठक वा वैदिक साहित्य की खोज करनेवाले विद्वान् हमारे निबन्धों को एक बार पक्षपातरहित होकर, योरुपीय शिक्षा से प्राप्त हठ को छोड़कर, पढ़ने का कष्ट करें। हमें विश्वास है कि उन्हें इन निबन्धों में बहुत कुछ उपादेय सामग्री मिलेगी। कोई बात इस लिये हेय नहीं हो जानी चाहिये कि उसे स्वामी दयानन्द कहता है, कोई और कहे तभी मानें, यह बात पक्षपात की है।

यूनिवर्सिटियों गुरुकुलों महाविद्यालयों में निरुक्त तथा वेद का विषय पढ़नेवाले प्रत्येक छात्र को ये निबन्ध अवश्य पढ़ने चाहियें और उक्त

संस्था वा यूनिवर्सिटियों को ये निबन्ध वेदविषय के पाठ्यक्रम में रखने चाहियें।

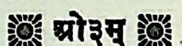
दानी महानुभाव यूनिवर्सिटियों, विद्यालयों के पढ़नेवाले या उत्तीर्ण छात्रों को वैदिक निबन्ध बाँट सकते हैं, जिससे वेदविषय में अनेक मिथ्या धारणाओं का नाश होकर यथावत् ज्ञान का प्रकाश हो।]

वैदिक धर्म का सेवक—

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
विरजानन्द साङ्गवेद विद्यालय,
पो० शहादरा मिल्स (लाहौर),
पंजाब

रावी तट
२३ कार्त्तिक सं० २००३
८ अक्टूबर १९४६





देवापि और शन्तनु
के
वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९८ का विवेचन

पूर्वपक्ष

१—(क) वेद में इतिहास है। देखिये ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९८ के १२ मन्त्रों में "देवापि" और "शन्तनु" का वर्णन बड़े विस्तार तथा स्पष्टरूप से पाया जाता है। प्रथम मन्त्र में 'बृहस्पति', द्वितीय में 'देवापि' तृतीय में पुनः 'बृहस्पति', चतुर्थ में 'इन्द्र', और ७, ८, ९, १०, ११, १२ इन छः मन्त्रों में 'अग्नि' को स्पष्टतया सम्बोधित करते हुये वृष्टि के लिये प्रार्थना की गई है। पाँचवाँ छठा ये दोनों मन्त्र भी, देवापि ने वर्षा कराई, इसी का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। सम्पूर्ण सूक्त में १, ३, ५, ६, ७, ८, १०, १२ ये आठ मन्त्र 'वृष्टि' 'आपः' आदि शब्दों द्वारा स्पष्ट ही वृष्टिकाम सूक्त की सत्यता को बतलाते हैं। ८ तथा १० इन दो मन्त्रों में पर्जन्य का उल्लेख सुव्यक्त है। इससे सिद्ध होता है कि यह वृष्टिकामसूक्त ही है, जिस में 'देवापि' 'शन्तनु' का स्पष्ट वर्णन है।

(ख) ७वें मन्त्र में 'देवापि' पुरोहित था, यह शब्द विशेष रूप से पढ़ा ही है। वही देवापि आर्ष्टिषेण है, ऋषि है, यह पाँचवें मन्त्र में कहा है। शन्तनु ने पुरोहित रूप में उसका वरण किया, यह भी ७वें मन्त्र में दृष्टिगोचर हो रहा है। इससे यह विस्पष्ट है, कि यह व्यक्तियों का ही इतिहास है, और हो ही क्या सकता है?

(ग) ८वें मन्त्र में 'देवापि' को स्पष्ट मनुष्य कहा गया है।

२—इतना ही नहीं, यास्कमुनि निरुक्त के द्वितीय अध्याय में लिखते हैं—

देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वयाऽचरितो ज्येष्ठं

भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं तस्मात्ते देवो न वर्षतीति। स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि, याजयानि च त्वेति। तस्यैतद् वर्षकामसूक्तम्॥ (निरु० २।१०)।

अर्थात्—कौरव कुल में ऋष्टिषेण के दो पुत्र देवापि और शन्तनु भाई थे। उनमें छोटा राजगद्दी पर बैठ गया। देवापि तपस्या करने लगा। तब शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष तक वृष्टि न हुई। उसको ब्राह्मणों ने कहा, तुमने अधर्म किया जो बड़े भाई के रहते गद्दी पर बैठ गये, इसी से तुम्हारे राज्य में वर्षा नहीं होती। शन्तनु ने देवापि से राज्य सम्भालने के लिये प्रार्थना की। देवापि ने उसे कहा—मैं तेरा पुरोहित बनकर रहूंगा, और तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा यह उस (देवापि) का वर्षकामसूक्त है।

इससे सिद्ध है कि यास्कमुनि वेद में इतिहास मानते हैं। तभी तो उपर्युक्त लेख के आरम्भ में यास्क ने "तत्रेतिहासमाचक्षते" ऐसा लिखा है। जब यास्क स्वयं कहते हैं कि **"इस विषय में पूर्वाचार्य इतिहास बतलाते हैं"**, और स्वयं बतला कर भी दिखा दिया, ऐसी अवस्था में यह कहना कि—"यास्क वेद में इतिहास नहीं मानता" यह बात कैसे मानी जा सकती है।

३—महाभारत आदि के ९४ अध्याय में जनमेजय ने अपने पूर्वज राजाओं का वंशानुक्रम पूछा। उस प्रकरण में इस प्रकार लेख है—

प्रतीपः प्रथितस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ॥६०॥
प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ।
देवापिः शन्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥६१॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया।
शन्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥६२॥

(महाभारत आदिपर्व अ० ९४। श्लोक ६१, ६२)॥

अर्थात्—उनमें अप्रतिमप्रभाव प्रतीप भूमण्डल भर में प्रख्यात हुआ। हे भरतर्षभ! प्रतीप के तीन पुत्र हुये—देवापि शन्तनु और महारथी बाह्लीक। उनमें देवापि धर्महित की भावना से परिव्राजक बन गया, शन्तनु ने राज्य प्राप्त किया, महारथी बाह्लीक ने भी।

जब वैशम्पायन के इस उपर्युक्त वंशानुक्रम से जनमेजय की सन्तुष्टि न हुई, तो उसने पुनः विस्तार से इसी वंशानुक्रम को पूछा। अतः पुनः महाभारत अ० ९५ में कहा है—

(क) प्रतिश्रवसः प्रतीपः। प्रतीपः खलु शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम। तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शन्तनुं बाह्लीकं चेति। देवापिः खलु बाल एवारण्यं विवेश। शन्तनुस्तु महीपालो बभूव……।

अर्थात्—प्रतिश्रवस का प्रतीप हुआ। प्रतीप ने सुनन्दा शैब्या से विवाह किया। उसमें देवापि, शन्तनु और बाह्लीक तीन पुत्र उत्पन्न किये। देवापि बाल्यावस्था में ही जङ्गल में चला गया। और शन्तनु राजा बन गया।

(ख) पुनः कर्णपर्व में—

अथापरान् महाराज ! सूतपुत्रः प्रतापवान्।
जघान बहुसाहस्रान् योद्धान् युद्धविशारदान् ॥४८॥
जिष्णुं जिष्णुकर्माणं देवापिं भद्रमेव च।
दण्डञ्च राजन् समरे चित्रं चित्रायुधं हरिम् ॥४९॥
(महाभारत कर्णपर्व अ० ५६। श्लोक ४८, ४९)

अर्थात्—हे महाराज ! प्रतापी सूतपुत्र (कर्ण) ने अनेक सहस्र युद्धविद्या में प्रवीण योद्धाओं को मारा। हे राजन् ! (उसने) जिष्णु, जिष्णुकर्मा, देवापि, भद्र, दण्ड, चित्र, चित्रायुध, हरि (इन सब) को (संग्राम में मार डाला)।

यहाँ कर्ण ने देवापि को मारा ऐसा वर्णन है।

महाभारत के इन उद्धरणों से भी यही सिद्ध होता है कि महाभारत में वर्णित "देवापि" और "शन्तनु" का ही वेद में भी वर्णन है।

४—बृहद्देवता तथा कात्यायन सर्वानुक्रमणी के लेख से भी उपर्युक्त बात ही सिद्ध होती है। तद्यथा बृहद्देवता ७।१५५-१५७ तथा ८।१-९ में निम्न प्रकार लेख है—

आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्चैव शन्तनुः।
भ्रातरौ कुरुष्वेतौ राजपुत्रौ बभूवतुः ॥१५५॥
ज्येष्ठस्तयोस्तु देवापिः कनीयांश्चैव शन्तनुः।
त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत् ॥१५६॥
राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ।
स मुहूर्त्तमिव ध्यात्वा, प्रजास्ताः प्रत्यभाषत ॥१५७॥
न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शन्तनुः।
तथेत्युक्त्वाऽभ्यसिञ्चंस्ताः प्रजा राज्याय शन्तनुम् ॥१॥

ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये वनं देवापिराविशत् ।
न ववर्षाथ पर्जन्यो राज्ये द्वादश वै समाः ॥२॥
ततो ऽभ्यगच्छद्देवापिं प्रजाभिः सह शन्तनुः ।
प्रसादयामास चैनं तस्मिन् धर्मव्यतिक्रमे ॥३॥
शिशिक्ष चैनं राज्येन प्रजाभिः सहितस्तदा ।
तमुवाचाथ देवापिः प्रह्वं तु प्राञ्जलिस्थितम् ॥४॥
न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः ।
याजयिष्यामि ते राजन् वृष्टिकामेज्यया स्वयम् ॥५॥
ततस्तं तु पुरोधत्त आर्त्विज्याय च शन्तनुः ।
स चास्य चक्रे कर्माणि वार्षिकाणि यथाविधि ॥६॥
बृहस्पते प्रतीत्यृग्भिर् ईजे चैव बृहस्पतिम् ।
द्वितीययास्य सूक्तस्य बोधिते जातवेदसा ॥७॥
आस्ये ते द्युमतीं वाचं दधामि स्तुहि देवताः ।
ततः सोऽस्मै ददौ प्रीतो वाचं देवीं तया च सः ॥८॥
ऋग्भिश्चतसृभिर्देवान् जगौ वृष्ट्यर्थमेव तु ।
अग्निं च सूक्तशेषेण.................. ॥९॥

बृहद्देवता ७।१५५-१५७, तथा ८।१-९॥

अर्थात्—आर्ष्टिषेण देवापि और कौरव्य शन्तनु कुरुओं में दोनों राजपुत्र भाई थे, उन में देवापि बड़ा था, और शन्तनु छोटा। आर्ष्टिषेण का पुत्र (देवापि) कोढ़ी हो गया ॥१५६॥ गुरु (पिता=प्रतीप) की मृत्यु होने पर प्रजाओं ने उनसे राज्य करने के लिये प्रार्थना की। उसने कुछ काल विचार कर प्रजा को उत्तर दिया ॥१५७॥ मैं राज्य के योग्य नहीं हूं, शन्तनु को अपना राजा बना लो। प्रजा ने 'हमें स्वीकार है' यह कह कर शन्तनु का राज्याभिषेक कर दिया ॥१॥ कौरव्य (शन्तनु) के अभिषेक हो जाने पर देवापि वन को चला गया। उसके पश्चात् राज्य में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई ॥२॥ तदनन्तर शन्तनु प्रजाओं के साथ देवापि के पहुंचा और इस धर्मविरुद्धता में (क्षमार्थी होकर) उसको प्रसन्न किया ॥३॥ तब प्रजा सहित उस (देवापि) से राज्य करने के लिये प्रार्थना की। देवापि ने करबद्ध विनम्र खड़े हुए उस (शन्तनु) को कहा ॥४॥ मैं त्वचा का रोगी (=कुष्ठी) राज्य के योग्य नहीं हूं। हे राजन्! वृष्टिकामेष्टि द्वारा मैं स्वयं तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा ॥५॥ तब शन्तनु ने उस (देवापि) का ऋत्विक् कर्म के लिये पुरोहित रूप से वरण

किया और वह उसके वार्षिक-कर्मों (यज्ञ-याग-इष्टि आदि) को यथा-विधि कराने लगा ॥६॥ "बृहस्पते प्रति मे०" (ऋ० मं० १०। सू० ९८। मं० १) इस ऋचा द्वारा बृहस्पति की स्तुति की। इस सूक्त की दूसरी ऋचा से (बृहस्पति ने) 'जातवेदः' द्वारा सूचित किया ॥७॥ कि मैं तुम्हारे मुख में दिव्य वाणी का प्रवेश कराता हूं, तुम देवताओं की स्तुति करो। तदनन्तर बृहस्पति ने प्रसन्न होकर उसको (दिव्य) वाणी दी। और उसने उस दिव्यवाणी द्वारा ॥८॥ चार ऋचाओं से वृष्टि के लिये देवों की स्तुति की और शेष सूक्त से अग्नि की स्तुति की······॥९॥

५—इसी प्रकार ऋक्सर्वानुक्रमणी में कहा है—

बृहस्पते द्वादशार्ष्टिषेणो देवापिर्वृष्टिकामो देवांस्तुष्टाव।

(कात्यायन ऋक्सर्वा० पृ० ४१)।

इस में भी यही कहा है कि देवापि ने वृष्टि की कामना से इस सूक्त के द्वारा देवों की स्तुति की।

इस प्रकार हमने वेद—निरुक्त—बृहद्देवता—सर्वानुक्रमणी तथा महाभारत से यह सिद्ध किया कि देवापि और शन्तनु का इतिहास वेद और इन सब ग्रन्थों में वर्त्तमान है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि 'वेद में इतिहास नहीं' साहसमात्र है। यदि ऐसा नहीं, तो प्रतिवादी को इन उपर्युक्त सब उद्धरणों का तात्त्विक अर्थ तथा समन्वय दर्शाना होगा।

सिद्धान्ती

सबसे पूर्व पूर्वपक्षी से हम यह पूछते हैं कि वेद में इन व्यक्तियों (देवापि-शन्तनु आदि) का इतिहास था या है, और उससे निरुक्त-बृहद्देवता-सर्वानुक्रमणी-महाभारत-पुराणादि में यह इतिहास आया, ऐसा आप मानते हो। अथवा पुराण-महाभारत-बृहद्देवतादि में इतिहास पाया जाता है, इससे सिद्ध होता है कि वेद में भी जो वर्णन है, वह इतिहास-परक ही है अर्थात् इन ग्रन्थों के उपर्युक्त स्थलों से वेद में इतिहास होने की पुष्टि होती है, ऐसा मानते हो?

देखिये! यदि प्रथम पक्ष को लें, तो आप ही बतलावें कि वेद के जिस सूक्त (ऋ० मं० १० सू० ९८) में आप इतिहास बताते हैं, क्या उस में उक्त इतिहास को प्रमाणित करनेवाली सभी बातें मिलती हैं? क्या 'देवापि' और 'शन्तनु' के नाममात्र आजाने से वेद के इस वर्णन को इतिहास कहा भी जा सकता है? इस बात पर गम्भीरता से विचार करें। हम आप से पूछते हैं क्या वेद के इन मन्त्रों में—

(१) देवापि और शन्तनु भ्राता थे, कौन कनिष्ठ, कौन ज्येष्ठ ?

(२) वह दोनों कौरव्य थे, वा कुरुकुल उत्पन्न थे ?

(३) उनके पिता का नाम क्या था, तथा उनके पूर्वजों की कुल परम्परा क्या थी ?

(४) उनका महाभारत प्रदर्शित तृतीय भाई बाह्लीक कहाँ गया, उस का चिह्नमात्र नहीं, यह क्यों ?

(५) शन्तनु का अभिषेक हुआ, अर्थात् राजसिंहासन पर बैठा ? क्या इसका वर्णन है ?

(६) देवापि कुष्ठ के कारण अथवा यों ही परिव्राजक बन गया ?

(७) बारह वर्ष वर्षा नहीं हुई।

इन उपर्युक्त बातों में से एक का भी अणुमात्र चिह्न पाया जाता है ? वेद में इस के मूल की गन्ध भी नहीं। जब ऐसी अवस्था है, तब यह बात कैसे सिद्ध हुई कि ऋग्वेद के इस सूक्त में देवापि और शन्तनु का इतिहास है ? आपने ही मूलमन्त्रों में जो पूर्वपक्ष उठाया है, उस में भी हमारी पूर्वनिर्दिष्ट बातों में से किसी एक का भी आप ने उल्लेख नहीं किया। और जो आपने अपने पूर्वपक्ष में पृ० १ पर कहा है कि—वृष्टि के लिये बृहस्पति, देवापि, पुनः बृहस्पति इनको सम्बोधित करके प्रार्थना की गई है। भला आप ही बतलाइये ! बृहस्पति और देवापि को सम्बोधित करने से यह कैसे सिद्ध हुआ कि यहाँ पर व्यक्तिविशेष को सम्बोधित किया है ? हाँ वृष्टि के लिये प्रार्थना, सो ऐसा होने में आपत्ति ही कौन सी है ? हम भी इस सूक्त को वृष्टिकामसूक्त ही मानते हैं, अतः 'अपः' 'पर्जन्य' 'वृष्टि' आदि शब्द सार्थक ही हैं, हम इन को निरर्थक कब कहते हैं।

(ii) हाँ जो 'देवापि' पुरोहित था, वही आर्ष्टिषेण, वही ऋषि, उसका ही वरण किया गया (मं० ७), सो हम भी देवापि को पुरोहित मानते हैं। मन्त्र ५ में आर्ष्टिषेण देवापि का विशेषण है, इस का अर्थ निरुक्तकार ने किया 'इषितसेन' अर्थात् 'प्रेषिता सेना येन' जिसने सेना को शत्रुओं के प्रति भेजा, अथवा जिसने इन्द्रियगणरूपी सेना को निगृहीत=संयत कर लिया हो। 'तस्य ऋष्टिषेणस्यायं आर्ष्टिषेणः' जिसने इन्द्रियग्राम (समूह) को वशीभूत कर लिया, तत्सम्बन्धी 'आर्ष्टिषेण' कहलायेगा।

शेष मन्त्र ७ का "ऋषि" शब्द भी विशेषणवाची है, "ऋषिर्दर्शनात्" साक्षाद्-द्रष्टा। तब आर्ष्टिषेण ऋषि-पुरोहित का अर्थ हुआ कि जो जिते-

न्द्रिय-साक्षात् कृतधर्मा एतद्गुणविशिष्ट पुरोहित। यह आध्यात्मिक अर्थ में समझना चाहिये।

इसमें पूर्वपक्षी का अधिक से अधिक इतना ही कहना है कि ७वें मन्त्र में पुरोहित शब्द आया है, आर्ष्टिषेण का उस से सम्बन्ध है, और वह ऋषि था।

सो 'पुरोहित' तो हम भी मानते हैं। इसमें कुछ विवाद नहीं। 'आर्ष्टिषेण' का अर्थ तुम करते हो 'ऋष्टिषेण का पुत्र' और उसी को 'ऋषि' (मं० ५ में) बतलाते हो, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा मानोगे तो महाभारत पुराणादि में जो देवापि को प्रतीप का पुत्र (देखो महाभारत आदिपर्व ६४।५६, ६२) लिखा है (यह भी वास्तव में एक पक्ष के अनुसार है, सर्वसम्मत नहीं) सो असङ्गत हो जायेगा। परस्पर विरुद्धहेत्वाभास में आ जायगा। यदि कहो आर्ष्टिषेण विशेषण नहीं, सो भी नहीं क्योंकि मन्त्र ८ में एक ही स्थान पर "आर्ष्टिषेण" "देवापि" दोनों पद प्रथमान्त पढ़े हुये हैं, वे दोनों विशेष्य नहीं हो सकते। एक विशेषण होगा, दूसरा विशेष्य होगा। विशेष्यविशेषण की यह व्यवस्था पूर्वाचार्यों ने भी मानी है, तद्यथा—स्कन्दस्वामी ऋग्वेदभाष्य १।१।४ पृ० ६, ट्रिवेण्ड्रम संस्क०—

अध्वरशब्दोऽयं यज्ञमित्यनेन पौनरुक्त्याच्च यज्ञनाम। किन्तर्हि? विशेषणम्।

अतः यदि आर्ष्टिषेण को विशेष्य मानोगे तो देवापि विशेषण होगा, यदि देवापि को विशेष्य मानोगे तो आर्ष्टिषेण विशेषणवाची सिद्ध होगा। 'तस्येदम्' (अ० ४।३।१२०) सूत्र से 'ऋष्टिषेणस्येदम्' ऋष्टिषेण सम्बन्धी जो भी कोई व्यक्ति वा वस्तु होगी, वह आर्ष्टिषेण कही जावेगी। केवल पुत्र अर्थ में ही आर्ष्टिषेण पद बनता हो, यह बात नहीं।

ऋषि शब्द तो वेद में अनेक स्थलों में विशेषणवाची आता है। तद्यथा—

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। (ऋ० ९।६६।२०)

अतः स्पष्ट है कि आर्ष्टिषेण-ऋषि और पुरोहित इन तीनों पदों के आने से कोई हानि नहीं। इन शब्दों का सम्बन्ध सब ठीक बैठ जाता है।

(iii) हां, मं० ८ में जो "आर्ष्टिषेणो मनुष्यः" ऐसा लिखा, उसकी व्यवस्था भी किञ्चित् ध्यानपूर्वक सुनिये। मन्त्र ५ में तो "आर्ष्टिषेणः ऋषिः" ऐसा पाठ है। अब यहाँ मन्त्र ८ में "आर्ष्टिषेणो मनुष्यः" ऐसा विप्रतिषिद्ध लेख वेद में कैसे आ सकता है?

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि 'मनुष्य' का अर्थ यहाँ पर आदमी-इन्सान नहीं, अपितु कुछ और है। आर्ष्टिषेण का अर्थ हमने ऊपर बतला ही दिया। अब 'मनुष्य' शब्द का अर्थ क्या है, सो भी सुनिये—

प्रकृत में हमारा कहना यह है कि यहाँ 'मनुष्य' शब्द विशेषणवाची है। जिसका अर्थ है मनुष्यसम्बन्धी, मनुष्यवाला, वा मनुष्यों के लिये हितकारी। जैसे ऋ० २।१८।१ में मनुष्य शब्द अभिधावृत्ति से रथ का विशेषण नहीं बन सकता, वहाँ मनुष्य का अर्थ 'मनुष्यों के लिये हितकारी' होता है, इसी प्रकार यहाँ भी मनुष्य शब्द लक्षणावृत्ति से मनुष्यों वाला, मनुष्यों के लिये हितकारी अर्थ को देता है, मनुष्यों वाला, 'जिस के सहायक बहुत से मनुष्य हों' ऐसा अर्थ सुसङ्गत हो जाता है।

(पूर्वपक्षी) क्या 'मनुष्य' जैसे सुस्पष्ट सूर्य के समान प्रकाशमान शब्दों का अर्थ भी तुम तोड़-मरोड़ कर अन्यथा करने का साहस करते हो!!

(सिद्धान्ती) भाई मेरे! आवेश में मत आओ। शान्ति से सुनो। अच्छा तुम ने 'मनुष्य' 'ऋषि' 'आर्ष्टिषेण' ये सम्बद्ध हैं, इसका कुछ उत्तर तो न दिया। दुःसाहस कहने मात्र से दुःसाहस नहीं हो जायगा। वेद-शास्त्रों का मर्म ऐसा नहीं, जो विना परिश्रम से समझ में आ सके।

'मनुष्य' शब्द का सर्वथा तद्रूप अर्थ, हम ने ऊपर लिखा, आप को वेद मूलमन्त्र से दिखाते हैं—

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥

ऋ० २।१८।१॥

नवो नवीनः, सस्निः शुद्धः, चतुर्युगः चत्वारि युगानि यस्य, त्रिकशः तिस्रः कशा यस्य, सप्तरश्मिः सप्त रश्मयो यस्य सः रथः प्रातः प्रातः-कालेऽयोजि अस्माभिर्युज्यते स च रथः दशारित्रो दशारित्रोदशारित्रवान् मनुष्यः मनुष्येभ्यो हितः, स्वर्षाः सुगतिशीलो मतिभिरिष्टिभिः रंह्यो गन्तुं योग्यः, अभूत् भवति।

इस मन्त्र में 'नवः', 'सस्निः', 'चतुर्युगः', 'त्रिकशः', 'सप्तरश्मिः', 'दशारित्रः', 'मनुष्यः', 'स्वर्षाः' ये सब पद रथ के विशेषण स्पष्ट हैं। इन की समानविभक्ति भी इसी बात की परिचायिका है। 'रथः' और 'मनुष्य' भी स्पष्ट समानविभक्तिक और विशेष्य विशेषण हैं। यहाँ 'मनुष्यः रथः' का अर्थ 'मनुष्यों के लिये हितकर रथ' ऐसा है। यदि

कहो कि हम पृथक्-पृथक् वाक्य मान कर अर्थ करेंगे, तब मन्त्र का अर्थ सङ्गत नहीं होता। यदि यह कहो कि हम तो 'रथ' को विशेष्य न मानकर विशेषण मानेंगे, तब 'नवः-त्रिकशः-सप्तरश्मिः-दशारित्रः' ये पद मनुष्य के विशेषण नहीं हो सकते। तुम्हारे दोनों वाक्य ठीक बनते भी नहीं, क्योंकि ऋचा के पूर्वार्द्ध में यदि 'रथ' का अपने विशेषणों सहित वर्णन है, और उत्तरार्द्ध में 'मनुष्य' का अपने विशेषणों सहित वर्णन है, तो प्रथम तो अर्थ ही सङ्गत नहीं होता, दूसरे 'दशारित्र' मनुष्य का विशेषण नहीं हो सकता। हाँ 'रथ' का विशेषण तो ठीक है। अब सम्पूर्ण मन्त्र में सब पद 'रथ' के विशेषण होने पर सुसङ्गत हो जाते हैं। केवल 'मनुष्य' पद ही रह जाता है, जिस का मन्त्र में अलग अर्थ कुछ भी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में हमारा उपर्युक्त 'मनुष्यः रथः'=कैसा रथ ? "मनुष्यों के लिये हितकर रथ"—यह अर्थ सुसङ्गत और सुसम्बद्ध हो जाता है।

(पूर्वपक्षी) क्या ऐसा अर्थ और किसी ने भी किया है ? या तुम्हारी अपनी बुद्धि की ही कल्पना है ?

(सिद्धान्ती) देखो भाई ! मान लो कि ऐसा अर्थ किसी ने नहीं किया, तो जो युक्ति तथा विशेषण न मानने में जो दोष हमने दर्शाये, क्या उन का समाधान तुम ने किया ? हमें समझ नहीं आता कि आप लोगों की कसौटी कौन सी है ? जब आप लोगों को किन्हीं पूर्वाचार्यों की सम्मति दर्शाई जाती है, तो तुम लोग उनको हेय बतलाकर मूलसंहिताओं की ओर भागते हो कि मूल संहिताओं में से दिखाओ। जब हम मूलसंहिता से ही उत्तर देते हैं, तो तुम 'क्या किसी और ने भी ऐसा अर्थ किया है' यह घोष (पुकार) मचाते हो !!!

देखिये ! वेदार्थ समझ में नहीं आ सकता, जब तक अपनी मति को स्थिर न कर लो। हम 'मनुष्य' शब्द का यही अर्थ (जो हमने ऊपर दर्शाया) इसी मन्त्र के सायणभाष्य में दर्शाते हैं। सायणाचार्य का पाठ निम्न प्रकार है—

"रथो रंहणाद्, रथो यज्ञः च स नवो नूयते स्तूयतेऽत्रेति नवः स्तुतिमान्········मनुष्यो मनुष्याणां हितः········।"

सायण ने 'रथ' को विशेष्य मान कर शेष सभी प्रथमान्त पदों को उसका विशेषण मान कर ही अर्थ किया है। 'मनुष्यः' का अर्थ सायण ने भी 'मनुष्यों के लिये हितकारी' किया है।

पाठक वृन्द ! तनिक विचारें कि इन लोगों की अवस्था कितनी दयनीय है !! यदि एक बात स्वामी दयानन्द कहता है, या हम लागों में से कोई कहता है, तो चाहे वह कितनी भी युक्तियुक्त आप्तप्रमाणयुक्त क्यों न हो, पर इन लोगों की बुद्धि में नहीं बैठती। यदि वही बात सायणाचार्य कह दें, तो ये लोग बिना ननुनच के मान लेते हैं। यह कितना पक्षपात है !!

अतः 'मनुष्य' शब्द भी देवापि मनुष्य है, या ऋषि है, यह नहीं बताता अपितु यहाँ मनुष्य का अर्थ है मनुष्यसम्बन्धी, मनुष्योंवाला, वा मनुष्यों के लिये हितकारी। सो पुरोहित मनुष्योंवाला होता ही है, क्योंकि अनेक मनुष्य उसकी पूजा वा उपचर्या के लिये उपस्थित रहते हैं।

विशेष्यविशेषणभाव पर हम यहाँ विस्तार से नहीं लिख सकते। पाठक इसका अधिक विवेचन हमारी यजुर्वेदभाष्यविवरण की भूमिका (पृ० ७८) में देखें।

इस प्रकार हम ने दर्शाया कि वेद के इन मूल मन्त्रों में किसी भी प्रकार का इतिहास नहीं।

(पूर्वपक्षी) मन्त्रों में विस्तार से इतिहास कैसे आ सकता है, वेदों में तो सब कुछ मूलरूपेण ही है। इसी प्रकार इतिहास भी मूलरूपेण ही है।

(सिद्धान्ती) यदि मूलरूप से हो तब भी ठीक है, मूलरूप से भी तो नहीं। 'आर्ष्टिषेण-देवापि-शन्तनु' का नाममात्र आ जाने से ही इतिहास कैसे सिद्ध होगा।

यहाँ इतनी बात और ध्यान देने योग्य है कि यदि वेद से लेकर ही महाभारतादि में यह इतिहास लिखा गया, तो भला जब तीसरे मन्त्र में देवापि बृहस्पति से प्रार्थना कर रहा है 'कि आओ हम दोनों मिल कर वृष्टि करें', तो ऐसे मुख्यव्यक्ति बृहस्पति को इन सब इतिहास वर्णन करनेवालों ने क्यों छोड़ दिया ? जबकि उसने वृष्टि की और ७वें मन्त्र में जब कि इस कार्य के लिये वाणी प्रदान भी कर रहा है।

छठे मन्त्र में ही जल बरस गया, क्योंकि उस में "देवापिना सृष्टाः प्रेषिता आपः"=देवापि के द्वारा उत्पन्न हुए वा प्रेरित हुए जल, ऐसा वर्णन है, देवापि ने यज्ञ द्वारा पृथ्वी पर ही तो जल बरसाया होगा। जब छठे मन्त्र में वर्षा हो चुकी, तो पुनः ८ वें मन्त्र में अग्नि से क्यों प्रार्थना करने की आवश्यकता हुई कि "हे अग्ने·····वृष्टिमन्तं पर्जन्यमीरय" अर्थात् मेघ बरसाओ। १०वें मन्त्र में पुनः अग्नि को कहा "हे अग्ने···

दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि" अर्थात् द्युलोक से वृष्टि बरसाओ, तथा १२वें मन्त्र में पुनः "दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह" द्युलोक से हमारे लिये भारी जल बरसाओ। इन पुनः पुनः कथनों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ये सब दोष हमने पूर्वपक्षी के मत में दर्शाये। सिद्धान्त पक्ष में तो बृहस्पति-अग्नि आदि भिन्न-भिन्न देवता होने से वृष्टि कर्म में इन सब की सहायता की आवश्यकता है, अतः उनसे वृष्टि की प्रार्थना करना उपयुक्त ही है।

हमारा कहना यह है कि जब देवापि-शन्तनु के नाम इस कथित इतिहास में आ गये तो ब्रह्मत्वेन वृत बृहस्पति और इन्द्र अग्नि देवों के नाम आने में कौन सी अड़चन थी? इनके नाम भी आने आवश्यक थे। कहने का तात्पर्य यही है कि देवापि शन्तनु ये दो नाम, तथा आर्ष्टिषेण, वृष्टि, पर्जन्य शब्द आ जाने मात्र से तो मूल संहिताओं में इतिहास का कोई स्वरूप बन नहीं जाता। हठधर्मी से मानते जाना दूसरी बात है। इसमें—

हमारी पूर्व (पृ० ३४७) कही हुई इतिहास सम्बन्धी ७-८ बातों का उल्लेख कुछ भी पाया नहीं जाता। भला इतिहास हो तब तो कोई उसकी शृङ्खला भी बने, जब है ही नहीं, तो बने कैसे? 'पुरोहित' शब्द आ जाने मात्र से वह प्रतीप के पुत्र शन्तनु का पुरोहित है, यह कैसे सिद्ध हुआ। इसलिये यह सब केवल कल्पनामात्र ही है। नाम तो वेदों से ले ले कर ही लोक में रखे जाते रहे और रखे जाते हैं। जैसा कि मनुस्मृति में भी कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥
मनु० १।२१॥

अर्थात् वेद शब्दों से लेकर ही आदि में सब नाम रखे जाते हैं और सब व्यवहारों का निश्चय होता है। हमारे उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध है कि वेद में अनित्य व्यक्तियों का इतिहास नहीं।

अब यदि दूसरी प्रक्रिया को ग्रहण करते हो कि पुराण-महाभारत-बृहद्देवतादि में इस प्रकार का इतिहास मिलता है; जिसका समन्वय वेद के उपर्युक्त मूलमन्त्रों से होता है, अर्थात् इस से वेद में भी इतिहास सिद्ध होता हैं, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो सात प्रश्न हमने पृ० ३४७ पर किये थे, उन पर विचार करने से निष्पक्ष मनुष्य को ज्ञात हो जाता

है, कि इनका परस्पर समन्वय कुछ भी नहीं बनता। हाँ, शन्तनु-देवापि-पुरोहित नाम मन्त्रों में अवश्य आते हैं, इन सबकी व्यवस्था हम ऊपर लिख चुके। अब महाभारत में आये इन नामों की विवेचना करते हैं।

१. महाभारत में "देवापि" और "शन्तनु"

महाभारत में 'देवापि' और 'शन्तनु' का उल्लेख तीन स्थानों पर आया है जैसाकि पूर्व पृ० ३४३, ३४४ में दर्शा दिया गया है। वहाँ का यह सार है कि—

(i) प्रतीप के तीन पुत्र उत्पन्न हुये, देवापि-शन्तनु-बाह्लीक। देवापि उन (भाईयों) के हित से परिव्राजक हो गया और इस प्रकार शन्तनु को राज्य मिला (महाभारत आदिपर्व अ० ९४ श्लोक ६०-६२)।

(ii) जनमेजय ने वैशम्पायन से पूर्वोक्त वंशानुक्रम सुन कर पुनः विस्तार से कहने को कहा। अतः उसने पुनः कहना आरम्भ किया—प्रतीप ने सुनन्दा शैव्या से विवाह किया। उसमें देवापि शन्तनु और बाह्लीक इन तीनों पुत्रों को उत्पन्न किया। देवापि बाल्यावस्था में ही जङ्गल को चला गया। शन्तनु राजा हुआ। (महाभारत आदिपर्व अ० ९५ श्लोक ४३)।

(iii) पुनः कर्णपर्व अ० ५६ श्लोक ४८ में कर्ण ने देवापि को मारा, केवल इतना लेख है। अब पाठक विचारें कि इतने लेख से यह कहाँ से ज्ञात हुआ कि—

(१) (१) देवापि के वन में चले जाने के कारण १२ वर्ष वर्षा न हुई।

(२) तब शन्तनु ने देवापि से प्रार्थना की कि राज्य ले लो।

(३) उसने मना किया।

(४) और कहा मैं तुम्हारा पुरोहित बनूँगा।

(५) शन्तनु ने उसका पुरोहितरूपेण वरण किया।

(६) वर्षासूक्त से प्रार्थना की, तब वर्षा हुई।

महाभारत के उपर्युक्त प्रकरण में पता भी तो इतना ही लगा कि ये दोनों भाई प्रतीप के पुत्र थे। देवापि परिव्राजक हो गया। इससे अधिक कुछ नहीं। 'देवापि परिव्राजक हो गया' क्या इतने मात्र को आधार मान कर महाभारत के इस स्थल को वेद के (ऋ० १०।९८) सूक्त के साथ कभी जोड़ा जा सकता है? क्योंकि इन दोनों बातों का वेद में कोई

वर्णन नहीं। यह ठीक है कि महाभारत की वंश-परम्परा में भीष्म के पिता शन्तनु का वर्णन है, जिस का भाई देवापि और उस का पिता प्रतीप था।

(२) आर्ष्टिषेण—देवापि—वेद के उक्त सूक्त में तथा निरुक्त बृहद्देवता में 'ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि' ऐसा लिखा है। जब इधर महाभारत में प्रतीप के पुत्र देवापि-शन्तनु और बाह्लीक लिखे हैं, तब महाभारत का देवापि अन्य है, निरुक्त बृहद्देवता का देवापि अन्य है, इनका परस्पर समन्वय कैसे हो सकता है?

(३) निरुक्त के प्राचीन टीकाकार स्कन्दस्वामी ने तो निरु० टी० भाग २ पृ० ७१ पर **"भीमसेनपुत्रौ भ्रातरौ बभूवतुः"** ऐसा लिखा है, जो न ही महाभारत में है, न ही बृहद्देवता आदि में। ऐसी अवस्था में सब एक ही इतिहास को बतला रहे हैं, यह कैसे सिद्ध हुआ?

(४) देवापि के परिव्राजक बनने के विषय में भी इन सब ग्रन्थों का परस्पर बहुत मतभेद है। महाभारत के अनुसार देवापि **"तेषां धर्महितेप्सया"** उन (भाइयों) के कल्याणार्थ परिव्राजक बना, ऐसा लिखा है। बृहद्देवता में—**"त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत्**......।
न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः........॥"

अर्थात्—"ऋष्टिषेण का पुत्र राजपुत्र (देवापि) कोढ़ी हो गया।... कुष्ठी होने के कारण मैं राज्य के योग्य नहीं" ऐसा लेख है। इसके अनुसार देवापि जन्म से ही कुष्ठरोगी उत्पन्न हुआ। इसी से उसे राज्य न मिला और वह अरण्य में चला गया।

(५) निरुक्त में—**"देवापिस्तपः प्रतिपेदे, ततः शन्तनो राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष"** अर्थात् देवापि तपस्वी हो गया। शन्तनु के राज्य में वर्षा न हुई। वह क्यों वन में चला गया, इस का कुछ भी वर्णन नहीं। निरुक्त में 'ऋष्टिषेणस्य पुत्रो देवापिः' लिखा, और उसका टीकाकार स्कन्दस्वामी भीमसेन का पुत्र कहता है। इससे सिद्ध है कि निरुक्त का देवापि महाभारत आदि के देवापि से भिन्न है। महाभारत और निरुक्त में पिता के नामों में ही भेद है। निरुक्त और उसकी टीका में और भी भेद हो गया, तीन ग्रन्थों में तीन भिन्न-भिन्न पिता। अच्छा इतिहास है! यदि गोत्रादि विशेषण होते तो भी कुछ बात होती, सो भी नहीं। अतः ऐसी अवस्था में यदि ये व्यक्ति हैं तो अवश्य ही भिन्न-भिन्न हैं। पाठक स्वयं विचार करें।

२. पुराण और देवापि शन्तनु

अब हम पाठकों के मनोरञ्जनार्थ इस कथा के सम्बन्ध में पुराणों में जो लेख है, उस पर भी विचार उपस्थित करते हैं।

यह स्मरण रहे कि मत्स्यपुराण-वायुपुराण तथा भागवत में परस्पर मिलता जुलता सा ही लेख है—

(१) **ब्रह्मपुराण**—अ० ६, श्लोक ३५ पृ० ६० पर निम्न लेख है—

शलात्मज आर्ष्टिषेणस्तनयस्तस्य काश्यपः।
काश्यपस्य काशिपो राजा पुत्रो दीर्घतपास्तथा ॥३५॥

अर्थात् शल का पुत्र आर्ष्टिषेण हुआ, उसका काश्यप, काश्यप का काशिप और दीर्घतपा दो पुत्र हुए।

(२) **मार्कण्डेय पुराण**—अध्याय १३४ श्लो० ७ पृ० ५६१॥

तदार्ष्टिषेणाद्द राजर्षेर्जगृहे योगमात्मवान्॥

अर्थात्—तब राजर्षि आर्ष्टिषेण से उसने योग की शिक्षा ग्रहण की।

(३) **वायुपुराण**—आनन्दाश्रम संस्करण, अ० ६६ श्लोक २३४-२३६ पृ० ३६७।

दिलीपसूनुः प्रतीपस्तस्य पुत्रास्त्रयः स्मृताः।
देवापिः शन्तनुश्चैव बाह्लीकश्चैव ते त्रयः॥२३४॥
देवापिस्तु प्रवव्राज वनं धर्मपरीप्सया।
उपाध्यायस्तु देवानां देवापिरभवन्मुनिः॥२३५॥
यं यं राजा स्पृशति वै जीर्णं समयतो नरम्।
पुनर्युवा स भवति तस्मात्ते शन्तनुं विदुः॥२३६॥

अर्थात्—दिलीप का पुत्र प्रतीप हुआ, उसके तीन पुत्र हुये देवापि, शन्तनु और बाह्लीक। देवापि धर्मकामना से परिव्राजक बन कर वन में चला गया। और देवापि देवों का उपाध्याय होकर मुनि बना…… राजा समय-समय पर जीर्ण शीर्ण को छूता था। वह फिर से युवा हो जाता था, इसी से उसे लोग शन्तनु नाम से जानने लगे।

(४) **मत्स्यपुराण**—अ० ५० श्लोक ३७-४६—

यहाँ ३७—३९ श्लोक वायुपुराण के उपर्युक्त श्लोकों २३४, २३५, २३६ से अक्षर-अक्षर मिलते हैं, इन में परस्पर कुछ भी भेद नहीं, वैसे के वैसे श्लोक हैं। ये श्लोक भागवत स्कन्ध ९ अध्याय २२ श्लोक ११-१३

से भी परस्पर सर्वथा मिलते हैं। मत्स्य पुराण में जो श्लोक भेद से आया है, सो निम्न प्रकार है—

फिलासीद् राजपुत्रस्तु कुष्ठी तं नाभ्यपूजयत् ॥४१॥

अर्थात् राजपुत्र (देवापि) कुष्ठी था, उसका अभिषेक नहीं हुआ।

(५) भागवत—स्कन्ध ९ अ० २२ श्लोक १०—१५ पृ० ४१७, शुकपरीक्षितसंवाद में वंशपरम्परा निम्न प्रकार है—

ऋष्यस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चात्मजः ॥११॥
देवापिः शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजः।
पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥१२॥
अभवच्छन्तनू राजा प्राङ् महाभिषसंज्ञितः।
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥१३॥
शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः।
समा द्वादश तस्य राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥१४॥
शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक्।
राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवर्धये ॥१५॥
एवमुक्ता द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत्।
तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद्विभ्रंशितो गिरा ॥१६॥
वेदवादातिवादान् वै तदा देवो ववर्ष ह।
देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ॥१७॥

अर्थात्—ऋष्य का पुत्र दिलीप हुआ, और उसका पुत्र प्रतीप हुआ, प्रतीप के तीन पुत्र देवापि, शन्तनु और बाह्लीक हुए। उन में देवापि पिता के राज्य को छोड़ कर वन में चला गया ॥१२॥ तब शन्तनु राजगद्दी पर बैठा। वह जिस-जिस जीर्ण को अपने दोनों हाथों से छूता था, वही युवा हो जाता था ॥१३॥ शन्तनु इससे बहुत ही प्रसन्न था। उसके राज्य में १२ वर्ष तक वर्षा नहीं हुई ॥१४॥ शन्तनु को ब्राह्मणों ने कहा कि नगर और राज्य की वृद्धि के लिये अपने बड़े भाई को राज्य सौंपो ॥१५॥ इस प्रकार ब्राह्मणों के कहने पर उस ने बड़े भाई को राज्य करने के लिये कहा ॥१६॥ उसके मन्त्रियों द्वारा भेजे हुए विद्वानों के वेदमन्त्र उच्चारण तथा वेदशास्त्रसम्बन्धी चर्चाओं से वर्षा हुई। देवापि योग का अवलम्बन करके कलाप ग्राम में रहने लगा ॥१७॥

यह वर्णन भागवत में है, जो कुछ अस्पष्ट सा ही है। अब हम इन पुराणों के पूर्वोक्त पाँचों स्थलों पर विचार करते हैं—

पूर्वोक्त पांचों स्थलों पर विचार

ब्रह्मपुराण में तो आर्ष्टिषेण को शल का पुत्र लिखा, न कि ऋष्टिषेण का। इस से इस का प्रकृत-कथा से समन्वय हो ही नहीं सकता। हाँ पुराणों के परस्पर विरुद्ध होने से इतरेतर समन्वय की बाधकता तो अवश्य होती है।

दूसरे मार्कण्डेयपुराण में आर्ष्टिषेण राजर्षि से योग प्राप्त किया, केवल इतना ही लेख मिलता है, जिस का कुछ भी सम्बन्ध प्रकृत में नहीं लग सकता।

शेष रहे वायु, मत्स्य और भागवत। सो भागवत बनानेवाले ने देवापि को पुरोहित नहीं बनाया (ऐसा प्रतीत होता है, उस ने यह सोचा होगा कि जो ब्राह्मण नहीं वह पुरोहित कैसे हो सकता है, इसलिये उसे पुरोहित न माना हो—सम्पादक) क्योंकि भागवत में यह नहीं लिखा कि देवापि पुरोहित बनाया गया और उसने वृष्टि की कामना से अमुक सूक्त द्वारा स्तुति की इत्यादि, तथा एक बात और लिखी कि **"पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः"** अर्थात् देवापि पिता के राज्य को छोड़कर (यह नहीं लिखा कि क्यों) वन को चला गया। परन्तु वायुपुराण में **"देवापि प्रवव्राज वनं धर्मपरीप्सया"** अर्थात् देवापि धर्मप्राप्ति की इच्छा से परिव्राजक हो गया। और इसी बात को मत्स्यपुराण में—

को दोषो राजपुत्रस्य प्रजाभिः समुदाहृतः।
किलासीद् राजपुत्रस्तु कुष्ठी तं नाभ्यपूजयत्॥

अर्थात्—राजा ने राजपुत्र का दोष क्या दर्शाया। राजपुत्र कोढ़ी था, उसको प्रजा ने राजसिंहासन पर न बिठाया।

पाठक वृन्द! विचार करें कि पुराणों के लेखों में परस्पर कितना विरोध है। ब्रह्मपुराण और मार्कण्डेय तो आर्ष्टिषेण को सर्वथा भिन्न बतलाते हैं। वायु, मत्स्य और भागवत भी परस्पर मिल कर इस आख्यान का प्रतिपादन नहीं करते। भागवत में तो—

शलश्च शन्तनोरासीद् गङ्गायां भीष्म आत्मवान्॥

इस श्लोक में स्पष्ट शल को शन्तनु का पुत्र कहा है। उधर ब्रह्मपुराण में—

शलात्मज आर्ष्टिषेणस्तनयस्तस्य काश्यपः॥

आर्ष्टिषेण को शल का पुत्र कहा। देखिये कितना परस्पर विरोध है।

(पूर्वपक्षी) क्यों जी ! आप पुराणों के इन थोड़े-थोड़े विरोधों को लेकर इनका खण्डन करते हो। परस्पर मिलनेवाला अंश तो अधिक ही है। दूसरे यह भी लोकानुसार है कि एक ही विषय के अनेक लेखकों में परस्पर कुछ भेद रहना स्वाभाविक है। देखना यह है कि मूल कथा एक जैसी है या नहीं।

(सिद्धान्ती) अच्छा हम आप से पूछते हैं कि आप किस की कही कथा को प्रामाणिक मानते हो? यदि कहो भागवत की कथा को, तो ब्रह्म-मार्कण्डेय-वायु और मत्स्य इन पुराणों की कथा तो असत्य हो गई। वायुपुराण की ठीक मानो तो शेष असत्य ठहरती हैं। इसी प्रकार सबके विषय में समझो।

यदि कहो इन सब का सर्वसम्मत भाग हम मानते हैं, तो भी केवल इतना सिद्ध हुआ कि देवापि-शन्तनु प्रतीप के पुत्र थे। देवापि परिव्राजक हो गया। शन्तनु के राज्य में वर्षा न हुई। देवापि के कारण हुई इत्यादि।

सो यह सत्य इतिहास (प्रतीप के पुत्र इतना छोड़कर, क्योंकि वेद में इनका कोई उल्लेख नहीं) तो हम भी मानते हैं। पर इसका स्वरूप क्या है, यह समझना आवश्यक है। इतना तो निरुक्तकार ने भी लिखा है। इस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे। यहाँ तो इतना ही अभिप्रेत है कि पुराण बनानेवालों ने इन इतिहासों के स्वरूप को बिगाड़-बिगाड़ कर लिखा है। इनका जो सत्यांश है, वह तो प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में है ही, जिनका स्वरूप भी वह नहीं, जो पूर्वपक्षी समझ रहे हैं। ये सब किन्हीं व्यक्तिविशेषों का वर्णन नहीं अपितु—**"औपचारिकोऽयं मन्त्रे-व्वाख्यानसमय इति शास्त्रे सिद्धान्तः"** ये औपचारिक वर्णन हैं। सो यदि पूर्वपक्षी इतने तथा इस प्रकार के इतिहास के सर्वसम्मतांश को मानते हों तो उन में और हम में कुछ भेद नहीं रह जाता। पर ये लोग तो पुराणों में लिखे इन परस्पर विरुद्ध लेखों को वेद के सिर मढ़ते हैं, जिनका कुछ सिर पैर नहीं। विना आधार के ये कैसे ठीक माने जा सकते हैं। गौण इतिहास मानने से ही इनकी सङ्गति ठीक बैठती है।

३. निरुक्तकार और देवापि शन्तनु

(पूर्वपक्षी)—अच्छा आपके दर्शाने से यह तो ज्ञात हुआ कि पुराणों की कथायें सब भिन्न २ हैं, तथा महाभारत में भी देवापि शन्तनु का वंश परम्परा के प्रसङ्ग में ही वर्णन है। परन्तु निरुक्तकार ने तो **"तत्रेतिहास-**

माचक्षते" अर्थात् पूर्वोक्त विषय में इतिहास बतलाते हैं, ऐसा स्पष्ट ही लिखा है। "देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः"। अर्थात् "आर्ष्टिषेण देवापि और शन्तनु दोनों कुरु कुल के भाई थे" ऐसा स्पष्ट ही लिखा है। आगे उस सारे इतिहास का वर्णन किया है, जो हम अपने पूर्वपक्ष के आरम्भ में दर्शा चुके हैं, उसका क्या करोगे?

क्या यास्कमुनि के इस लेख को भी आप लोग किसी प्रकार अन्यथा कर सकते हैं? निरुक्त को तो आप भी प्रमाण मानते हो। जब निरुक्त से यह इतिहास सिद्ध होता है, तो स्वल्प भेदयुक्त होता हुआ महाभारत और पुराणादि में भी यह स्वतः सिद्ध है।

(सिद्धान्ती) हम आरम्भ में ही निरुक्त के इस स्थल पर विचार चलाते, पर यतः आप लोग पुराणादिकों को ही आधार मान कर इन कथाओं को वेद से सिद्ध करने का यत्न करते हैं। इस कारण हम ने पूर्व प्रकरण में पुराणादि के अन्तर्गत देवापि शन्तनु के इतिहास की विवेचना की। निरुक्तकार ने देवापि और शन्तनु के इतिहास का जो वर्णन किया है, उसकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

निरुक्तकार यास्कमुनि इतिहास किसे मानता है, इसके लिये निम्न बातों को ध्यान में लाना चाहिए—

(१) यास्क वेद को अपौरुषेय मानता है, जैसा कि निरुक्त में—

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे। (निरु० १।२)।

अर्थात् पुरुष की विद्या अनित्य है, उसके अनित्य होने से वेद में कर्मों की सम्पत्ति (सम्पूर्णता) का विधान है, अर्थात् वेद अपौरुषेय तथा नित्य हैं।

तथा च निरु० २।११ में "**ब्रह्म स्वयम्भूरभ्यानर्षत्**" स्वयम्भू ने ब्रह्म= वेद को प्रकट किया अर्थात् वेद को किसी पुरुष ने नहीं बनाया। वहाँ 'अभ्यानर्षत्' क्रिया में अन्तर्णीतण्यर्थ समझना चाहिये।

(२) "**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।**"

निरु० १०।१०

अर्थात् साक्षाद् द्रष्टा ऋषि की इस प्रकार (आख्यान वा इतिहास के रूप में) कहने की प्रीति होती है, दूसरे शब्दों में ऋषि लोग आख्यान वा इतिहास आदि से युक्त वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हैं, यह उनके व्याख्यान करने की शैली समझनी चाहिए।

(३) यास्क ने वृत्रासुर संग्राम वाली कथा का वर्णन करते हुए—**"त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः"** लिखकर निरुक्त के जिज्ञासु के लिये यह स्पष्ट कर दिया कि मेरे (यास्क के) इतिहास का क्या स्वरूप है। वहाँ स्पष्ट लिखा है—**"तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति"** (निरु० २।१६) अर्थात् यह जो वृत्र का वध कहा सो यह वास्तविक घटना है, ऐसा मत समझ लेना, अपितु यह "उपमार्थेन" उपमारूप से औपचारिक (गौण) वर्णन किया है। अब यदि कहो कि तुम जो कहते हो कि निरुक्त का इतिहास ब्राह्मणों का इतिहास है, तो ब्राह्मणों में इस का आधार बताओ, सो शतपथब्राह्मण ने ११।१।६।९ में स्पष्ट लिखा है—

"तस्मान्नैतदस्ति यद् दैवासुरमिति"।

अर्थात् मन्त्रों में जो दैवासुरयुद्ध कहा जाता है कि देवों और असुरों में युद्ध हुआ, सो यह वास्तव में ही ऐसा युद्ध हुआ, सो बात नहीं। ऐसा शतपथब्राह्मण के कर्ता का कहना है।

हमारा यह विचार है कि निरुक्त के प्रायः सब इतिहासों का आधार ब्राह्मण आरण्यकादिकों में रहा होगा। वे सम्पूर्ण ब्राह्मण इस समय मिल नहीं रहे हैं। इस समय उपलब्ध होनेवाले समस्त ब्राह्मणों में देवापि शन्तनु का नाम नहीं आया। इस का क्या कारण है, सो निश्चय से अभी कहना तो कठिन है।

(४) **"इत्यैतिहासिकाः", "इति नैरुक्ताः", "इति याज्ञिकाः", "इति परिव्राजकाः"।**

ऐसा लिखकर यास्क ने यह स्पष्ट बतला दिया कि एक ही मन्त्र का अर्थ जहाँ पर नैरुक्त पक्ष से होता है, वहाँ उसी मन्त्र का अर्थ याज्ञिक और ऐतिहासिक पक्ष से भी होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यास्क मुनि वैदिक इतिहास को व्यक्तिविशेषों (Proper Names) का इतिहास नहीं मानते।

(५) निरु० १२।१ में—

तद् कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके अहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः।

"अश्विनौ" कौन हैं, यह बतलाते हुये अनेकविध अर्थों का प्रतिपादन यास्क करते हैं। यास्क ने इन अश्वियों को द्यावापृथिवी बतलाया, चन्द्रमा और सूर्य भी इन का ही नाम है, दिन रात को भी अश्विनौ कहते हैं। यह सब बतलाकर आगे यास्क कहते हैं—पर ऐतिहासिक (ब्राह्मण-

कार ?) इन को "पुण्यकृतौ राजानौ" पुण्यात्मा वाले दो राजा मानते हैं। इससे भी व्यक्त है कि यास्क ऐसा इतिहास मानते हैं, जो द्यावा-पृथिवी-अहोरात्र-सूर्याचन्द्रमसौ पर भी सङ्घटित हो सकता हो। यह तभी हो सकता है जब वास्तविक इतिहास न मान कर औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन माना जावे।

(६) यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि निरुक्तकार यास्क ही नहीं, अपितु सकल नैरुक्त आचार्य नाम को धातुज मानते हैं। अर्थात् संसार में सब नाम शब्द यौगिक वा योगरूढि हैं, रूढि नहीं। कुछ वैयाकरण रूढि भी मानते हैं। पतञ्जलि "नैगमरूढिभवं हि सुसाधु" (महाभाष्य ३।३।१) में नैगम (निगम=वेदसम्बन्धी शब्दों) को रूढि शब्दों से भिन्न बतला कर वेद के शब्द रूढि नहीं, यह निश्चित सिद्धान्त बतलाते हैं। तथा यास्क अपने 'निघण्टु' ग्रन्थ में भी 'कण्व' को मेधावी नामों में तथा 'कुरवः' को ऋत्विक् नामों में पढ़ते हैं। इस से स्पष्ट है कि यास्क को यौगिक प्रक्रिया ही अभीष्ट है। नहीं तो इन शब्दों के पूर्वोक्त अर्थ किसी भी प्रकार नहीं हो सकते।

प्रत्येक ग्रन्थ की अपनी-अपनी परिभाषायें (Technicalities) तथा अपने-अपने नियम (Formulas) होते हैं, जब तक उनको न समझ लिया जावे, तब तक ग्रन्थकार के अभिप्राय को कदापि नहीं समझा जा सकता।

अब हम निरुक्तगत उक्त स्थल का अभिप्रायार्थ लिखते हैं—

देवापि प्रकाशमान विद्युत् का नाम है, शन्तनु जल है। बृहस्पति स्तनयित्नु (शब्दात्मक अशनि) से पहिले शन्तनु ने प्रार्थना की। दोनों ने मिलकर अग्नि (विद्युत् का भेदनात्मक अंश) को साथ मिलाने के लिये उस से प्रार्थना की कि वर्षा वर्षाओ। इन्द्र (सामान्य त्रिगुणात्मक) विद्युत् का नाम है। ऋष्टिषेण नाम मरुतों का है। इस सूक्त में यह वर्णन प्राकृतिक पदार्थों विद्युत्-जल और अग्नि का है। यह सूक्त का संक्षिप्त अभिप्राय हुआ।

निरुक्त के पूर्वोक्त स्थल का अभिप्राय इस प्रकार है—निरुक्त के इस (अ० २ खं० १०) स्थल में वेद के इस (ऋ० १०।९८) सूक्त में प्रकृति के सौन्दर्य (Phenomena of Nature) को दर्शाया गया है। देवापि नाम है विद्युत् का, जो ऋष्टिषेण मरुतों से उत्पन्न होता है। उसका भ्राता शन्तनु उदक (जल) है। दोनों कौरव्यौ=कौरव्य नाम कर्मशील

हैं। सदा कर्म करने में प्रवृत्त रहते हैं। दोनों में कुछ मनोमालिन्य हो गया। शन्तनु उदक प्रधान बन बैठा। विद्युत् रूपी देवापि उपेक्षा करके पृथक् हो गया, वन में चला गया। तब उदक (जल) महाराज को चिन्ता पड़ी। (वर्षा न होने से उसे चिन्ता हुई। समुद्र का शोषण ही होता चला जावे और मेघ-वर्षा से नदियों द्वारा पानी आवे नहीं, तो शनैः शनैः समुद्र भी समाप्त हो ही जायगा)। द्वादश वर्ष (बारह मास वा बहुत समय तक) वर्षा नहीं हुई। तब उसे ब्राह्मणों (विद्वानों) ने कहा कि तुमने अपने भाई देवापि विद्युत् की उपेक्षा की, उस को प्रधान न मान कर तू स्वयं प्रधान बन बैठा, इसी से वर्षा नहीं होती। तब शन्तनु उदक को होश आई। उसने देवापि से कहा, लो महाराज अपनी गद्दी। तब देवापि विद्युत् महाराज बोले, मैं तुम्हारा पुरोहित (पुर एनं दधातीति) बन कर रहूंगा। उसका यह वर्षकामसूक्त है (अर्थात् वर्षा की कामना करनेवाला इस सूक्त से यज्ञानुष्ठान करे)।

यह है यास्क के ऐतिहासिक पक्ष का अभिप्राय, जो उस ने दोनों मन्त्रों से पूर्व अपनी अवतरणिका में दिया है। पाठक विचारें यह कैसी मनोरञ्जक कथा है।

इस से सिद्ध क्या हुआ? यही कि विद्युत् और जल परस्पर एक दूसरे के आश्रित हैं। विद्युत् मेघों से उत्पन्न होती है, जल से उत्पन्न होती है। यज्ञाग्नि मेघों की उत्पत्ति में विशेष हेतुभूत है। ब्रह्मा उद्गातादि इस यज्ञाग्नि के उत्पादक कहे जा सकते हैं। संसार में जब-जब अनावृष्टि आदि ताप उपस्थित होते हैं तो यज्ञाग्नि के द्वारा मेघ-विद्युत् से वृष्टि अवश्यम्भावी है। ऋग्वेद के इस सूक्त का यह सार है। इन मन्त्रों पर विचार करने से अत्यन्तोपयोगी और मनोरञ्जक भावों का प्रकाश हो रहा है। यहाँ पर हम ने निर्देशमात्र ही लिखा है। सम्पूर्ण सूक्त का विस्तृत अर्थ आगे लिखेंगे।

इस अवतरणिका से आगे जो वेदार्थ यास्क ने लिखा है, उसमें तो कहीं पर भी इतिहास का प्रतिपादन नहीं। यदि इतिहास का उल्लेख होता, तो यास्क अवश्य ही आगे मन्त्रार्थ दर्शाते समय भी उसको लिखते। यदि केवल मन्त्रार्थ को ही देखा जावे, अर्थात् पूर्वोक्त अवतरणिका को छोड़ दिया जावे तो इतने से कोई नहीं कह सकता कि यहाँ इन दोनों मन्त्रों के अर्थों में यास्क देवापि और शन्तनु का इतिहास है, ऐसा मानते हैं, जैसा कि कहा जाता है।

(ii) शेष रहा उस में के कुछ स्थल—कि यास्क ने "आर्ष्टिषेण" को "ऋष्टिषेणस्य पुत्रः" ऐसा लिखा, सो भी कोई आपत्ति की बात नहीं। पुत्र शब्द को देख कर घबराने की आवश्यकता नहीं। निरुक्त में 'पुत्र' शब्द अनेक स्थलों में आया है—

पुत्रः=प्रभवः (निरु० ९।१४)।
अदितिः स पिता स पुत्रः (निरु० ४।२३)।
उषः पुत्रस्तवान्यः (निरु० १२।२)।
पुत्रं च वह्निम् अर्वाह्निं च स्त्रियम् (निरु० ३।६)।
दिवोऽन्यः सुभगः पुत्र ऊह्यते आदित्यः (निरु० १२।३)।
नपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम् (निरु० ८।५)।

इन उपर्युक्त स्थलों में नि० ९।१४ में इषुधि से निकलने के कारण इषु को उस का पुत्र कहा। निरु० ४।२३ में अदिति को ही पिता और पुत्र दोनों कहा। निरु० १२।२ में 'उषा का पुत्र' ऐसा वर्णन है। निरु० ३।६ में वह्नि को पुत्र कहा। निरु० १२।३ में आदित्य को द्युलोक का पुत्र कहा। निरुक्त ८।५ में दूध को गौ का पौत्र कहा गया। निरुक्त के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यास्क पुत्र का अर्थ लौकिक (लोक प्रसिद्ध) सन्तान ही अर्थ नहीं करते, अपितु पुत्र का अर्थ "प्रभव" उत्पन्न हुआ भी करते हैं।

(iii) निरुक्त के पूर्वोक्त स्थल में ही "इषितसेनस्य वेति" यह लिख कर निरुक्तकार ने यह संज्ञावाचीशब्द नहीं है, यह सदैव के लिये स्पष्ट कर दिया। देवापि ऋष्टिषेण का पुत्र था, या इषितसेन का, या विकल्प से, या क्या? जब ऋष्टिषेण का पुत्र निश्चित हो गया, तब पुनः विकल्प दर्शाने की आवश्यकता ही क्यों पड़नी चाहिये। लोक में यदि किसी को कहा जावे कि देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है, फिर कह दिया जावे कि सोमदत्त का है, अथवा विष्णुदत्त का है। सन्दिग्ध हो तभी ऐसा कहा जा सकता है। निश्चित अवस्था में पिता के नाम में विकल्प करने से तो सुननेवाले प्रत्येक को उसके वर्णसंकर वा पितृसंकर होने का ही सन्देह होगा। 'वा' शब्द का प्रयोग निरुक्त में प्रायः सर्वत्र किया है, जिस का रहस्य दूसरा ही है[1]।

---

१. पाठक इस विषय में यजुर्वेदभाष्यविवरण-भूमिका, पृष्ठ ७४ की टिप्पणी में देखें।

(iv) देवापि को भी "देवानामाप्त्या" देवों की प्राप्ति के कारण देवापि, ऐसा लिखा, न कि संज्ञावाची (Proper name) होने से। 'शन्तनु' की व्युत्पत्ति, 'पुरोहित' शब्द का निर्वचन भी इसी बात को सिद्ध करता है।

(v) अन्त में "बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्" अर्थात् 'बृहस्पति ब्रह्मा था' ऐसा निरुक्तकार ने लिखा, बृहस्पति को मन्त्र में सम्बोधित भी किया गया है। क्या 'ब्रह्मा' कोई व्यक्तिविशेष है? यदि है तो उपर्युक्त पुराणों के उद्धरणों में क्यों नहीं लिखा? उन में तो 'ब्रह्मा' वा 'बृहस्पति' का निर्देशमात्र भी नहीं। इससे निरुक्तप्रदर्शित इस प्रकरण का महाभारत पुराणादि के इतिहास के साथ सम्बन्ध ही नहीं बैठता।

हमारे पक्ष में 'ब्रह्मा' से 'यज्ञनेता' अभिप्रेत है, क्योंकि इस में प्रमाण भी है—

"बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा" श० १।७।४।२१॥

अर्थात् यज्ञ के नेता को यहाँ बृहस्पति कहा गया है।

पाठकगण! अब आप भली भाँति यह निश्चित कर सकते हैं कि निरुक्तकार यास्कमुनि के इतिहास का क्या स्वरूप है, और निरुक्त में आये इस स्थल का क्या अभिप्राय है।

४. बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी और देवापि शन्तनु

बृहद्देवता में देवापि-शन्तनु का जो उल्लेख पूर्वपक्ष में(पृ० ३४२,३४४) दर्शाया गया है, अब उस की व्यवस्था पर विचार करना है। हम पूर्व (पृ० ३५७) यह दर्शा चुके हैं कि इन सब में परस्पर भेद है। बृहद्देवता में—"त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत्" देवापि जन्म से कुष्ठी उत्पन्न हुआ। तथा—"न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शन्तनुः" "मैं (देवापि) कुष्ठी होने से राज्य का अधिकारी नहीं, तुम शन्तनु को राजा बनालो" क्या यह परस्पर विरुद्ध नहीं?

बृहद्देवताकार के इस लेख से यह सिद्ध होता है कि शन्तनु तो देवापि की आज्ञा से राजसिंहासन पर बैठा। तब उस का क्या अपराध था? जो उस के राज्य में वर्षा न हुई। निरुक्त में—

"अधर्मस्त्वयाचरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितम्"

तुमने पाप किया जो बड़े भाई को हटाकर राजगद्दी पर बैठ गये। सो यह दोनों स्थल निरुक्त तथा बृहद्देवता में परस्पर विपरीत हैं। यदि

इन दोनों को व्यक्तिविशेषों का इतिहास माना जावे, तो दोनों में से एक ही ठीक हो सकता है।

हाँ जब निरुक्त के इतिहास को, जैसा कि हम पूर्व लिख आये, औपचारिक वा आलङ्कारिक इतिहास माना जावे, तब तो बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी की व्यवस्था स्वयं ही ठीक हो जाती है।

इस विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि बृहद्देवता शौनक का बनाया है, ऐसा कहा जाता है। हमारा ऐसा विचार है कि शौनक के किसी शिष्य अथवा अनुयायी ने इसका ग्रन्थन किया। देवता के विषय में यह ग्रन्थ अन्तिम प्रमाण हो, सो बात नहीं। देवताविषय इस में सर्वाङ्गपूर्ण भी नहीं। योरुपीय विद्वान् मैकडानल ने भी इसे "Attributed to Shaunaka" ऐसा लिखा। इस से भी सिद्ध है कि बृहद्देवता शौनक का है, यह नहीं कहा जा सकता। एक विशेष बात यह भी है कि सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता के देवताओं में भी परस्पर अनेक स्थलों में भेद है। इस से भी इन दोनों की प्रामाणिकता का यथार्थ बोध हो जाता है। इसका विवेचन पाठक अन्यत्र[1] देख सकते हैं।

भाव यह है कि निरुक्त के आधार पर बृहद्देवता के कर्त्ता ने कथाओं का उल्लेख किया, जिस में निरुक्त से अनेक भेद हैं। पुनः उस के पीछे बृहद्देवता को आधार मानकर प्रायः सर्वानुक्रमणी की रचना हुई, यही कहना होगा। अब जब निरुक्तकार ने अपने इतिहास का स्वरूप अनेक स्थलों द्वारा स्पष्ट कर दिया, तो इस के पीछे चलनेवाले बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी की स्थिति ही क्या रह जाती है? हाथी के पग में सबका पग। प्रकरण बढ़ न जावे, इस विचार से हमने यहाँ इस विषय पर अधिक लिखना उचित नहीं समझा।

५. इतिहासवाद पर प्राचीन आचार्यों की धारणा

(पूर्वपक्षी) क्यों जी! जब आप इस (देवापि-शन्तनु आदि) प्रकरण के सब प्रकरणों की इस प्रकार व्यवस्था करते हैं, जैसे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा। क्या इन से पूर्व भी यही मत किन्हीं नैरुक्तों अथवा वेद के आचार्यों, वेदभाष्यकारों का था या नहीं? या यह केवल स्वकपोल-कल्पित मात्र ही है? सायणाचार्य ने इन स्थलों का ऐसा अर्थ क्यों नहीं किया? तुम्हारी बात ही कैसे ठीक मानी जावे?

---

१. देखो 'वेद और निरुक्त'।

(सिद्धान्ती) भला आप यह तो बताइये—यदि स्वामी दयानन्द से पूर्व किसी ने न भी ऐसा लिखा हो, या ऐसा लेख न प्राप्त होता हो, तो क्या इतने से ही यह बात अप्रामाणिक हो जायगी? क्या किसी बात की सत्यता केवल दूसरों के कह देने या न कह देने पर ही निर्भर हुआ करती है, या उसकी अपनी आन्तरिक सत्यता भी हुआ करती है? मोटी बात है—वेद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं, परमात्मा का ज्ञान हैं, यह माननेवाले सायणादिकों के अर्थों से यदि उनकी अपनी ही यह प्रतिज्ञा सिद्ध न हो, तो वेद का वेदत्व क्या रहा? जिसमें वेद का वेदत्व ही नष्ट हो जावे, वह अर्थ कैसे ग्राह्य हो सकता है? दयानन्द सरस्वती के इतिहासादि के इन अर्थों को स्वीकार करने में वेद का वेदत्व भी बना रहता है, साथ ही प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों ब्राह्मण-आरण्यक-निरुक्त-महाभाष्य-दर्शनादि में स्वीकृत वेद का स्वरूप और वेदार्थ की शैली के भी विपरीत नहीं पड़ता, अपितु इन ग्रन्थों के साथ यथावत् समन्वय हो जाता है।

यहाँ पर हम यह भी कह देना चाहते हैं, कि हम पूर्वपक्षियों के दो विभाग करते हैं। प्रथम तो वे, जो वेद को ईश्वरप्रणीत नहीं मानते। उनके विचार के लिये हम इस इतिहासवाद के विषय में पूर्व प्रकरणों में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। दूसरे वे लोग हैं, जो वेद को अपौरुषेय मानते हैं, और ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों को भी परतःप्रमाण मानते हैं। सायणाचार्य को हम दूसरी कोटि में समझते हैं। वेद के अपौरुषेयवाद आदि की युक्ति हम ऐसे ही व्यक्तियों के सामने रखते हैं। प्रथम कोटि वालों के आगे नहीं।

ऐसी अवस्था में यदि सायणाचार्य आदिकों की बुद्धि में इन अर्थों की स्फूर्ति नहीं हुई तो यह उनकी अपनी अयोग्यता-अज्ञान ही हो सकता है, और कहा भी क्या जा सकता है?

सायणाचार्य वेद को नित्य-अपौरुषेय अथवा पुरुष=परमात्मा अतः पौरुषेय (ईश्वरनिर्मित) परमात्मा का ज्ञान मानता है। देखो सायण-ऋग्भाष्यभूमिका पृ० १४—

"वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात्"

अर्थात् परमेश्वरनिर्मित होने से पौरुषेय (पुरुष=परमात्माकृत) हैं। दर्शनकार वेद को पुरुष अर्थात् जीवकृत न होने से अपौरुषेय और पुरुष अर्थात् परमात्माकृत होने से पौरुषेय मानते हैं, अर्थात् इस में कोई भेद नहीं।

"वेद परमेश्वरनिर्मित हैं" इस प्रतिज्ञा को सायणाचार्य अपने भाष्य में अन्त तक नहीं निभा सके। जिसका वास्तविक कारण हमारी दृष्टि में व्यवसायात्मक बुद्धि का अभाव ही है। इस विषय में पाठक हमारी यजुर्वेदभाष्यविवरण-भूमिका पृ० ६४ में देख सकते हैं। इस में सायणाचार्य का अपना दोष ही है। उधर यदि स्वामी दयानन्द ने वेद के वेदत्व की सर्वशास्त्रसम्मत प्रतिज्ञा को निभाया, तो इससे उनके प्रौढ़ वैदुष्य का ही परिचय मिलता है। असावधानता से चाहे उनके पीछे उनके भक्तों ने उनके लेखों की यथोचित रक्षा नहीं की, यह दूसरी बात है॥

अतः सायणाचार्य का इन (देवापि-शन्तनु आदि) स्थलों में अनित्य व्यक्तियों के इतिहासपरक ही अर्थ करना इस बात का प्रमाण नहीं, कि सायण ही ठीक है, अन्य भूल पर हैं। दुर्जनसन्तोषन्याय से हम सायणाचार्य से लगभग ८००-९०० वर्ष प्राचीन इस समय तक उपलब्ध होनेवाले वेदभाष्यों में सब से प्राचीन ऋग्भाष्य के कर्त्ता आचार्य स्कन्दस्वामी का मत दर्शाते हैं, जिससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि सायण यहाँ तक नहीं पहुंच सका।

आचार्य स्कन्दस्वामी और देवापि शन्तनु

स्कन्दस्वामी की निरुक्तटीका भाग २ पृ० ७१-७८ में इसी प्रकृत प्रकरण अर्थात् देवापि और शन्तनु के विषय में बहुत ही उत्तम उद्धरण मिलता है। उसमें लिखा है—

(१) **"देवापिः शन्तनुश्च कौरव्यौ कुरुवंशप्रभवौ भीमसेनपुत्रौ भ्रातरौ बभूवतुः।·········स (देवापिः) च किल च्यवननामापरनाम्नि ऋष्टिषेणे ब्रह्मचर्यमुवास। स गुर्वनुग्रहात् तेनैव शरीरेण वीतहव्यवद् विश्वामित्रवच्च ब्राह्मणो बभूव······।"**

देवापि और शन्तनु कुरुवंशी भीमसेन के पुत्र (महाभारत में सर्वत्र प्रतीप के पुत्र लिखा है) परस्पर भ्राता थे।······उस देवापि ने अपने गुरु च्यवन, जिसका दूसरा नाम ऋष्टिषेण था, के पास ब्रह्मचर्य का पालन किया। यहाँ देवापि को ऋष्टिषेण का शिष्य लिखा है, न कि पुत्र। पृ० ७३ पर भी उसे अन्तेवासी=शिष्य लिखा है—

आर्ष्टिषेणश्च्यवन इहाभिप्रेतो यथा तथा पुरस्तादुपवर्णितम्, इतिहासस्मृतेः प्रामाण्यात्, अतोऽन्तेवासी पुत्रोऽत्राभिप्रेतः।

निरुक्त में "ऋष्टिषेणस्य पुत्रः" स्पष्ट लिखा है। अनित्य व्यक्तियों का इतिहास माननेवालों के मत में यह परस्पर विप्रतिषिद्ध होगा।

(२) स्कन्द के मत में कोई विरोध नहीं आता। ऋष्टिषेण का अर्थ स्कन्द ने—पृ० ७३—

ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनां, अन्तश्चरशत्रूणां सेनासमुदायः, स चेन्द्रियाणाम्। एतदुक्तं भवति—विषयाभिलाषवैमुख्याद् कामादि, चित्तमलरेषणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य इषिता वा प्रेषिता वा गता वा पराङ्मुखीभूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य।

अर्थात् ऋष्टि नाम है रेषण वा हिंसा का, कामादि की हिंसा। सेना-समुदाय से यहाँ इन्द्रियों का समूह समझना चाहिये। विषयवासना से विमुख होकर कामादि चित्त के मलों का नाश करना प्रधान कार्य है। जिसकी इन्द्रियों का (वह ऋष्टिषेण कहा जाता है)। विपरीत चलने वाली इन्द्रियों को प्रत्याहार द्वारा विषयों से पृथक् करनेवाला।

(३) आगे पृ० ७६ पं० १३—

बृहस्पतिर्ब्रह्मासीदिति भाष्यानुरोधादेवं व्याख्यायते, मन्त्राक्षराणां तु बृहस्पतिर्मध्यमस्थाने स्तनयित्नुलक्षणां वाचम्, तथापि सम्बन्धाद् वर्षं लब्धवानित्यर्थः।

अर्थात् "बृहस्पति ब्रह्मा था, ऐसा भाष्य (निरुक्त) के अनुरोध से व्याख्यान किया है। मन्त्र के अक्षरों में आया बृहस्पति तो स्तनयित्नु (विद्युत्) रूपी वाणी है, तथा उस विद्युत्रूपवाणी (शब्द) से वर्षा प्राप्त की, यह अर्थ है" भाव स्पष्ट है।

(४) पृ० ७७ में—

नित्यपक्षे ऋग्द्वयस्यान्यदर्थयोजना—ऋष्टिषेणो मध्यमं (?) तत्र भवत्वाच्चार्ष्टिषेणो वैद्युतः, तस्य पार्थिवात्मावस्थितस्य होतृत्वेन देवापित्वम्। शिष्टो मन्त्रः पूर्ववद्योज्यः।

अर्थात्—"नित्यपक्ष में दोनों ऋचाओं की अर्थयोजना अन्य प्रकार से है—ऋष्टिषेण मध्यमस्थानी है। उसमें होने से आर्ष्टिषेण विद्युत् सम्बन्धी (ज्योतिः, वा शक्ति) का नाम है। उसके पार्थिवरूप से अवस्थित होने से (उसे) 'होता' कहा, यही उस का देवापित्व (देवापिपन) है। शेष मन्त्र पूर्ववत् (इतिहासपक्षवत्) लगा लेना चाहिये।"

यहाँ इतिहासपक्ष से नित्यपक्ष पृथक् होता है, यह दर्शाकर उसमें आर्ष्टिषेण का अर्थ 'विद्युत् सम्बन्धी' किया है।

(५) आगे व्याख्यान करते हुए पृ० ७७ पर पुनः लिखता है—

यद्देवापिः। मध्यमप्रभवत्वाद् देवापिर्विद्युत्, शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्। यद् यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्। होत्राय वृत इत्यादि, तस्यैव पार्थिवात्मनः। पूर्ववद् योज्यम्। तदा देवश्रुतं वृष्टिवनिम्, उभे अप्येते द्वितीयैकवचने प्रथमैकवचनस्य स्थाने द्रष्टव्ये, मध्यमस्यैते विशेषणे न देवापेः। देवश्चासौ श्रुतश्च, वृष्टेश्च संभक्ता वृष्टिवनिः, मध्यमो बृहस्पतिः, ददद् वाचं गर्जित-लक्षणमस्मै अयच्छत्।

अर्थात्—'यद्देवापिः। मध्यम से उत्पन्न होनेवाला होने से यहाँ देवापि =विद्युत् का नाम है। शन्तनु नाम है वृष्टिरूप उदक जल का। जब यह विद्युत्-रूप देवापि शन्तनु, वृष्टिरूप जल के लिये पुरोहित, क्योंकि पहिले विद्युत् चमकती है, तब जल गिरता है, होता रूप से वरण किया गया। उसी पार्थिवरूप विद्युत् से·····इत्यादि पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिये। तब देवश्रुतं-वृष्टिवनि मध्यमस्थानी बृहस्पति ने गर्जना लक्षणवाली वाणी इसे प्रदान की। यहाँ पर 'देवश्रुतं-वृष्टिवनिं' द्वितीया विभक्ति के एकवचन हैं, पर यहाँ बृहस्पति प्रथमान्त शब्द के विशेषण हैं। मन्त्र में द्वितीया विभक्ति प्रथमा विभक्ति के अर्थ में आई है'।

इस स्थल में स्कन्द ने देवापि को विद्युत् और शन्तनु को उदक मान कर निरुक्त के उक्त प्रकरण का अर्थ दर्शाया है।

(६) निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य की इस विषय में क्या धारणा है, यह भी प्रस्तुत कर देना अनुचित न होगा। इसी प्रकरण की योजना में पृ० १३४ पर दुर्गाचार्य का लेख निम्न प्रकार है—

"मन्त्रनिदानद्वारेण धर्मोऽयमत्र दर्शितः।
ज्येष्ठे तिष्ठति कनीयसि राज्यप्राप्तिर्धर्मातिक्रमः।
धर्मातिक्रमे च देवो न वर्षतीति॥

निरुक्तपक्षे—ऋष्टिषेणो मध्यमः। तदपत्यमयमग्निः? पार्थिव आर्ष्टि-षेणो देवापिः। स शन्तनवे सर्वस्मै यजमानायेति योज्यम्। बृहस्पतिः वाचस्पतिरिति मध्यमः। स्तनयित्नुलक्षणं वाचमित्यर्थः।"

अर्थात्—"मन्त्र के निदान को लेकर यहाँ यह धर्म बतलाया गया है कि बड़े भाई के होते हुये छोटे भाई को राज्य मिलना धर्म का अतिक्रम उल्लंघन करना है। धर्म के अतिक्रमण होने पर वर्षा नहीं होती।

निरुक्तपक्ष में—ऋष्टिषेण नाम मध्यमस्थानी का है। उस का अपत्य यह पार्थिव आर्ष्टिषेण देवापि (है)। वह शन्तनु के लिये=सब यजमान-

मात्र के लिये, ऐसी योजना कर लेनी चाहिये। बृहस्पति से यहाँ मध्यमस्थानी वाचस्पति स्तनयित्नु-लक्षणवाली वाणी को, यह अर्थ समझना चाहिये।"

हमारा कहना है कि स्कन्दस्वामी ने ही नहीं, अपितु 'निरुक्त पदों' को लिखकर दुर्गाचार्य ने भी स्कन्द की प्रक्रिया का अनुमोदन किया है। और बहुत स्पष्ट रीति से किया है, देवापि को विद्युत् से उत्पन्न होनेवाला अग्नि माना है, और 'शन्तनु' से सामान्य यजमान अर्थ लिया। बृहस्पति से भी मध्यमस्थानी विद्युत् ही अर्थ लिया।

स्कन्दस्वामी की निरुक्तटीका के उपर्युक्त उद्धरणों से निम्न बातें विस्पष्ट हैं—

(१) ऋष्टिषेण जितेन्द्रिय का नाम है। देवापि उसका शिष्य था। वह इसी जन्म में क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गया। वह भीमसेन का पुत्र था। यह ऐतिहासिक पक्ष में है।

(२) नित्यपक्ष में—

(i) स्कन्द का कहना है, बृहस्पति को ब्रह्मा हम (स्कन्द) ने यास्क के अनुरोध से तथा अन्य प्रमाणों से लिखा है (देखो पृ० ७६)। हमारे (स्कन्द के) विचार में तो मन्त्रों के शब्दों से मध्यमस्थानी स्तनयित्नु रूप वाणी को उत्पन्न करनेवाला ही बृहस्पति हो सकता है।

(ii) आर्ष्टिषेण मध्यमस्थानी वैद्युत है। उसी से उस का 'होता' रूप से देवापित्व (देवापिपन) है, अर्थात् देवापि विशेषण है, न कि संज्ञावाची।

(iii) आगे तो पुनः स्पष्ट ही व्याख्यान कर दिया कि—देवापि मध्यमस्थानी विद्युत् का नाम है। शन्तनु जल को कहते हैं। उसी विद्युत् से वृष्टि रूप जल बनता है।

आचार्य स्कन्दस्वामी की यह व्याख्या कितनी उत्तम और मनोग्राह्य है। क्या इतने लेख से यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि सायण से इतने(८००-९०० वर्ष) प्राचीन वेदभाष्यकार स्कन्दस्वामी को निरुक्त में वर्णित इतिहास प्राकृतिक जगत् के सौन्दर्य वर्णन परक ही दीखता है। उधर दुर्गाचार्य के उपर्युक्त स्थल से भी इसी बात की पुष्टि होती है। इस प्रकार हमें निरुक्तप्रक्रिया के दो प्राचीन आचार्यों से तो प्राकृतिक जगत् के सौन्दर्य का ही निरूपण मिलता है। अब यदि सायण ने ये अर्थ नहीं किये

तो इस में स्वामी दयानन्द सरस्वती या हमारा किसी का क्या दोष है? यह सायण की अपनी अयोग्यता वा अज्ञान ही कहा जायगा और क्या कहा जा सकता है।

यहाँ तक हम ने प्रकृत 'देवापि और शन्तनु' के विषय में आचार्य स्कन्द और दुर्ग का मत दर्शाया। अब हम पाठकों के ज्ञानार्थ तथा मनोरञ्जनार्थ आचाय स्कन्द स्वामी का 'देवापि' और 'शन्तनु' के प्रकरण में कहा हुआ वेद में इतिहासविषयक सिद्धान्त लिखते हैं, जिसके द्वारा इस महाविद्वान् आचार्य ने न केवल देवापि और शन्तनु के इतिहास को ही स्पष्ट कर दिया, अपितु सदैव के लिये वेद के इन ऐतिहासिक स्थलों के यथार्थ भाव को समझने के लिये दीपक, मशाल अथवा टार्च दे दिया, जिसके लिये प्रत्येक वेदप्रेमी को उस का महान् कृतज्ञ होना चाहिये। वह सर्वोत्तम, सर्वथा विस्पष्ट—वेदवेदत्वप्रतिपादक स्थल निम्न प्रकार है, जो स्कन्द स्वामी ने देवापि शन्तनु की कथा के अन्त में लिखा है—

'एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदाथषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति—'तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ता इत्यादि, मध्यमञ्च माध्यमिकाञ्च वाचमिति नैरुक्ताः, रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयत इति। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थेन नित्यपक्ष इति सिद्धम्"। (निरु० टी० भा० २ पृ० ७८)

"इसी प्रकार जिन-जिन मन्त्रों में आख्यान-इतिहास का स्वरूप वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक अथवा (प्रवाह से) नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है। जैसा कि आगे आचार्य (यास्क) कहेंगे—वृत्र कौन है? नैरुक्तों के मत में वृत्र का अर्थ है मेघ। (सरण्यू से एक जोड़ा उत्पन्न हुआ—यम और यमी) ये यमयमी नैरुक्तों के मत में मध्यम (विद्युत्) और माध्यमिक वाक् के नाम हैं (निरु० १२।१०)। आदित्य के उदय होने पर रात्रि छिप जाती है (निरु० १२।११)। मन्त्रों में इतिहास—आख्यान का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है। वास्तव में तो नित्य-पक्ष ही मन्त्रों का विषय है।"

अर्थात् नित्य वेदों में अनित्य मरते जीते रहनेवाले व्यक्तियों 'देवापि शन्तनु' आदि का किञ्चित् भी वर्णन नहीं पाया जाता। हाँ उपचार (गौण) रूप से मन्त्रार्थ का स्पष्ट प्रतिपादन करने के विचार से इन

आख्यानों की कल्पना ऋषियों ने की, यही "निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त" है।[1]

जो शास्त्र के इस सिद्धान्त को नहीं समझ सकता, समझता हुआ भी अल्पबुद्धिता के कारण उसके पार को नहीं पा सकता, उसे तो वेदार्थ पर लेखनी ही नहीं उठानी चाहिये, वेदभाष्य करना तो दूर की बात है।

क्या अब भी उस अगाधबुद्धि महापुरुष आचार्य-दयानन्द की विद्वत्ता-सूक्ष्मेक्षिका की प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से प्रत्येक वेदानुयायी को नहीं करनी पड़ेगी, जिस ने इस अन्धकारमय युग में नष्ट होते हुए वेद के वेदत्व को संसार में पुनः स्थापित किया।

वह लिखते हैं—देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सं० ३ पृ० ८१—

(१) **अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यते। अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेद-प्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलकमस्तीति मन्तव्यम्।**

(२) पृ० ८२, ८३ पर—

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासनामास्ति। ···ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात्। तत्र देवासुराः संयत्ता आसन् इत्यादय इतिहासा ग्राह्याः। ···नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्याः, नातोऽन्याः।

जमदग्नि आदि शब्द के अर्थप्रकरण में "**चक्षुर्वै जमदग्निः**" (८।१।२।३) शतपथ के इस प्रमाण से सिद्ध कर स्वामी जी लिखते हैं—"जमदग्नि आदि शब्दों के द्वारा अर्थमात्र ही दर्शाया है। अतः यहाँ मन्त्रभाग में इतिहास का लेशमात्र भी नहीं, ऐसा समझना चाहिये। इसी से सायणाचार्य ने अपने वेदप्रकाशादि में जहाँ-तहाँ जो इतिहास का वर्णन किया है, वह भ्रममूलक ही है, ऐसा समझना चाहिये ॥१॥ ब्राह्मणग्रन्थों का ही नाम इतिहास और पुराण है, अर्थात् ब्राह्मणों में वर्णित इतिहास ही ग्राह्य हो सकता है। 'देव और असुर एकत्रित हुए' इत्यादि इतिहास ग्रहण करने योग्य हैं।······ब्राह्मण निरुक्तादि अन्तर्गत कथायें नारा-शंसी कहलाती हैं। वे ग्राह्य हैं इनसे भिन्न नहीं ॥२॥"

१. इस विषय की विवेचना पाठक हमारे बनाये "निरुक्तकार और वेद में इतिहास" लघु निबन्ध में देखें। उपर्युक्त उद्धरण हमने अत्यावश्यक समझ कर यहाँ दे दिया है।

आचार्य स्कन्दस्वामी के उपर्युक्त लेख से महामति दयानन्द के लेख की कैसी सुन्दर पुष्टि होती है। इसे सुहृद् पाठक स्वयं अन्तःकरण से अनुभव करेंगे, यह हमें पूर्ण आशा है।

अब अन्त में हम अधिक न लिख कर केवल इतना ही लिखना चाहते हैं कि स्कन्दस्वामी तथा आचार्य दयानन्द ने जो औपचारिक इतिहास माना है, वह केवल उन का ही मत नहीं, अपितु मूलसंहिता-ब्राह्मण-उपनिषद्-वेदान्त-मीमांसादि दर्शन-निरुक्त तथा उसके सब टीकाकार-वररुचि कृत निरुक्तसमुच्चय चरक-सुश्रुतादि[1] के प्रमाणों से इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जिस का विस्तार से निरूपण पृथक् किया जा सकेगा।

६. योरुपीय विद्वान् और देवापि शन्तनु

जिन योरुपीय विद्वानों के आधार पर भारतीय लोग भी वेदों में इतिहास की रट लगाया करते हैं, उन योरुपीय विद्वानों का विचार भी प्रकृत 'देवापि और शन्तनु' के विषय में दर्शाते हैं, जिस से पाठक इन लोगों की शैली और विचार से भी परिचित हो जावें—

मैकडानल अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वैदिक इण्डेक्स (Vedic Index)Vol. I, पृ० ३३ पर लिखते हैं—

"**Devapi Arshtisen.**—(descendant of Rishtisen) is mentioned in a hymn of the Rigveda (R. 10-98) and in the Nirukta (Ni. 2-10). According to the latter source, there were two brothers Devapi and Shantanu, princes of Kurus. The elder was Devapi, but Shantanu got himself anointed king, whereupon no rain fell for twelve years. The draught being attributed by the Brahmans to his having superseded his elder brother, Shantanu offered the kingdom to Devapi. The latter,

१. सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ४६ में कुधान्यवर्ग में 'शान्तनु' भी कहा गया है। कोश में "शान्तनुः=पुं०। कुधान्यविशेषे कर्कटिकायाम्"। ऐसा पढ़ा है। सुश्रुत का पाठ निम्न प्रकार है—"अथ कुधान्यवर्गः—कोद्रवकश्यामाकनीवार-शन्तनु०··· कुधान्यविशेषाः।

कषायमधुरास्तेषां शीतपित्तापहाः स्मृताः।
कोद्रवश्च स नीवारः श्यामाकश्च स शान्तनुः॥"

however, refused, but acting as Purohita, or domestic priest, for his brother, obtained rain.

The Brhaddevata tells much the same tale, but adds that the reason for Devapi's exclusion from the throne was the fact that he suffered from a skin disease. The Epic and the latter legends further develop the story, presenting two somewhat discrepant accounts.

According to the one version, the grounds of the Devapi's being passed over was leprosy. While in the other his devoting himself to asceticism in his youth was the cause of his brother's taking his place. The Epic, moreover, treats him as a son of Pratipa and names as his brothers Bahlika and Arshtisen, who is a new figure developed from the patronymic of Devapi.

Possibly Sieg is right in holding that two stories, those of Devapi, Pratipa's son, and of Devapi, Rishtisena's son, have been confused; but in any case it is impossible to extract history from them.

The Rigvedic hymn certainly appears to represent Devapi, as sacrificing for Shantanu, who seems to be called Aulana. But there is no trace in it of the brotherhood of the two men, nor there is anything to show that Devapi was not a Brahaman but Ksatriya. Sieg, who interprets the hymn by the Nirukta, thinks that he was a Ksatriya, but on this occassion was enabled by the favour of Brhaspati to officiate as priest, and that the hymn shows clear recognition of the unusual character of his action, but this view seems very improbable."

अर्थात् "देवापि आर्ष्टिषेण—(ऋष्टिषेण का अपत्य) का वर्णन ऋग्वेद १०।९८ तथा निरुक्त २।१० में किया गया है। उत्तरवर्त्ती साहित्य के अनुसार देवापि और शन्तनु कुरुवंशी राजकुमार दो भाई थे। ज्येष्ठ

देवापि था, परन्तु शन्तनु अपने आप राजा बन बैठा। जिस से कि वहाँ १२ वर्ष तक वर्षा न हुई। ब्राह्मणों ने उसे बुरा भला कहा कि तुम ने अपने भाई से राज्यापहरण किया है, इससे तुम्हारे राज्य में वर्षा नहीं होती। शन्तनु ने देवापि को राज्य करने को कहा। उसने मना कर दिया, अपितु उसने शन्तनु का पुरोहित बन कर वर्षा प्राप्त की। बृहद्देवता (७।१४८) में भी अधिकतर इसी प्रकार इस कहानी का वर्णन है, परन्तु उस में इतना अधिक लिखा है कि देवापि को कुष्ठ का रोग था, इसी से वह राज्य से वञ्चित रहा।

महाभारत तथा उसके पश्चाद्वर्ती गाथायें इस कहानी को परस्पर अनेक अंशों में विरुद्ध लिखते हुए बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करती हैं। उनमें दो भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन दिये हैं। एक मत के अनुसार देवापि को कुष्ठ रोग था, इसलिये वह राज्य से वञ्चित रहा। दूसरा मत यह है कि उसको युवावस्था में ही वैराग्य हो गया। इसी से उसका भाई राज्यसिंहासन पर बैठ गया। महाभारत इसे प्रतीप का पुत्र वर्णन करता है और आर्ष्टिषेण और बाह्लीक को उसका भाई वर्णित करता है। आर्ष्टिषेण एक नया व्यक्ति है, जो देवापि के पैतृकनाम से बना है।

सम्भवतः सीज (Sieg) का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि प्रतीप के पुत्र देवापि और ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि कथाओं का दोनों इन ग्रन्थों में मिश्रण कर दिया गया है। **परन्तु किसी भी अवस्था में इन से इतिहास का निकालना असम्भव है।**

ऋग्वेद का यह सूक्त निश्चयरूपेण दर्शाता है कि देवापि ने शन्तनु का पुरोहित बन कर यज्ञ किया और जिसको (ऋ० १०।९८।११ में) औलान भी कहा गया है। **परन्तु (वेद में) इसका कोई भी चिह्न वा प्रमाण नहीं मिलता कि ये दोनों भाई थे। और न ही कोई ऐसी बात है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि वह ब्राह्मण नहीं था, अपितु क्षत्रिय था।**

सीज (जो इस सूक्त को निरुक्त के आधार पर अनूदित करता है) का विचार है कि देवापि क्षत्रिय था, इस अवसर पर बृहस्पति की कृपा से वह पुरोहित का कार्य करने के योग्य हुआ। और वह सूक्त देवापि की इस अलौकिक क्रिया को दर्शाता है। परन्तु यह सब बात ठीक प्रतीत नहीं होती।"

यहाँ तक हमने मैकडानल का मूल लेख तथा उसका भावार्थ दिया। पाठक इससे जान सकते हैं—

(१) देवापि और शन्तनु भाई थे, इस का उल्लेख वेद में नहीं।

(२) कहीं वैराग्य के कारण देवापि ने राज्य त्यागा, कहीं कुष्ठ रोग के कारण। ऐसा परस्पर विरुद्ध लेख मिलता है।

(३) आगे के (पुराणादि) ग्रन्थों में इस कथा को अनेक स्थलों में भेद दर्शाते हुये बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया है।

(४) इस सूक्त में से इतिहास का निकालना असम्भव (very improbable) है।

(५) दोनों भाई थे, तथा देवापि ब्राह्मण नहीं था, अपितु क्षत्रिय था, इसका वेद में कोई पता वा चिह्न नहीं मिलता।

इन उद्धरणों के लिखने का हमारा तात्पर्य यह है कि अपनी बुद्धि को ताला लगा कर आँखें बन्द करके पीछे चलनेवाले योरुपीय स्कालरों के शिष्य भी इस कथा पर विचार करें कि उन के आचार्यों को भी इसमें से इतिहास नहीं मिल सका। साथ ही यह भी शोक की बात है कि उन योरुपीय विद्वानों के हाथ में वेद का सत्यार्थ अभी तक नहीं पहुंच सका। यदि उनके पास सायण का ही अर्थ न पहुंचा होता, स्यात् वे सच्चाई के अधिक समीप पहुंचे होते। यदि आचार्य स्कन्दस्वामी की वेदार्थ-विषयक-धारणाओं को, साथ ही ऋषिदयानन्द के वेदभाष्य को उत्तम रीति से पहुंचाया जावे, तो मेरे विचार में वे शीघ्र सत्य सिद्धान्त पर पहुंच सकते हैं। विचार-शील आर्य विद्वानों को इस विषय में प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है।

७. उपसंहार

यहाँ तक हमने निरुक्त-बृहद्देवता-सर्वानुक्रमणी-महाभारतादि के उद्धरण देकर यह दर्शाने का प्रयास किया है कि वेद में आये 'देवापि' और 'शन्तनु' कोई व्यक्तिविशेष (Proper Names) नहीं हैं। और इस विषय में निरुक्तकार ने **"तत्रेतिहासमाचक्षते"** कहकर जो इतिहास दर्शाया है, वह भी वास्तविक इतिहास नहीं। केवल मन्त्रार्थ को विस्पष्ट करने के लिये आख्यान (कहानी) के रूप में यह वर्णन किया है, क्योंकि **'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता'** ऋषियों की आख्यानों द्वारा वर्णन करने की रुचि वा प्रेम होता है, न कि वे वर्णन वास्तविक वर्णन हुआ करते हैं। यह सारे का सारा वर्णन वस्तुतः निरुक्त प्रक्रिया में आधिदैविक वर्णन है, अर्थात् वृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है, इसका वर्णन इस सूक्त में किया गया है। यद्यपि प्राचीन परम्परा के

अनुसार प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक-अधियज्ञ और आधिदैविक तीनों प्रक्रियाओं में होता है, जैसा कि हम पूर्व दर्शा चुके हैं। तदनुसार इस सारे सूक्त का अर्थ दर्शाने से लेख का विस्तार तथा प्रकृत प्रतिपाद्य विषय की गौणता हो जाने की सम्भावना है। इस विचार से हम ने इस सूक्त के तीनों प्रक्रियाओं में सप्रमाण सविस्तर अर्थ को किसी पृथक् पुस्तिका में यथासम्भव शीघ्र दर्शाने का निश्चय किया है। यहाँ पर हम केवल इस सूक्त का आधिदैविक अर्थ ही[1] दर्शा रहे हैं।

८. सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० १०।९८) का अर्थ

सूक्त का अर्थ लिखने से पहिले उसमें आये हुये कुछ मुख्य पदों का अर्थ तथा उनके स्वरूप का बोध कराना आवश्यक है। अतः प्रथम हम बृहस्पति—देवापि—शन्तनु—अग्नि आदि शब्दों पर कुछ विचार उपस्थित करते हैं—

सूक्त में आये विशेष पदों पर विचार

वर्षा में विद्युत् अनिवार्य कारण है। मेघ में विद्युत् के उत्पन्न होने पर उसके तीन धर्म एक काल में उपलक्षित होते हैं। मेघ का भेदन (वृत्र वध), दूसरा प्रकाश और तीसरा शब्द। इनमें विद्युत् की भेदन शक्ति वृष्टि में साक्षात् कारण है और भेदनकाल में प्रकाश और शब्द की उत्पत्ति भी साथ ही साथ होती है। किन्तु प्रकाश और शब्द भावी वृष्टि के सूचकमात्र हैं। उनमें भी प्रकाश शीघ्रगामी[2] होने से पहिले उपलब्ध होता है और शब्द पीछे।

दिन के समय सूर्य के प्रकाश के कारण विद्युत् का प्रकाशात्मक अंश कदाचित् गृहीत न होने पर शब्द श्रवण से ही भावी वृष्टि की सूचना

---

१. इस में केवल अन्वय और भाषापदार्थ ही दर्शा रहे हैं। उक्त तीनों प्रक्रियाओं में संस्कृत और हिन्दी में पदार्थ-अन्वय-भाषार्थ-प्रमाणसंग्रह-व्याकरणप्रक्रिया आदि संयुक्त सूक्त का अर्थ पृथक् दर्शावेंगे। पाठक धैर्य रखें।

२. सामान्यतया प्रकाश की गति आधुनिक युग के क्रियात्मक अनुभवों द्वारा एक सैकिण्ड में १८६००० एक लाख छियासी हजार मील मानी जाती है और शब्द की गति एक सैकिण्ड में वायु में १०९० फुट, जल में ४७१ फुट और लोहे में १६८२० फुट मानी गई है। इस हिसाब से वायु में शब्द ५ सैकिण्ड में १ मील तक जाता है। और लोहे में शब्द ५ सैकिण्ड में १६ मील जायगा। हाँ! विद्युत् के संयोग से इस गति में बहुत अधिक तीव्रता हो जाती है।

मिलती है। रात्रि में अति दूरी के कारण शब्द की उपलब्धि न होने पर भी विद्युत् के प्रकाश से क्वचित् होनेवाली वृष्टि की सूचना मिलती है। इस लिये इस सूक्त में देवापि=प्रकाशात्मक विद्युत् को (दूसरे मन्त्र में) दूत कहा गया है। एक ही विद्युत् (बिजली) के अंश होने के कारण ये दोनों शब्दलक्षण और प्रकाशलक्षण वृष्टि की उत्पत्ति में कारण कहे गये हैं।

शतपथब्राह्मण में विद्युत् के इन तीनों अंशों का निरूपण निम्न प्रकार किया गया है—

"अशनिरेव प्रथमोऽनुयाजः। ह्रादुनिर्द्वितीय उल्कुषी तृतीयः ॥२१॥
स प्रथममेवानुमन्त्रयेत। अशन्यमुं जहीति यं द्विष्याद्ध्रादुन्यमुं जहीति द्वितीयमुल्कुष्यमुं जहीति तृतीयम्" ॥२२॥

(श० ११।२।७।२१,२२)।

अर्थात् "(आधिदैविक जगत् में) 'अशनि' का स्थान वही समझना चाहिये, जो दर्शपौर्णमास वा विकृतियागों में सर्वत्र प्रथम अनुयाज का स्थान होता है। इसी प्रकार 'ह्रादुनि' का द्वितीय और 'उल्कुषी' का तृतीय स्थान होता है। 'अशनि' को सम्बोधन करके प्रथमानुयाज का अनुमन्त्रण किया जाता है, 'ह्रादुनि' से दूसरे और 'उल्कुषी' से तृतीय का।"

यहाँ विद्युत् के 'अशनि', 'ह्रादुनि', 'उल्कुषी' ये तीन नाम दिये गये हैं। शतपथ में अन्यत्र विद्युत् और स्तनयित्नु ये दो भेद कहे गये हैं—

**"इयं विद्युत्। सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि०……
………अयं ७ स्तनयित्नुः। सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि०……।"** (श० १४।५।५।६)।

इनमें 'ह्रादुनि' शब्द 'ह्राद अव्यक्ते शब्दे' (भ्वादि) इस धातु से निष्पन्न होता है। और स्तनयित्नु शब्द 'स्तनगदी देवशब्दे' (चुरादि) इस से बनता है। अतः 'ह्रादुनि' और स्तनयित्नु एक ही हैं। गर्जद्लक्षण विद्युत् के नाम हैं। और इसे ही वेद (ऋ० १०।९८।१) में बृहस्पति कहा गया है। निरुक्त में बृहस्पति को अन्तरिक्षस्थानी देवताओं में (निरु० १०।११) पढ़ा है। बृहस्पति मध्यम स्थानी (विद्युत्) के परिवार में है। इसके लिये हमें निरुक्त में निम्न लेख उपलब्ध हो रहा है—

"अथास्य सांस्तविका देवा अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुः। अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते, पूष्णा रुद्रेण च सोमोऽग्निना च पूषा वातेन च पर्जन्यः।" निरु० ७।१०॥

इससे स्पष्ट है कि अग्नि-वरुण-पूषा और बृहस्पति ये सब मध्यम-स्थानी विद्युत् के परिवार के ही हैं। वेद के इस सूक्त में भी इसी प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध उपलब्ध हो रहा है।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी इस शब्द का अर्थ वाणी का पति किया गया है। तद्यथा—

"यदस्यै वाचो बृहत्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः।" जै० उ० २।२।५॥

इसमें 'बृहस्पति' को वाणी का पति कहा गया है। इससे गर्जद् लक्षण विद्युत् का नाम 'बृहस्पति' स्पष्ट है। वेद में बृहस्पति को ऊर्ध्वं दिशा का पति भी कहा गया है—

"ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः" (अथर्व० ३।२७।६)

अर्थात् 'बृहस्पति' ऊर्ध्वं दिशा का पति है। वेद का 'बृहस्पति' विद्युत् का शब्दात्मक अंश है, जिसे कि शतपथब्राह्मण में 'ह्रादुनि' और 'स्तनयित्नु' नाम से कहा गया है।

विद्युत् शब्द का अर्थ 'विद्योतत इति विद्युत्' इस निर्वचन से प्रकाश होता है, और प्रकाश अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा शीघ्रगामी होता है। इसलिये इस को 'अशनि' भी कहते हैं। वेद में इसी प्रकाशात्मक अंश को 'देवापि' कहा गया है, क्योंकि इस का निर्वचन भी **'देवानामाप्त्या'** (निरु० २।११) है, अर्थात् इसे सब से शीघ्र प्राप्त होनेवाला कहा है।

विद्युत् का जो भेदकरूपी तृतीय अंश है, उसे शतपथब्राह्मण ने 'उल्कुषी' कहा है, 'उल्क' 'उल्मुक' आदि शब्दों के साथ 'उल्कुशी' शब्द के सादृश्य से विदित होता है कि यह शब्द भी 'उल्क' और 'उल्मुक' की तरह 'उष दाहे' धातु से बनता है। भेदन दाहकता (उष्णता) का ही धर्म है, जो कि अग्नि का प्रधान धर्म है। इसलिये वेद में इस भेदन या दाहात्मक अंश का 'अग्नि' शब्द से प्रतिपादन किया गया है। तात्पर्य यह है कि विद्युत् की भेदन शक्ति से जब मेघ छिन्न-भिन्न होते हैं, तभी वर्षा होती है।

यतः विद्युत् की उत्पत्ति मरुतों=वायुओं के संयोग से (मेघ में घर्षण द्वारा) होती है। वेद में अनेक स्थानों पर मरुतों को 'ऋष्टिमन्तः' कहा गया है—

"विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः" ऋ० ३।५४।१३॥

अर्थात् विद्युत् रूपी रथवाले और ऋष्टिवाले मरुद्गण।

अतः उन मरुतों से उत्पन्न 'देवापि' को वेद में 'आर्ष्टिषेण' विशेषण दिया गया है। देवापि=प्रकाशात्मक विद्युत् के द्वारा अन्धकार में घट-पटादि का ज्ञान होने से उसको 'ऋषि' कहा गया। और मनुष्यों के लिये हितकारी होने के कारण इस 'देवापि' को गौणी वृत्ति से 'मनुष्य' कहा गया है। मनुष्य प्रायः प्रकाश में ही विविध प्रकार के कर्मों को करके ऐश्वर्यवान् होने से समर्थ होते हैं, इसलिये इस देवापि को इन्द्र भी कहा है।

अतः विद्युत् की उत्पत्ति के अनन्तर ही वर्षा की उत्पत्ति होती है, इसलिये देवापि को शन्तनु (वृष्टिलक्षण जल) का 'पुरोहित' इस सूक्त में कहा गया है। वृष्टि से उत्पन्न हुये 'जल' को 'शन्तनु' कहा गया है। इसी के लिये आधिदैविक जगत् में (ब्राह्मण और निरुक्त के अनुसार) बृहस्पति के ब्रह्मत्व और देवापि के पौरोहित्य में वृष्ट्यात्मक यज्ञ सम्पन्न होता है। इसी वृष्ट्यात्मक यज्ञ का वेद के इस सूक्त में आलङ्कारिक वर्णन है।

अथ सूक्तार्थः

द्वादशर्चस्याष्टनावतितमस्य सूक्तस्यार्ष्टिषेणो देवापिर्ऋषिः॥ देवाः (वृष्टिप्रदाः) देवताः॥ १, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्। २,६,८,११,१२ निचृत्-त्रिष्टुप्। ९ पादनिचृत् त्रिष्टुप्। ४, १० विराट्त्रिष्टुप् छन्दः॥ धैवतः स्वरः॥

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शंतनवे वृषाय ॥१॥

अन्वयः—बृहस्पते स्तनयित्नो शब्दलक्षण विद्युत्! यत् यतस्त्वं मित्रो वा वरुणो वा पूषा वाऽसि, अतस्त्वं मे मह्यं शन्तनवे वृष्टिलक्षणायोद-काय देवतां दिव्यभावं प्रतीहि प्रापय यत् यस्त्वमादित्यैर्वसुभिर्वा सह युक्तोऽसि मरुत्वान् मरुद्भिश्च तद्वानसि, स एवम्भूतस्त्वं शन्तनवे मे पर्जन्यं मेघं वृषय वर्षय।

मन्त्रार्थः— हे (बृहस्पते) शब्दलक्षण विद्युत्[1], गर्जनेवाली बिजली

---

१. यहाँ पर "अचेतनेषु चेतनवदुपचारः" (अ० ३।१।२६ महाभाष्य) महामुनि पतञ्जलि के इस वचन के अनुसार अचेतन पदार्थों में भी चेतनों के समान उपचार अर्थात् गौणीवृत्ति से व्यवहार होता है। तदनुसार इस सूक्त में बृहस्पति, देवापि,

(यत्) यतः तू (मित्रः) सब का हितकारी (वा) और (वरुणः) श्रेष्ठ जनों द्वारा स्वीकार करने योग्य (वा) और (पूषा) वृष्टि के द्वारा सब जगत् का पोषक (असि) है। इसलिये तू (मे) मुझ (शन्तनवे) शन्तनु=जल के लिये (देवताम्) दिव्यगुणों को (प्रति इहि) प्राप्त करा। (यत्) जो तू (आदित्यैः) बारह महीनों से (वा) और (वसुभिः) आदित्य रश्मियों से युक्त है, और (मरुत्वान्) मरुतों से युक्त है (सः) इस प्रकार का तू शन्तनु=जल के लिये (पर्जन्यम्) मेघ को (वृषाय) बरसा ॥१॥

भावार्थः—गर्जनेवाली बिजली वर्षा बरसाने में अत्यन्त उपकारक है। वह संसार के सब पदार्थों को स्नेहमय, पुष्टिदायक तथा दिव्यगुणों से युक्त करती है। मेघों से वर्षा बरसाने में यह बहुत सहायक होती है। इसलिये उस बिजुली से शिल्पी लोगों को अनेक प्रकार के यन्त्र बना कर महान् लाभ उठाना चाहिए ॥१॥



(२)

आ दे॒वो दू॒तो अ॒जिर॑श्चिकि॒त्वान् त्वद्दे॑वापे अ॒भि माम॑गच्छत् ।
प्र॒ती॒ची॒नः प्रति॒ मामा व॑वृत्स्व॒ दधा॑मि ते द्यु॒मतीं॒ वाच॑मा॒सन् ॥२॥

अन्वयः—हे देवापे देवो दूतोऽजिरश्चिकित्वान् त्वत् त्वं मा मामभ्यागच्छत् अभ्यागच्छतु, प्रतीचीनः प्रतिगतस्त्वं मां प्रत्याववृत्स्व प्रत्यागच्छ। ते तुभ्यं आसन् स्वास्येऽहं द्युमतीं वाचं दधामि, तव स्तुतिं करोमि ॥२॥

मन्त्रार्थः—हे (देवापे) प्रकाशात्मक विद्युत् चमकनेवाली बिजली (देवः) दिव्यगुणयुक्त (दूतः) दुःखों को दूर करनेवाली (अजिरः) गमनशील (चिकित्वान्) अन्धकार में सब पदार्थों का ज्ञान करानेवाली (त्वत्) तू (मा) मुझ को (अभ्यागच्छत्) प्राप्त हो। (प्रतीचीनः) दूर गई तू (माम्) मुझ तक (प्रति आ, ववृत्स्व) लौट कर आ। (ते) तेरे लिये (आसन्) अपने मुख में मैं (द्युमतीम्) दिव्यगुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (दधामि) धारण करता हूं अर्थात् तुम्हारी स्तुति करता हूं।

अग्नि आदि भौतिक (जड़) पदार्थों में भी सम्बोधन का व्यवहार होता है। व्यत्यय के सिद्धान्त को मान कर (जो शास्त्रोक्त है) प्रथमान्त में भी इन मन्त्रों का अर्थ हो सकता है।

भावार्थः—प्रकाशात्मक विद्युत् के द्वारा ही आकाशस्थ जल भूमि पर आने में समर्थ होता है, इसलिये उस की प्राप्ति में सत्पुरुषों को अनेक प्रकार के साधनों द्वारा प्रयत्न करना चाहिए ॥२॥



(३)

अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन् बृहस्पते अनमीवामिषिराम् ।
यया वृष्टिं शन्तनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमाँ आविवेश ॥३॥

अन्वयः—हे बृहस्पते स्तनयित्नो तां द्युमतीमनमीवामिषिरां वाचमस्मे मह्यं देवापय आसन् स्वास्ये धेहि, यया वाचा शन्तनवे वृष्टिं वनाव। दिवो द्युलोकात् मधुमान् द्रप्सो जलमाविवेश प्रापय ॥३॥

मन्त्रार्थः—हे (बृहस्पते) शब्दलक्षण विद्युत् ! उस (द्युमतीम्) दिव्य-गुणयुक्त (अनमीवाम्) रोगादिदोष रहित (इषिराम्) गमनशील (वाचम्) वाणी को (अस्मे) मुझ देवापि=प्रकाशात्मक विद्युत् के लिये अपने (आसन्) मुख में (धेहि) धारण कर, अर्थात् कड़क (यया) जिस वाणी से (शन्तनवे) जल उत्पन्न करने के लिये (वृष्टिम्) वर्षा को (वनाव) हम दोनों उत्पन्न कर सकें (दिवः) द्युलोक से (मधुमान्) मधुरगुण युक्त (द्रप्सः) जल को (आ विवेश) प्राप्त करा ॥३॥

भावार्थः—सूर्य की रश्मियों के द्वारा समुद्रादि से खारामीठा आदि अनेक प्रकार का जो जल ऊपर पहुंचता है, वह वर्षा के द्वारा मधुर रस वाला ही होकर वापस भूमि पर प्राप्त होता है। ईश्वर की सृष्टि में जिस प्रकार यह जल शोधन की प्रक्रिया देखी जाती है, उसी प्रकार मनुष्यों को भी अग्नि के द्वारा जल को वाष्परूप में परिणत करके शुद्ध करने का प्रकार स्वीकार करना चाहिए ॥३॥



(४)

आ नो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्त्विन्द्र देह्यधिरथं सहस्रम् ।
नि षीद होत्रमृतुथा यजस्व देवान्देवापे हविषा सपर्य ॥४॥

अन्वयः—हे इन्द्र विद्युत् ! नोऽस्मभ्यं मधुमन्तो द्रप्सा जलानि आविशन्तु, अधिरथं मेघाश्रितं बहु जलं नो देहि प्रापय। हे देवापे प्रकाशात्मक विद्युत् ! होत्रं निषीद, ऋतुथा यजस्व, देवान् हविषा सपर्य ॥४॥

मन्त्रार्थः—हे (इन्द्र) जल देनेवाली विद्युत् ! (नः) हमारे लिये (मधुमन्तः) मधुर गुणयुक्त (द्रप्साः) जल (आविशन्तु) उत्तम रीति से प्राप्त हों, (अधिरथम्) मेघाश्रित (सहस्रम्) बहुत सा जल हमारे लिये (देहि) प्राप्त कराओ। हे (देवापे) प्रकाशात्मक विद्युत् तू (होत्रम्) आदान-प्रदान क्रिया में सदा (निषीद) उत्तम रीति से वर्त्तमान रह, (ऋतुथा) ऋत्वनुकूल (यजस्व) वृष्टिरूप यज्ञ को करता रह (देवान्) दिव्य पदार्थों को (हविषा) जल द्वारा (सपर्य) समुन्नत कर ॥४॥

भावार्थः—समयानुसार वर्षा होने के लिये अन्तरिक्ष में रहनेवाले वायु-अग्नि-जलादि पदार्थों में समता का बना रहना परमावश्यक है (अर्थात् इन में विषमता आ जाने से ही संसार में अनेक प्रकार के मरी आदि रोग, सार्वजनिक प्राणियों की प्राण हानि आदि घोर उपद्रव हुआ करते हैं), विद्युत् द्वारा ही समता रह सकती है (और विषमता दूर होना सम्भव है)। अतः विश्वहित की दृष्टि से विद्युत् द्वारा विषमता उत्पन्न करने की आज्ञा किसी को भी (चाहे वह कोई व्यक्ति हो या राष्ट्र) कदापि नहीं मिलनी चाहिये ॥४॥



(५)

आ॒र्ष्टि॒षे॒णो हो॒त्रमृषि॑र्नि॒षीद॑न् दे॒वापि॑र्देवसुम॒तिं चि॑कि॒त्वान् ।
स उत्त॑रस्मा॒दध॑रं समु॒द्रम॒पो दि॒व्या अ॑सृजद् व॒र्ष्या॑ अ॒भि ॥५॥

अन्वयः—आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणो मरुद्गणस्तस्यायं य आर्ष्टिषेणो देवापिर्मध्यमस्थानी प्रकाशयुक्तः, ऋषिर्दर्शको विद्युदंश, होत्रं निषीदन्, देवसुमतिं चिकित्वान् ज्ञापयन् भवति, स देवापिरुत्तरस्मादन्तरिक्षादधरं भूमिस्थं समुद्रमुदधिं प्रति दिव्याः वर्ष्या वर्षकर्षणा प्राप्तुं योग्या अपो जलानि अभ्यसृजत् उत्पादयति ॥५॥

मन्त्रार्थः—(आर्ष्टिषेणः) ऋष्टि नाम है गति का, गतिवाली सेना साधन उपकरण है जिसका, ऐसा जो मरुद्गण, उससे उत्पन्न होने वाला (देवापिः) अन्य सब देवताओं=दिव्य पदार्थों में व्याप्ति से रहनेवाला मध्यमस्थानी प्रकाशात्मक और (ऋषिः) चमक द्वारा अपने स्वरूप को दिखानेवाला अथवा संसारस्थ पदार्थों का दिखानेवाला विद्युत् का अंश (होत्रम्) आदान-प्रदान क्रिया में (निषीदन्) रहनेवाला, (देवसुमतिम्) देवों दिव्य पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाली कल्याण करनेवाली बुद्धि वा

ज्ञान को (चिकित्वान्) बोधन कराता है, (स) वह देवापि=प्रकाशात्मक विद्युत् (उत्तरस्मात्) अन्तरिक्ष में रहनेवाले (अधरम्) भूमिस्थ (समुद्रम्) समुद्र में (दिव्याः) दिव्यगुण युक्त (वर्ष्याः) वृष्टि से प्राप्त होनेवाले (अपः) जलों को (अभ्यसृजत्) उत्पन्न करता है ।।५।।

भावार्थः—सूर्य की किरणें नीचे भूमितल के सब स्थानों से ऊपर आकाश में जल ले जाती हैं। वही जल वर्षा से पुनः नीचे आता है ।।५।।



(६)

अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभिर्निवृत्ता अतिष्ठन् ।
तं अद्रवन्नार्ष्टिषेणेनं सृष्टा देवापिना प्रेषिता मृक्षणीषु ।।६।।

अन्वयः—अस्मिन् पूर्वोक्त उत्तरस्मिन् समुद्रे देवेभिर्निवृत्ता निरुद्धा या आपोऽध्यतिष्ठन्, ता आर्ष्टिषेणेन देवापिना सृष्टाः प्रेषिताः प्रेरिताश्च मृक्षणीषु मृष्टवतीषु स्थलीषु अद्रवन् स्रवन्ति ।।६।।

मन्त्रार्थः—(अस्मिन्) पूर्वोक्त (उत्तरस्मिन्) उपरि भाग (समुद्रे) अन्तरिक्ष में (देवेभिः) दिव्य शक्तियों से सम्पन्न अग्नि मरुत् आदि के द्वारा (निवृत्ताः) निरुद्ध जो (आपः) जल (अध्यतिष्ठन्) रहते हैं (ताः) वे ही (आर्ष्टिषेणेन) मरुद्गण से उत्पन्न (देवापिना) प्रकाशात्मक विद्युत् के द्वारा (सृष्टाः) उत्पन्न हुए और अन्तरिक्ष से (प्रेषिताः) प्रेरित किये हुए (मृक्षणीषु) भूमि पर (अद्रवन्) बहने लगते हैं ।।६।।

भावार्थः—अन्तरिक्ष के ऊपरवाले भाग में पहुंचे हुए जल के कण कुछ काल के लिये इन अग्नि वायु आदि देवों द्वारा थाम लिये जाते हैं। मेघस्थ विद्युत् द्वारा छिन्न-भिन्न हुए भूमण्डल पर वृष्टि करने में समर्थ होते हैं ।।६।।



(७)

यद् देवापिः शंतनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् ।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ।।७।।

अन्वयः—यत् यदा देवापिः शन्तनवे होत्राय यज्ञाय पुरोहितो वृतः सन् कृपयन् अदीधेत् प्रकाशितो भवति, तदा बृहस्पतिः देवश्रुतं वृष्टिवनिं वाचं रराणोऽस्मै देवापये वाचमयच्छत् ।।७।।

मन्त्रार्थः—(यत्) जब (देवापिः) प्रकाशात्मक विद्युत् (शन्तनवे) वृष्टि लक्षण जल की प्राप्ति के लिये (होत्राय) वृष्टिरूप यज्ञ के निमित्त पुरोहित रूप से (वृतः) स्वीकृत किया हुआ (कृपयन्)सामर्थ्य को बढ़ाता हुआ (अदीधेत्) प्रकाशित होता है, तब (बृहस्पतिः) स्तनयित्नु लक्षण विद्युत् (देवश्रुतम्) देवों से सुनी जाने वाली (वृष्टिवनिम्) वृष्टि की प्राप्ति के लिये माँगनेवाली (वाचम्) शब्दलक्षण वाणी को (रराणः) प्रकाशित करता हुआ (अस्मै) इस देवापि प्रकाशात्मक विद्युत् के लिये वाणी (अयच्छत्) प्रदान करता है ॥७॥

भावार्थः—जब विद्युत् का प्रकाश होता है, उसके पश्चात् कड़कने की ध्वनि होती है, उसके पीछे ही वर्षा होती है। जब तक प्रकाशात्मक विद्युत् अंश के साथ शब्दलक्षण स्तनयित्नु विद्युत् का मेल नहीं हो जाता, तब तक वर्षा नहीं होती। वर्षा के लिये इन दोनों का सहयोग अनिवार्य है ॥७॥



(८)

यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे ।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम् ॥८॥

अन्वयः—हे अग्ने दाहकरूप विद्युत् ! आर्ष्टिषेणो मनुष्यो मनुष्येभ्यो हितः शुशुचानः देवापिर्यं त्वा त्वां समीधे, स त्वं विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानो वृष्टिमन्तं पर्जन्यं प्र ईरय ॥८॥

मन्त्रार्थः—हे (अग्ने) भेदनशील दाहात्मक विद्युद्रूप अग्ने ! (आर्ष्टिषेणः) मरुद्गण से उत्पन्न हुआ (मनुष्यः) मनुष्यों के लिये हितकारी (शुशुचानः) देदीप्यमान (देवापिः) प्रकाशात्मक विद्युत् (यम्) जिस (त्वा) तुमको (समीधे) उत्तम रीति से प्रकाशित करता है। वह तू (विश्वेभिः) सब (देवैः) मरुत् आदि दिव्य पदार्थों द्वारा (अनुमद्यमानः) हर्ष को प्राप्त होता हुआ (वृष्टिमन्तम्) वृष्टिलक्षण (पर्जन्यम्) मेघ को (प्र ईरय) भली प्रकार से प्रेरित कर ॥८॥

भावार्थः—प्रकाशात्मक विद्युत् चमकने के पश्चात् ही छेदन भेदन करने के सामर्थ्य=गुणवाले अग्नि=विद्युत् के द्वारा मेघों को छिन्न-भिन्न करने पर ही वर्षा होने लगती है ॥८॥



(९)

त्वां पूर्व ऋषयो गीर्भिरायन् त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे ।
सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप याहि ।।९।।

अन्वयः—हे पुरुहूताग्ने ! त्वां पूर्वे ऋषयः गीर्भिरायन्, त्वामध्वरेषु विश्वे देवा आयन्, सहस्राणि बहून्यधिरथान्यस्मे देहि। हे रोहिदश्व नो यज्ञमुपायाहि ।।९।।

मन्त्रार्थः—हे (पुरुहूत) बहुप्रशंसनीय ! (त्वाम्) तुझे (पूर्वे) सदा से वर्त्तमान (ऋषयः) गमनशील मरुद्गण (गीर्भिः) सर सर करते शब्दों द्वारा (आयन्) प्राप्त होते हैं (त्वाम्) तुझको (अध्वरेषु) वृष्टिरूप यज्ञों में (विश्वे) सब देव प्राप्त होते हैं (सहस्राणि) अनेक (अधिरथानि) रमणीय मेघों में वर्तमान जलों को (अस्मे) हमारे लिये प्राप्त कराओ। हे (रोहिदश्व) लाल रङ्ग की किरणोंवाले अग्ने (नः) हमारे लिये (यज्ञम्) वृष्टिरूप यज्ञ को (उपायाहि) प्राप्त कराओ ।।९।।

भावार्थः—वृष्टि में मरुत् आदि देवों की अपेक्षा अग्नि की प्रधानता रहती है। वह अग्नि=भेदकरूप विद्युत् वर्षा द्वारा संसार में अनेक पदार्थों की उत्पत्ति और पुष्टि द्वारा विविध ऐश्वर्य का हेतु होता है ।।९।।



(१०)

एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा ।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि ।१०।।

अन्वयः—हे अग्ने ! एतानि पूर्वोक्तानि नवनवतिः सहस्रा सहस्राण्यधिरथाधिरथानि त्वे त्वय्याहुतानि स्थितानि सन्ति। हे शूराग्ने ! तेभिः पूर्वोक्तैः पूर्वीः पूर्व्यो बह्व्यस्तन्वः स्वशरीराणि वर्धस्व। त्वमिषितः प्रेरितो नोऽस्मभ्यं दिवो द्युलोकात् मध्यमस्थानाद् वृष्टिं रिरीहि प्रापय ।।१०।।

मन्त्रार्थः—हे (अग्ने) भेदकरूप विद्युत् (एतानि) पूर्वोक्त (नव नवतिः) निन्यानवे (सहस्रा) सहस्र अर्थात् बहुत (अधिरथा) रमणीय मेघों में वर्तमान जल (त्वे) तुझ में (आहुतानि) स्थित रहते हैं। हे (शूर) छिन्न भिन्न करने की सामर्थ्य वाले विद्युत्रूप अग्ने ! (तेभिः) उनके द्वारा (पूर्वीः) बहुत से (तन्वः) शरीरों को (वर्धस्व) समुन्नत कर। तू (इषितः)

प्रेरित किया हुआ (नः) हमारे लिये (दिवः) मध्यमस्थानी द्युलोक से (वृष्टिम्) वर्षा को (रिरीहि) प्राप्त करा ॥१०॥

भावार्थः—जब तक इधर-उधर भ्रमण करनेवाले मेघ एक स्थान में एकत्रित नहीं हो जाते, और जब तक विद्युत् के छेदन भेदन करनेवाले अंश का प्रादुर्भाव नहीं होता, तब तक भूमि पर वृष्टि रूप जल गिर नहीं सकता ॥१०॥



(११)

एतान्यग्ने नवतिं सहस्रा सं प्र यच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम् ।
विद्वान् पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि ॥११॥

अन्वयः—हे अग्ने ! एतानि नवति सहस्रा सहस्राणि वृष्णेवर्षणशीलाय इन्द्राय विद्युते भागं भजनीयं जलं संप्रयच्छ। हे अग्ने ! देवयानान् पथो विद्वान् दिवि देवेषु ऋतुशो यथर्त्तु औलानं अग्निना सूक्ष्मीकृतं जलमपि धेहि स्थापय ॥११॥

मन्त्रार्थः—हे (अग्ने) दाहात्मक (एतानि) (नवति) नव्वे (सहस्रा) सहस्र अर्थात् बहु संख्या में (वृष्णे) वर्षणशील (इन्द्राय) विद्युत् के लिये (भागम्) सेवा करने योग्य जल को (संप्रयच्छ) दो । हे अग्ने ! (देवयानान्) विद्वानों के चलने योग्य (पथः) मार्गों को (विद्वान्) जानते हुए (दिवि) अन्तरिक्ष में (देवेषु) मरुद्गणादि में (ऋतुशः) ऋत्वनुकूल (औलानम्) अग्नि से सूक्ष्म किये हुए (अपि) भी जल को (धेहि) धारण करा ॥११॥

भावार्थः—अग्नि केवल वर्षा ही नहीं कराता, अपितु वह पृथिवी के जल को सूक्ष्म करके अन्तरिक्ष में ले जाता है और पुनः मेघों से भेदन क्रिया द्वारा नीचे बरसा देता है ॥११॥



(१२)

अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहाऽपामीवामप रक्षांसि सेध ।
अस्मात् समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह ॥१२॥

अन्वयः—हे अग्ने ! नो मृधो विबाधस्व, दुर्गहा विबाधस्व, अमीवामपसेध, रक्षांस्यप सेध, अस्माद् दिवो बृहतः समुद्रात् नोऽपां भूमानमिहोपसृज ॥१२॥

मन्त्रार्थः—हे (अग्ने) भेदनशील विद्युत् अग्ने ! हमसे (मृधः) वृष्टि-कर्म में बाधक शत्रुओं को (विबाधस्व) भली प्रकार दूर कर दे, (दुर्गहा) बड़ी कठिनाई से दूर कर सकने योग्य बाधाओं को भी (वि) दूर कर, (अमीवाम्) रोगमात्र को (अपसेध) पृथक् कर, (रक्षांसि) राक्षसों के समान हानि पहुंचाने वाले पदार्थों को (अप) पृथक् कर(अस्मात्) पूर्वोक्त (दिवः) प्रकाशमय द्युलोक के (बृहत्) महान् (समुद्रात्) समुद्र से (नः) हमें (अपाम्) जलों के (भूमानम्) बड़े भारी समूह को (इह) इस भूमि पर (उपसृज) प्राप्त करा ।।१२।।

भावार्थः—अग्नि से वृष्टि होती है । उसके द्वारा अनेकविध ओषधियों की उत्पत्ति होती है और उनसे अनेकविध रोगों की निवृत्ति, शत्रुओं का नाश और कठिन से कठिन समस्याओं की पूर्त्ति, और राक्षसों का नाश होता है ।।१२।।

।। इति सूक्तार्थः ।।



उपोद्घात-भूमिकाएं

उपोद्घातः[1]

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।। (अथर्ववेदः) ।

कस्याविदितमेतद् यत् सर्वेषामप्यार्यधर्मावलम्बिनां धार्मिकं साहित्यं देववाण्यामेव वर्तते । भारतीयानामस्माकं मूर्द्धन्या वेदाः, ऋषिमुनिप्रणीताश्च शाखा-उपवेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-वेदाङ्ग-उपाङ्ग-साहित्य-आयुर्वेद-विज्ञान-गणित-इतिहास-गीतादयः सर्वेऽपि गीर्वाणवाण्यामेव विरचिता वर्त्तन्ते । भारतीयायाः संस्कृतेः सभ्यतायाः साहित्यस्य, भारतीयपरम्परायाश्च सर्वमप्यस्यामेव देवभाषायां वरीवृत्यते । आजीवनं तपांसि तपद्भिर्भारतीयैराचार्य्यैरपि सङ्ग्रथितानि ग्रन्थरत्नानि देववाण्यामेवोपलभ्यन्ते । किं बहुना, भारतीयानामस्माकं गौरवं सर्वस्वं सर्वमपि संस्कृतभाषायामेव निहितं विद्यते ।

वेदाध्ययनस्यानिवार्य्यता

शास्त्रस्यैष आदेशः—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" (महाभाष्ये भगवान् पतञ्जलिः)

'ब्राह्मणेन' इत्युपलक्षणम् । द्विजमात्रेण षडङ्गाध्ययनपूर्वकं वेदानामध्ययनं निष्कामभावेन (अनेन कर्म्मणा वृत्तिं लप्स्यामहे नवेत्यनपेक्ष्य) अवश्यमेव कर्तव्यम् । महर्षिमनुनाऽपि स्वमानवधर्मशास्त्रे उक्तम्—

"शूद्रेण हि समं तावद् यावद् वेदे न जायते ।।"

"अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।।" (मनु: ५।४)

अनेनापि वेदाध्ययनस्यानिवार्य्यतैव प्रतिपाद्यते । सन्मात्रसंस्कारनिबद्धबुद्धयः, शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयः समासादितस्थिरसमाधयः, साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः, अपि च पूर्वापरज्ञा विदितवेदितव्याः समधिगतसकलशास्त्रज्ञानविज्ञानाः सम्मर्शिनाऽलूक्षा धर्मकामाः कुम्भीधान्या अलो-

---

१. यह उपोद्घात स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय बनारस के सञ्चालकों के अनुरोध पर 'काशिका' के नवीन संस्करण सन् १९५२ के लिए लिखा था, जो उस संस्करण में समाविष्ट है ।

लुप्ता अगृह्यमाणकारणाः, किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्त आप्ताश्च किमेतद् अपि नाजानन् यद् वेदाध्ययनादुदरपूर्तिः कथं सम्पत्स्यत इति कथं तैर्निष्कारणो धर्म इत्युक्तम् ? आसीत्तेषां हृद्येषा निश्चिता धारणा—

"सैनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च
सर्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति ॥" (मनुः १२।१००)

अत एव तैः "निष्कारणो धर्मः" इत्युक्तम् । पूर्वोक्तशास्त्रवचनैः सुव्यक्तं यदस्माकं पूर्वजानां हृद्येषा धारणाऽऽसीद् यद् वेदाध्ययनमन्तरा सर्वेऽपि शूद्राः वेदाध्ययनेन विना द्विजमात्रस्य गतिर्नास्ति । तेन च न केवलं निःश्रेयससिद्धिरेव, अपि त्वभ्युदयनिःश्रेयसयोरुभयोरपि सिद्धिर्निश्चिता ॥

वेदाध्ययनस्य साम्प्रतिकी दुरवस्था

साम्प्रतिकपठनपाठनक्रमेण वेदाध्ययनं न सम्भवति, न चाद्यत्वे तज्जायत इति सर्वं विदितमेव । काशीस्थराजकीयसंस्कृतकालेजस्य परीक्षायां १६००० परीक्षार्थिषु १४५०० व्याकरणमेवाधीयते । १००० साहित्यम्, अवशिष्टेषु त्रिंशत्संख्यकाश्छात्रा वेदविषये मध्यमा-शास्त्रि-आचार्य-परीक्षायां समुपतिष्ठन्ते । तत्रापि वर्षे प्रायेण द्विश्रा एव छात्रा आचार्य्यपरीक्षोत्तीर्णा भवन्ति । एवं १९९० मध्ये द्वौ छात्रावपि वेदं नाधीयाते । १७ विषयाणामाचार्य्यपरीक्षाऽद्यत्वे प्रचलति । प्रतिविषयमाचार्य्यपरीक्षायै ६ वर्षाणि मध्यमापर्य्यन्तम्, ६ वर्षाणि शास्त्रि-आचार्य्यपरीक्षाभ्यां चापेक्ष्यन्ते, एवं १७×६=१०२ वर्षाणि १७ विषयाणामाचार्य्यपरीक्षार्थमपेक्ष्यन्ते । इत्थं ६+१०२=१०८ वर्षाणि सर्वाण्यपेक्षिष्यन्ते सर्वविषयाणामाचार्य्यपदवीं लब्धुमिति तथ्यम् । १६ वर्षाण्यध्ययनकालः प्रायेणास्ति । आजीवनं पठन्नपि न कश्चित्सर्वविषयाणामाचार्य्यपरीक्षायाः पारं गन्तुं समर्थः स्यात् । एतदप्यत्रावगन्तुं शक्यते यद् १०८ वर्षाण्यधीत्यापि तेषां शास्त्राणां परीक्षोपयोगि तात्कालिकं ज्ञानमेव जायते । न च तेषां शास्त्राणां मार्मिकं ज्ञानं सम्पद्यत इति सर्वं विदितमेव । व्याकरणाचार्याः प्रायेणान्यविषयेभ्योऽनभिज्ञा एव सन्ति । वेदाध्यायी आचार्यपरीक्षामप्युत्तीर्य तदपि न जानन्ति यत् के के वैदिकग्रन्था अस्माकं सन्ति, के च वेदभाष्यकाराः सन्त्यासन् वा, किञ्च तेषां वेदार्थे वैशिष्ट्यम्, कति पक्षा वेदार्थे निरुक्तकृता वर्णिताः, के चाद्यत्वे तिरोहिता इत्यादि किमपि ज्ञानं तेषां न भवति । वेदाध्ययनं नाममात्रमेव वर्त्तते । वेदाङ्गं विना

वेदाध्ययनस्य किं फलम् ? मूलमात्रमेव जोघुष्यमाणानां कथमर्थाविगमः स्यात् ? वैयाकरणा न केवलं वेदज्ञानशून्याः प्रायेण सर्वत्र दरीदृश्यन्तेऽपि तु वेदाङ्गोपाङ्गज्ञानरहिताऽपि प्रायशो यत्र तत्र द्रष्टुं शक्यन्ते । साम्प्रतिकाध्ययनाध्यापनक्रमस्यैवैष दोष इति निर्विवादम् ।

कथं वेदाध्ययनस्य सम्भवः ?

अस्ति तत्र कश्चिदुपाय इत्याकाङ्क्षायामुच्यते । अष्टवर्षपर्य्यन्तं गृहे पाठशालायां वा मातृभाषाया ज्ञानं पूर्वं स्यात् । तदनन्तरम्—

४ वर्षाणि व्याकरणार्थम् ।
१ वर्षं साहित्ये ।
१ वर्षमुपवेदायैकस्मै ।
२ वर्षे उपाङ्गेभ्यः ।
६ वर्षाणि सब्राह्मणवेदाध्ययने ।
————
१६ वर्षाणि योगः ।

२४ वर्षेषु १६ वर्षाणि प्राप्स्यन्त्यध्ययनार्थम् । षडङ्गवेदाध्ययनस्यैष एव क्रमो न्याय्यः । एतावति काले मूलग्रन्थानां तत्तदार्षभाष्याणाञ्चाध्ययनं सम्भवति । टीकोपटीकापठनक्रमेण तु १०८ वर्षेष्वपि तेषां समाप्तेरसम्भवः, सम्यगवगतेस्तु का कथा ?

व्याकरणं साधनं न तु साध्यम्

यदा षडङ्गवेदाध्ययनार्थं व्याकरणाय ४ वर्षाण्येवास्माकमन्तिके वर्त्तन्ते, तत्र च **"रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्"** व्याकरणशास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनानि ब्रुवता भगवता पतञ्जलिमुनिना "साधनं व्याकरणं न तु साध्यम्" इति समुद्घोषितं भवति । व्याकरणरूपाया नद्याः पारे गत्वैवान्यशास्त्रेषु लभते गतिमित्यादि सर्वमभिलक्ष्य समुद्घोष्यते तह्यस्माभिः **"अष्टाध्यायीक्रमेणैवास्य सम्भवः"** **"अष्टाध्यायीपठनपाठनमेव शरणम्"** इति ।

अन्यथाऽऽप्रलयमपि वेदाध्ययनस्य प्रचारो न सम्पत्स्यते । न चैतदनुष्ठानं विना संस्कृतभाषा भारतस्य राष्ट्रभाषा भवितुमर्हति ॥

आचार्यपाणिनेर्महत्त्वम्

आचार्यपाणिनिर्न केवलं शब्दशास्त्रस्यैवर्षिः, (साक्षात्कृतधर्मा) आसीद् अपि तु सम्पूर्णेऽपि वैदिकलौकिकवाङ्मयेऽव्याहतगतिः स आसीदिति सर्व-

वादिसम्मतम् । वैदिकवाङ्मयविषयस्य निर्देशस्तु तदीयाष्टाध्याय्याः सूत्रेषु यत्र तत्र दृश्यत एव, भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र-लोकव्यवहारस्यापि महान् वेत्ताऽऽसीदिति पाणिनिशास्त्रस्यावगाहनेनावगम्यते । तस्य शब्दशास्त्रं न केवलं व्याकरणज्ञानस्यैव प्रतिपादकं वर्त्तते, अपि तु भूगोलेतिहासादिविषयाणां ज्ञानार्थमप्यस्य शास्त्रस्याद्भुतो महिमा महत्युपयोगिता चानुभूयते विद्वद्भिः ।

पाणिनीयाष्टाध्याय्या गौरवं न केवलमस्माभिरेवोद्घोष्यते, **भगवता पतञ्जलिनाप्या**चार्य्यपाणिनेर्गौरवातिशयो महता कण्ठेन समादरेण च प्रदर्श्यते । तद्यथा—

(१) "प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म । तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण"। (महाभाष्ये १।१।१ पृष्ठ १३४ चौखम्बासंस्करणे) ।

(२) पुनरप्युच्यते—"सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्" (अ० ६।१।७७ महाभाष्ये) ।

(३) जयादित्योऽपि 'उदक्च विपाशः' (अ० ४।२।७४) इति सूत्रस्य वृत्तावाह—"महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य ।"

(४) चीनदेशीयो यात्री ह्यूनसांगश्चेत्थमाह—'महर्षिः पाणिनिः पूर्णमनोयोगेन शब्दभण्डारतः शब्दराशिं सञ्चेतुमारब्धवान् । १००० पद्येषु (४००० सूत्रेष्वित्यर्थः) सर्वा व्युत्पत्तिः समाप्ता । प्रत्येकं पद्यं ३२ अक्षराणामस्ति । एतावतैव सर्वोऽपि प्राचीनो नवीनश्च ज्ञानराशिः परिसमाप्तः । शब्दाक्षरविषयकं किमपि ज्ञानं नावशिष्टमभूत्"(ह्यूनसांग हिन्दी-अनुवादप्रथमभागस्य २२१ पृष्ठत उद्धृतः) ।

पाश्चात्य-विदुषामपि पाणिनिविषये महत्युत्कृष्टभावना विद्यते । तद्यथा—

(१) मोनियरविलियमश्चाह—"संस्कृतव्याकरणं(अष्टाध्यायीग्रन्थः) मानवमस्तिष्कस्य प्रतिभाया आश्चर्यतमो भागोऽस्ति, यो मानवमस्तिष्कस्य समक्ष आगतः" ।

(२) हण्टरश्चाह "मानवमस्तिष्कस्यातीवमहत्त्वपूर्ण आविष्कारोऽयम् (अष्टाध्यायीग्रन्थः)" ।

(३) लेनिनग्राडस्य प्रो० टी० शेरवात्सकी—"मानवमस्तिष्कस्य सर्वश्रेष्ठा रचनेयं वर्त्तते (अष्टाध्यायी)" ।

अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रमोऽतिप्राचीनः

अद्यत्वे सर्वत्रैव भारतवर्षे प्रायेण संस्कृतविद्यालयेषु प्रारम्भिक शिक्षणे लघुकौमुदीमध्यकौमुदीसिद्धान्तकौमुद्यो वोपलभ्यते । केवलमाङ्गल-विद्यालयेषु संस्कृतस्याध्ययनाध्यापनमाङ्गलभाषाविद्वद्भिरेव निर्मितग्रन्थैः प्रचलति । संस्कृतविद्यालयेषु सर्वत्र कौमुदीरीत्यैव व्याकरणशास्त्रस्य समस्तमपि पठनपाठनं चतुश्शताब्दीभ्य एतावद् व्यापकं जातमस्ति, यदष्टाध्याय्याऽपि व्याकरणस्याध्ययनं सम्भवतीति ज्ञानं विश्वासो वा प्रायेण नोत्पद्यते केषाञ्चित् साम्प्रतम् । साधनिका (प्रयोगसिद्धिः) कथं सम्भविष्यतीत्याद्याशङ्कमाना उच्चकोटिकविद्वांसोऽपि दृश्यन्ते, अन्येषां तु का कथा ? कालक्रमेणाष्टाध्याय्या लोप एव जात इति मन्तव्यम् । हा हन्त ! काश्यामन्यत्रापि वैदिकानामृग्वेदिनां गृहेष्वष्टाध्यायीमतिशुद्धां धाराप्रवाहरूपां कण्ठस्थीकृत्यापि ते बालाः पुनः सवृत्तीनि लघुकौमुदी-सूत्राणि (तेषां सूत्राणामर्थानप्यनवबुध्यैव) घोषन्तः सर्वत्र दरीदृश्यन्ते । अहो ! कीदृश्येषाऽनर्थंपरम्परा प्रचलिता !! अष्टाध्यायीं कण्ठस्थीकृत-वतोऽपि बालान् साम्प्रतिकवैयाकरणैर्व्याकरणस्याध्ययनं लघुकौमुदीमन्तरा कारयितुं न पार्य्यते इत्यनिर्वचनीयार्थपरम्परा, दुर्भाग्यमेवैतद्देशस्य किमन्यत् ?

भट्टोजिदीक्षितमहोदयस्य कालः सं० १५१०-१५७५ वर्त्तते । ततः पूर्वं त्वष्टाध्याय्या एव पठनपाठनस्य प्रचार आसीत्, नात्र शङ्कालेशस्याप्य-वसरः । तद्यथा चीनदेशस्य यात्री इत्सिङ्गनामा भारते कतिपयवर्षेभ्यः (सन् ६८१-६९१ ईस्वी) अस्थात् । अष्टाध्याय्युपज्ञमेव संस्कृताध्ययनं तेनात्र कृतमिति स्वयं तेन स्वयात्राविवरणे विवृतं वर्त्तते । तद्यथा—

(१) "इस (अष्टाध्यायी) में १००० श्लोक (४००० सूत्रों का १००० श्लोक बनता है—लेखक) हैं। यह पाणिनि की रचना है, जो प्राचीनकाल में बहुत भारी विद्वान् था·········आजकल के भारतवासियों का प्रायः इसमें विश्वास है। बच्चे ८ वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्रपाठ को सीखना आरम्भ करते हैं और ८ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं ।।" (इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २६४) ।

(२) "वृत्तिसूत्र (काशिकावृत्ति)—

यह ऊपर के सूत्र (अर्थात् पाणिनि के सूत्र) की टीका है। पहले समयों में अनेक टीकाएँ रची गई थीं और यह उन सब में उत्तम है। यह

सूत्र का अर्थ देती और उसके अनेक प्रकार के अर्थों की बड़ी बारीकी से व्याख्या करती है ।.........पन्द्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति को पढ़ना आरम्भ करते हैं और पाँच वर्ष में (सम्भवतः महाभाष्यसहित—लेखक) इसे समझ लेते हैं ।।" (पृ० २६८) ।

(३) "यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिये जायें, तो उन्हें सबसे पहले (व्याकरण के) इस (अष्टाध्यायी) ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय। यदि ऐसा न होगा, तो उनका परिश्रम व्यर्थ जायगा............" (इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृष्ठ २६८) ।

(४) "इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरम्भ करते हैं और हेतुविद्या तथा अभिधर्मकोष में लग जाते हैं । न्याय द्वारा तर्कशास्त्र के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान करते हैं और जातकमाला के अध्ययन से उनकी ग्रहण शक्ति बढ़ती है । इस प्रकार अपने उपाध्यायों से शिक्षा पाते और दूसरों को शिक्षा देते हुए, वे प्रायः मध्यभारत के नालन्दा विहार में, या पश्चिमी भारत में वल्लभी (वला) देश में २, ३ वर्ष व्यतीत करते हैं ......" (इत्सिग की भारत यात्रा पृ० २७०-२७१)

(५) अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता की परीक्षा के लिये वे राजा की सभा में जाकर (अपनी योग्यताओं का) तीक्ष्ण शस्त्र उसके सामने रख देते हैं, वहाँ वे व्यावहारिक शासन में अधिकार पाने के उद्देश्य से अपनी कल्पनाएँ उपस्थित करते और अपनी राजनैतिक योग्यता प्रदर्शित करते हैं । जब वे विवादभवन में उपस्थित होते हैं, तब अपने आसन को उठाकर अपनी आश्चर्यजनक चतुराई प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं । जब वे नास्तिकवाद का खण्डन करते हैं, तब उनके सभी प्रतिपक्षी विस्मित हो जाते हैं और अपनी हार स्वीकार करते हैं । तब उनकी कीर्त्तिध्वनि से (भारत के) पाँचों पर्वत गूँज उठते हैं और उनकी प्रसिद्धि मानों चारों सीमाओं के ऊपर से बहने लगती है । उन्हें भूमि मिलती है और उनकी पदोन्नति की जाती है । उनके विख्यात नाम, पुरस्कार के के रूप में, उनके ऊँचे द्वारों पर सफेदी से लिखे जाते हैं । इसके पश्चात् जो व्यवसाय उन्हें पसन्द हो, उसे वे कर सकते हैं ।।" (इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २७१-२७२) ।

(६) "प्रौढ़ विद्यार्थी उसे (चूर्णि अर्थात् महाभाष्य) ३ वर्ष में सीख लेते हैं।"

(अर्थात् काशिका और महाभाष्य में सब मिलाकर ५ वर्ष लगते हैं, ऐसा प्रतीत होता है—लेखक) इत्सिङ्ग की भारत यात्रा पृ० २७३।

(७) "सन् ६११ ई० में इन्द्र वर्मा तृतीय राजा बना, यह इस (भृगु) वंश का अन्तिम राजा था। इसके ८ लेख मिलते हैं, इनसे पता चलता है कि इन्द्र वर्मा षड्दर्शन का पण्डित था। काशिका सहित व्याकरण में पारंगत था और बौद्धदर्शन का भी अच्छा ज्ञाता था। यह अपने समय का भारी विद्वान् था।"

(चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार कृत बृहत्तरभारत पृ० ३४२) अयं चम्पादेशस्य ('अनाम' इति वर्तमाना संज्ञा) राजासीत्, देशोऽयं हिन्दचीनीद्वीपेषु वर्ततेऽनेनैतत् सिद्धयति यद् बौद्धा अप्यष्टाध्यायीपद्धत्यैव व्याकरणमधीयते स्म ॥

पूर्वोद्धरणैरेतत्स्पष्टं यद् इत्सिङ्ग (६७१-६९५ ई०) समये (सन् ६११ ई०) इन्द्रवर्मराज्यसमयेऽप्यष्टाध्याय्या अध्ययनं न केवलं भारतवर्ष एवासीत्, अपितु भारताद् बहिः चम्पादेशे (अनामदेशे) अपि विस्तृतमासीत्। कालक्रमेणैवास्या अष्टाध्याय्या एतावान् लोपोऽभूत्, यदष्टाध्याय्याऽपि व्याकरणस्य ज्ञानं सम्भवतीत्यत्र विद्वांसोऽपि सन्दिहाना दरीदृश्यन्ते किमुत छात्रा इति।

प्रक्रियानुसारिक्रमस्यारम्भः

इत्सिङ्गसमये (सन् ६८१-६९१ ई०) अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रम आसीदिति सप्रमाणमुक्तं पूर्वमस्माभिः, स क्रमः कथं लुप्तः, तत्रारुचौ किं बीजं, प्रक्रियाक्रमे च जनानां प्रवृत्तौ किं निदानमित्यभिलक्ष्येदानीं किंचिदुच्यते—

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, धातुपाठः, उणादिपाठः, गणपाठः, लिङ्गानुशासनं समुदितमेतत् 'पञ्चपाठी'त्युच्यते सर्वविदितमेतत्। समुदितमेतत् पठित्वैव 'अधीताष्टाध्यायी' इति मन्तव्यम्। 'वृद्धिरादैच्' इतिसूत्रमधीयानश्छात्रोऽस्य सूत्रस्य पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरणादि सर्वं पठन् तत्र चोदाहरणानां (शालीयः, भागः, नायकः, अचैषीत्, अलावीत्, मार्ष्टि इत्यादीनां) सिद्धिं सर्वैस्सूत्रैरष्टाध्यायीपद्धत्या सम्पादयति। एवमष्टाध्यायीं धातुपाठञ्च सम्यगभ्यस्य प्रथमावृत्तावेव (उदाहरणानां

सिद्धिं कुर्वन्नेवेत्यर्थः) छात्राः सर्वां तिङन्तप्रक्रियां सुबन्तप्रक्रियां कृदन्त-प्रक्रियां तद्धितसमासप्रक्रियाञ्च विनापि प्रक्रियाग्रन्थाश्रयेणावबुद्ध्यन्ते स्म। तत्र च सर्वधातूनां सर्वलकारेषु सर्वप्रक्रियासु चैकैकशो रूपाणि सूत्र-पुरस्सरं संसाधयन्तः प्रक्रियाग्रन्थानामभावेऽपि ते छात्रा न कीदृशीमपि न्यूनतां तत्रानुभवन्ति स्म। अयं क्रमस्तदानीं सर्वसाधारणेषु प्रचलित आसीत्। प्रक्रियाग्रन्थनिर्माणस्य प्रश्न एव नोदतिष्ठत। कालप्रभावाद्यदा ह्यध्यापकास्तद्रीत्या छात्राणामध्यापने प्रमादाद् भूयांसं क्लेशमनुभवन्तः शैथिल्यमाजह्रुस्तदा ते तामेव प्रयोगसाधनसमये छात्रैर्लिपिकृतां प्रयोग-साधनप्रक्रियां ग्रन्थरूपेण निर्मापयाञ्चक्रुः। शनैः शनैरष्टाध्यायीक्रमेण प्रयोगसाधनप्रक्रिया तु शिथिलतामगात्। प्रक्रियाग्रन्थानामाश्रयग्रहण-मेवोत्तरोत्तरमवर्द्धत।

तदानीमप्येतत्त्वासीदेव यदष्टाध्यायीमभ्यस्य तत्क्रमानुरूपं सूत्रार्थं विज्ञायैव प्रक्रियाग्रन्थरूपेण परिणतानां सिद्धान्तकौमुदीपूर्ववर्तिनां रूपा-वतार-प्रक्रियारत्न-रूपमाला-प्रक्रियाकौमुद्यादीनां, प्रक्रियासर्वस्वप्रभृतीना-ञ्चाष्टाध्यायीकालिकच्छात्रकर्तृकप्रयोगसाधन-लिपिरूपाणामाश्रयमध्ये-तारो गृह्णन्ति स्म। अष्टाध्याय्याश्रयणन्तु तदानीमनिवार्यमेवासीत्। यथा काशीस्था महाविद्वांसः "तात्या" शास्त्रिप्रभृतयोऽपि 'न मया समयाभावादद्याष्टाध्यायीसूत्राणामावृत्तिः कृता' इति स्वच्छात्रेषूदघो-षयन्।

प्रक्रियाग्रन्थानां निर्मित्यनन्तरमपि यद्यष्टाध्यायीसूत्रपाठस्य त्यागो नाभविष्यत्, तदाप्यष्टाध्याय्या उपस्थित्या प्रक्रियाग्रन्थेभ्योऽपि साधारण-बुद्धिभ्यश्छात्रेभ्यस्तत्र किञ्चित्सौकर्य्यंमभविष्यत् (यदि मूलं त्यक्त्वा शाखासु गमनं नाभविष्यत्)। एवमष्टाध्यायीसूत्रक्रमपाठाश्रयेण प्रक्रिया-ग्रन्थानामभ्यासो बहुकालाय प्राचलत्। अग्रे बहुतिथे काले गतेऽष्टाध्यायी-सूत्रक्रमपाठः प्रमादात् सर्वथाऽपि विलुप्तः, केवलं प्रक्रियाग्रन्थानां पठन-पाठनक्रम एव सर्वत्र प्रचलितोऽभूत्। तदारभ्यैवैतेषां प्रक्रियाकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदीप्रभृतीनामुत्पत्तिपरम्परा तेषां व्यापकता च समजनि। एतत्कालमध्य एवैकैकस्योपर्यपरस्य प्रक्रियाग्रन्थस्य निर्माणप्रवाहः प्रवृत्तः। प्रक्रियाग्रन्थानामुत्पत्तिक्रमविषय इदानीं किञ्चिदत्र विमृशामः—

प्रक्रियाग्रन्थानामितिहासः

(१) रूपावतारः—(सं० ११४० विक्रमीयः)—

अष्टाध्यायीग्रहणेऽसमर्थेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यश्च व्यावहारिकज्ञानमात्रधिया

बौद्धभिक्षुणा धर्मकीर्त्तिना प्रक्रियाक्रमस्य सर्वप्रथमो ग्रन्थः 'रूपावतार'-नामकोऽष्टाध्यायीसूत्रैर्व्यरचि। अस्मिन् ग्रन्थेऽष्टाध्यायीक्रमं परित्यज्य केवलं प्रयोगसाधनमभिलक्ष्य संज्ञा-संहिता-सुबन्त-अव्यय-स्त्रीप्रत्यय-कारक-समास-तद्धितप्रकरणानि प्रथमभागे सङ्ग्रथितानि। दशलकार-दशप्रक्रिया-कृदन्तञ्चापरभागे। (स्वरवैदिकप्रकरणं विहाय) २६६४ सूत्राणि प्रक्रियाक्रमेण व्याख्यातानि। प्रक्रियाग्रन्थानामुत्पत्तिर्बौद्धकाल एवाभूद् इत्यपि ध्येयम्।

(२) प्रक्रियाकौमुदी—(सं० १४८० वि०)—

यद्यपि 'प्रक्रियारत्नम्' 'रूपमाला' इमौ प्रक्रियाग्रन्थौ रूपावतारानन्तरं निर्मिताविति ज्ञायते तथापि तयोरनुपलम्भात् प्रक्रियाकौमुदीविषय एवोच्यते। प्रक्रियाकौमुदीनामकोऽयं ग्रन्थो रामचन्द्राचार्येण, सूत्राणां व्याख्यानं किञ्चिद्विस्तरेण विधाय, स्वरवैदिकप्रकरणे च संयोज्य २४७० सूत्राणि व्याचक्षाणेन रूपावतारानन्तरं निरमायि। तेन च प्रक्रियाक्रमस्य विस्तारः प्रचारश्च प्राचुर्य्येणाभूत्। ग्रन्थोऽयं सिद्धान्तकौमुद्या आधार इति मन्तव्यम्।

(३) सिद्धान्तकौमुदी—(सं० १५१०-१५७५ वि०)—

भट्टोजिदीक्षितमहोदयेनाष्टाध्यायीक्रमं परित्यज्यैव पूर्वप्रचलित-प्रक्रियाकौमुदीक्रममेवाश्रित्य सिद्धान्तकौमुदीनामकस्स्वग्रन्थो व्यरचि। तत्र च प्रायः सर्वाण्यपि सूत्राणि (३९७८) व्याख्यातानि। तेन चायं यत्नः कृतो यन्मद्रचितोऽयं ग्रन्थः "सिद्धान्तकौमुदी" एव सर्वत्र प्रचलेत्। व्याकरणविषये सिद्धान्तकौमुदीं विहाय कस्याप्यन्यग्रन्थस्याध्ययनाध्यापनं न तिष्ठेत्। अनेन कियन्महत्काठिन्यं छात्रेभ्यो भविष्यतीति तु न विचारितम्। तस्यैवैतत् फलं यत्संस्कृतस्याध्येतारो द्वादशवर्षाण्यधीत्य व्याकरणार्णवस्यापि पारं न यान्ति, अन्यशास्त्राणां तु का कथा? तदपि "द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" इति श्रवणमात्रं, ज्ञानं पुनरपि सन्दिग्धमेव॥

(४) मध्यकौमुदी—

शिखरमध्यारूढेयं सिद्धान्तकौमुदी यदा छात्रेभ्योऽतीव दुःखावहा-दुरूढा-अतीव-परिश्रम-साध्या-अतिकालसाध्या चेत्यनुभूतवान् वरदराज-स्तदैव सः २११७ सूत्राणि व्याख्याय मध्यकौमुद्या निर्माणं कृतवान्। मध्यकौमुदीनिर्माणमेव सिद्धान्तकौमुद्यसाफल्यस्य प्रत्यक्षं प्रमाणम्। अन्यथा

काऽऽसीदावश्यकता मध्यकौमुदीनिर्माणस्य ? एवं शिखरान्मध्यमार्गे समागता संस्कृताध्ययनपद्धतिरिति सुव्यक्तम् ॥

(५) लघुकौमुदी—

मध्यमार्गेणापि यदा सन्तोषो नाभूत् तदानीमन्यदपि लघुतरमार्गमन्विच्छता तेनैव वरदराजेन स्वपूर्वनिर्मितया असन्तुष्य ११८८ सूत्राणि व्याख्याय लघुकौमुदी विरचिता । शिखरान्मध्ये मध्यान्नीचैरागतोऽयं व्याकरणस्य पठनपाठनक्रमः । यदि सिद्धान्तकौमुद्यां काठिन्यं नाभविष्यत्तर्हि मध्यकौमुदीलघुकौमुदीग्रन्थयोर्निर्माणं कदापि नाभविष्यदिति सुव्यक्तम् । तयोर्निर्माणं प्रत्यक्षं प्रमाणं यत् सिद्धान्तकौमुदीक्रमेण न सर्वेषामध्ययनं सुकरं समभवत्—नात्र सन्देहावसरः ॥

अष्टाध्यायीक्रम एव पुनः समुपस्थितः

"वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता"—(अथर्व) ॥

यथा चायं भूगोलो वर्त्तुलाकारः, तत्र 'यतश्चलितुमारब्धस्य तत्रैव पुनः प्रत्यावृत्तिर्भवति इति' जनश्रवस्तथ्यञ्च, तथैवायमष्टाध्यायीक्रमोऽद्य स्वतन्त्रभारते पुनरपि यथाक्रमं सम्प्राप्तः ।

मूलतोऽतिदूरङ्गता व्याकरणस्याध्येतार इति पूर्वमस्माभिः प्रतिपादितम्, यस्य वृक्षस्य मूलात् सम्बन्धो विच्छिद्यते, कालक्रमेण स्वयमेव तस्य वृक्षस्य पत्राणां पुष्पाणाञ्च नाशो दुर्निवारः, अतः पुनर्मूलस्यैवाश्रये कल्याणसम्भव इति सुधिय एव प्रमाणम् । अतोऽधुनाऽष्टाध्यायीपद्धत्याश्रयणं संस्कृताध्यायिनां भारतस्य च कृते कल्याणकरं स्वश्रेयस्साधकञ्च भवेदित्याशास्यते ।

नान्यश्रुतोऽयं वादः, अपि तु स्वानुभूत एव । स च स्वानुभूत इदानीं स्वमित्राणामाग्रहेण समादरणीयविदुषां, व्याकरणाध्येतॄणां व्याकरणमधिजिगमिषूणाञ्च पुरतः प्रकाश्यते मनाक् ।

व्याकरणसारल्ये स्वानुभवः

(सर्वथाऽपि संस्कृतानभिज्ञानां द्वित्राणां कन्यानाम्, अष्टाध्यायीमूलसूत्राणां कण्ठस्थीकरणेन विनापि, अष्टाध्यायीक्रमेण पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि- (सर्वैः सूत्रैः) इत्यादि-सम्पादनेन व्याकरण एतावती प्रगतिरभूत्, यदष्टाध्यायीक्रमेण व्याकरणमधीयानाभिस्ताभिः पञ्जाबविश्वविद्यालयस्य विशारदपरीक्षा दशमासैरेवोत्तीर्णा । अस्यां

परीक्षायां व्याकरणेन सह संस्कृतसाहित्यग्रन्थाः, दर्शनग्रन्थाः, धर्मशास्त्रं, भगवद्गीता, संस्कृतेऽनुवादो निबन्धश्चेत्यादिसर्वेऽपि विषयेषु योग्यता सम्पादनीया भवति। ताभिरेव विशारदपरीक्षानन्तरं सप्तमासैरेव पञ्जाबविश्वविद्यालयस्य शास्त्रिपरीक्षाऽप्युत्तीर्णा। शास्त्रिपरीक्षायामपि वेदो निरुक्तं, संस्कृतसाहित्यग्रन्थाः, महाभाष्यं, दर्शने सांख्ययोगौ सभाष्यौ, अनुवादो निबन्धश्चेत्येतावन्तो विषया भवन्तीत्यपि ध्येयम्। सप्तदशमासैः (सार्द्धवर्षेणैव) सर्वथाऽपि संस्कृतानभिज्ञाः कन्या विशारद शास्त्रिपरीक्षोत्तीर्णा जाता इति श्रुत्वा सामान्यजनास्तु विश्वासमपि न कुर्वन्ति, विशिष्टास्तु चकितचकिता विस्मिताश्च जायन्ते। परञ्च सर्वमेतदधुनाऽपि मर्मज्ञैः प्रत्यक्षीकर्त्तुं शक्यते॥

(२) अपरञ्च—बी० ए० ऐल० ऐल० बी० इत्युपाधिधारिण इञ्जीनियरपदवीमलङ्कुर्वाणा अपि ३५, ४० वार्षिकाः प्रौढाः सज्जनाः सर्वथाऽपि संस्कृतानभिज्ञाः, सप्तदिनैरेव 'पठति' 'शालीयः' 'पुरुषः' इत्युदाहरणानां पूर्वापरसूत्रनिर्देशपुरःसरं सिद्धिमष्टाध्यायीसूत्रैः (तच्चापि विना रटनेन) कुर्वन्तीत्यपि द्रष्टुं शक्यते॥

(३) ऐफ० ए० परीक्षार्थ्यपि छात्रः २। सपादद्वयमासेनैवाष्टाध्यायीक्रमेणाष्टाध्यायीसूत्राण्यकण्ठस्थीकृत्यापि केवलमवबुद्ध्यैव ६०० षट्शतसंख्यकानि सूत्राणि पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धिपुरःसराणि सम्यगधीतवान्। तत्र च 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इत्यादिकठिनतमप्रकरणस्यान्येषां प्रकरणानाञ्च कठिनतमसूत्राणां व्याख्यानं, तेषामुदाहरणानां सिद्धिञ्च (प्रत्येकं ५०, ६० सूत्रैः) सम्यगवबोध्य (विनापि रटनेन) काशीस्थवैयाकरणविद्वत्समाजेऽन्यत्रापि च प्रदर्शितवान्। येन ते सर्वेऽपि विद्वांस आश्चर्यचकिता अभूवन्।

अत एवास्माभिरुच्यते यदष्टाध्याय्येव संस्कृतज्ञानस्य व्याकरणज्ञानस्य च परमं साधनम्।

कुतो जनाः संस्कृताध्ययनात् पलायन्ते ?

नहि व्याकरणेन विना संस्कृतभाषायामधिकारस्तत्र च सम्यक् प्रवेशो भवतीत्यस्माकं सिद्धान्तः। किन्तु तदेव व्याकरणमद्यत्वे दुरूहतयाऽर्थरहितघोषणपुरःसरतया च संस्कृताध्येतॄणां मार्गेऽवरोधकत्वेन सुदृढार्गलरूपेण समुपतिष्ठते। यावदस्यावरोधकत्वन्नापाकृतं स्यात्तावन्नास्या देववाण्याः पुनरुद्धारः सम्पत्स्यत इत्यपि सुनिश्चितमेव। ये केचन स्वमनीषि-

कयाऽन्येषां प्रेरणया, धर्म-देशभक्तिभावनया वा संस्कृताध्ययनमारभन्ते, ते पूर्वोक्तामर्थरहितघोषणपुरःसरतां दुरूहताञ्च दृष्ट्वैव संस्कृताध्ययनतो पलायिना हताशाश्च यत्र तत्र सर्वत्र दरीदृश्यन्ते। एवम्भूतानां संस्कृताध्ययनतः पराङ्मुखानां पलायितानां भुक्तभोगिनां संख्या न जाने भारते कति लक्षाणि स्यात्। तैः (स्कूलकालेजादिष्वधीतवद्भिः 'बी० ए०, ऐम० ए०' इत्युपाधिधारिभिः, आर्य्यभाषाविशेषज्ञैर्वा) न केवलं स्वयमेव संस्कृताध्ययनं परित्यज्यतेऽपि त्वग्रे स्वसन्ततेरपि संस्कृताध्ययनस्य मार्गोऽवरोध्यते। एवम्भूता जनाः स्वसन्ततिभ्य एवमुपदिशन्तो दृश्यन्ते— **"वत्स ! मया स्वबाल्यकाले संस्कृताध्ययनमारब्धमासीत्, किन्त्वतिविलष्टं महाकष्टसाध्यमर्थरहितघोषणप्रायिकं दुरूहञ्चेदं संस्कृताध्ययनमिति कृत्वाऽनिच्छताऽपि मया त्यक्तं पुरा, त्वयापि नात्र समयनाशः शक्तिनाशो वा कर्तव्यः"** इत्थंभूतैः प्रवादैः संस्कृताध्ययनं देशे लुप्तप्रायमेवाभूत्। ये केचनोत्कृष्टमस्तिष्कास्ते पूर्वमाङ्गलीयैः प्रायेण नवनीतवत् संगृह्य ङ्गलैण्डादिदेशेषूपाधिलोभं प्रदर्श्य, महार्घाश्छात्रवृत्तीः प्रदाय विदेशीयवेशभूषाभावनायुक्ता अन्ते राजकार्येषु नियोजिताः, येन च ते ,स्वयं भारतीयसंस्कृतेः, सभ्यतायाः, संस्कृतसाहित्याच्च पराङ्मुखा अभूवन्। ये भिक्षुवृत्तयः साधारणमस्तिष्का देशस्य संसारस्य वा भूत-वर्तमान-भविष्यद्-विषये सर्वथाप्यनभिज्ञास्ते प्रायेण फल्गुवत् संस्कृताध्ययनेऽवशिष्टा दरीदृश्यन्ते, ते च न संस्कृताध्ययने स्वकर्तव्यबुद्धया प्रवृत्ता भवन्ति, अपि त्वर्थाभाव एव तेषां प्रवृत्तिहेतुर्दृश्यत इत्येवम्भूतायां विषमसमस्यायां कथं स्यात् संस्कृताभ्युदय इति सुधीभिर्विमर्शनीयम् ॥

तत्र व्याकरणाध्ययनस्यातीव सरलोपायः

व्याकरणाध्ययनं यदाऽनिवार्यं, नानेन विना संस्कृतसाहित्ये प्रवेशस्यापि संभव इत्यस्माभिः पूर्वमुक्तम्, अस्यामवस्थायां "व्याकरणाध्ययनस्य कश्चन सरलोपायः स्यात्" इति विचारे समुत्पन्नेऽस्माभिरेकमेव सूत्रमुद्घोष्यते—

अष्टाध्यायीक्रमेणाध्ययनस्य पुनरुद्धार एवास्य सर्वस्य महौषधम् ॥

अस्यां विंशतितम्यां शताब्द्यामस्याष्टाध्यायीक्रमस्य पुनरुद्धारे बहुकालानन्तरं प्रथमः प्रयासः श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां वर्तते। तदनन्तरं तच्छिष्याणां श्रीमतां परमहंसपरिव्राजकाचार्यदयानन्दसरस्वतीस्वामिनामेव कृपा वर्त्तते,

यद् वयं साम्प्रतमष्टाध्यायीपठनपाठनक्रमस्य विषये किञ्चिद् वक्तुं समर्थाः स्मः ॥

अष्टाध्यायीक्रमस्य वैशिष्ट्यम्

(१) किमत्र रहस्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—मूलाष्टाध्यायीग्रन्थाभ्यास एवात्र रहस्यं नान्यत् किञ्चिदपि । 'आद् गुणः' (अष्टा० ६।१।८७) इति सूत्रमस्माभिरित्थं पाठ्यते—'आत्' ५-१ (पञ्चम्येकवचनम्) । 'गुणः' १-१ (प्रथमैकवचनम्) पदम् । उपरिष्टाद् "एकः पूर्वपरयोः" (अष्टा० ६।१।४४) 'इको यणचि' (अष्टा० ६।१।७७) 'संहितायाम्' (अष्टा० ६।१।७२) इति सूत्रेभ्यः 'एकः' 'पूर्वपरयोः' 'अचि' 'संहितायाम्' इति पदानामनुवृत्तिरपकृष्यते, अनुवर्त्तन्त इमानि पदानीत्यर्थः । तदानीं बाह्यशब्दस्याध्याहारेण विनापि सूत्रस्यार्थं इत्थं सम्पद्यते—"आत्-अचि-संहितायाम्-पूर्वपरयोः-गुणः-एकः ।" अग्रे 'स्यात्', 'भवेत्', 'भूयात्', 'भविष्यति', 'भवति', 'वर्तते', 'सम्पद्यते', 'जायते' एषु कतमदपि पदमध्याहर्त्तुं शक्यते, नात्र विवादोऽस्ति । 'सूत्र एव सूत्रस्यार्थः' इति रहस्यम् । स चार्थः छात्रेभ्यः (स्युस्ते बालाः प्रौढा वा) सूत्रत एव बोधनीयो भवति । मूलाष्टाध्यायीपुस्तक एव छात्राय सर्वमेतत् प्रदर्श्यतेऽवबोध्यते च । सूत्राणां घोषणेन विनाऽपि छात्र एवं प्रदर्शितं सूत्रार्थमचिरेणैवावबुध्यते । पाठनसमयेऽध्यापकेन पुनः पुनरावृत्त्या सूत्रार्थे कृते, तस्यार्थस्य स्वयमेव छात्रस्य हृदये स्थितिर्जायते, न तत्र घोषणस्यावसर उपतिष्ठते । पुनः पुनरावृत्तावध्यापकस्य परिश्रमो भवति न छात्रस्य । अन्ते स छात्रस्तत्सूत्रं तस्यार्थञ्च सम्यग् गृहीत्वा स्वस्मृतौ सञ्चिनोति । अयं हि प्रत्यक्षदर्शनस्य विषयः । इदमेव सामान्यैर्जनै रहस्यमित्युच्यते ।

(२) लघुकौमुदी-मध्यकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी-प्रक्रियाकौमुदीप्रभृतीन् कौमुदीपरिवारान् जोघुष्यमाणाश्छात्रा आजीवनमेतदपि नावबुद्ध्यन्ते, यत् सूत्रस्यार्थः कथमेवं सम्पन्नः । व्याकरणाचार्या भूत्वाऽप्यनुवृत्तिविषये सर्वथाऽनभिज्ञा एव प्रायेण सर्वत्र दरीदृश्यन्ते । सूत्राणां कण्ठस्थीकृतोऽप्यर्थः (चतुर्गुणः १६००० षोडशसहस्रपादपरिमितः) न चिराय स्मृतौ स्थातुमर्हति, इच्छतोऽनिच्छतो वा । स्वाभाविकञ्चैतत्, सम्यगनवगतोऽनवबुद्धः सम्बन्धविज्ञानविरहितोऽर्थः स्मृतौ कथमवतिष्ठेत, अवस्थातुं वा शक्नुयादिति सर्वजनीनेयमनुभूतिः सर्वत्रापि द्रष्टुं शक्यते, दृश्यते च ।

(३) अष्टाध्यायीक्रमे चायमपि विशेषः—प्रौढाश्छात्रा अष्टाध्यायीसूत्राणि विना रटनेन पूर्वं बुद्धावध्यापकद्वारा पठनसमये स्थापयन्ति, अग्रे

च पुनः पुनस्तेषां सूत्राणां प्रयोगसाधनावसरेऽध्यापकद्वाराऽभ्यासः सम्पद्यते, तदनु तानि सूत्राणि तेषामर्थश्च स्वयमेव बुद्धौ स्थिरा जायन्ते। यानि-यानि सूत्राणीत्थमवबुद्ध्यन्ते तेषां नीचैः रक्ततूलिकया चिह्नानि क्रियन्ते कार्यन्ते च। येन स्वावगतसूत्राणां ज्ञानं स्मृतिर्वा तेषामनायासेनैव सम्पद्यते। स्वाभ्यस्तचिह्नितसूत्रावलोकनेन प्रौढच्छात्रस्याध्ययनोत्साहोऽपि भृशं समेधते। एतदप्यस्ति रहस्यमष्टाध्याय्या अध्ययनपद्धतौ। इतरपद्धतौ तु नैवं सम्भवति, न च सम्पद्यते तादृशं ज्ञानमिति प्रत्यक्षगोचरोऽयं विषयो न श्रवणपरः।

(४) अष्टाध्याय्यां सर्वाणि प्रकरणानि वैज्ञानिकेन विधिना सुसम्बद्धानि वर्त्तन्ते, तेन तत्तत्प्रकरणस्य ज्ञानं सुतरामनायासेन जायते। तद्यथा—सर्वनाम--इत्संज्ञा-आत्मनेपद-परस्मैपद-कारक-विभक्ति-समास-द्विर्वचन-संहिता-सेट्-अनिट्प्रकरणानां सूत्राणि परस्परं सुसम्बद्धानि वर्त्तन्ते अतस्तेषामर्थविगमे न काचनापि बाधा छात्राणां जायते। यदि कस्यचिच्छात्रस्येड्विषये द्विर्वचनविषये वा शङ्कोत्पद्यते तर्ह्यष्टाध्यायीक्रमेणाधीतवांश्छात्रो द्वित्रैरेव पलैस्तत्प्रकरणस्य समस्तसूत्राणां पाठं कृत्वा निःसंशयो जायते। कौमुदीक्रमेणाधीतवांश्छात्रस्तु काठिन्येनातिपरिश्रमेण चापि व्युत्क्रमेण सूत्रविन्यासहेतोर्न तत्र निस्सन्दिग्धः सम्पद्यते। कुतः? तस्य क्रमे तु सूत्राणि विभिन्नप्रकरणेषु विकीर्णानि वर्त्तन्ते, तेषां विभिन्नप्रकरणपठितसूत्राणां परस्परं ज्ञानं कथङ्कारं सम्भवेत्।

(५) अष्टाध्याय्यां **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** **'असिद्धवदत्राभात्'** **'पूर्वत्रासिद्धम्'** इत्याद्यधिकारसूत्राणां कार्येषु सूत्रक्रमज्ञानस्य महत्यावश्यकतैव न विद्यते, अपितु तेषां क्रमज्ञानस्यानिवार्यताऽप्यपेक्षिता भवति। सूत्रपाठक्रमज्ञानमन्तरा **'पूर्वम्' 'परम्' 'आभात्' 'त्रिपादी' 'सपादसप्ताध्यायी'** बाध्यबाधकभावश्चेत्यादिज्ञानं न कदापि सम्भवत्यध्येतॄणामध्यापकानाञ्चापि। सिद्धान्तकौमुदीप्रक्रियाक्रमेणाधीतवतां छात्राणां सूत्रपाठक्रमज्ञानस्याभावान्महाभाष्यं पूर्णतया बुद्धौ नाधिरोहति। प्रतिपदं प्रतिसूत्रं वा तत्र महत् कष्टमनुभूयते, स्वाभाविकञ्चैतत्। स्वप्रत्यक्षीकृतमेतत् सर्वं यदत्रास्माभिः प्रतिपाद्यते।

(६) सिद्धान्तकौमुदीक्रमेणाधीतं व्याकरणं छात्राणां स्मृतिपथाच्छीघ्रं विलुप्यते। पुनः पुनर्घोषणेनापि सत्वरमेव विस्मृतं भवति। सर्वेषामेव व्युत्क्रमेणाधीतवतां छात्राणां स्वानुभूतिरेवात्र प्रमाणम्। नास्त्यत्र कस्यचिदन्यस्य कथनावसरः।

(७) अष्टाध्यायीक्रमे सूत्राणां प्राप्तिः सामान्येनावबोध्यते । सिद्धान्तकौमुदीक्रमे तु यत् सूत्रं यत्रोल्लिखितं विद्यते तत्रैव तस्य प्राप्तिश्छात्रस्य मस्तिष्कमारोहति, न चान्यत्रापि तस्य प्राप्तिश्छात्रस्य मस्तिष्के सौकर्य्येणोपतिष्ठते । एकस्मिन्नुदाहरणे प्रयुक्तस्य तत्सदृश उदाहरणान्तरे प्रयोक्तुमाधुनिकप्रक्रियानुसारेणाधीतवन्तश्छात्राः सर्वथैव बिभ्यति । 'उपेन्द्रः' इति प्रयोग उदाहरणे वा प्रयुक्तं 'आद्गुणः' इति सूत्रं 'दिनेशः' इत्युदाहरणे प्रयोगे वा प्रयोक्तुं ते छात्रा बहुधा बिभ्यतो दृश्यन्ते ।

(८) लेटि रूपाणि, स्वरवैदिकसूत्राणामर्थोदाहरणानि, तेषां सिद्धिर्वाऽष्टाध्यायीक्रम आरम्भादेव 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रस्योदाहरणसिद्धावेवावबोध्यन्ते । सिद्धान्तकौमुदीक्रमे तु ग्रन्थस्यान्ते संस्थापितत्वादाजीवनमपि तत्र यत्नो न क्रियते । यतो ह्युपेक्षिते तत्प्रकरणे, अतस्तत्र कथं गतिः स्यादिति सर्वजनीनोऽयमनुभवः । अन्येऽपि बहवो दोषाः सिद्धान्तकौमुदीप्रक्रियया व्याकरणाध्ययनाध्यापने सन्ति, विस्तरभिया विरम्यते ।

अष्टाध्यायीक्रमेणाध्ययने ये गुणाः सन्ति ते, ये सम्पूर्णामष्टाध्यायीं पूर्वं कण्ठस्थीकृत्याधीयते, तेभ्य एवोपकारिणो भवन्ति, तत्र महाभाष्याध्ययनपर्यन्तमष्टाध्यायीसूत्राणां पारायणस्यावश्यकता भवति । येषामष्टाध्यायी कण्ठस्था न भवति, अष्टाध्याय्याः पठनञ्चारभन्ते, ते तु तेभ्यो गुणेभ्यो वञ्चितास्तिष्ठन्ति । तत्रैवं सत्यष्टाध्यायीक्रमज्ञानाभावे तैर्महाभाष्यादिपठने महत् कष्टमनुभूयते । अतो महाभाष्यस्याद्यन्ताध्ययनकर्तॄणां सर्वप्रथममष्टाध्याय्याः कण्ठस्थीकरणम् अनिवार्यमेवेति दिक् ।

ये तु प्रौढाः पठनार्थिनो लघुकौमुदीं मध्यकौमुदीं वाऽधीयते (यत्र च तेषां घोषणस्य महान् परिश्रमः कालश्चापि सुमहान् वृथैव जायते) तेभ्योऽप्यष्टाध्यायीसूत्रपाठस्य कण्ठस्थीकरणेन विनापि तावज्ज्ञानमष्टाध्यायीक्रममात्रेण (केवलं सूत्रार्थप्रयोगसिद्धिमात्रेणेत्यर्थः) षट्स्वेव मासेषु सम्पद्यते, यावत् ताभ्यां लघुकौमुदीमध्यकौमुदीभ्यां द्वित्रेषु वर्षेष्वपि न सम्भवति । समयस्य परिश्रमस्य च महान् लाभोऽष्टाध्यायीक्रमस्य महद् वैशिष्टयम् ।

अत एव "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" अष्टाध्याय्यैवैतत् सर्वं सम्भवति नान्यथेत्यस्माभिर्मुहुर्मुहुरुच्यते ॥

अष्टाध्यायीक्रमे काशिकावृत्तेर्गौरवम्

यदेतद् बुद्धौ स्थितं भवति, यदष्टाध्यायीक्रम एवास्माकं व्याकरणा-

ध्ययनस्य महानाश्रयीभूतो वर्तते, तदानीमष्टाध्यायीसूत्राणां व्याख्यान-ग्रन्थस्याप्यपेक्षा जायते। यद्यपि पुरा पाणिनिसूत्राणां वृत्तिग्रन्था बहव आसन्, तद्यथा—**पाणिनि-कुणि-माथुर-माथुरी-श्वोभूत्यादयो** विक्रमपूर्वाः, वररुचेर्विक्रमसमकालिकाः, देवनन्दी-दुर्विनीत-चुल्लिभट्टि-निर्लू रविरचिता विक्रमानन्तरा अष्टाध्यायीसूत्रवृत्तयः काशिकायाः पूर्वा आसन्, तथाप्युद्धरणमात्रमेवासामुपलभामहे साम्प्रतम्, अतः काशिकावृत्तिरेवाष्टाध्याय्यध्येतृणामद्यत्वे शरणम्। सा चेयं वृत्तिः (सं० ६५०-७०० वि०) पञ्चमाध्यायपर्यन्तं जयादित्येन विरचिता, शेषाश्चान्तिगास्त्रयोऽध्याया (६-७-८) वामनेन विरचिताः। जयादित्यापेक्षया वामनस्य व्याख्यानं प्रौढतरं वर्तते। वर्त्तमाना काशिकावृत्तिर्जयादित्यवामनयोरुभयोरपि कृतिर्नात्र सन्देहावसरः। पदमञ्जरीन्यासादिषूभयकृताया अस्याः काशिकावृत्तेर्व्याख्योपलभ्यते। इदमप्यत्रावधेयं यज्जयादित्यवामनाभ्यां सम्पूर्णा काशिकावृत्तिः पृथक् पृथगपि निरमायि। काशिकाव्याख्याकारो जिनेन्द्रबुद्धिः स्वन्यासग्रन्थे जयादित्यस्य वृत्तिमन्तिमेषु (६-७-८) अध्यायेषु दर्शयति, वामनस्य वृत्तिञ्च पूर्ववर्त्तिषु पञ्चाध्यायेषु विवृणोति—

(१) "**नास्ति विरोधः भिन्नकर्तृत्वात्। इदं हि जयादित्यवचनम्। तत्पुनर्वामनस्य। वामनवृत्तौ तु** (अष्टा० ३।१।३३) **तासिसिचोरिकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः पठ्यते। तेन विरोधो नाशङ्कनीयः।**" (न्यासः ३।१।३३ पृष्ठ ५२४)। अत्र न्यासकारेण (अष्टा० ३-१-३३) इति सूत्रस्य वामनवृत्तेः पाठ उद्धृतः। वामनेन ६-७-८ अध्यायानां वृत्तिर्विरचिता, जयादित्येन च पूर्ववर्त्तिनां पञ्चाध्यायानामित्येव सर्वैर्ज्ञायतेऽद्यत्वे। अनेनोद्धरणेन सम्पूर्णग्रन्थस्य वृत्त्याः सद्भावे प्रमाणं सुव्यक्तं जायते।

(२) "**आभाच्छास्त्रीयमसिद्धत्वमनित्यम्। अनित्यत्वन्तु तस्य तत्रैव** (अष्टा० ४।२।२२) **प्रतिपादयिष्यते जयादित्येन**" (न्यासः, अष्टा० ३।१।३३, पृष्ठ ५२४) अनेनाप्येतत् स्पष्टं ज्ञायते यज्जयादित्येन षष्ठाध्यायस्यापि वृत्तिर्विरचिता।

(३) "**प्रत्यक्षपक्ष एव वामनाचार्यस्य तत्राभिमतः**" (हरदत्तमिश्रकृता पदमञ्जरी पृ० ४२८)। अत्र पदमञ्जरीकृतः "**तत्र**" इति प्रयोगः स्त्रीप्रत्ययप्रकरणस्य चतुर्थाध्यायस्यैव बोधकः, तत्र च वामनेन प्रत्ययपक्षोऽभिमत इति हरदत्ताभिप्रायः। वामनेन तु ६-७-८ अध्यायानामेव वृत्तिर्विरचितेत्यद्यत्वे सर्वप्रसिद्धिः, अनेन वामनस्य पूर्वभागेऽपि वृत्तेः सद्भावः

सिद्ध एव। उभयवृत्योः कदा कथञ्च सम्मिश्रणमभूदिति तु न विद्मः। भागवृत्युद्धरणेषु यतो जयादित्यवामनयोः खण्डनमुपलभ्यते, तेनानुमीयते यत्ततः पूर्वमिव (सं० ७०० वि०) तयोर्मिश्रणं जातं स्यात्[1]।

काशिकावृत्तेर्वैशिष्ट्यम्

(१) उपलब्धवृत्तिषु सर्वाभ्यः प्राचीनेयं वृत्तिः।

(२) अस्यां प्रतिसूत्रमनुवृत्तिः, वृत्तिः, उदाहरणानि, प्रत्युदाहरणानि च शङ्कासमाधाननिर्देशपुरःसरमुपलभ्यन्ते, अत्र च प्रौढतया तत्प्रतिपादनं वर्तते।

(३) काशिकावृत्तावुदाहरणानि प्राचीनानि क्रमागतान्येवोपलभ्यन्त इत्यप्यस्या वैशिष्ट्यं येन परम्पराया रक्षाऽपि जायते।

(४) सन्त्यस्यां वृत्तौ कतिपयानि स्थलानि महाभाष्यविरुद्धानि,सत्यप्येवमस्या उपपत्तिर्बहुशोभना वर्तते।

(५) साक्षाद् भाष्यविरुद्धानि स्थलानि त्वल्पसंख्यकान्येव सन्ति, भाष्यानुक्तानामनेकविषयाणां प्रतिपादनमत्र काशिकायामन्यव्याकरण-ग्रन्थेभ्योऽपि दृश्यते।

(६) काश्यां विरचनात् काशिकेति संज्ञाऽभूत्।

(७) काशिकायाः प्राचीनासु वृत्तिषु कुण्यादिषु गणपाठो नासीत्, अस्यां तु यथास्थानमुपलभ्यते।

(८) सूत्राणां व्याख्या प्राचीनवृत्तीनामाधारेण बहुषु सूत्रेषूपलभ्यते, तेन च तासां वृत्तीनामर्थप्रकारस्य च ज्ञानमपि जायते।

काशिकायाः पूर्ववर्त्तिनीनामार्षवृत्तीनामभावेऽस्या आर्षत्वरहिताया आश्रयणं दुर्निवारमित्यपि बोध्यम्। ऐतिहासिकसामग्रीदृष्टयाऽप्ययं ग्रन्थोऽतीव मूल्यवानित्यैतिहासिकविदुषां मतम्। तद्धितविषयमवलम्ब्यै-तस्मिन् ग्रन्थे गम्भीरानुशीलनस्य महत्यावश्यकताऽनुभूयते।

काशिकाव्याख्याग्रन्थाः

अस्या वृत्तेर्व्याख्यारूपौ द्वौ ग्रन्थौ स्तः,प्रथमस्तत्राचार्यजिनेन्द्रबुद्धिकृतः (संवत् ७८२-८०७) 'काशिकाविवरणपञ्जिका' न्यासो वाऽपरनामको ग्रन्थोऽस्ति। स चाचार्य्यजिनेन्द्रबुद्धिः प्रमाणिको बौद्धाचार्य्य आसीत्।

---

१. विस्तरशस्त्वस्मिन् विषये सामान्येन व्याकरणस्येतिहासविषये च सर्वमपि ज्ञातव्यं, महावैयाकरण-श्री० पं० युधिष्ठिरमीमांसककृते "संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास" इति नामके बहुमूल्यसामग्रीसयुतेऽपूर्वग्रन्थे द्रष्टव्यम्॥

ग्रन्थोऽयं काशिकाऽध्येतॄणां कृते महानुपकारकः, अध्यापकेभ्यश्चापि गम्भीरानुशीलनेऽत्युपयोगी वर्तते। नत्वयं छात्राणां पाठ्यग्रन्थः, अपि तु स्वयमनुशीलन एवोपयुज्यते। अस्य ग्रन्थस्य शैल्यतीव सुग्राह्या गम्भीर-ज्ञानप्रदा च वर्तते। अत एव काशिकाऽध्येतृभ्योऽस्य ग्रन्थस्य महत्यावश्य-कता वर्तते। दुर्भाग्यवशादयं ग्रन्थो भारतविभाजने 'पाकिस्तान'-अन्तर्गत-पूर्वबङ्गप्रदेशे 'राजशाही' नगरे 'वरेन्द्ररिसर्चसोसाइटी' इति संस्थाया अधिकारे वर्तते, यत्प्राप्तौ मुद्राविनिमयहेतोर्महत्कष्टमनुभूयतेऽस्माभि-र्भारतीयैः संस्थाया वा तस्याः कुप्रबन्धान्न प्राप्यत इदानीम्। अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रापणस्य महत्यावश्यकता वर्तते, यतो हि तत्रापि समाप्त-प्रायोऽयं ग्रन्थ इति श्रूयते।

अपरश्च—हरदत्तमिश्रेण (सं० ११११५ वि०) पदमञ्जरीनामकः काशिकाया व्याख्याभूतो ग्रन्थो व्यरचि। ग्रन्थोऽयं प्रौढः प्रायेण कैयटस्या-धारेण निर्मितः। ग्रन्थकर्त्तुः स्वपाण्डित्यप्रदर्शनपर इति हेतोर्न्यास इव नायं छात्राणां कृते तावदुपयुज्यते। काशिकानुशीलने तु विदुषां कृते समु-पयुक्त एव। अस्य ग्रन्थस्यापि ३० त्रिंशद्वर्षेभ्योऽभाव एव वर्तते। एतावान् महोपयोगी ग्रन्थोऽद्यावधि कस्यचित् प्रकाशकस्य मुद्रणयन्त्रालयस्य वा कृपापात्रतां न प्रापदिति महदाश्चर्यम्। आशास्यते यद् इमावुभावपि न्यासमञ्जरीग्रन्थौ काशिकया सहैव कदाचित् केनाऽपि प्रकाशकेन मुद्रापयिष्येते।

काशिकाऽनन्तरं भागवृत्तिरष्टाध्याय्या बहुप्रौढा विस्तृता च वृत्ति-रासीत्। एतस्या उद्धरणमात्राण्येवोपलभ्यन्ते, येषु यत्र तत्र काशिकायाः खण्डनमुपलभ्यते। **भर्त्रीश्वर-जयन्तभट्ट-केशव-इन्द्र-मित्र-मैत्रेयरक्षित-पुरुषोत्तमदेव-शरणदेव-अप्पयदीक्षित-नीलकण्ठवाजपेयि-अन्नम्भट्ट-औरम्भट्ट** इत्येवमादिभिराचार्य्यैर्बह्व्यः पाणिनीयसूत्रवृत्तयो निर्मिताः,यासु च कति-पया एवोपलभ्यन्ते। न चासु कापि वृत्तिः काशिकासमकक्षा वर्तते। साधारणा एव ताः सर्वाः। तथैव काशिकाग्रन्थस्यापि न्यासपदमञ्जरी-व्यतिरिक्ता बह्व्योऽनुवृत्तयो निर्मिताः, कालवशाच्च न ता उपलभ्यन्ते।

काशिकापाठः

यावन्त्यपि संस्करणानि काशिकाया उपलभ्यन्ते, सर्वाण्यपि तान्य-शुद्धानीत्येव तथ्यं वर्तते। महत्त्वपूर्णस्यैवम्भूतस्य ग्रन्थस्य प्रामाणिकं परिशोधितं संस्करणं स्यादित्यत्र नास्ति कस्यापि विवादावसरः।

काशिकायाः पाठस्याव्यवस्था त्वतिचिरादेवोपलभ्यते । अत एव न्यासकारेण "क्ङिति" सूत्रस्य व्याख्यान उच्यते ।

"अन्ये तूत्तरसूत्रे क्णिताश्वो रणिताश्व इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम् । इह तु दुर्विन्यस्तकाकपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति" (न्यास । अ० १।१।५ पृ० ४६) ।

अनेनैतत् स्पष्टं विज्ञायते यत् काशिकाग्रन्थस्य पाठो न्यासकृतोऽपि पूर्वत एव व्यस्त उपलभ्यते ।

न्यासपदमञ्जर्योः काशिकायाः पाठान्तराणि यत्र तत्रोपलभ्यन्ते । तद्यथा—**'उदात्तयणो हल्पूर्वात्'** (अष्टा० ६।१।१७४) सूत्रस्य प्रत्युदाहरणे—

"हल्पूर्वादिति किम् ? बहुनावा ब्राह्मण्या" ।

अत्र शुद्धपाठस्तु **"बहुतितवा ब्राह्मण्या"** इति वर्तते । पाठस्य व्यस्ततैतावतैव सुव्यक्ता, किमधिकेन ॥

वर्त्तमानं संस्करणम्

अष्टाध्यायीपठनपाठनस्य क्रमोऽद्यत्वे कतिपयवर्षेभ्यः पुनः प्रचलितः । सर्वैर्लघुमध्य-सिद्धान्तकौमुद्यध्येतृभिरप्यनुभूयत इदानीं यत्सूत्राणामर्थज्ञानाय क्रमज्ञानस्य सर्वकालमेव महत्यावश्यकता वर्तते (अस्माकं मते तु क्रमज्ञानस्यानिवार्यता वर्तते) । तेनैव च सूत्रार्थो बुद्धौ स्थिरीभवितुमर्हति, अतो मूलाष्टाध्याय्यास्तस्या व्याख्याग्रन्थस्य चाप्यनिवार्यता दुर्निवारा । तत्र चाष्टाध्यायीसूत्राणां व्याख्यारूपः प्रामाणिकः प्रौढश्च ग्रन्थः काशिकामन्तरो नान्यः कश्चिदुपलभ्यत इत्यत्र नास्ति कस्यापि विवादावसरः । एतस्मात् कारणात् काशिकाग्रन्थस्य महत्यावश्यकतेदानीं सर्वैरनुभूयते, न च प्राप्यते केनापि मूल्येनेति कारणादध्येतारो व्याकुलीभूता दरीदृश्यन्ते ।

एतत् सर्वमभिलक्ष्य काशीस्थचौखम्बाप्रकाशनाध्यक्षेण श्रीजयकृष्णदासश्रेष्ठिना काशिकाया नवीनमिदं संस्करणं प्रकाशितम् । अनेन चेमे महानुभावाः सर्वेषामप्यस्माकं संस्कृतप्रणयिनां विशेषतस्तु व्याकरणाध्येतृणामध्यापकानाञ्च धन्यवादार्हा आशीर्वादभाजश्च सन्ति यत् तैर्ग्रन्थमिमं प्रकाश्याध्येतॄणां कृते महानुपकारः समपादि । काशिकाग्रन्थाभावे तु व्याकरणाध्येतॄणां सर्वेषामपि महानध्ययनोत्सादोऽभविष्यत् ।

ग्रन्थस्य पूर्वार्द्धं मुद्रणानन्तरमेवायं पूर्वार्द्ध भागोऽस्माभिः क्वचित् क्वचिद् दृष्टः । मुद्रणाशुद्धीनां पूर्वार्द्धे भागे यद्यपि बाहुल्यं विद्यते, तथाप्युत्तरभागे संशोधने विशेषो यत्नः कृतः । पुनरप्यस्य सम्पूर्णग्रन्थस्य शुद्धाशुद्धपदनिर्देशस्यावश्यकता वर्तते । तदर्थञ्च स्थालीपुलाकन्यायेन किञ्चित्प्रदर्श्यते—

पृष्ठ ६३ पं० १४ "वृक्षभ्याम्" इति स्थाने "वृक्षाभ्याम्" इति भवितव्यम्।

पृष्ठ ६४ पं० १२ "क्न्तये" इति स्थाने "कृतये" इति भवितव्यम्।

पृष्ठ ८४ पं० ३ "समृद्धिर्मद्राणाम्—सुमद्रं,सुमुद्रं, सुमगन्धं वर्तते" इति स्थाने "समृद्धिर्मद्राणाम्— सुमद्रं, सुमगधं वर्तते" इत्येव साधुः पाठः।

यदि प्रकाशका अस्य ग्रन्थस्य पुनः संशोधनं विद्वद्भिः कारयित्वा ग्रन्थस्यान्ते पृथग् वा शुद्धिपत्रं प्रकाशयेयुस्तदा महानुपकारः स्यात्। सर्वेऽप्युदारधियो विद्वांसः प्रार्थ्यन्ते यदस्य ग्रन्थस्याशुद्धीनामुल्लेखः प्रकाशकानामन्तिकेऽवश्यमेव प्रेषणीयः, येनास्य ग्रन्थस्य संशोधनं न्यूनातिन्यूनमग्रिमसंस्करणे त्ववश्यमेव सम्पद्येत। काशिकाग्रन्थस्य वर्तमानं संस्करणं सत्वरमेव समाप्नुयाद् येनाग्रिमसंस्करणमतीव संशोधितं प्रकाशयितुं शक्येतेत्याशास्महे॥

मोतीझील बनारस नं० ६ — विदुषां वशंवदः—
श्रावण शुक्ल ७ सं० २००९
२९-७-१९५२ — ब्रह्मदत्तो जिज्ञासुः



॥ ओ३म् क्रतᳬ स्मर ॥

भूमिका

प्रथमावृत्ति का प्रारम्भ

प्रथमावृत्ति पढ़ाने का वास्तविक प्रारम्भ गण्डासिंहवाला (अमृतसर) में सन् १९२२ ई० में हुआ। जो १९२५ तक वहाँ रहा, उसके पश्चात् १९२८ तक काशी में, पीछे १९३१ तक अमृतसर (रामभवन) में, तत्पश्चात् काशी में १९३२ से ३६ तक रहा। १९३६ से १९४७ तक रावी तट लाहौर और १९५० से १९६४ तक (मोतीझील) काशी में चलता रहा और चल रहा है। हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही सदा से प्रथमावृत्ति पढ़ाते रहे। सन् १९५३ में पाणिनि महाविद्यालय में संस्कृत पठन-पाठन की श्रेणियाँ चलती रहीं। उसके पश्चात् अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करनेवाले विद्यार्थी भी पढ़ते रहे, उधर पाणिनि महाविद्यालय में बिना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराये श्रेणियाँ चल रही थीं। वे जब ३५-४० दिन में सरलतमविधि के पाठ समाप्त कर लेते थे, तो उन्हें अष्टाध्यायी के मुख्य-मुख्य प्रकरण पढ़ाये जाते थे और साथ में उनको मार्ग दिखा दिया जाता था, कि वह अन्य प्रकरणों को भी यत्न से समझ सकेंगे। जब सरलतमविधि के ये ३५-४० पाठ पढ़कर समाप्त करनेवालों की संख्या अधिक हुई, तब प्रकरणों को सरल ढंग से पढ़ाने के विचार से सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर सरल ढंग से लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ और मन में लिखने का पुनः नये सिरे से संस्कार जागृत हुआ। पठनार्थी बहुत संख्या में लिखते थे कि सरलतमविधि से आगे का पाठचक्रम भी लिख देवें, ऐसी प्रेरणा बराबर हो रही थी। मेरे मन में यही उठता था कि सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर सरलतम ढंग से लिखा जाये, तो ये आवश्यकतायें स्वयं पूरी हो जाती हैं, और उधर जब सोचता था कि यह काम (अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति का काम) पूरा कैसे होगा, तो मन निराश हो जाता था। अवकाश न होने से और निरन्तर कार्यभार के अधिक बढ़ते रहने से अवसर ही न मिल पाता था, यदि कोई प्रथमावृत्ति

सम्पूर्ण लिख देता, तो मेरा मन शान्त हो जाता और मेरे में प्रबल भावना न उठती। वर्षों से अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये हुओं को पढ़ाते समय कापियों पर लिखाकर पढ़ाते थे, बड़ी कठिनता सामने आती थी। यह सब विचार मस्तिष्क में घूम ही रहे थे कि सरलतमविधि वालों को आगे की समस्या का प्रबल विचार भी सामने आने लगा, तब प्रथमावृत्ति लिखना अनिवार्य है, यह मन में बैठ गया ॥

इस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्रों का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण आदि जानने की आवश्यकता अधिक-से-अधिक पड़ने लगी, तब यह प्रश्न सामने आया कि प्रथमावृत्ति की रचना अनिवार्य है। काशिका से पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-उदाहरणों की सिद्धि विदित होती नहीं थी, अर्थ भी सरल ढङ्ग से समझने में कठिनाई थी, पढ़ानेवाले भी ढंग से पढ़नेवालों के सुहृद् बनकर, ज्ञान न होने से तथा विधि का पता न होने से ठीक से समझा नहीं पाते थे। हमारे यहाँ तो सब समझ लेते थे और समझा लेते थे, पर हम कितनों को सम्हाल सकते थे, सबका काम कैसे चले, यह समस्या बराबर खड़ी थी, पढ़ने वाले श्रद्धालुओं की माँग पूरी कैसे हो? पढ़ानेवाले श्रद्धा रखते हुये भी अजब ढंग से पढ़ाते थे, यह सब देखकर बड़ा दुःख होता था। पढ़नेवाला निराश हो जाता था। हमारे यहाँ जो भी कुछ दिन ठहर जाता था, वह तो इस कठिनाई से पार हो जाता था, कितने विद्यार्थियों को भला हम सहारा देते। पाणिनि विद्यालय की श्रेणियाँ चलती रहती थीं, पर समस्या का ठीक हल नहीं बन पाता था ॥

वास्तव में तो सन् २५ के पश्चात् ही प्रथमावृत्ति लिखी जानी चाहिये थी, लिखी भी जा सकती थी, पर पठनार्थियों की 'कठिनाइयों का ठीक-ठीक अनुभव गत १०-१२ वर्षों में हुआ। स्वयं स्वाध्याय (Self-Study) से पढ़नेवालों को अष्टाध्यायी से संस्कृत व्याकरण का व्यावहारिक (अनिवार्य) ज्ञान कैसे हो, इसका १०-१२ वर्ष तक ऐसे व्यक्तियों को पढ़ाते-पढ़ाते खूब अनुभव किया। अब तो ऐसा लगता है कि यद्यपि उस समय (२५-३० वर्ष पहले) शक्ति तो बहुत थी, पर अनुभव जो मिला वह अपूर्व है, इसको देख के तो यही कहना पड़ रहा है कि इसमें भी प्रभु का ही हाथ था, जो उस समय स्वयं लिखना आरम्भ न किया और न ही अपने योग्य शिष्यों द्वारा लिखवाना आरम्भ किया, उनकी भी इच्छा लिखने की न हुई!!! यह सब इस समय रहस्यमय

ही प्रतीत हो रहा है। अब मेरा विचार बदल गया है, प्रभु को यह काम मेरे द्वारा ही कराना था, इसी से किसी अति प्रिय शिष्य की भी इच्छा प्रथमावृत्ति लिखने में न लगी और अन्त में ३५-४० वर्ष पश्चात् मुझे ही इसके लिखने में लगना पड़ा, यद्यपि मेरी शक्ति अवकाश और सब शिथिल हो गये थे। मैंने सन् १६६० के अन्त में प्रथमावृत्ति लिखने का निश्चय किया, मेरे द्वारा इसका प्रारूप निश्चय हुआ और लिखने का आरम्भ हुआ, मुझसे सारा ढंग समझकर और आवश्यकता पड़ने पर पूछ-पूछ कर लिखा जाता था, मैं यथेष्ट समय नहीं दे पाता था, पर सहायक की श्रद्धा,उत्साह एवं योग्यता से दिसम्बर सन् १६६३ तक सवा ५ अध्याय तक प्रथमावृत्ति (रफ) लिखी गई। हर वर्ष साढ़े ६।। मास काम होता रहा, वर्ष में २।। मास अवकाश रखा गया।।

विशेष घटना

अन्त में १५ दिसम्बर सन् १६६३ को मैं जम्मू में था, जबकि एक विशेष घटना घटी, रात्रि को लगभग ११।। बजे के पश्चात् हृदय पर विशेष कष्ट हुआ, (जो पहले कभी नहीं हुआ था) तो प्रभु की कृपा एवं वहाँ के सज्जनों की विशेष सेवा से यह सङ्कट टल गया, प्रातः यही निश्चय मन में किया कि प्रभु को तुमसे कुछ काम लेना इष्ट है, इसीलिये तुम बच गये हो। बस वहाँ से कुछ दिन अमृतसर चिकित्सा के पश्चात् काशी आने पर यही निश्चय किया कि 'प्रथमावृत्ति का काम पूरा किया जावे और इसे छापने का ढंग बनाया जावे, बनाने से ही ढंग बनेगा' नहीं तो इतना बड़ा काम कैसे पूरा होगा। तब स्वास्थ्य पूरा ठीक न होने पर भी लग गया, और कुछ मास में रफ को भी सुना गया, पढ़ा गया, संशोधन किया गया, एवं पुनः शुद्ध प्रेस कापी लिखवाई गई, साथ-साथ में आगे का संशोधन भी चलता रहा, अन्त में अप्रैल ६४ के अन्त वा मई के प्रारम्भ में प्रेस का निश्चय हुआ।

यहाँ हम प्रसङ्गतः यह बात और अधिक व्यक्त करते हैं कि प्रथमावृत्ति के बनाने एवं छापने की आवश्यकता का अनुभव तो हमें प्रारम्भ से ही बराबर रहा, पर चाहते हुए भी यह काम पूरा न हो सका, और इसके बनाने की तीव्र भावना कैसे जागृत हुई, यह लिख देना भी कदाचित् अनुचित न होगा, इसलिये इस विषय में कुछ और स्पष्ट रूप से लिखते हैं—

प्रथमावृत्ति की भावना अधिक तीव्र कैसे हुई ?

हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये छात्रों को पढ़ाते थे, तो उनको प्रारम्भ से ही सिद्धि पूरी पढ़ाते थे,हमारी यही प्रक्रिया रही। सिद्धि से आगे-पीछे के जो सूत्र लगते थे, उनका हमने यह क्रम रखा था कि आगे के लगनेवाले सूत्रों को हम संक्षेप से अर्थ-उदाहरण बोल देते थे, इतनी बात पर विशेष ध्यान देते थे कि उस आगे लगनेवाले सूत्र ने हमारे प्रकृत (प्रारम्भ के) उदाहरण में क्या काम कर दिया। हम इतनी बात पर ही सन्तुष्ट हो जाते थे, जब छात्र उलट कर बता दे, कि इस उदाहरण में इस सूत्र ने यह काम किया। आगे लगनेवाले सूत्र का अर्थ छात्र सुन तो लेता था, पर हम उस पर यह भार नहीं डालते थे कि वह उस आगे लगनेवाले सूत्र के सम्बन्ध में बतावे। छात्र से पूछते भी नहीं थे, कि वह हमारे बताये उस सूत्र को हमें सुनावे। छात्र इतना तो कहता था कि उस सूत्र ने यह काम किया। अब जब १९५३ में प्रौढ श्रेणियों के पाठ चले, तो हम पूर्ववत् आगे लगनेवाले सूत्र का अर्थादि बोलते तो थे ही, छात्र इसमें से जितना ग्रहण करना चाहे कर ले, सब पर हम बल न देते थे, पर बुद्धिमान्, तीव्र भावनावाले, संस्कृत में निष्ठावान् प्रौढ पठनार्थी जब आगे लगनेवाले सूत्र को अधिक प्रौढता से समझने का यत्न करने लगे, तो हम उन्हें अच्छी प्रकार बताकर सन्तुष्ट कर देते थे। किन्तु जब हमें यह ध्यान आया कि प्रौढ पठनार्थियों को जो आगे लगनेवाले सूत्रों को भली प्रकार सफल एवं ग्रहण कर सकते हैं, उन्हें तो आगे लगनेवाले सूत्रों को भी समझा देना ठीक है, हम उन्हें क्यों निराश करें, पर उन्हें अन्य अध्यापक कैसे बतायेगा, तब मस्तिष्क में यह बात तीव्रता से बैठ गई कि अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति तैयार हो तो बुद्धिमान् पठनार्थी स्वयं ही विना किसी दूसरे की सहायता के आगे लगनेवाले सूत्र को भी समझ लेगा।

यह बात काशिका से हल नहीं हो सकती। इसके लिए आगे के सूत्रों की व्याख्या भी पदच्छेदादि ढंग से बनाया जाना आवश्यक है, तब प्रथमावृत्ति के छापने की भावना प्रबलता से उत्पन्न हुई। इसीलिये इस सारी प्रथमावृत्ति में प्रौढ़ पठनार्थियों की समस्या पदे-पदे हमारे सामने रही या हमें सामने रखनी पड़ी। कई बातें हमने इनको विचार में रखकर की हैं। साधारण संस्कृत के अध्यापक इस बात को समझ नहीं सकते।

वास्तविक व्याकरण प्रथमावृत्ति ही है

हम तो व्याकरण के तीन भाग करते हैं। प्रथम तृतीय भाग मूलाष्टाध्यायी कण्ठस्थ करना है। दूसरा तृतीय भाग प्रथमावृत्ति है, अर्थात् पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि। तृतीय, एक तिहाई भाग है, द्वितीयावृत्ति शङ्कासमाधान-वार्तिक-कारिका-परिभाषा तथा महाभाष्य सम्पूर्ण। इसमें प्रथमावृत्ति ही मुख्य व्याकरण समझना चाहिये। प्रथमावृत्ति तक व्याकरण तो प्रत्येक भारतवासी को आना चाहिये। तभी संस्कृत का वास्तविक प्रचार हो सकता है। प्रथमावृत्ति तक व्याकरण तो हाई स्कूलों में भी चल सकता है, चाहे वह लड़कों का हो या लड़कियों का। यह बात सुनी-सुनाई नहीं कह रहे हैं, अपितु स्वानुभूत कह रहे हैं, जब ऐसी स्थिति आवेगी और वह अवश्य आवेगी, जब भारत में यह समझा जायेगा कि जिसने संस्कृत नहीं पढ़ी, वह भारतीय ही नहीं है, तब लोग अनिवार्यता से संस्कृत पढ़ने लगेंगे। यह अवस्था अष्टाध्यायी-पद्धति से ही हो सकती है। इसी परिणाम पर सब पहुंचेंगे। अष्टाध्यायी-पद्धति की विशेषता हम पृथक् दर्शायेंगे। जब भारत में यह नियम हो जायेगा कि सबको संस्कृत अनिवार्यतया पढ़नी ही होगी, तब प्रश्न उठेगा कि यह कैसे हो। हमारा अपने आचार्यों के लेख पर तथा अनुभव द्वारा यह मत है कि "कम से कम व्याकरण और व्यावहारिक वैद्यक प्रत्येक भारतीय पुरुष वा महिला को पढ़नी चाहिये। गणित का भी व्यावहारिक ज्ञान अवश्य रहना चाहिये।" महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में पठन-पाठन विधि के अन्तर्गत लिखा है—"जैसे पुरुषों को व्याकरण धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म-वैद्यक-गणित-शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये, क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसे चाहिये करना-कराना, वैसे वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग आनन्दित रहें".........।

इसमें कम से कम व्याकरण तो सब को ही पढ़ना लिखा। वैसे तो अधिकार वेद तक का दिया, पर कम से कम व्याकरण प्रत्येक (भारतीय वा व्यक्ति) को पढ़ना अनिवार्य बताना तो ठीक ही है। जो इतना भी

न पढ़ सके, वह शूद्र सेवाकार्य किया करे। सारभूत बात यह निकली कि व्याकरण तो प्रत्येक को पढ़ना है। इसलिए हम कहते हैं कि व्याकरण प्रथमावृत्ति तो प्रत्येक स्त्री पुरुष को पढ़नी चाहिये। इतना मात्र पढ़ लेने से व्याकरण पढ़ना हो जाता है। विशेष के लिये चाहे कोई सारा जीवन लगा दे। प्रथमावृत्ति पढ़ लेने से व्याकरण का पर्याप्त बोध हो जाता है। जो अधिक चाहे वह द्वितीयावृत्ति वार्त्तिक परिभाषादि तथा महाभाष्य को पढ़ ले तो और अच्छा है। नहीं तो व्याकरण अध्ययन प्रथमावृत्ति तक है, यह हमारा कहना है।

यह बात विदित न रहने से लोगों ने व्याकरण सर्वथा छोड़ दिया, और काव्यादि पढ़कर ही विद्वान् समझे जाने लगे। व्याकरण (प्रथमावृत्ति) के विना काव्यादि का भी यथावत् ज्ञान नहीं होता, इसीलिए अनेक साहित्याचार्य आदि व्याकरण की अपनी कमी समझकर इसको पूरा करते हैं, जो अच्छी बात है। व्याकरण (प्रथमावृत्ति) का ज्ञान सबके लिए अनिवाय है। यह बात कभी नहीं भूलना चाहिए। व्याकरण प्रथमावृत्ति ही है, यह न भूलना चाहिये। यही हमारा कहना है। धातुपाठ-उणादि-गणपाठ आदि भी इसी में आ जाते हैं।

हमने देखा कि सरलतमविधि के ४० पाठ पढ़नेवालों ने हमसे बिना पूछे ही ४-५ मास में अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करके सुना दी। हम चकित रहे कि इतना कार्य उन्होंने कैसे किया। उसके पश्चात् उन्होंने प्रथमावृत्ति पढ़ ली। कहने का तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी की सरलतम पद्धति से समझकर पढ़नेवाले बिना अष्टाध्यायी कण्ठस्थ किये पठनार्थी भी, स्वयं अन्तःप्रेरणा से अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करने लग जाते हैं। उसमें उनको आनन्द आने लगता है और पदे-पदे वे यह अनुभव करने लगते हैं कि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेने से हम व्याकरण के अद्भुत विद्वान् बन सकते हैं। शङ्का-समाधान की बातें समझने में भी उनकी गति फिर उत्तम रीति से चल पड़ती है। इस प्रकार प्रथमावृत्ति का ज्ञान हो जाने पर पठनार्थी अपने आप को बहुत कुछ समर्थ समझने लग जाता है।

प्रथमावृत्ति में क्या है ?

पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण-भाषार्थ ये हैं मुख्य विषय, जो हमने लिखे हैं। इनके विषय में पाठकों को हम कुछ विस्तार से बताते हैं—

(१) पदच्छेद=सूत्र के पदों को पृथक् करके बताना।

(२) विभक्ति वचन=किस विभक्ति का कौन सा वचन है, यह दर्शाना। किस शब्द के समान इसके रूप चलेंगे, यह बताना।

(३) समास=जो पद समस्त है, उसका विग्रह दिखाकर, अन्त में समास कौन सा है, यह बताना। हमने यद्यपि स्पष्ट बता दिया है कि विग्रह दर्शाने में कहीं-कहीं कठिनाई होगी, सो दस-पाँच सूत्रों से आगे वह कठिनाई नहीं रहेगी। हमारा विश्वास है कि सूत्रों का पदच्छेद और विभक्ति जान लेने पर विद्यार्थी को अर्थ का आभास होने लगता है।

(४) अनुवृत्ति=हमने सर्वत्र अनुवृत्ति दिखाने का विशेष यत्न किया है, यहाँ तक किया है कि **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२) जैसी दूर तक व्यापक अनुवृत्तियों को भी हमने प्रत्येक सूत्रों में दिखाया है। हमारा दृढ़ निश्चय है कि अनुवृत्ति दिखा देने से सूत्र का अर्थ ठीक-ठीक समझ में आ जाता है। इसमें कहीं-कहीं पाठकों को कठिनाई आवे तो पूर्वापर विचार करने से सब समझ में आ जाता है। यद्यपि हम **प्रत्ययः परश्च** (३।१।१,२) जैसे व्यापक अधिकारों को एक जगह आरम्भ में लिख कर आगे न भी लिखते तो भी काम चल जाता, पर साधारण बुद्धिवालों को ध्यान में रखकर हमने अनुवृत्ति सब सूत्रों में निबाही है। यह सोचकर कि कागज वाले कागज बनावेंगे, छापनेवाले छापेंगे, पुस्तक का दाम कुछ अधिक भले ही हो जायेगा, पर अनुवृत्ति स्पष्ट कर देने से परम लाभ होगा। शीशे के समान सब साफ विदित हो जायेगा। वृन्दावन वाली मूल अष्टाध्यायी से विषय पूरा स्पष्ट नहीं होता। हाँ! ऐसा विचार है कि प्रथमावृत्ति छप जाने पर संशोधन करके नई पुस्तक अनुवृत्ति की छापी जावे। प्रथमावृत्तिवाले को उसकी अलग आवश्यकता नहीं पड़ेगी, यह विश्वास है।

(५) अर्थ हमने अनुवृत्ति के आधार पर संस्कृत में लिखा है। भाषार्थ में भी [ ] बड़े कोष्ठक में सूत्रों के सब पदों को दर्शाकर ही अर्थ किया है, जिससे भाषार्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है। केवल अनुवृत्तिवाले पदों को कोष्ठ में नहीं दिखाया है।

(६) उदाहरण=संस्कृत में इसलिये दर्शाना पड़ा है कि हिन्दी न जाननेवाले प्रान्तों में भी उदाहरण संस्कृत भाग में दर्शाकर ही पूरा होता है, अहिन्दी प्रान्त वाले हिन्दी न भी देखें तो भी उन्हें बोध हो जायेगा।

उदाहरणों के अर्थ

इस प्रथमावृत्ति में हमने यथासम्भव सब उदाहरणों के अर्थ लिखने का साहस किया है। यदि हम संस्कृत के उदाहरणों के आगे उनके अर्थ भी हिन्दी में दिखा देते तो भी काम चल सकता था, दुबारा भाषार्थ में उदाहरण दिखाकर अर्थ न लिखना पड़ता, पर इसे ठीक न समझकर भाषार्थ में अर्थ दिखाने के लिये उदाहरण दुबारा दिखाना पड़ा है। प्रौढ़ विद्यार्थियों की सुगमता के लिये ही ऐसा करना पड़ा। जहाँ तक हमसे हो सका, हमने अर्थ दिखाने का प्रयास किया है। आगे इस विषय में न्यूनाधिकता का अवकाश भी रखा है। भाषार्थ के अन्त में किसी आवश्यक विशेष बात की व्याख्या वा स्पष्टीकरण भी कर दिया है,जो संस्कृत भाग में नहीं। वह भी इसी आशा पर किया है हिन्दी हमारी राजभाषा हो गई है, यह तो सबको जाननी ही होगी, जबकि रूस जैसे विदेशों में हिन्दी के ज्ञान के लिये प्रयास होने लगा है।

सिद्धि

उदाहरणों की सिद्धि हमने पृथक् दी है। इस विषय में अष्टाध्यायी पढ़नेवालों को सबसे अधिक कठिनाई सिद्धि की थी। यहीं पर पढ़नेवाले हतोत्साह होकर बैठ जाते थे। कई न जाननेवालों ने अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न कराकर अष्टाध्यायी के एक द्रुत पाठ का आविष्कार किया, वह सब अष्टाध्यायी न जाननेवालों की क्रीड़ा मात्र थी, और कुछ नहीं था, और कहीं-कहीं अष्टाध्यायी पढ़ाते थे तो उदाहरण भी (विना सिद्धि के) साथ पढ़ा देते थे। उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया, यह कुछ नहीं बताते थे। इस प्रकार अष्टाध्यायी की कई-कई आवृत्तियाँ घड़ी गईं। इन सब कारणों से अष्टाध्यायी के उदाहरणों की सिद्धियाँ छात्र नहीं कर पाते थे, क्योंकि अध्यापक पढ़ा नहीं सकते थे। पढ़ानेवाले कौमुदी पढ़े होते थे, 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' जो वह कहते थे, अष्टाध्यायीवालों को झक मार कर मानना पड़ता था। क्योंकि वे तो स्वयं सर्वथा अनभिज्ञ थे। पढ़ाने वाले या तो पौराणिक थे। वेतन के लिए कुछ उदारता दिखाकर भीतर से अष्टाध्यायी को फेल करनेवाले ही प्राय: थे। पढ़वानेवाले सर्वथा शून्य होने से कुछ बोल नहीं पाते थे। ये पौराणिक अध्यापक स्पष्ट कहते थे कि "अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ाना चाहो, तो विद्वान् नहीं बन सकते। विद्वान् बनाना चाहते हो, तो आर्य नहीं रह सकते।" यह कपट प्रक्रिया

२५-३० वर्ष तक चली। पढ़नेवालों की बुद्धियाँ भ्रष्ट हो गयीं। जो अब तक भी यत्र-तत्र भ्रष्ट देखी जाती हैं। सूर्य उदय होने पर भी आँखें चुंधिया रही हैं। अब सनातनधर्मी विद्वान् भी अष्टाध्यायी पर लट्टू हो रहे हैं। अनार्षता पौराणिकता का इतना गहरा प्रभाव पड़ा। उत्साह भंग हो गया। अतः जानने की इच्छा भी कम ही होती है। अब क्या है, व्याकरण ही व्यर्थ है! विना व्याकरण के भी साहित्य पढ़ा जा सकता है, यह मिथ्या प्रवाह चल पड़ा है। जो 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' की कोटि में ही कहा जायेगा। हमारी प्रथमावृत्ति ने सब कठिनाईयों को दूर कर दिया है। अब हमें पहले २५-३० वर्ष की विचारधारा को छोड़कर नये सिरे से अष्टाध्यायी को पुनः फिर से अपने यहाँ पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करना होगा। यदि श्रद्धावान् उत्साहपूर्ण और निष्ठावान् होकर हम लग जायेंगे तो २-४ वर्षों में ही सब कठिनाई दूर होकर फिर से व्याकरण का यथेष्ट मार्ग प्रशस्त रूप से चल पड़ेगा। उपर्युक्तप्रक्रिया को हमने इस प्रथम भाग में पूरा निभाया है। पाठक इसी दृष्टि से पढ़ें एवं पढ़ावें।

अर्थों के विषय में विशेष निवेदन

यद्यपि हमने अर्थ बड़े परिश्रम से दिया है, पुनरपि उसमें अवकाश रखा है। सद्भावना से विचार करने पर उसमें न्यूनाधिकता की सम्भावना रखी है, क्योंकि प्रथम वार के प्रयास में अवकाश रखना आवश्यक है।

हमारा यह दृढ़ मत है कि काशिका को प्रथमावृत्ति तथा द्वितीयावृत्ति दो भाग अलग-अलग करके छापने से कदापि काम नहीं चल सकता। न ही काशिका के हिन्दी वा अंग्रेजी अनुवाद करने से यह कठिनाई दूर हो सकती है। हम तो यह समझते हैं, कि जो व्यक्ति प्रथमावृत्ति समझ लेगा, वह तो आगे द्वितीयावृत्ति समझ ही लेगा। शङ्का-समाधान का विषय तो ठीक-ठीक महाभाष्य पढ़ने के पश्चात् ही स्पष्ट होगा।

काशिका से अलग प्रथमावृत्ति क्यों लिखनी पड़ी

हम लोग आरम्भ में काशिका से सहायता लेकर प्रथमावृत्ति पढ़ाने लगे, तो प्रथमावृत्ति हमें कापियों पर अलग लिखानी पड़ती थी। जिससे पढ़नेवाले छात्र का बहुतसा समय लिखने में ही लग जाता था। उदाहरणों की सिद्धियाँ भी हम लिखवा देते थे। प्रथमावृत्ति हमने काशिका

से कभी नहीं पढ़ाई, पर अपने विद्यालयों से अन्यत्र जब हम काशिका पर से प्रथमावृत्ति पढ़ाते एवं रटाते भी देखते तो हृदय पर गहरी चोट लगती थी। एक बार मैं काशी के प्रौढ़ विद्वान् पं० गोपाल शास्त्री जी के साथ एक गुरुकुल में गया तो वहाँ देखा कि काशिका की वृत्ति सिद्धान्त-कौमुदी की तरह बिना समझाये वा अनुवृत्ति बताये रटाई जा रही थी, जिसके स्नातकों को भी नहीं सूझता था कि अब तो समझाकर पढ़ावें। पौराणिक पण्डित तो वृत्ति के लिये उदारता दिखाने लगते हैं, वास्तव में अष्टाध्यायी के मर्म से सर्वथा शून्य हैं। इस घटना से भी मन पर गहरी चोट लगी और प्रथमावृत्ति लिखने की गहरी प्रेरणा मिली।

पढ़ानेवाले पौराणिक पण्डित गुरुकुल में बैठकर भी मूर्त्तिपूजा करते और स्पष्ट कहते कि यदि "आर्ष पाठ विधि से पढ़ाना चाहते हो तो छात्र विद्वान् नहीं बन सकते। विद्वान् बनाना चाहते हो तो आर्य नहीं रह सकते"। जब पढ़ानेवालों की यह मनोगति हो तो तब प्रेम से पढ़ाने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। तभी तो काशी के एवं सनातन धर्म के प्रमुख विद्वान्, महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने कहा कि "हमको तो ऋषिकुल हरिद्वार में रहते यह विश्वास हो गया था कि अष्टाध्यायी से विद्वान् नहीं बन सकता, क्योंकि गुरुकुल में दिन में अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती थी और रात्रि में "सिद्धान्तकौमुदी"। इस प्रकार प्रायः सभी गुरुकुलों में ८ वीं श्रेणी तक अष्टाध्यायी रटवा दी जाती थी, अब भी रटवा दी जाती है। हमारी दृष्टि में तो वह व्यर्थ रटवाई जाती है क्योंकि आगे प्रथमावृत्ति तो कोई पढ़ा नहीं सकता। रटने का परिश्रम सब व्यर्थ ही जाता है। प्रथमावृत्ति छप जाने पर उनको भी ढंग पर डाला जा सकता है, जो कुछ भी कठिन नहीं।

यह प्रथमावृत्ति इन सब आवश्यकताओं को पूरा करेगी। गम्भीर विचारक हमारी इस प्रथमावृत्ति को पढ़ना और पढ़ाना गुरुकुलों में अनिवार्य कर देंगे। चाहे वर्त्तमान आचार्य और मुख्याधिष्ठाता अपनी कमी के कारण न पढ़ा सकें पर थोड़ा परिश्रम उठाकर स्नातक-शास्त्री-आचार्य सुगमता से प्रथमावृत्ति पढ़ा सकेंगे।

सिद्धियों का परिशिष्ट अलग

हम यहाँ यह भी दर्शाये देते हैं कि उदाहरणों के पश्चात् तत् तत् उदाहरण में उक्त सूत्र ने क्या काम किया, जब तक यह न बताया जावे, तब तक सूत्र कुछ भी समझ में नहीं आ सकता, सो उदाहरण के पश्चात्

उदाहरण में सूत्र प्रयोजन समझाने के लिये यत्न अनिवार्य है। इसके लिए प्रथमावृत्ति १-२-३ अध्याय के अन्त में एक अलग परिशिष्ट छापा गया है। जिसमें आरम्भ से लेकर तीसरे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त सब उदाहरणों की पूरी सिद्धियाँ दर्शाई गई हैं। इसमें क्रमशः सूत्र देकर परिशिष्ट दिया गया है। यदि हम ये सिद्धियाँ उदाहरणों के साथ-साथ ही छाप देते तो सूत्रों के परस्पर सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई पड़ती। उनका क्रमभंग वा व्यवधान होकर कठिनाई होती, नीचे दिखाते तो ग्रन्थ का आकार भी बढ़ जाता। इसलिए यह सब सोचकर परिशिष्ट तीन अध्यायों के अन्त में पृथक्-पृथक् अध्याय का दिया गया है, जिसमें जिस सूत्र का परिशिष्ट है वह सूत्र मोटे टाइप में छापा है, ताकि पता लगे यह सिद्धि अमुक सूत्र की है, या हैं। आरम्भ में प्रथमावृत्ति में दिये गये उदाहरणों की सिद्धि क्रमशः दी गई हैं। उसमें आरम्भिक उदाहरण में "सूत्र प्रयोजन" शीर्षक देकर संक्षेप से उस उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया, यह समझाया गया है, जो पठनार्थी को अवश्य समझना होगा तभी आगे चलेगा। यदि अति निर्बल छात्र हो तो उसे कई उदाहरणों में से किसी भी एक उदाहरण में सूत्र का प्रयोजन समझना होगा। समझाने वाला धैर्य-शक्ति और उत्साह से समझायेगा तो छात्र के हृदय में बैठ जायेगा कि 'इस उदाहरण में इस सूत्र ने क्या काम किया'। वास्तव में तो उसकी पूरी सिद्धि समझने वा समझाने पर ही पूरा समझ में आयेगा। समझदार पठनार्थी को आरम्भ में २-४ सिद्धियों में कठिनाई प्रतीत होगी, जो आगे नहीं रहेगी, यह निश्चित एवं अनुभूत बात है। किसी एक उदाहरण की सिद्धि समझ में आ जाने पर आगे सिद्धियाँ छात्र बड़ी उत्सुकता एवं प्रेम से समझता जायेगा। एक सिद्धि समझ में आजाने पर वैसी ही दूसरी सिद्धियाँ तो अनायास ही समझ में आ जाती हैं। **वृद्धिरादैच्** की सिद्धियों में ३-४ पर ही विशेष परिश्रम पड़ता है। कम समझनेवाले को एक ही सिद्धि समझा लेना बड़ी सफलता है। एक सिद्धि में कुछ कठिनाई हो भी तो पढ़ानेवाला ऐसा बतावे कि पठनार्थी सुगमता से समझ ले। इसका प्रकार हम संस्कृत पठन-पाठन की सरलतम विधि में दर्शा चुके हैं। वहाँ 'भवति' की सिद्धि के पश्चात् दसों गणों के लट् लकार की सिद्धियाँ झट समझ में आने लगती हैं। 'भवति' की सिद्धि नई होने से कुछ कष्ट भले ही प्रतीत हो, पर ५ सूत्रों की सिद्धियाँ समझ लेने से पूरे पाद की सिद्धियाँ समझ में आ जाती हैं। १ पाद की सिद्धियाँ समझ लेने

से पूरे अध्याय वा ग्रन्थ की सिद्धियाँ समझ में आ जाती हैं। पहिले १-२ सिद्धि में कठिनाई प्रतीत होगी। यह अनुभूत बात है, देखी सुनी नहीं। हाँ एक बात और समझ लेनी है, कि यदि २० दिन तक किसी को सिद्धि मन में न बैठे तो वह छोड़ दे, और प्रत्येक उदाहरण में सूत्र ने क्या काम किया, इतना ही समझ ले। जहाँ प्रयोजन लिखा है, उसको समझ ले, जहाँ नहीं लिखा हो, तो अध्यापक से समझ ले। ऐसा करने पर भी आगे जाकर सिद्धि समझनी ही पड़ेगी, चाहे जब भी समझ में आवे। '**सरलतम पद्धति**' में एक 'भवति' की सिद्धि समझ लेने पर दसों गणों के लट् लकार के रूप सिद्धिसहित समझ में आ जाते हैं। एक वाचः की सिद्धि समझ लेने से पुरुषः, अग्निः, वायुः, कृष्णः, रामः तथा २० प्रकार के हलन्त शब्दों की सिद्धियाँ समझ में आ जाती हैं। छात्र समझने लगता है कि अब तो सैकड़ों शब्दों की सिद्धियाँ समझ में आ गईं। इसलिये एक सिद्धि जान लेने से सैकड़ों शब्द समझ में आ जाते हैं। इस बात को कभी मत भूलें। पहली सिद्धि में जो सूत्र लगेंगे, आगे भी कुछ सूत्र तो सर्वथा वही लगेंगे। नये लगनेवाले सूत्र जमा होते जायेंगे। आगे लगनेवाले सूत्रों का अर्थ भी पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति और अर्थ उदाहरण के क्रम से ही समझ लेता है, जो पहले कठिन पड़ता था। प्रथमावृत्ति बन जाने से अब कठिन नहीं। निर्बल छात्र भी इतना तो समझ ही लेगा कि अमुक काम किस सूत्र ने किया। बार-बार लगनेवाले सूत्र अर्थसहित ही दो तीन बार में समझ में आने लगेंगे। छात्र स्वयं बोलने लगेंगे। यह प्रत्येक पढ़नेवाले को अनुभव होने लगेगा, अतः यदि छात्र पहले ही उदाहरण के साथ सिद्धि को भी ग्रहण कर लेंगे, तो वे व्याकरण पर काबू पा लेंगे, यह निश्चित है। स्वयं स्वाध्याय करनेवाले विना अध्यापक के भी हमारी पद्धति से समझते देखे जाते हैं। हाँ, उन्हें कुछ समय आरम्भ में कुछ कठिनाई का सामना तो करना ही पड़ता है। जो दृढ़-संकल्प होते हैं, वे अधिक संख्या में इससे पार होते देखे जाते हैं। अस्थिरपनवाले ही डूबते देखे गये हैं। साहसवाले कभी परास्त नहीं होते। हाँ, जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होती है, उन्हें तो अपूर्व लाभ होता है। स्वयं स्वाध्याय करनेवाले वहुत सफल होते देखे जाते हैं। जिनको पढ़ते समय घर की चिन्ता रहती है और घर जाकर श्रेणी की चिन्ता करते हैं, ऐसे लोग ही असफल होते हैं, दूसरे नहीं। इसलिये आरम्भ में सिद्धि देर में भी समझ में आवे तो भी काम चल जाता है। यह बात तो हमारी बनाई सरलतम विधि के समय खूब सामने आती है। पाणिनि की रचना

ही ऐसी है, जो अद्भुत ढंग से सामने आती है। जब तक छात्र यह न कह दे और अनुभव न करले कि समझ में आ गया, तब तक समझाते ही जाना है और समझते जाना है। अध्यापक की योग्यता तो तभी है, तभी वह सफल अध्यापक है, जब निर्बल से निर्बल छात्र को भी समझा दे। पूछने पर कभी नाराज न हो। एक बात समझ लेने पर दूसरी बात में पहिली बात का बड़ा भाग रहता है, पाणिनि की रचना ही ऐसी है, जो दूसरी बात भी समझ में आ जाती है और पहली भी दुबारा पक्की हो जाती है। मैंने अंग्रेजी पढ़ी है। जितना परिश्रम केवल इतिहास के तैयार करने में लगता है, अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति में उससे भी कम परिश्रम पड़ता है। स्वयं स्वाध्याय करनेवाले पीछे की बात को समझकर आगे की बात को समझते-समझते पूरा समझ जाते हैं। स्वयं स्वाध्याय करने वाले भी स्वयं समझ लें, अतः हमने सर्वत्र बहुत खोल-खोल कर लिखा है। लोगों ने कहा कि 'आप इतना अधिक क्यों खोलते हैं,आपने तो इतना खोल दिया है कि कौमुदी आदि पढ़े हुये भी पढ़ाने लगेंगे।' हमने कहा कि 'यही तो हम चाहते हैं, कि सब कोई समझ सकें समझा सकें, कौमुदी वाले जब समझाने में हृदय से प्रवृत्त हो जायेंगे, तो उन्हें स्वयं अनुभव होने लगेगा कि यदि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, तो तब अद्भुत लाभ हो, तभी वे लोग भी अष्टाध्यायी को क्रम से उपस्थित करेंगे, भारत में वास्तविक संस्कृत का प्रचार तभी होगा, हमारी सम्मति में द्वितीयावृत्ति अर्थात् शङ्कासमाधान यदि महाभाष्य के साथ पढ़ायें, तब भी कार्य चल सकता है। नहीं तो ६ मास या एक वर्ष द्वितीयावृत्ति में लगाकर १।। वर्ष में सम्पूर्ण महाभाष्य हम पूरा करा सकते हैं। हमारी पद्धति से अधिक से अधिक ५ वर्ष में महाभाष्य सम्पूर्ण हो जाता है और व्याकरण का पूरा ज्ञान हो जाता है, वैसे कोई चाहे सारी आयु उनमें लगा दे।

विशेष—सिद्धियाँ हमने परिशिष्ट में पूरी दी हैं। आगे जहाँ-जहाँ वैसी सिद्धियाँ आती गईं, उन पर लिखते गये कि इसकी सिद्धि हम अमुक सूत्र पर पूरी कर चुके हैं, वहीं देखें, अतः पूर्व सिद्धि में बार-बार आने वाले सूत्रों को आगे हमने कहीं-कहीं नहीं भी दिखाया है। क्योंकि वे सूत्र बार-बार स्पष्ट हो चुके हैं, अतः पुनः-पुनः लगाने में विस्तार ही होता है। प्रारम्भ की सिद्धि समझ लेने से सब ठीक हो जायेगा। बार-बार सूत्र न लिखना कोई दोषावह भी नहीं समझा। कहीं-कहीं पूर्ववत् कहकर निर्देश कर दिया गया है, कहीं ऐसा भी नहीं कहा, सो स्पष्ट सूत्रों में ही

ऐसा है, विशेष में नहीं। कहीं-कहीं परिभाषायें एवं वार्तिक भी सिद्धियों में लगती हैं, सो वे यथावश्यक लिखी तो गई हैं, किन्तु वस्तुतः द्वितीयावृत्ति का विषय होने से कहीं-कहीं छोड़ भी दी गई हैं। सिद्धि एक स्थान पर जान लेने से वह हृदय में स्वयं बैठ जाती है। बार-बार समझनी नहीं पड़ती। व्याकरण की यही विशेषता है कि एक शब्द जान लेने पर उस प्रकार के सैंकड़ों शब्द समझ में आ जाते हैं। यह बात प्रथमावृत्ति में ही है, इसलिए हम प्रथमावृत्ति को मुख्य व्याकरण कहते हैं।

विदित रहे कि आजकल शङ्का-समाधान ही इतना प्रबल और जटिल कर दिया गया है कि पढ़ने-पढ़ाने वालों को यह भी पता नहीं रहता कि सूत्र का यह अर्थ बन कैसे गया। संस्कृत-पाठकों ने देखा होगा कि लघुकौमुदी में **इको यणचि**(६।१।७४) पढ़ाते समय आरम्भ में ही यह पढ़ाया जाता है कि 'अचि ग्रहणं किमर्थम्'? इस सूत्र में अच् ग्रहण क्यों कर दिया, अभी तो छात्र की समझ में यह पूरा बैठा भी नहीं कि सूत्र का अर्थ क्या हुआ, उदाहरण क्या है, उसमें सूत्र घटा कैसे? और अच् ग्रहण का क्या प्रयोजन है? यह छात्र के मस्तिष्क में बिना समझाये थोपा जाता है, जिसे छात्र पूरा-पूरा रटता है। क्या बात बनी, पता कुछ नहीं, यही रट्टा सर्वत्र चल गया। इसलिये आचार्य प्रायः प्रथमा वा मध्यमा वाले को भी नहीं पढ़ा सकते। संस्कृत समाज कहाँ से कहाँ पहुंच गया!!! सूत्र का अर्थ कैसे बन गया, सो न तो पढ़ानेवाले को पता, न पढ़नेवाले को, 'भवसागर में डूबते बैठ पत्थर की नाव' यही अन्धपरम्परा चल पड़ी। नहीं तो पुरा काल में बड़े-बड़े वैयाकरण भी मूलाष्टाध्यायी का प्रतिदिन पाठ करके गद्दी पर बैठते थे। श्री पं० बालशास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री, पूज्य निवारी जी आदि सब महावैयाकरण प्रतिदिन अष्टाध्यायी का पाठ करके पाठ पढ़ाना आरम्भ करते थे। वह अष्टाध्यायी अब बीच में से लुप्त हो गई। खेद तो यह है कि ऋग्वेदी मूलाष्टाध्यायी अत्यन्त शुद्ध कण्ठस्थ करके भी वही लघुकौमुदी-सिद्धान्तकौमुदी की वृत्ति कण्ठस्थ करने लगे। इतना घोर अन्धकार फैल गया। उन्हें तो अष्टाध्यायी पर से पढ़ाते!!!

(क) विशेष—(१)हमारे सामने तो संस्कृत न जाननेवाले या बहुत कम जाननेवाले प्रौढ़ व्यक्ति रहे, अतः उनको कठिनाई न हो, इस दृष्टि से हमने कठिन सन्धि लगभग इस प्रथम भाग में छोड़ दी है। ऐसा हमने जानकर किया है, अतः यह दोषावह नहीं।

बहुत से शब्दों के रूप कठिन पड़ते थे, हमने यथासम्भव समझनेवाले की दृष्टि से सरलता रखी। अपने पाण्डित्य की चिन्ता हमने नहीं की, प्रौढ़ छात्रों की चिन्ता मुख्य रही। स्वयं स्वाध्याय द्वारा पढ़नेवालों को कहीं कठिनाई न पड़े, इसका हमने पूरा ध्यान रखा है। सब सूत्रों की संख्याएं देते हैं ताकि पाठक इस ग्रन्थ में ही वहीं-वहीं सूत्र निकाल-निकाल कर भी वह बात आसानी से समझ लें।

(२)शङ्कासमाधान द्वितीयावृत्ति का विषय मानकर हमने जानकर उसे प्रथमावृत्ति में नहीं दिखाया। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इससे प्रथमावृत्ति में बड़ी भारी बाधा उपस्थित होती है। छात्र के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। वह भ्रमजाल में ही घूमने लगता है। हमारा विश्वास है कि प्रथमावृत्ति के पश्चात् ६ मास या एक वर्ष में द्वितीयावृत्ति शङ्कासमाधान समझा जा सकता है, पहिले नहीं।

हम प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति ४०-५० वर्ष से पढ़ाते चले आ रहे हैं। अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होने पर हम प्रथमावृत्ति १।। वर्ष में अधिक से अधिक २ वर्ष में पढ़ाते हैं। १।। या २ वर्ष में सम्पूर्ण महाभाष्य पढ़ाते चले आ रहे हैं। ५ वर्ष हम महाभाष्य की समाप्ति पर्यन्त लगाते हैं। साथ में अन्य ग्रन्थ गौण दृष्टि से कराते हैं। महाभाष्य पढ़ने से बुद्धि वा मस्तिष्क की शक्ति का अद्भुत विकास होता है, जो सब शास्त्रों में अत्यन्त सहायक होता है। बुद्धि इतनी विशद हो जाती है कि सब विषयों को तत्काल ग्रहण कर लेती है। द्वितीयावृत्ति=शङ्कासमाधान, प्रथमावृत्ति के पश्चात् ही पढ़ें, पहले नहीं, यह रहस्य की बात है। अष्टाध्यायी पद्धति की सबसे बड़ी बात यही है। शङ्काओं का समाधान तो महाभाष्य में बहुत ही सुन्दर सरल और हृदयग्राही ढंग से किया है।

सरलतमविधि की सहायता

हम पुनः दर्शा रहे हैं कि यदि प्रथमावृत्ति के प्रथम पाद तक जो हमने लिखा है, वह पठनार्थी के मस्तिष्क में बैठ जावे, पूरा याद हो या न हो, तो हम निश्चय से कहते हैं कि सरलतमविधि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। यदि पहले सूत्र की सिद्धियाँ समझ में आ गईं तो पूरे पाद की सिद्धियाँ समझ में आ जायेंगी, यह निश्चय है। हाँ! यदि पहले सूत्र की सिद्धियाँ समझ में न आवें तब सरलतमविधि पढ़नी चाहिये, पीछे

प्रथमावृत्ति की सिद्धियाँ पढ़नी चाहिये। सरलतमविधि में प्रकरणानुसार सरलता से बताया गया है, और वह क्रमशः बुद्धि के विकास को ध्यान में रखकर लिखा गया है। जिनको अष्टाध्यायी कण्ठस्थ न हो, उन्हें उसमें सहारा मिल जाता है। ४४ पाठ के पश्चात् **वृद्धिरादैच्** की सब सिद्धियाँ समझ में आ जायेंगी, यह बात प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिये है, दूसरों के लिये नहीं, अष्टाध्यायी कण्ठ किये हुए तो इसी से पढ़ सकते हैं। जैसे सरलतमविधि से पहले १ मास संस्कृत की प्रथम पुस्तकादि पर अभ्यास कर लेना अच्छा है, ऐसे ही प्रथमावृत्ति से पहले सरलतमविधि कर लेना प्रौढ़ों के लिए बहुत सहायक हो जाता है। यह बात निर्बल छात्रों के लिये है, न कि सबल-बुद्धिमान्-दूरदर्शी-परिश्रमी छात्रों के लिये।

(ख) प्रथमावृत्तिसम्बन्धी विशेष निर्देश

वैसे तो सामान्य निर्देश हम कर ही चुके हैं, विशेष निर्देश इसलिये करते हैं कि पाठकों को कहीं-कहीं भ्रान्ति न हो। सहेतुक निर्देश ज्ञानवृद्धि में कारण होते हैं, सो लिखते हैं—

(१) प्रथमावृत्ति द्वितीयावृत्ति से पहिले है, सूत्रविषयक अनिवार्य ज्ञान पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण और सिद्धि में पूरा होता है। संस्कृत में तथा आर्यभाषा (हिन्दी) में प्रथमावृत्ति का विषय समाप्त हो जाता है। कहीं-कहीं अनिवार्य होने से हमें द्वितीयावृत्ति का कुछ अंश भी प्रथमावृत्ति में ही दर्शाना पड़ा है, जैसे **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** में अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता। यह बात समझानी अनिवार्य इसलिये हो गई है कि अगला सूत्र **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (१।१।५९) यह अल्विधि का अपवाद है। फिर इसका अपवाद अगला सूत्र **न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप०** है, सो यह सब, तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक पहिले **स्थानिवदादेशः** को न समझ लें। अनल्विधि इस का अपवाद है, **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** यह अनल्विधि का अपवाद है। **न पदान्तद्विर्वचन०** यह सूत्र **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** का अपवाद है। यह प्रकरण समझ में नहीं आ सकता जब तक अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता, यह न समझ लिया जावे। इसलिये यह समझाना हमारे लिये अनिवार्य हो गया। पाठक इसको ध्यान देकर समझें, शङ्का में न पड़ें, इस लिये स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेवें।

(२) **उञ ऊँ** (१।१।१७) को हमने महाभाष्य के आधार पर एक सूत्र

माना है। ऐसा अन्यत्र भी हमने महाभाष्य के आधार पर किया है, जो कि ठीक है। पीछे से लोगों ने इनको दो सूत्र बना दिया। यदि दो सूत्र होते तो महाभाष्यकार कभी न कहते कि "यहाँ योगविभाग करना चाहिये" इत्यादि।

(३) हमने कई वार्त्तिकों को, जो कि काशिकादियों में सूत्र रूप में पढ़ी हैं, निकाल दिया है, क्योंकि महाभाष्यकार ने इनको सूत्र नहीं माना। सो हमारे पाठक सूत्रों की संख्या में भेद देख कर घबरायें नहीं। हमने मूलाष्टाध्यायी भी तदनुसार ही छापी है। यदि कोई सज्जन काशिका या अन्यत्र की छपी अष्टाध्यायी देखें तो संख्या के इस भेद को समझ लें। घबराहट में न पड़ें।

(४) जहाँ छान्दस उदाहरण हैं, उनके अर्थ हमने जानकर ही नहीं लिखे। विदित रहे कि हम तो इस विषय में प्रामाणिक अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती के मानते हैं। जो सज्जन चाहें वे सायणाचार्य आदि अन्य भाष्यकारों के किये अर्थों को देखें। पते हमने यथासम्भव सभी के देने का यत्न किया है।

(५) लौकिक उदाहरणों के अर्थ देने का यत्न हमने यथासम्भव पूरा किया है। यह सभी बड़े-बड़े कोशों के आधार पर अत्यधिक परिश्रम कर के दिया है। कोई-कोई ऐसे अप्रसिद्ध उदाहरण हैं, जो किसी भी कोश में नहीं मिले, उनका अर्थ हमने स्वयं प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर किया है। आगे विचार करने के लिये अवकाश रखा है। कोई इससे अधिक खोज करके सुझाव देंगे, तो हम उनका धन्यवाद करेंगे।

(६) उदाहरणों के भौगोलिक अर्थों के विषय में हमने कहीं-कहीं श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल कृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' से भी सहायता ली है, यद्यपि इस विषय में अभी भारी खोज की आवश्यकता है।

(७) यद्यपि अर्थ देना व्याकरण का विषय नहीं, तो भी लोग पढ़कर इनको प्रयोग में लावें, इस विचार से अर्थ दिये हैं। हमें अत्यधिक परिश्रम अनुवृत्ति तथा उदाहरणों के अर्थ में पड़ा है।

(८) हमने अपनी बात महाभाष्य के आधार पर दिखाने का यत्न किया है। खण्डन-मण्डन में जानकर नहीं पड़े। क्योंकि यह एक अलग

विवाद का विषय है। द्वितीयावृत्ति में इस पर विचार होना उपयुक्त होगा। विशेष व्याख्या का अंश संस्कृत में चाहते हुये भी विस्तार भय से नहीं लिखा। किसी बात को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से हमने टिप्पणियाँ भी दी हैं।

(१) प्रथमावृत्ति कौमुदी-प्रक्रियावालों के लिए परम सहायक

हम लिख चुके हैं कि काशी में (अन्यत्र भी ऐसा होना सम्भव है) पुराने प्रसिद्ध विद्वान् श्री पण्डित बालशास्त्री जी, तथा पूज्य पं० हरनारायण त्रिपाठी जी (तिवारी जी) आदि अष्टाध्यायी का पाठ करने के पश्चात् ही गद्दी पर बैठकर पढ़ाते थे, कभी-कभी भूल जाते थे तो कहते थे कि ठहरो, "आज हमने अष्टाध्यायी का पाठ नहीं किया है" समादरणीय पाठ कर लें तो पढ़ाते हैं, यह बात देखने में छोटी-सी प्रतीत होती है, पर इसका परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमारा निवेदन है कि अष्टाध्यायी का पाठ व्याकरण पढ़नेवाले सभी अध्यापक एवं छात्र करें। कृदन्त-तद्धितान्त-आत्मनेपद-परस्मैपद-कारक-विभक्ति-समास-सेट्-अनिट् आदि प्रकरण पढ़ाते समय कौमुदी पढ़ानेवाले महानुभाव भी अनुवृत्ति क्रम से दूसरे शब्दों में प्रथमावृत्ति के ढंग से उन प्रकरणों को पढ़ावें, तो छात्रों को ठीक समझ में आवेगा और अध्यापकों को भी कम परिश्रम पड़ेगा। हमारी यह प्रथमावृत्ति उस में परम सहायक हो सकती है। जो लोग इसमें हठधर्मी करते हैं कि, 'यह अमुक ने कहा है, जो हमारे मत का नहीं, इसलिये इसको छूना भी नहीं चाहिये' यह हठधर्मी अब नहीं चल सकती। जब लोग देखेंगे तब विद्यार्थियों को स्वयं बिना किसी दूसरे के कहे स्वानुभूत अनुभव हो जायेगा कि यह विधि (अष्टाध्यायी की अनुवृत्ति का क्रमादि) बहुत ही सरल एवं सुबोध है, तो वे स्वयं उसको ग्रहण करने लगेंगे। लोग संस्कृत को केवल रटने की विद्या समझ कर छोड़ ही दें, यह भी तो हमें रोकना ही होगा। इसके रोकने का उपाय अष्टाध्यायी-पद्धति से व्याकरण पढ़ाने का क्रम फिर से आरम्भ किया जावे, यही है। इसमें लज्जा-भय-सङ्कीर्णता आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। तभी संस्कृत जीवित रह सकती है। कौमुदी-पद्धति के विद्वानों की सेवा में हमारा यह नम्र निवेदन है। वे समय पर जागृत हों, नहीं तो 'फिर पछताये क्या होत जब चिड़ियाँ चुग गई खेत' संस्कृत ही नष्ट हो जायेगी, विदेशों में चली जायेगी, तब भारतीय हाथ मलते रह जायेंगे, फिर पछताने से भी कुछ न होगा।

(२) कृतज्ञता-प्रकाश

(१) सबसे प्रथम परम पिता परमात्मा का प्रति धन्यवाद है कि, एक अनपढ़ माता-पिता के यहाँ जन्म लेकर भी इस ओर मेरी प्रवृत्ति हुई। अपने पूज्य श्रद्धेय आर्ष ग्रन्थों और ऋषि दयानन्द में पूर्ण निष्ठावान् श्री स्व० पू० गुरुवर स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज का आभारी हूं, जिन्होंने मुझे प्रेरणा दी एवं अष्टाध्यायी और (कुछ) महाभाष्य का अध्ययन बड़े परिश्रम से कराया। मैं उनके ऋण से उऋण कभी नहीं हो सकता। मेरे में यदि कुछ गुण हैं, वा समझे जाते हैं, वह सब उनकी कृपा है, दोष मेरे अपने हैं। श्री पं० अखिलानन्द जी झरिया मेरे उसी समय के सहपाठी हैं, वह भी कई वर्ष तक उनकी सेवा में रहे, और घोर कष्ट उठाये। उसके पश्चात् जिन विद्वानों के चरणों में बैठकर शास्त्र का ज्ञान प्राप्त हुआ, उन स्व० पूज्य पं० हरनारायण तिवारी जी महाराज, श्री पूज्य चिन्नस्वामी जी शास्त्री अद्वितीय मीमांसक, पूज्य गोस्वामी दामोदरलाल जी, पूज्य पं० ढुण्ढिराज जी शास्त्री एवं श्री पूज्य पं० रामभट्ट राटाटेजी वेदज्ञ आदि महानुभावों का मैं ऋणी हूं। उन सब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। संस्कृत वाङ्मय के प्रौढ़ विद्वान् कर्मनिष्ठ ईश्वर-भक्त-माननीय डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री एम० ए० (आक्सन), वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम प्रारूप निर्धारक-भूतपूर्व वाइस चांसलर संस्कृत विश्वविद्यालय, से समय-समय पर बड़ी प्रेरणा मिलती रही; तथा काशी के प्रमुख विद्वान् श्री गिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी ने अष्टाध्यायी पद्धति के प्रति अपनी निष्ठा-उत्साह-उदारता प्रदान की। इनका भी मैं आभारी हूं। तथा अन्य महानुभावों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता निवेदन करता हूं, जिन्होंने मुझे इस पद्धति में उत्साहित एवं प्रेरित किया।

(२) आरम्भ से अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि के पठन-पाठन तथा वेदभाष्य आदि के कार्य में लगभग ४० वर्षों से श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर के संचालकों सर्वश्री बाबू रूपलाल जी कपूर, स्व० बाबू हंसराज जी कपूर, स्व० बाबू ज्ञानचन्द जी कपूर तथा वर्त्तमान संचालक श्री बाबू प्यारेलाल जी कपूर, बाबू सुरेन्द्र कुमार जी कपूर (सब भाइयों सहित) एवं पूरे परिवार की सद्भावना सेवा आदि के कारण ही ये सब कार्य आज तक चलते रहे, तथा इस अष्टाध्यायी का कार्य भी उसी का एक अङ्गरूप बराबर चलता रहा, और मैं इन कार्यों को यथेष्ट रीति से

करने में सफल होता रहा, अतः इस प्रथमावृत्ति के विषय में भी इन सब को नहीं भुलाया जा सकता। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, यह सब कार्य उनकी सद्भावना का ही फल है।

(३) आर्थिक सहयोग

सन् १९६० में जब प्रथमावृत्ति-निर्माण का विचार उठा तो वह कैसे हो? यह समस्या सामने आने पर मैंने झरिया निवासी 'श्री बाबू मदन लाल जी अग्रवाल' से परामर्श किया, उन्होंने एक सहायक का व्यय १०० रु० मासिक देना स्वीकार किया, जिसे वह प्रति वर्ष २॥ मास छोड़ कर शेष समय के लिये देते रहे। वास्तव में यह सहायता मेरे इस कार्य में परम सहायक सिद्ध हुई, इसके बिना मेरा कार्य चल नहीं सकता था। आगे सहायक की निष्ठा, तीव्र भावना, उत्साह, सहनशीलता एवं घोर परिश्रम से यह कार्य आंशिक पूरा हुआ। और जब छपने का विचार आया तो हमारे इस श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिवेशन में ट्रस्ट की ओर से प्रथमावृत्ति छापने का निश्चय हुआ, पर मैंने यह देख कर कि ट्रस्ट का बहुत सा धन पुस्तकादि छपने में व्यय हो चुका है और रामलाल कपूर एण्ड सन्स अमृतसर (दुकान) का धन अनेक पुस्तकों में लगा हुआ है, यह यत्न किया कि यह पुस्तक अन्य सहयोग से छपे, और ट्रस्ट पर अधिक भार न पड़े तो अधिक अच्छा हो। तब मैंने झरिया निवासी श्री बाबू मदनलाल जी अग्रवाल से इस विषय में बात की। वे जहाँ पुस्तक तैयार कराने में लगभग ४००० रु० लगा चुके थे, वहाँ उन्होंने एवं उनके भाइयों ने अपने पूज्य पिता स्व० श्री बाबू शंकरलाल अग्रवाल जी की स्मृति में १०००० रु० की सहायता इस पुस्तक के छापने में भी दी, जिसे उन्होंने स्वाधीन रखा, कि चाहें तो वह रुपया पुस्तक बिक्री होने पर वापस भी ले सकते हैं।

मैं समझता हूं पुस्तक के प्रकाशन में यह बड़ी भारी सहायता हुई, जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं। उनके सहयोग एवं उदारता से यह प्रथम भाग छप कर तैयार हुआ है। आशा है अगले भाग भी इसी प्रकार तैयार हो जायेंगे। इस सब में माननीय श्री पं० अखिलानन्द जी झरिया के सहयोग सद्भावना के लिये भी मैं अत्यन्त आभारी हूं।

(४) प्रथमावृत्ति में सहायक कार्य

अब आन्तरिक कार्य का कुछ विवरण देना भी आवश्यक प्रतीत होता

है। गत ४० वर्ष से प्रथमावृत्ति बन नहीं पा रही थी। कार्यों की अधिकता इसमें मुख्य कारण रही। गत सन् १९६० के अन्त में यही विचार तीव्र हुआ कि कोई सहायक मिले तो यह कार्य भले ही हो सकता है, वैसे तो नहीं हो पा रहा। इस प्रकार सन् १९६० के अन्त में प्रिय पुत्री (कल्पा) कुमारी प्रज्ञा देवी से बात हुई, तो वह मेरी विचारधारा में पूर्ण सहमत थी।

सहायक का संक्षिप्त परिचय

यह देवी पहिले महिला कन्या हाई स्कूल सतना (मध्य प्रदेश) में अध्यापिका थी, एफ० ए० तक पढ़ी थी। इसके पिता स्वर्गीय मास्टर श्री कमलाप्रसाद आर्य ने अपनी सभी पुत्रियों तथा पुत्र को घर पर ही अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करा रखी थी। कई वर्ष तक वे ग्रीष्मावकाश में मेरे पास आकर अष्टाध्यायी पढ़ते थे। प्रज्ञा देवी ने भी अष्टाध्यायी याद कर रखी थी, और कहती थी, कि मेरे पिता ने मुझ से जबरदस्ती अष्टाध्यायी कण्ठ कराई थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् इसकी माता हरदेवी जी पुत्र एवं पुत्रियों के साथ काशी पहुंच गई, और आश्रम से कुछ दूरी पर सब रहने लगे। आर्ष ग्रन्थों के प्रति सारे परिवार में भावना तो थी ही, उसी में लगने का निश्चय किया। प्रज्ञा देवी ने सरलतमविधि पढ़ी तो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराई काम आ गई। उत्साह यहाँ तक बढ़ा कि यह स्कूल अध्यापन कार्य छोड़, अपनी माता के सहयोग से, एवं अपनी सद्भावना से पूर्णतया आर्ष ग्रन्थों के पठन में लग गई। इस प्रकार सरलतमविधि अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति, द्वितीयावृत्ति, सम्पूर्ण महाभाष्य, निरुक्त, श्रौत, मीमांसा का मुख्य भाग एवं वैदिक विषय के अनेक ग्रन्थ इसने अध्ययन किये। इस समय अपनी छोटी बहिन 'मेधा' को आरम्भ से महाभाष्य का ६वाँ अध्याय पढ़ा रही है। इसने महाभाष्य करने के पश्चात् प्राचीन व्याकरण में मध्यमा, शास्त्री, आचार्य प्रथम खण्ड तक प्रायः प्रथम श्रेणी में किया है। सरलतमविधि प्रथमावृत्ति, द्वितीयावृत्ति तथा महाभाष्य बड़ी श्रद्धा एवं उत्साह, परिश्रम से पढ़ाती है। ८ वर्ष में इसने बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली। जब मेरा विचार प्रथमावृत्ति लिखने का सामने आया तो यह योग्य तो थी ही, इसकी विचारधारा भी प्रथमावृत्ति के साथ मिल गई। तब योग्यता एवं भावना देख कर मैं भी प्रथमावृत्ति तैयार करने के लिये पूरी तरह सन्नद्ध हो गया, सब योजना इसको नोट करा दी, और अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति लिखनी आरम्भ हुई।

बीच में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ भी आईं, पर इसके धैर्य-सहनशीलता-पुरुषार्थ से सब ठीक हो जाता रहा। यह सहायक मेरे लिये बहुत ही सन्तोषप्रद रहा, और यह कार्य इस रूप में सामने आया, जिसकी आशा मुझे बहुत कम थी।

इस प्रकार १९६० के अन्त में प्रथमावृत्ति लिखनी आरम्भ हुई। मैंने एक-दो दिन में इसका प्रारूप लिखा दिया, जोकि आश्चर्य का ही विषय है, कि हमने कितना दूर तक सोचकर एवं पूर्ण लिखा। प्रथमावृत्ति लिखनी आरम्भ हुई, मैं साथ-साथ बीच में जो कुछ पूछा जाता था, वही बताने लगा। आगे चल कर इसके लिये भी समय नहीं मिल पाता था। अन्त में १९६३ के आरम्भ तक ५। अध्याय तक रफ कापी लिखी गई। इसमें कई एक परिवर्त्तन हमने पीछे किये, जो कि सारे रफकापी में परिवर्धित करने पड़े। जहाँ तक मुझसे पूछने का प्रश्न था, मैं पूरा समय नहीं दे पाता था। हाँ! बीच-बीच में समय देता रहता था। इस स्थिति को देखकर निराशा होती थी, कि यह ग्रन्थ पूरा कैसे होगा। ५। अध्याय तक रफ कापी लिखा जाना भी पुत्री प्रज्ञा के तप-त्याग एवं निरन्तर परिश्रम तथा निष्ठा का ही परिणाम है, जो लिखा गया। वह समय-समय पर मुझे प्रेरित एवं बाधित करती रही, कि 'मैं उसमें समय लगाऊँ'। वास्तविक आरम्भ मेरे द्वारा १९६४ जनवरी में ही हुआ, जब मैंने रफ को सुनकर पढ़कर संशोधन करना आरम्भ किया। तब से मेरा समय निरन्तर इस कार्य में लगा, और परिणामस्वरूप अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति का प्रथम भाग तैयार है। आगे भी छापने को प्रेस कापी तैयार हो रही है।

मैं तो यही कह सकता हूं कि पुत्री प्रज्ञा के निरन्तर उत्साह, परिश्रम एवं निष्ठा ने ही यह कार्य पूरा किया। मैं तो वर्त्तमान स्थिति में करने में समर्थ नहीं था। इसके पूरा होने में सब से अधिक कष्ट इसी ने उठाया, मुख्य तपस्या इसी की है। इसी ने मुझ से भी समय लगवा लिया, नहीं तो यह कार्य पूरा कभी न होता। सन् १९६० के अन्त से १९६४ के अन्त तक चार वर्ष का समय (कुछ मास छोड़ कर) लगा कर तैयार करने का यह सब श्रेय इसी का है। साथ में पुत्री प्रज्ञा के छोटे भाई प्रिय सुद्युम्न (जो कि महाभाष्य पढ़ाता है) को पूरी शक्ति निष्ठा एवं तत्परता का उपयोग इस कार्य में प्राप्त हुआ, एवं इसी की सगी छोटी बहिन मेधा (जो कि अपनी बड़ी बहिन प्रज्ञा देवी से महाभाष्य का ६वाँ अध्याय पढ़ रही है) से प्रेसकापी लिखने, प्रूफ देखने, पते पूरे मिलाने आदि आवश्यक

कार्य में पूरा सहयोग मिला। यह सब प्रत्यक्षदर्शी के ही सोचने का विषय है। प्रज्ञा देवी को ही इस सबका श्रेय है। यह प्रथमावृत्ति इसी की गम्भीर तपस्या का फल है। इसे मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। मैं समझता हूं इन सब ने अपने पर किये मेरे परिश्रम को सफल बना दिया, अतः मेरा हार्दिक आशीर्वाद एवं भविष्य के लिये, जीवन की सफलता के लिये आशीर्वाद निकलना स्वाभाविक ही है। आर्ष ग्रन्थों में इनकी निष्ठा उत्साह एवं परिश्रम बढ़े, यही कामना है।

आर्ष पाठविधि में पूर्ण निष्ठावान्, आर्यसमाज के सुयोग्य विद्वान् आर्ष गुरुकुल एटा के आचार्य, हमारे शिष्य प्रिय पं० ज्योतिस्वरूप जी ने प्रेस कापी पूरी बड़े परिश्रम से देखी, एवं संशोधन किया, आगे भी देख रहे हैं। काशी के प्रौढ़ विद्वान् श्री पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी (काशी) वर्त्तमान आचार्य श्री बदरीनाथ संस्कृत महाविद्यालय जोशीमठ(गढ़वाल) की प्रथमावृत्ति छापने की निरन्तर प्रेरणा को मैं नहीं भुला सकता। वह यहाँ काशी में रहते तो उनसे बड़ी सहायता मिलती। पं० इन्द्रदेवजी आचार्य घनश्यामदास वैदिक विद्यालय देवरिया, वैदिक वाङ्मय के प्रौढ़ विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक अजमेर तथा विद्वद्वर्य पं० शङ्करदेव जी आचार्य नौनेर आदि महानुभावों ने जितनी भी सहायता की, उसके लिये सबका आभारी हूं।

प्रूफ देखने तथा कुछ उपयोगी सूत्रों पर आवश्यक विचार देनेवाले, महाभाष्यादि पढ़ाने, तथा वेदभाष्य के कार्य में पूरे सहायक, वेदवाणी के कार्यों में व्यस्त, योग्य विद्वान् प्रिय पं० विजयपाल जी आयुर्वेदाचार्य, बी० एस-सी० द्वारा पूरा सहयोग देने, तथा प्रिय सुद्युम्न, मेधा, धर्मानन्द द्वारा निष्ठा और परिश्रम से प्रूफ देखने के लिये मैं हार्दिक आशीर्वाद एवं प्रेम प्रदर्शित करता हूं। जीवन में ये आर्ष ग्रन्थों में निष्ठावान् बन कर आर्यसमाज की सेवा करें, और जनता को लाभ पहुंचावें, यही मङ्गल कामना करता हूं।

प्रिय रणवीर कपूर (सुपुत्र स्वर्गीय बाबू हंसराजजी कपूर) अध्यक्ष रामलाल कपूर एण्ड सन्स प्रा० लिमिटेड कानपुर को भी मैं भुला नहीं सकता, जिसने अपनी बहिनों के पश्चात् सरलतमविधि अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति एवं कुछ द्वितीयावृत्ति को पढ़ा, तथा मेरे द्वारा अष्टाध्यायी क्रम के परिमार्जित होने में कारण बना। काशी के अनेक विद्वानों तथा

गुरुकुल कांगड़ी में अष्टाध्यायी के इस क्रम के प्रकाशन में सहायक हुआ। पुस्तक छपने का विचार चल ही रहा था कि सुश्री डा० प्रेमलता शर्मा एम. ए. साहित्याचार्य वाइस प्रिंसिपल सङ्गीत महाविद्यालय वाराणसी की प्रेरणा एवं पुत्री प्रज्ञा के सहयोग से तारा प्रिंटिंग प्रेस वाराणसी में छापने का निश्चय हो गया। मैंने स्वीकृति दे दी, अन्यथा यह पुस्तक कुछ विलम्ब से पाठकों तक पहुंचती। इस विषय में उनका भी धन्यवाद है। उनका इस कार्य में आरम्भ से ही अत्यधिक प्रेम रहा।

अन्त में मैं तारा प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री आनन्द शंकर पाण्डेय, श्री रमाशंकर पाण्डेय एवं श्री विनयशंकर पाण्डेय के प्रेम-उदारता एवं सद्व्यवहार के लिये अनुगृहीत हूं। साथ ही कम्पोजिङ्ग विभाग में श्री रामचन्द्र सिंह, बाबा सदानन्द, रामनरेश तथा प्रेसमैन शिवप्रसाद सिंह इन सब को भी मैं धन्यवाद देता हूं, कि उन्होंने बड़ी श्रद्धा प्रेम एवं लगन से यह कार्य किया और आगे भी करने को तैयार हैं।

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
आचार्य पाणिनि महाविद्यालय,
मोतीझील, वाराणसी नं० ६

३० मार्गशीष, सं० २०२१
१५-१२-१९६४ ई०



प्राक्कथन

आचार्य पाणिनि का महत्त्व

आचार्य पाणिनि केवल शब्दशास्त्र के ही ऋषि (साक्षात्कृतधर्मा) नहीं थे, अपितु सम्पूर्ण लौकिक वैदिक वाङ्मय में अव्याहतगति थे, ऐसा सभी का मत है। वैदिक वाङ्मय सम्बन्धी विद्वत्ता का निर्देश तो उनकी बनाई अष्टाध्यायी के सूत्रों में जहाँ-तहाँ मिलता ही है, किन्तु ये भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र तथा लोकव्यवहार के भी महाविद्वान् थे, ऐसा पाणिनि शास्त्र के अवगाहन से प्रतीत होता है। उनका शब्द-शास्त्र न केवल व्याकरण का ही प्रतिपादन करता है, अपितु भूगोल इतिहास आदि विषयों के ज्ञान के लिये भी इनके शास्त्र की अद्भुत महिमा एवं महान् उपयोगिता है, ऐसा विद्वान् लोग अनुभव करते हैं।

पाणिनीय अष्टाध्यायी का गौरव न केवल हम ही घोषित करते हैं, अपितु भगवान् पतञ्जलि भी आचार्य पाणिनि का महान् गौरव आदर के साथ मुक्तकण्ठ से प्रदर्शित करते हैं। जैसे कि—

(१) "प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण" (महाभाष्य १।१।१ पृष्ठ १३४ चौखम्बा संस्करण)। "दर्भ पवित्र से युक्त हाथों वाले अर्थात् यज्ञवत् प्रवृत्त हुए, प्रमाणभूत आचार्य प्राची दिशा की ओर मुख करके पवित्र स्थान में बैठकर महान् यत्न से सूत्र रचना करते थे, अतः उनका एक वर्ण भी अनर्थक नहीं, फिर इतने बड़े सूत्र की तो बात ही क्या है।"

(२) पुनः कहते हैं—"सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्" (अ० ६।१।७७ महाभाष्य), "शास्त्र के सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी (कोई भी वर्ण या पद) ऐसा नहीं देखता, जो कि अनर्थक हो।"

(३) जयादित्य भी **उदक्च विपाशः** (अ० ४।२।७४) इस सूत्र की वृत्ति में कहते हैं कि—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य "सूत्रकार पाणिनि की अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि है"।

(४) चीन देशवासी यात्री ह्वेनसाङ्ग भी इस प्रकार कहता है—"पूर्ण मनोयोग से महर्षि पाणिनि ने शब्दभण्डार से शब्दराशि का चुनना प्रारम्भ किया। १००० श्लोकों में (अर्थात् ४००० सूत्रों में) सारी व्युत्पत्ति समाप्त हो गई है। प्रत्येक श्लोक ३२ अक्षरों में था। इसी में ही सारी प्राचीन तथा नवीन ज्ञानराशि परिसमाप्त हो जाती है। शब्द एवं अक्षर विषयक कोई भी ज्ञान इससे शेष नहीं बचा" (ह्यूनसाङ्ग हिन्दी-अनुवाद प्रथम भाग के २२१ पृष्ठ से उद्धृत)।

पाश्चात्य-विद्वानों की भी पाणिनि के विषय में अति उत्कृष्ट भावना है।

(१) जैसे कि—मोनियर विलियम कहता है—"संस्कृत का व्याकरण (अष्टाध्यायी ग्रन्थ) मानव मस्तिक की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है, जो कि मानव मस्तिष्क के सामने आया"।

(२) हण्टर भी कहता है—"मानवमस्तिष्क का अतीव महत्त्वपूर्ण आविष्कार यह अष्टाध्यायी है"।

(३) लेनिनग्राड के प्रो० टी वात्सकी कहते हैं—"मानवमस्तिष्क की यह अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ रचना है"।

अष्टाध्यायी पठन-पाठन का क्रम अति प्राचीन है

आजकल भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र ही संस्कृत विद्यालयों में लघु-कौमुदी, मध्यकौमुदी एवं सिद्धान्तकौमुदी ही देखी जाती है, केवल अंग्रेजी स्कूलों, कालेजों में ही संस्कृत का पठन-पाठन अंग्रेजी भाषा के विद्वानों के द्वारा रचित ग्रन्थों से होता है। संस्कृत विद्यालयों में सर्वत्र कौमुदी रीति से ही व्याकरणशास्त्र का पठन-पाठन १४वीं शताब्दी से इतना व्यापक हो गया है, कि अष्टाध्यायी से भी व्याकरण का अध्ययन हो सकता है, ऐसा ज्ञान वा विश्वास ही प्रायः करके आजकल किन्हीं-किन्हीं को नहीं होता। प्रयोगों को सिद्धि (अष्टाध्यायी क्रम से) कैसे हो सकेगी, इस प्रकार की शङ्काएँ करते हुए उच्चकोटि के विद्वान् भी देखे जाते हैं, अन्यों का तो कहना ही क्या? कालक्रम से अष्टाध्यायी का लोप ही हो गया, ऐसा ही मानना पड़ेगा। खेद से कहना पड़ता है कि काशी में तथा अन्यत्र भी ऋग्वेदी वैदिकों के घरों में बालक अतीव शुद्धोच्चारण सहित धाराप्रवाह रूप से अष्टाध्यायी को कण्ठ करने पर भी वृत्तिसहित लघु-कौमुदी के सूत्र (उन सूत्रों का अर्थ विना समझे ही) रटते हुए सर्वत्र देखे

जाते हैं। ओहो! कैसी यह अनर्थपरम्परा प्रचलित हो गई !!! अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लेने पर भी आधुनिक वैयाकरण बालकों को व्याकरण का अध्ययन लघुकौमुदी के बिना नहीं करा सकते, यह कितनी अनिर्वचनीय ग्रन्थ परम्परा है। यह देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है?

भट्टोजिदीक्षित महोदय का समय संवत् १५१०-१५७५ तक है, इससे पूर्व अष्टाध्यायी से ही पठन-पाठन का प्रचार था, इसमें कुछ भी शङ्का का स्थान नहीं है। क्योंकि चीन देश का यात्री इत्सिङ्ग भारत में कई वर्षों तक (सन् ६८१-६९१ ई०) रहा। अष्टाध्यायी के आधार पर ही संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन है, जैसा कि उसने यहाँ किया, जिसे उसने स्वयं अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है। जैसे कि—

(१) "इस अष्टाध्यायी में १००० श्लोक (४००० सूत्रों का १००० श्लोक बनता है—लेखक) हैं। यह पाणिनि की रचना है, जो प्राचीनकाल में बहुत भारी विद्वान् था······आजकल के भारतवासियों का प्रायः इसमें विश्वास है। बच्चे ८ वर्ष की आयु में इस (पाणिनि) सूत्रपाठ को सीखना आरम्भ करते हैं, और ८ मास में इसे कण्ठस्थ करते हैं।"

(इत्सिङ्ग की भारत-यात्रा पृ० २६४)

(२) यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जायें तो उन्हें सबसे पहले (व्याकरण के) इस (अष्टाध्यायी) ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय। यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम व्यर्थ जायेगा·········(इत्सिङ्ग की भारत-यात्रा पृ० २६८)।

(३) "प्रौढ़ विद्यार्थी उसे (चूर्णि अर्थात् महाभाष्य को) तीन वर्ष में सीख लेते हैं।" (इत्सिङ्ग की भारत-यात्रा पृ० २७३)।

(४) "सन् ९११ ई० में "इन्द्रवर्मा तृतीय राजा बना, यह इस भृगु वंश का अन्तिम राजा था। इसके ८ लेख मिलते हैं, इनसे पता चलता है कि इन्द्रवर्मा षड्दर्शन का पण्डित था। काशिका सहित व्याकरण में पारङ्गत था, और बौद्ध-दर्शन का भी अच्छा ज्ञाता था, वह अपने समय का भारी विद्वान् था" (चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार कृत बृहत्तर भारत पृ० ३४२)। यह चम्पादेश का (इस समय इस की 'अनाम' संज्ञा है) राजा था। यह देश हिन्द चीन द्वीप में है, इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध भी अष्टाध्यायी पद्धति से ही व्याकरण पढ़ते थे।

पहिले के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि इत्सिङ्ग (६८१-६९१ ई०) के काल में इन्द्रवर्मा के राज्य के समय भी अष्टाध्यायी से अध्ययन, न केवल

भारतवर्ष में ही था, अपितु भारत से बाहर चम्पा देश में (अनाम देश में) भी विस्तृत था। कालक्रम से ही इस अष्टाध्यायी का इतना लोप हो गया, कि अष्टाध्यायी से भी व्याकरण का ज्ञान सम्भव है, इसमें विद्वान् लोग भी सन्देह करते हुए देखे जाते हैं, फिर छात्रों की तो बात ही क्या।

प्रक्रिया क्रम का आरम्भ

इत्सिङ्ग के समय में (सन् ६८१-६८१ ई०) अष्टाध्यायी पठन-पाठन का क्रम था ऐसा हम सप्रमाण पूर्व कह हैं, वह क्रम कैसे लुप्त हो गया? उस क्रम में अरुचि का क्या कारण है, प्रक्रिया क्रम में लोगों की प्रवृत्ति का क्या हेतु रहा? इन सब बातों को मन में रखकर यहाँ हम कुछ लिखते हैं—

अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, धातुपाठ, उणादिपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन यह सब पञ्चपाठी के नाम से कहा जाता है, ऐसा सभी जानते हैं। यह सारा पढ़ने के पश्चात् ही अष्टाध्यायी का पढ़ना हुआ, ऐसा माना जाता है। **वृद्धिरादैच्** यह सूत्र पढ़ता हुआ छात्र इस सूत्र का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अर्थ-उदाहरण आदि सब कुछ पढ़ते हुए तथा उदाहरणों की (शालीयः, भागः, नायकः, अचैषीत्, अलावीत् मार्ष्टि इत्यादियों की) सिद्धि सब सूत्रों के द्वारा अष्टाध्यायी पद्धति से करता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी धातुपाठ का भी ठीक-ठीक अभ्यास करके प्रथमावृत्ति में ही (उदाहरणों की सिद्धि करते हुए) सब छात्र तिङन्त प्रक्रिया, सुबन्त प्रक्रिया, कृदन्त प्रक्रिया एवं तद्धित समास प्रक्रिया भी प्रक्रिया ग्रन्थ के आश्रयण के विना ही समझ लेते थे। सब धातुओं के सब लकारों में तथा सब प्रक्रियाओं में एक-एक प्रयोग सूत्रों के साथ-साथ सिद्ध करते हुए प्रक्रिया ग्रन्थों के न होने पर भी वे छात्र किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं करते थे। यह क्रम उस समय सर्वसाधारण में प्रचलित था। प्रक्रिया ग्रन्थों के निर्माण का उस समय प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु काल के प्रभाव से जब आलस्यवशात् अध्यापक लोग इस रीति से छात्रों को पढ़ाने में अधिक कष्ट का अनुभव करते हुए शिथिलता को प्राप्त हो गये, तब वे प्रयोग साधन के समय में लिखाई हुई उन्हीं प्रयोग सिद्धि की कापियों को ग्रन्थ रूप से बनाने लगे, तब धीरे-धीरे अष्टाध्यायी के क्रम से प्रयोग सिद्धि की प्रक्रिया शिथिलता को प्राप्त हो गई, प्रक्रिया ग्रन्थों का आश्रयण ही उत्तरोत्तर बढ़ता गया। किन्तु उस समय भी यह तो था ही कि अष्टाध्यायी अभ्यास करके उस क्रम के अनुसार ही सूत्रार्थ को

जानकर प्रयोग सिद्धि करते थे। प्रक्रिया ग्रन्थों के रूप में परिणत सिद्धान्तकौमुदी से पूर्ववर्त्ती रूपावतार, प्रक्रियारूपमाला, प्रक्रियाकौमुदी आदियों का तथा प्रक्रियासर्वस्व आदियों का भी आश्रयण अष्टाध्यायी पढ़ते समय लिखी गई प्रयोग सिद्धि की कापियों के रूप में पढ़नेवाले करते थे, प्रक्रिया ग्रन्थों के अलग निर्माण की आवश्यकता ही नहीं थी। अष्टाध्यायी का आश्रयण उस समय अनिवार्य था कि जिस प्रकार आज भी कुछ काल पहले तक काशी के महाविद्वान् तात्या शास्त्री इत्यादि भी "आज मैंने समयाभाव से अष्टाध्यायी की आवृत्ति नहीं की" ऐसा अपने छात्रों से कहते थे।

प्रक्रिया ग्रन्थों के बन जाने पर भी यदि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ का त्याग न होता तो भी अष्टाध्यायी उपस्थित (कण्ठ) होने से साधारण बुद्धि के छात्रों के लिये प्रक्रिया ग्रन्थों से भी कुछ सुगमता हो जाती (यदि मूल को त्याग कर शाखाओं में न चले जाते)। इस प्रकार अष्टाध्यायी सूत्रक्रम पाठ का आश्रयण करके प्रक्रिया ग्रन्थों का अभ्यास बहुत काल तक प्रचलित रहा। तत्पश्चात् प्रमाद से अष्टाध्यायी सूत्रक्रम पाठ का भी लोप हो गया, केवल प्रक्रिया ग्रन्थों के पठन-पाठन का क्रम ही सर्वत्र प्रचलित हो गया। तभी से इन प्रक्रिया-कौमुदी सिद्धान्त-कौमुदी आदियों की उत्पत्ति एवं व्यापकता हो गई। इसी समय के बीच में एक के ऊपर एक प्रक्रिया ग्रन्थ का बनना प्रारम्भ हो गया। अब प्रक्रिया ग्रन्थों की उत्पत्ति के विषय में भी यहाँ कुछ लिखते हैं—

प्रक्रिया ग्रन्थों का इतिहास

(१) रूपावतार—(सं० ११४० वि०)

अष्टाध्यायी के ग्रहण में असमर्थ एवं अल्पबुद्धि वालों के लिए व्यावहारिक ज्ञानमात्रार्थ बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति ने प्रक्रिया-क्रम का सबसे पहला ग्रन्थ 'रूपावतार' अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा रचा। इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी-क्रम को छोड़कर केवल प्रयोग-सिद्धि को ध्यान में रख के संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, अव्यय, स्त्री-प्रत्यय, कारक, समास तथा तद्धितप्रकरण प्रथम भाग में रखा। दश लकार दश प्रक्रिया तथा कृदन्त दूसरे भाग में रखा (स्वर-वैदिक प्रकरण को छोड़कर)। इस प्रकार २६६४ सूत्र प्रक्रिया-क्रम से व्याख्यात किये। प्रक्रिया-ग्रन्थों की उत्पत्ति बौद्ध-काल में ही हुई, यह भी जानना चाहिए।

(२) प्रक्रिया-कौमुदी—(सं० १४८० वि०)

यद्यपि 'प्रक्रिया-रत्न' तथा 'रूपमाला' ये ग्रन्थ रूपावतार के पश्चात् रचे गये, तो भी उनके अनुपलब्ध होने से प्रक्रिया-कौमुदी के विषय में ही यहाँ कहते हैं। स्वर-वैदिक प्रकरण को भी मिलाकर २४७० सूत्रों का व्याख्यान-रूप प्रक्रिया-कौमुदी नामक यह ग्रन्थ सूत्रों का कुछ विस्तार से व्याख्यान करते हुए रामचन्द्र आचार्य के द्वारा रूपावतार के पश्चात् बनाया गया। उसके द्वारा प्रक्रिया क्रम का विस्तार तथा प्रचार प्रचुर रूप में हुआ। यह ग्रन्थ सिद्धान्त-कौमुदी का आधार-रूप है, ऐसा मानना पड़ेगा।

(३) सिद्धान्त-कौमुदी (सं० १५१०-१५७५ वि०)

भट्टोजिदीक्षित महोदय ने अष्टाध्यायी क्रम को छोड़कर पूर्व-प्रचलित प्रक्रिया-कौमुदी के क्रम को आश्रयण कर सिद्धान्त-कौमुदी नामक ग्रन्थ रचा। उसमें प्राय: सभी सूत्र (३९७८) व्याख्यात हैं। उन्होंने यह प्रयत्न किया कि मेरा बनाया हुआ यह सिद्धान्त-कौमुदी नामक ग्रन्थ ही सर्वत्र प्रचलित हो, व्याकरण के विषय में सिद्धान्त-कौमुदी को छोड़कर किसी भी अन्य ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन न चले। यह छात्रों के लिए कितना महान् कष्टदायक होगा, यह नहीं सोचा। उसी का यह फल है कि संस्कृत पढ़ने वाले बारह वर्ष व्याकरण पढ़ कर भी व्याकरण रूपी समुद्र से पार नहीं पाते, अन्य शास्त्रों के विषय में तो क्या कहना? तो भी "द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" अर्थात् "बारह वर्ष में व्याकरण का ज्ञान हो पाता है", यह श्रुति मात्र है, बारह वर्ष में भी ज्ञान हो पाता है कि नहीं, इसमें तो सन्देह ही है।

(४) मध्य-कौमुदी—

पर्वत के समान स्थापित सिद्धान्त-कौमुदी 'छात्रों के लिए अतीव दुःखदायी, दुरूह, अतीव परिश्रम-साध्य एवं अति काल की अपेक्षा रखने वाली है' ऐसा वरदराज ने जब अनुभव किया तब उन्होंने २११७ सूत्रों की व्याख्या करते हुए मध्यकौमुदी की रचना की। मध्यकौमुदी का निर्माण ही सिद्धान्त-कौमुदी की असफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है, नहीं तो क्या आवश्यकता थी कि मध्यकौमुदी बनाई जाती? इस प्रकार पर्वत से तराई पर संस्कृत के अध्ययन की पद्धति पहुंच गई। यह स्पष्ट है।

(५) लघु-कौमुदी—

जब इस मध्यम मार्ग से भी सन्तोष नहीं हुआ, तब उससे भी लघुतर मार्ग की इच्छा करके उन्हीं वरदराज ने अपने पूर्व-निर्मित मध्य-कौमुदी

से असंतुष्ट होकर ११८८ सूत्रों की व्याख्या करते हुए लघुकौमुदी की रचना की तब पर्वत से तराई एवं तराई से नीची भूमि में व्याकरण का पठन-पाठन क्रम पहुंच गया। यदि सिद्धान्तकौमुदी कठिन न होती, तो मध्यकौमुदी, लघुकौमुदी नामक ग्रन्थों का निर्माण कभी न होता, यह स्पष्ट है। उनका निर्माण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सिद्धान्त-कौमुदी के क्रम से अध्ययन सुकर नहीं है, इसमें सन्देह नहीं।

अष्टाध्यायी का क्रम पुनः प्रादुर्भूत हुआ

"वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता" (अथर्व)—

जिस प्रकार यह पृथ्वी गोल है, "उसमें जहाँ से चलना आरम्भ करें, वहीं पुनः लौट करके आ जाते हैं" यह जनश्रुति है तथा तथ्य भी है, उसी प्रकार इस अष्टाध्यायी का क्रम आज स्वतन्त्र भारत में फिर से प्रादुर्भूत हो रहा है।

व्याकरण के पढ़नेवाले मूल से (अष्टाध्यायी-प्रक्रिया से) अत्यन्त दूर हट गये थे, यह हमने पहले प्रतिपादित किया है। जिस वृक्ष का जड़ से सम्बन्ध हट जाता है, काल-क्रम से स्वयं ही उस वृक्ष के पत्ते तथा फूलों के नाश को रोकना दुर्निवार है, इसलिये फिर से मूल का आश्रयण करने से ही कल्याण सम्भव है, इसमें विद्वान् ही प्रमाण हैं। इस प्रकार इस समय अष्टाध्यायीपद्धति का आश्रयण संस्कृत पढ़नेवालों वा भारतीयों के लिए कल्याणकर, श्रेयस्कर तथा साधक होगा, ऐसी आशा की जाती है।

दूसरों के द्वारा सुनी हुई यह बात नहीं है, अपितु स्वानुभूत है। वह अनुभव इस समय अपने मित्रों के आग्रह से आदरणीय विद्वानों व्याकरण पढ़नेवालों तथा व्याकरण जानने की इच्छा रखनेवालों के समक्ष प्रकाशित किया जाता है।

व्याकरण की सरलता का स्वानुभव

(१) संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ दो-तीन कन्याओं की अष्टाध्यायी मूल सूत्रों को कण्ठस्थ किये बिना ही, अष्टाध्यायी-क्रम से पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण, सिद्धि (सब सूत्रों से) इत्यादि करते हुए व्याकरण में इतनी प्रगति हो गई कि अष्टाध्यायी क्रम से ही उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की विशारद परीक्षा दश महीने में उत्तीर्ण कर

ली। इस परीक्षा में व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ दर्शन, धर्म-शास्त्र, भगवद्गीता, संस्कृत अनुवाद तथा निबन्ध इत्यादि विषयों में भी योग्यता प्राप्त करनी होती है। उन्हीं कन्याओं ने विशारद परीक्षा के पश्चात् सात महीने में ही पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण की। शास्त्री परीक्षा में भी वेद, निरुक्त, संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ, महाभाष्य, सांख्य-योग दर्शन (भाष्य-सहित) अनुवाद तथा निबन्ध इतने विषय होते हैं। "सत्रह महीने में (डेढ़ साल में) ही संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ कन्यायें विशारद तथा शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई" यह सुनकर सामान्य लोग तो विश्वास भी नहीं करते तथा विशिष्ट लोग आश्चर्यचकित एवं विस्मित होते हैं, पर आजकल भी यह सब कुछ मर्मज्ञ विद्वान् लोग देख सकते हैं।

(२) दूसरे बी० ए०, एल्-एल्० बी० उपाधि-धारी इञ्जीनियर ३५ ४० वर्ष के प्रौढ़, संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ सज्जनों को भी सात दिन में ही पठति, शालीयः, पुरुषः इन उदाहरणों की पूर्वापर के सूत्रों का निर्देश करते हुए अष्टाध्यायी के सूत्रों से सिद्धि करते हुए (वह भी बिना रटे हुए) देखा जा सकता है।

(३) तीसरे एफ० ए० के परीक्षार्थी ने भी सवा दो मास में अष्टाध्यायी के क्रम से अष्टाध्यायी के सूत्रों को बिना याद किये ही केवल समझकर ६०० सूत्र पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण और सिद्धि सहित ठीक-ठीक पढ़ लिये। उसने "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इत्यादि कठिनतम प्रकरणों तथा अन्य प्रकरणों के कठिनतम सूत्रों की व्याख्या एवं उदाहरणों की सिद्धि (प्रत्येक में ५०-६० सूत्रों के द्वारा) ठीक-ठीक समझकर (बिना रटे हुए) काशी के वैयाकरण विद्वत्समाज में एवं अन्यों के सामने भी प्रदर्शित किया। जिससे वे सभी विद्वान् आश्चर्य चकित हो गये। इसलिए हम कहते हैं कि 'अष्टाध्यायी ही व्याकरण ज्ञान का परमसाधन है'।

संस्कृत के अध्ययन से लोग भाग क्यों जाते हैं?

व्याकरण के बिना संस्कृत भाषा में अधिकार एवं सम्यक् प्रवेश नहीं होना, यह हमारा सिद्धान्त है, किन्तु वही व्याकरण आजकल दुरूह बिना समझे रटने के कारण संस्कृत पढ़नेवालों के मार्ग में सुदृढ़ पाषाण के रूप में अवरोधक बन गया है। जब तक इसकी रुकावट नहीं हटायी जायेगी,

अर्थात् सरल नहीं किया जायेगा, तब तक इस देववाणी का पुनरुद्धार सम्भव नहीं, यह भी निश्चित है। जो कोई अपने आप या अन्यों की प्रेरणा के द्वारा धर्म, देशभक्ति की भावना से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, वे भी पूर्वोक्त अर्थरहित घोखन की दुरूहता को देखकर संस्कृत के अध्ययन से हताश होकर जहाँ-तहाँ सब जगह भागते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार के अध्ययन से पराङ्मुख हुए, एवं भागे हुए भुक्तभोगियों की संख्या न जाने भारत में कितने लाख होगी। न केवल उनके द्वारा (स्कूल कालेज आदि में पढ़ने वाले बी. ए., एम. ए. उपाधिधारियों एवं आर्य भाषा के विशेषज्ञों द्वारा) संस्कृत का अध्ययन छोड़ दिया जाता है, अपितु आगे उनकी सन्तानों का भी संस्कृत अध्ययन का मार्ग रुक जाता है। इस प्रकार के लोग अपनी सन्तानों को ऐसा उपदेश देते हुए देखे जाते हैं—'पुत्र' मैंने बाल्यकाल में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया था, किन्तु संस्कृत अध्ययन अति क्लिष्ट, महाकष्टसाध्य, दुरूह एवं बिना अर्थ जाने घोखने की विद्या है, ऐसा समझकर चाहते हुए भी मैंने उसे छोड़ दिया। तुम भी इसमें समय एवं शक्ति का नाश मत करो"। इस प्रकार के प्रवाद से संस्कृत का अध्ययन देश से लुप्तप्राय ही हो गया। जो कोई उत्कृष्ट मेधावाले हैं, उन्हें अंग्रेज पहले मक्खन के समान इकट्ठा करके इङ्गलेण्ड आदि देशों में उपाधि का लोभ प्रदर्शन करके बड़ी-बड़ी छात्रवृत्तियाँ देकर, विदेशी वेश-भूषा एवं भावना से युक्त करके अन्त में बड़े-बड़े वेतन देकर राजकीय कार्य में लगा देते रहे और दुर्भाग्य से अभी तक वही प्रक्रिया चल रही है, जिससे वे स्वयं भारतीय संस्कृति सभ्यता एवं संस्कृत-साहित्य से पराङ्मुख हो जाते हैं। जो भिक्षु-वृत्ति के साधारण बुद्धिवाले देश एवं संसार के भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान विषय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, वह प्रायः करके शेष बचे हुए फोक के समान देखे जाते हैं। वे संस्कृत के अध्ययन में अपनी कर्तव्य-बुद्धि से नहीं प्रवृत्त होते, वरन् धनाभाव ही उनकी प्रवृत्ति का हेतु है। इस प्रकार की विषम समस्या में किस प्रकार संस्कृत का अभ्युदय हो, यह बात विद्वानों के द्वारा विचारणीय है।

व्याकरण के अध्ययन का अतीव सरल उपाय

व्याकरण का अध्ययन जब अनिवार्य था तथा बिना इसके संस्कृत साहित्य में प्रवेश सम्भव नहीं, यह हम पहले कह चुके हैं, ऐसी अवस्था में "व्याकरण के अध्ययन का कोई सरल उपाय हो" ऐसा विचार उत्पन्न होने पर हम एक ही मूल तत्त्व बताते हैं—

'अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन ही इसके पुनरुद्धार का सबसे बड़ा औषध है।'

बहुत काल के पश्चात् इस बीसवीं शताब्दी में अष्टाध्यायी क्रम के पुनरुद्धार में पहला प्रयास श्रीमत् परमहंस परिव्राजक आचार्य परम विद्वान् विरजानन्द सरस्वती स्वामी ने किया। इसके पश्चात् उनके शिष्य श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद् दयानन्द सरस्वती स्वामी की ही कृपा है कि हम इस समय अष्टाध्यायी पठन-पाठन के क्रम के विषय में कुछ कहने में समर्थ हो रहे हैं।

अष्टाध्यायी-क्रम का वैशिष्ट्य

(१) इसमें क्या रहस्य है, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं:—

मूल अष्टाध्यायी ग्रन्थ का अभ्यास ही इसमें रहस्य है और कुछ नहीं। "**आद्गुणः**" (६।१।८४) यह सूत्र हम इस प्रकार पढ़ाते हैं—

'आत्' ५।१ (पंचमी का एकवचन), 'गुणः' १।१ (प्रथमा का एक-वचन)। ऊपर से '**एकः पूर्वपरयोः**' (६।१।८१), '**इको यणचि**' (६।१।७४), '**संहितायाम्**' (६।१।७०) इन सूत्रों से 'एकः', 'पूर्वपरयोः', 'अचि', 'संहितायाम्' इन पदों की अनुवृत्ति आ रही है। यहाँ बाह्य शब्द के अध्याहार के बिना भी सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो जाता है—

'आत् अचि संहितायां पूर्वपरयोः गुणः एकः'। आगे 'स्यात्', 'भवेत्', 'भविष्यति', 'भवति', 'वर्त्तते', 'संपद्यते', 'जायते' इनमें से किसी भी क्रिया पद का अध्याहार कर सकते हैं, इसमें कोई विवाद नहीं। सूत्र में ही सूत्र का अर्थ है, यह रहस्य है। वह अर्थ छात्रों को (चाहे वे बालक हों या प्रौढ़) सूत्र से ही जनाना चाहिए। मूल अष्टाध्यायी की पुस्तक ही छात्र के लिए यह सब कुछ प्रदर्शित करती है, एवं जनाती है। सूत्रों के घोखे बिना भी छात्र इस प्रकार प्रदर्शित किया हुआ सूत्रार्थ शीघ्र ही समझ लेते हैं। पढ़ाने के समय अध्यापक के द्वारा बार-बार सूत्रार्थ की आवृत्ति कर देने पर वह अर्थ स्वयं ही छात्र के हृदय में स्थित हो जाता है। रटने का कोई काम नहीं पड़ता। पुनः पुनः आवृत्ति करने में अध्यापक को परिश्रम पड़ता है, न कि छात्र को। अन्त में वह छात्र सूत्र तथा उसका अर्थ ठीक-ठीक समझ कर अपनी स्मृति में बिठा लेता है। यह प्रत्यक्ष दर्शन का विषय है। यही बात सामान्य जन को रहस्य प्रतीत होती है।

(२) लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी, प्रक्रियाकौमुदीवाले कौमुदी-परिवारों के छात्र रटते हुए जीवन भर इसको समझ नहीं पाते कि सूत्र का अर्थ यह कैसे बन गया। व्याकरणाचार्य हो जाने पर भी अनुवृत्ति के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ ही प्रायः सर्वत्र देखे जाते हैं। सूत्रों का कण्ठस्थ किया हुआ अर्थ (चौगुना १६ हजार) देर तक स्मृति में चाहते या न चाहते हुए भी नहीं रह सकता, यह स्वाभाविक बात है। ठीक-ठीक बिना जाना हुआ सम्बन्ध के ज्ञान से रहित अर्थ कैसे स्मृति-पथ में चिरस्थायी हो वा स्थित हो सके, यह सवमान्य अनुभूति है, जो सब जगह देखी जा सकती है वा दिखाई देती है।

(३) अष्टाध्यायी-क्रम में यह भी विशेष है:—प्रौढ़ छात्र अष्टाध्यायी के सूत्रों को बिना रटे पहले अध्यापक के द्वारा पढ़ने के समय बुद्धि में बिठा लेते हैं, आगे बार-बार उन सूत्रों का प्रयोग-सिद्धि के समय अध्यापक के द्वारा अभ्यास हो जाता है। उसके पश्चात् वे सूत्र एवं उन का अर्थ स्वयमेव बुद्धि में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार जो-जो सूत्र समझ लिए जाते हैं, इनके नीचे लाल चिह्न लगवा दिये जाते हैं, अथवा लगवा देना चाहिये, जिससे समझे हुए सूत्रों का ज्ञान अनायास ही उनको हो जाता है। अपने अभ्यस्त चिह्नित सूत्रों को देखने से प्रौढ़ छात्रों के अध्ययन का उत्साह भी खूब बढ़ जाता है। यह भी रहस्य अष्टाध्यायी-पद्धति का है और पद्धतियों में यह सम्भव नहीं, न उस प्रकार ज्ञान होता है। यह विषय हमारा प्रत्यक्ष किया हुआ है न कि सुना हुआ।

(४) अष्टाध्यायी में सब प्रकरण वैज्ञानिक रीति से सुसम्बद्ध हैं, इसलिए उन-उन प्रकरणों का ज्ञान अनायाम ही हो जाता है, जैसे कि सर्वनाम, इत् संज्ञा, आत्मनेपद, परस्मैपद, कारक, विभक्ति, समास, द्विर्वचन, संहिता, सेट, अनिट् प्रकरणों के सूत्र परस्पर सुसम्बद्ध हैं। अतः उनके अर्थ जानने में छात्रों को कोई बाधा नहीं होती। यदि किसी छात्र को इट् या द्विर्वचन विषय में शंका होती है, तो उसको अष्टाध्यायी-क्रम से पढ़ा हुआ छात्र दो-तीन मिनट में ही उस प्रकरण के समस्त सूत्रों का पाठ करके निःशंक हो जाता है। कौमुदी-क्रम से पढ़ा हुआ छात्र तो कठिनाई एवं परिश्रम से भी अच्छी तरह सूत्रार्थ के बनने में हेतु नहीं बता सकता एवं निस्संदिग्ध नहीं होता। कैसे? उस क्रम में तो सूत्र भिन्न-भिन्न प्रकरणों में विखरे हुए हैं। भिन्न-भिन्न प्रकरणों में पठित सूत्रों का परस्पर ज्ञान कैसे हो सकता है?

(५) अष्टाध्यायी में **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** (१।४।२), **'असिद्ध-वदत्राभात्'** (६।४।२२), **'पूर्वत्रासिद्धम्'** (८।२।१) इत्यादि अधिकार सूत्रों के कार्य में सूत्रक्रम का ज्ञान अत्यधिक आवश्यक ही नहीं. किन्तु अनिवार्यतया अपेक्षित है। सूत्रपाठ के क्रम के ज्ञान के बिना 'पूर्व' 'पर' 'आभात्' 'त्रिपादी' 'सपाद सप्ताध्यायी', 'बाध्यबाधकभाव', इत्यादि का ज्ञान पढ़नेवालों एवं पढ़ानेवालों को भी कभी सम्भव नहीं है। सिद्धान्त-कौमुदी प्रक्रिया-क्रम से पढ़े हुए छात्रों को सूत्र-पाठ के क्रम के ज्ञान न होने से महाभाष्य पूर्णतया बुद्धि में नहीं बैठता। प्रत्येक पद एवं प्रत्येक सूत्र में वे बहुत कष्ट का अनुभव करते हैं, यह स्वाभाविक भी है, यह हम अपना प्रत्यक्ष किया हुआ अनुभव ही यहाँ प्रतिपादन करते हैं।

(६) सिद्धान्त-कौमुदी के क्रम से पढ़ा हुआ व्याकरण छात्रों की स्मृति से शीघ्र लुप्त हो जाता है। बार-बार घोखने पर भी शीघ्र विस्मृत होता है। सभी प्रकरणरहित पढ़नेवाले छात्रों के स्वानुभव ही इसमें प्रमाण है। इसमें किसी के कहने की कुछ बात नहीं।

(७) अष्टाध्यायी-क्रम में सूत्रों की प्राप्ति सामान्यतया समझ में आ जाती है। सिद्धान्त-कौमुदी क्रम में तो जो सूत्र जहाँ उल्लिखित है, वहीं उसकी प्राप्ति बुद्धि में बैठती है, किन्तु अन्यत्र उस सूत्र की प्राप्ति छात्र के मस्तिष्क में सुगमता से नहीं बैठती। एक उदाहरण में प्रयुक्त सूत्र का तत्सदृश अन्य उदाहरण में प्रयोग करने में आधुनिक प्रक्रिया से पढ़े हुए छात्र सर्वथा डरते हैं। 'उपेन्द्रः' इस प्रयोग या उदाहरण में प्रयुक्त 'आद्-गुणः' सूत्र का प्रयोग 'दिनेशः' इस उदाहरण या प्रयोग में करते हुए छात्र बहुधा डरते देखे जाते हैं।

(८) लेट् में रूप स्वर-वैदिक प्रकरणों का अर्थोदाहरण, उनकी सिद्धि भी अष्टाध्यायीक्रम में आरम्भ से ही **'वृद्धिरादैच्'** इस सूत्र के उदाहरण की सिद्धि में ही छात्र जान लेते हैं। सिद्धान्त-कौमुदी-क्रम में तो ग्रन्थ के अन्त में (स्वर-वैदिक प्रकरण) होने से आजीवन भी उसमें यत्न नहीं करते, क्योंकि वह प्रकरण उपेक्षित कर दिया गया है, अतः उस प्रकरण में कैसे गति हो! यह सर्वसम्मत अनुभव है। अन्य भी बहुत सारे दोष सिद्धान्त-कौमुदी प्रक्रिया से व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन करने में हैं? यहाँ हम विस्तार-भय से इतना ही लिखते हैं।

अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन में जो गुण हैं, वे जो सम्पूर्ण अष्टाध्यायी

पहले कण्ठ करके पढ़ते हैं, उनके लिए ही उपकारी होते हैं, वहाँ महाभाष्य अध्ययन पर्यन्त अष्टाध्यायी-सूत्रों के पारायण की आवश्यकता होती है। जिनको अष्टाध्यायी कण्ठ नहीं होती और वे अष्टाध्यायी का पठन आरम्भ करते हैं, वे तो उसके गुणों से वंचित रह जाते हैं। इसलिए अष्टाध्यायी क्रम के ज्ञान के बिना वे महाभाष्य के पढ़ने में महान् कष्ट का अनुभव करते हैं। इस प्रकार महाभाष्य का आद्यन्त-अध्ययन करने वालों का सबसे पहले अष्टाध्यायी कण्ठ करना अनिवार्य है। जो प्रौढ़ पठनार्थी लघुकौमुदी या मध्यकौमुदी पढ़ते हैं (जहाँ कि उनका घोखने में महान् परिश्रम एवं समय व्यर्थ जाता है) उनके लिए भी अष्टाध्यायी-क्रम मात्र से अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ के कंठ किये बिना भी उतना ज्ञान (केवल सूत्रार्थ एवं प्रयोग-सिद्धि मात्र) छः महीने में ही हो जाता है, जितना उन लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी से दो-तीन साल में भी सम्भव नहीं। समय एवं परिश्रम का महान् लाभ अष्टाध्यायी-क्रम का ही महान् वैशिष्टय है।

इसलिये "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"—"छुटकारे का और कोई रास्ता नहीं"—अष्टाध्यायी से ही यह सब सम्भव है, अन्य किसी प्रकार से भी नहीं, यह हम बार-बार कहते हैं।

निवेदक

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

[सरलतमविधि-भूमिका—]

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

पाठों को पहिले लिखित रूप क्यों न दिया ?

अष्टाध्यायी-पद्धति से बिना रटे संस्कृत तथा उसके व्याकरण के इस पाठ्यक्रम का आरम्भ सर्वप्रथम सन् १९३९ से ४१ में हुआ। इस के पश्चात् सन् ५१ से ५५ तक चार-पाँच वर्ष हो रहे हैं, जिसमें अनेक पठनार्थी श्रेणियों को इस पद्धति से पढ़ाया गया, और जिसमें सफलता रही। पर इन पाठों को लिखितरूप में नहीं दे रहा था, यद्यपि अनेक पठनार्थियों वा संस्कृतप्रेमी सज्जनों वा नेताओं, विद्वानों द्वारा इनको लिखितरूप देने की प्रेरणा अत्यधिक रही। मुझे स्मरण है कि स्वर्गीय श्रद्धेय पूज्य वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज मुझे बार-बार व्याकरण-विषय का एक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखने वा संग्रह कर देने की प्रबल तथा निरन्तर प्रेरणा बहुत समय तक करते रहे। पर मेरे मन में यही आता था कि कहीं यह एक अनार्ष वा अनार्षता को प्रोत्साहन देनेवाला कार्य तो न होगा ? मैं लिखने को उद्यत न होता था। अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही व्याकरण पढ़ाया जा सकता है, अपनी इस बात पर दृढ़ था। और ३५-४० वर्ष तक इसी पर दृढ़ रहा था, तथा १६ वर्ष से कम आयुवालों के सम्बन्ध में अब भी दृढ़ हूं।

लिखित रूप देने का विचार कैसे उत्पन्न हुआ ?

जब मेरे सामने यह स्थिति (दैवी घटना ही कहना चाहिये) उत्पन्न हो गई कि प्रौढ़ (१६ वर्ष से अधिक आयु के) पठनार्थी अत्यन्त श्रद्धा और उत्साह लेकर संस्कृत तथा उसके व्याकरण को पढ़ने के लिए मेरे सामने आकर उपस्थित हुय, जिनकी आयु बहुत अधिक थी, और जिनके पास समय कुछ मास का ही था, अनार्ष कौमुदी आदि पढ़ना नहीं चाहते थे, रटने में लगाया जाता तो भाग जाते, और सस्कृत पढ़ने का नाम कभी न लेते। मेरे मन में उनके लिए सद्भावना भी थी, उनकी उन्नति वा उनके भविष्य को उज्ज्वल देखने की प्रेरणा भी मन में होती थी। यह सब स्थिति उत्पन्न होने पर मेरे मन में बहुत गहरी वेदना उठी कि क्या

ऐसे व्यक्तियों को मैं यही कहूं कि तुम लघुकौमुदी रटकर ही संस्कृत-व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, और कोई मार्ग नहीं !!! क्या ऐसों के लिए अष्टाध्यायी का द्वार सदा के लिये बन्द ही रहेगा ? क्या यह महामुनि पाणिनि की असफलता न होगी ? इत्यादि गम्भीर प्रश्नों ने आत्मा में अष्टाध्यायी-पद्धति से बिना रटे पढ़ाने की प्रेरणा दी। इसी का परिणाम हुआ कि प्रौढ़ पठनार्थियों को बिना रटे अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़ाने का उपक्रम चला। 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है' यही सिद्धान्त यहाँ भी सत्य सिद्ध हुआ।

इतने वर्षों में अनेक प्रौढ़ पठनार्थी श्रेणियों के पढ़ाने का सफल प्रयोग होने पर भी, मैं अपने इन पाठों को लिखित रूप नहीं दे रहा था। इसका कारण यह था कि मेरे मन में यह एक आशङ्का बनी रहती थी कि कहीं इन पाठों को भी लोग रटना तो प्रारम्भ न कर देंगे ? यही बड़ा भारी कारण वा विचार था, जो मेरे मन में गहरा बैठा था।

अन्त में जब बहुत सी प्रेरणायें निरन्तर मिलने लगीं, और पठनार्थियों तथा अष्टाध्यायी-पद्धति में सच्ची निष्ठा रखनेवाले अध्यापकों की कठिनाई का प्रश्न मेरे सामने बार-बार आया, तब कहीं मेरा मन अन्त में इन पाठों को (जो अभी तक मेरे भीतर ही बैठे थे) यह वर्तमान लिखित-रूप देने को उद्यत हुआ।

माननीय टण्डन जी की प्रेरणा

इसकी सब से अधिक प्रेरणा मुझे १८ अप्रैल १९५४ को मिली, जब देहली में संस्कृतप्रेमी गृहमन्त्री श्री माननीय काटजू जी द्वारा पाणिनि महाविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर सच्चे देशभक्त त्यागी-तपस्वी देश के माननीय नेता श्रद्धेय टण्डन जी ने अपने सभापति-भाषण में मुझे इन संस्कृत व्याकरण के पाठों को लिखित रूप देने की अतिप्रबल प्रेरणा दी।

इन सब प्रेरणाओं का ही यह परिणाम है, जो यह पाठ लिखित रूप में संस्कृतप्रेमी पाठकों के सामने उपस्थित हो रहे हैं।

प्रारम्भ में पुस्तकरूप देने का विचार नहीं था

यह सब होने पर भी मैंने तो लेखरूप में ही प्रकाशित करने के लिए इन्हें लिखना आरम्भ किया था, और वह भी १०-२० पृष्ठों में लिख दिया जायगा, यह सम्भावना थी। पुस्तक रूप में लिखने की न कोई सम्भावना थी, न कोई विचार था। जब लिखना आरम्भ किया, जिस शैली पर

जितना विषय प्रौढ़ पठनार्थियों को मैं स्वयं पढ़ाता चला आ रहा था, लगभग वैसा का वैसा लिखता गया। जिसका कि यह रूप (प्रथम संस्करण में ७७ पृष्ठ) बन गया। वेदवाणी में पहिले प्रति मास १ फार्म अर्थात् ८ पृष्ठ ही देने का विचार था, पर १६ पृष्ठ देना आरम्भ हुआ। यही कारण है कि इसमें पुस्तक रूप बनाने में जितनी बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, उतना ध्यान नहीं दिया जा सका। आकार भी पुस्तक का नहीं था। यह विचार था और अब भी है कि पठनार्थियों तथा इस विषय के जानकार विद्वानों द्वारा इन पाठों को पढ़ाने के पश्चात् जो-जो कठिनाइयाँ सामने आवें, वा जो उचित सुझाव वे सब दें, उन पर भी उचित विचार कर आवश्यक निर्देश दिये जावें, वा उन विषयों पर भी प्रकाश डाला जावे, जिससे संस्कृत वा उस के व्याकरण की यह ज्ञानधारा देश में तीव्रता से प्रवाहित होने लगे।

किस परिस्थिति में ये पाठ लिखे गये ?

पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि वास्तव में तो ये पाठ एक साथ लिखकर प्रैसकापी बना लेनी आवश्यक थी, जिससे कि पुनः पढ़कर न्यूनाधिक कर ली जाती। पर वेदवाणी तो प्रतिमास की २० ता० तक छपनी चाहिए। इधर मेरा हाल यह रहा कि प्रायः प्रतिमास १४ वा १५ ता० को मैं पाठ लिखना आरम्भ करता था, जो फुलस्केप साईज के कम से कम ३२ पृष्ठ लिखने बैठता था। और पूरा होने से पहिले ही रफ की प्रतिलिपि दूसरों के द्वारा करानी पड़ती थी। स्वयं की जाती तो भी ठीक था। उधर साथ-साथ छपने को भी भेज देते थे। मैं तो स्वयं चकित हूं कि मैं इतना लिख भी कैसे गया। प्रिय युधिष्ठिर मीमांसक ने 'वेदवाणी' में पाठ निकलने की सूचना छाप दी। अब तो लिखना अनिवार्य हो गया। काशी से बाहर जाना पड़ता था, यह एक भारी बाधा थी। प्रूफ भी पूरे संतोषपूर्ण ढंग में नहीं देखे जा सके, इत्यादि कारणों से छपने में कहीं-कहीं अनवधानता से भूल रह गई, पाठ छूट गया, मात्रायें टूट गईं। इसमें जो तो साधारणतया छपने में अशुद्धियाँ हुई थीं, उन का शुद्धिपत्र परिवर्तन तथा परिवर्धन आदि अन्त में दे दिया है, पाठक तदनुसार ठीक करके ही पढ़ना आरम्भ करें। अगले संस्करण में ये सब वा अन्य आवश्यक संशोधन आदि किये जा सकेंगे[1]।

१. द्वितीय संस्करण में सब ठीक कर दिये गये हैं—सम्पादक।

ये पाठ किनकी दृष्टि से लिखे गये ?

सामान्यतया हमने ये पाठ लगभग उसी शैली-क्रम और ढंग पर लिखे हैं, जिनके अनुसार मैं स्वयं प्रौढ पठनार्थियों को पढ़ाता रहा हूं, या पढ़ाता हूं। इस शैली क्रम वा ढंग के सफल होने में कुछ भी सन्देह वा विप्रतिपत्ति नहीं। अब प्रश्न यह है कि ये ३५ (अब ५४) पाठ किनके लिए हैं ? मेरे अनुभव में दोनों तरह की बात आ चुकी है। मेरे इन पाठों को विना किसी अध्यापक के स्वयं ही पढ़कर पूरा समझ लेनेवाले भी मेरे पास आये हैं। अभी कल (५-१-५६) की बात है कि श्री मास्टर नरोत्तमदास जी अग्रवाल रिटायर्ड हैडमास्टर जूनियर हाई स्कूल बड़ागाँव जिला बनारस मेरे पास पहली बार पहुंचे, और कहा कि मैंने वेदवाणी में प्रकाशित आपके ३५ पाठों को स्वयं पढ़ा है और समझा है। मुझे आगे का ढंग समझाइए। मैंने कहा कि जब तक मैं परीक्षा न कर लूँ कि आपने ये ३५ पाठ समझ लिये हैं (मुझे इन पर सन्देह था), तब तक मैं आगे आपको कैसे बताऊँ? मैं चकित रह गया, जब उन्होंने मेरे ३५ पाठ सब ठीक सुना दिये, तब मैंने इनको आगे बताया। इसी प्रकार और भी कई सज्जनों ने मुझे कहा, और पत्र द्वारा लिखा। सो विना अध्यापक के स्वयं पढ़नेवालों के लिए भी ये पाठ उपयोगी हैं। जो सज्जन काशी में कहीं अलग ठहरकर और भोजन का स्वयं प्रबन्ध करके (क्योंकि इसमें मेरी असमर्थता है) कम से कम ये पाठ भी मेरे पास पढ़ लें, तब तो क्या ही कहना। अध्यापक को यदि अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो, तब तो स्वयं भी इन पाठों को प्रौढ़ पठनार्थियों को हमारी इस पद्धति से पढ़ा सकते हैं। पर यदि अध्यापक महानुभाव इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के भाव से मेरे पास (उपर्युक्त व्यवस्था से) कम से कम १५ दिन लगा लें, तो उन्हें हमारी पद्धति से पढ़ाने में बहुत कुछ मार्ग मिल सकता है। आगे पत्र-व्यवहार द्वारा भी कठिनाइयाँ दूर होना सम्भव है। यहाँ तो इस पद्धति से पढ़ने वाले छात्र विद्यमान ही रहते हैं, चाहे हम रहें या न रहें। सो ये हमारे पाठ प्रौढ़ पठनार्थी तथा पढ़ानेवाले अध्यापक दोनों की दृष्टि से ही उपयोगी हैं, ऐसा समझना चाहिये। घर बैठे पढ़नेवाले भी यदि एक बार १५ दिन प्रत्यक्ष अनुभवार्थ मेरे पास आकर पढ़ लेंगे, तो पीछे पत्रव्यवहार से भी बहुत कुछ कार्य चल सकता है। यद्यपि मैं ऐसे पत्रों के उत्तर शीघ्र ही देने का प्रयत्न करता हूं, पर कार्य की अधिकता से कभी-कभी विलम्ब हो ही जाता है। पाठकों को विदित रहे कि मैं अन्य वेदभाष्य

आदि तथा आर्षग्रन्थों के पढ़ाने वा 'वेदवाणी' के सम्पादनादि अनेक कार्यों में भी तो लगा रहता हूं। न चाहते हुए बाहर भी कभी-कभी जाना ही पड़ता है, निजी सहायक कैसे और कहाँ तक रखूँ ?

ये सब पाठ अनुभव से ही लिखे गये हैं

पाठकों को ध्यान रहे कि संस्कृत-व्याकरण-पाठमाला के ये सब लेख प्रौढ़ पठनार्थियों की अनेक श्रेणियों को पढ़ाकर, अर्थात् अनुभव प्राप्त कर के और सफल सिद्धि होने पर ही लिखे गये हैं। केवल कल्पनामात्र से लिखे गये हों, यह बात नहीं। प्रिय पाठकों की जानकारी के लिए हम प्रौढ़ों की इन श्रेणियों का परिचय अति संक्षेप से देते हैं—

(१) **सुलतानपुर (अवध)** में ५ अप्रैल १९५२ से २० प्रौढ़ पठनार्थियों की श्रेणी १५ जून १९५२ तक चली, जिसको आरम्भ में मैंने पढ़ाया। तत्पश्चात् वहीं जुलाई सन् ५२ से अप्रैल ५४ तक प्रतिवर्ष दसवीं नवीं तथा छठी तीन-तीन श्रेणियाँ तीन-तीन वर्ष तक चलीं। जिसमें अष्टाध्यायी पद्धति से १००-७१-६२-५५ छात्र पढ़ते रहे। इस प्रकार १० श्रेणियाँ सुलतानपुर में चलीं, और लगभग २७५ छात्र पढ़े। यहाँ की श्रेणियों में कई मुसलमान छात्र भी अष्टाध्यायी पढ़ते रहे।

(२) [क] **काशी में**—अगस्त ५२ से अगस्त ५३ तक तीन श्रेणियाँ लाहौरी टोला में चलीं, जिसमें २६-१६-२६ छात्र पढ़ते रहे। प्राचीन व्याकरणवालों की श्रेणियाँ पृथक् चलीं। वर्ष में ७ श्रेणियाँ चलीं, और लगभग ८४ छात्र पढ़ते रहे।

[ख] मई जून १९५३ में मोतीझील के शिविर में १०० छात्र आये, पर अन्त में ६० प्रौढ़ पठनार्थी ४ श्रेणियों में पढ़ते रहे।

[ग] मोतीझील में जुलाई सन् ५३ से दिसम्बर ५५ तक २ श्रेणियाँ ५३ में, २ श्रेणियाँ ५४ में, तथा ६ श्रेणियाँ ५५ में चलीं, और लगभग ६० छात्र पढ़ते रहे, जिनमें १५ आगे पढ़ रहे हैं।

(३) **देहली** में पाणिनि विद्यालय १८ अप्रैल १९५४ से दिसम्बर १९५४ तक चला। जिसमें सत्यनारायण-मन्दिर तथा जवाहर नगर में तो दो श्रेणियाँ थोड़े दिन चलीं। करौलबाग और हनुमान मार्ग में लगभग १॥ वर्ष में तीन-तीन श्रेणियाँ चलीं, और बिरला मन्दिर में लगभग ६ मास में दो श्रेणियाँ।

देहली में इस प्रकार ७-८ श्रेणियों और पठनार्थियों की कुल संख्या

२५०-३०० के बीच में कही जा सकती है। देहली में आरम्भ में मेरे द्वारा एक मास का समय लगा। बीच में एक-एक सप्ताह लगा।

इस प्रकार सन् ५२ से सन् ५५ के अन्त तक लगभग २५ श्रेणियाँ मेरे द्वारा तथा १५ श्रेणियाँ अन्यों द्वारा चलीं। अन्यों द्वारा चलने में बहुत त्रुटियाँ सामने आयीं, जिनका निर्देश यहाँ नहीं हो सकता।

इस प्रकार लगभग चार वर्ष से २५ श्रेणियों को पढ़ाने के अनन्तर मैंने अपने बहुत से प्रेमियों के आग्रह से ये संस्कृत-पाठमाला से लेख 'वेद-वाणी' में छापे और अब वही पृथक् रूप में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

हमारी इस विना रटे अष्टाध्यायी-पद्धति से पढ़नेवालों तथा इस पद्धति से पढ़ानेवाले अध्यापकों को मार्गप्रदर्शनरूप में ये लेख अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं, और हो रहे हैं। सभी के सामने यह पद्धति आ जावे, इस विचार से अनेक सज्जनों के प्रेमपूर्वक आग्रह से ये पाठ हम 'वेद-वाणी' से पृथक् भी प्रकाशित कर रहे हैं। ताकि 'वेदवाणी' के अङ्क (जो सर्वथा समाप्त हो चुके हैं) प्राप्त न कर सकनेवाले संस्कृतप्रेमी इन पाठों से वञ्चित न रह जावें। इनका अगला संस्करण और भी परिमार्जित रूप में निकल सकेगा, ऐसा हम समझते हैं। यदि वृत्ति का प्रबन्ध होने पर अध्यापकों को ट्रेनिंग दी जावे, तो बहुत कार्य हो सकता है। इसमें राज्य की भी सहायता की भी आवश्यकता है। जो सज्जन चाहें, हमारी इस पद्धति का निरीक्षण जब और जैसे चाहें कर सकते हैं। हम तो समझते हैं, काशी में ५ वर्ष के लिये १० हजार छात्रों के भोजन का प्रबन्ध हो, तो इतने ही समय में इस पद्धति से पहिले काशी में, फिर सारे भारत में, और उसके पश्चात् संसार में संस्कृत विस्तार का एक महान् कार्य हो सकता है।

इस पद्धति के सरल प्रदर्शन

अनेक विद्वानों, विशेषकर श्री पं० गोपाल शास्त्री जी दर्शनकेशरी (जिनकी इस पद्धति पर अत्यन्त आस्था है), तथा श्री पं० केदारनाथ जी सारस्वत जैसे काशी के उच्चकोटि के विद्वानों के आग्रह और प्रेम से इस पद्धति का प्रदर्शन निम्न प्रकार अब तक हुआ, जिसे विद्वानों ने सफल बताया—

(१) श्री रामानन्द विद्यालय शङ्कुधारा काशी में १९५१ में व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्य विद्वद्वर श्री स्वामी माधवाचार्य जी की अध्यक्षता में हुआ। इनकी प्रेरणा से काशी में पा० वि० का आरम्भ हुआ।

(२) महामहोपाध्याय विद्वच्छिरोमणि पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदजी के (१९५२ में उनके) निवास-स्थान पर हुआ। जिससे इस कार्य को गहरी प्रेरणा मिली।

(३) पाणिनि महाविद्यालय लाहौरी टोला काशी के उद्घाटन के अवसर पर अगस्त १९५२ में।

(४) वैदिकशिरोमणि श्री पं० रामभट्ट जी के (दुर्गाघाट में उनके) गृह पर काशी के अनेक विद्वानों की उपस्थिति में।

(५) अध्यापक ट्रेनिंग कैम्प सुलतानपुर (अवध) में सन् १९५२ में लगभग ५० आचार्यों-शास्त्रियों की उपस्थिति में।

(६) गीताभवन काशी में महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्मा जी के सभापतित्व में।

(७) संस्कृतविश्वपरिषद् काशी में आये विद्वानों में लगभग ३०-४० योग्य विद्वानों के सामने पाणिनि महाविद्यालय लाहौरी टोला में।

(८) पाण्डेय धर्मशाला गुदौलिया काशी में स्वर्गीय श्री पराड़कर जी (सम्पादक 'आज'), स्व० श्री० पं० रामनारायण जी मिश्र, श्री डा० सूर्यकान्त जी अध्यक्ष संस्कृतविभाग हिन्दूविश्वविद्यालय काशी तथा काशी के अन्य विद्वानों के समक्ष।

(९) जून १९५३ में मोतीझील शिविर में श्रद्धेय डा० भगवान्दास जी, माननीय डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री भूतपूर्व प्रिंसिपल गवर्नमैन्ट संस्कृत कालेज बनारस आदि के समक्ष।

(१०) शिविर में काशी के कुछ विद्वानों के सामने।

(११) अ० भा० संस्कृत महासम्मेलन की कार्यकारिणी के विद्वानों के सामने आसफअली द्वार क्लाथ मार्केट देहली में।

(१२) श्री डा० बाबूराम जी सक्सेना, अध्यक्ष संस्कृतविभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के समक्ष मोतीझील में।

(१३) अ० भा० संस्कृत महासम्मेलन बिरलामन्दिर देहली में भारत के सभी प्रान्तों से आये उच्चकोटि के सब विद्वानों के सामने।

(१४) अध्यापक ट्रेनिंग शिविर काशी (लगभग ७५ आचार्य और शास्त्री अध्यापकों के सामने) श्री माननीय पं० कुबेरनाथ जी शुक्ल प्रिंसिपल गवर्नमैंट संस्कृत कालेज की अध्यक्षता में।

(१५) माननीय शिक्षामन्त्री उत्तरप्रदेश श्री डा० हरगोविन्दसिंह जी तथा संसद के अध्यक्ष श्री माननीय अनन्तशयनम् आयङ्गर जी के सामने मोतीझील में।

छोटे-छोटे प्रदर्शन तो न जाने कितने हुए और होते रहते हैं। यह सब इसलिए लिखा जा रहा है कि पाठकों को यह विदित रहे कि अनुभव के पश्चात् ही ये ३५ पाठ और इसके आगे का पाठचक्रम लिखा गया है।

हमारी सफलता

हमें सफलता कहाँ तक हुई, इसमें हमारा नम्र निवेदन यही है कि हमारे द्वारा चलाई २५ श्रेणियों में तो पद्धति की पूरी सफलता हुई है। अन्यों द्वारा चलाई श्रेणियों में आधी सफलता कही जा सकती है, शेष आधी में इस पद्धति में कुछ भी त्रुटि नहीं। हाँ, व्यवस्था में कुछ दोष अवश्य रहे। अब तो इस पद्धति के अध्यापक तैयार करके जहाँ-तहाँ श्रेणियाँ चलाने की आवश्यकता है।

शेष पांच मास का पाठचक्रम

यद्यपि हमने पाठों के अन्त में ३५ दिन के पाठों के पश्चात् शेष पाँच मास के पाठचक्रम का निर्देश भी अति संक्षेप से कर दिया है, तथापि इस विषय में जहाँ भी कुछ प्रष्टव्य हो, पाठक पत्र द्वारा भी पूछ सकते हैं। इस में कई सज्जनों का आग्रह है कि ३५ पाठों की भाँति आगे भी वेदवाणी में यह पाठमाला ५ मास तक के पाठों को लिखकर प्रकाशित करें। अब इसमें हमारा इतना ही निवेदन है कि यदि २०० पठनार्थी इसके लिये तैयार हों, तो हम भी प्रकाशित करने को तैयार हैं[1]। २-४ या ५-१० के लिये इतना समयसाध्य परिश्रम उठाना कठिन प्रतीत होता है। हाँ कभी समय मिले, तो हो भी सकता है। वैसे तो हमारे निर्देश से भी बहुत कुछ काम चल सकता है।

सम्मति-संग्रह

हाँ, भिन्न-भिन्न नेताओं समाचारपत्रों वा विद्वानों की सम्मतियाँ, जो हमें मौखिक रूप में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती रहती हैं, उनको हम न तो प्रकाशित ही करते हैं, न लिखितरूप में लेने का यत्न ही करते हैं।

---

१. इस पाठचक्रम को सरलतमविधि के द्वितीय भाग के रूप में मैंने लिखकर छपवा दिया है। यु० मी०

हम समझते हैं कि आजकल सम्मतियाँ कुछ पक्षपात में मुँहदेखी भी दी जाती हैं, या मिलती हैं। जिनके प्रभाव में आकर अयथार्थता भी प्रायः रहती है। लोग सम्मति देने पर अपना बहुत उपकार समझकर उसके प्रत्युपकार में बहुत कुछ आशा रखने लगते हैं। इन सब कारणों से हमारी रुचि प्रायः इधर से उदासीन ही रहती है। हम समझते हैं कि हमारा पढ़ा छात्र वा पठनार्थी ही हमारी इस पद्धति का प्रेमी वा सच्चा भक्त बन जाता है। हम चाहते हैं कि हमारे द्वारा पढ़ाये छात्रों वा प्रौढ़ पठनार्थियों को देखकर ही विद्वान् अपनी धारणा बनावें, और इस पद्धति का प्रचार करें। ताकि भारत में १० वर्षों में संस्कृत का नाद बज जावे। लगभग आधे तो संस्कृत पढ़नेवाले हो जावें !!! जो असम्भव नहीं।

इन लेखों का आर्षपाठ विधि पर प्रभाव

हमारी दृष्टि में ये पाठ प्रौढ़ पठनार्थियों के लिए हैं। १६ वर्ष से कम आयुवालों को तो हम अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराकर ही अष्टाध्यायी महाभाष्य ३५ वर्ष से पढ़ाते चले आ रहे हैं, और इस समय भी पढ़ाते हैं। हमारे इन पाठों (वा पद्धति) का यह परिणाम हुआ है कि इन ३५ पाठों वा आगे के पाठों को हमारे ढंग से पढ़कर एक नहीं अनेकों प्रौढ़पठनार्थी, जिनकी आयु० २० और ५० वर्ष के बीच है, सम्पूर्ण अष्टाध्यायी हमारे बिना कहे अपने आप कण्ठ करके व्याकरण के बहुत योग्य विद्वान् बन रहे हैं, जिनको देखकर काशी के विद्वान् चकित हो रहे हैं। ऐसे अनेक पठनार्थी मेरे पास इस समय भी पढ़ रहे हैं।

आज तक २५ श्रेणियों में इस अष्टाध्यायी-पद्धति से स्वयं पढ़ाने पर किसी एक पठनार्थी ने भी कोई वाधा (निजी बाधा समय आदि को छोड़ कर) वा त्रुटि नहीं दर्शाई।

एक-आध ध्वनि हम तक पहुंची कि आर्ष पाठविधि पर यह प्रहार है। सो इस विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि ऐसे व्यक्ति (जो एक दो से अधिक नहीं) या तो आर्ष पाठविधि का क ख भी नहीं जानते, विद्वान् भले ही प्रसिद्ध हों, या फिर जानते हुए भी ईर्ष्या या द्वेषवश विरुद्ध भावना से अपने स्वभाव के वशीभूत होकर ऐसा अनर्गल कथन करते हैं। प्रभु हम सब की बुद्धियों को सुमार्ग में प्रेरित करें। हम इतना ही कहते हैं।

इस कार्य में ट्रस्ट का श्रेय

पाणिनि महाविद्यालय के इस पठन-पाठन तथा इन पाठों के लिये

और प्रकाशित किये जाने का (जहाँ-जहाँ पर भी यह कार्य हो रहा है) मुख्य श्रेय श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर के सञ्चालकों को है, जिनके सहयोग से ही यह सब कार्य और ये सब पाठ जनता के सामने आ रहे हैं। तदनन्तर मित्रवर श्री पं० केदारनाथ जी शर्मा प्रधानमन्त्री काशी विद्वन्मण्डल, संस्कृतमहासम्मेलन तथा भारतीय संस्कृतमहासम्मेलन देहली, तथा काशी पण्डित सभा के अध्यक्ष मित्रवर श्री पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी, तथा काशी के कतिपय अन्य विद्वानों को है, जिनमें प्रमुख महामहोपाध्याय काशीविद्वच्छिरोमणि पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेद हैं।

पौष शुक्ल १३, संवत् २०१२ वि०
२६ जनवरी, १९६६

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
अध्यक्ष—पाणिनि महाविद्यालय
मोतीझील, बनारस नं० ६



[आर्याभिविनय-भूमिका—]

भक्त की भावना

धर्म, आचार और भक्ति इन शब्दों का दुरुपयोग संसार में जितना हो रहा है, उतना शायद ही किसी शब्द का हुआ होगा। धर्म आचार और भक्ति के ही नाम पर इतने बड़े-बड़े अत्याचार संसार में हुए हैं कि उनकी गणना नहीं हो सकती। संसार की प्रायः सभी जातियाँ तथा देशों के इतिहास इनसे भरे पड़े हैं। निष्पक्ष उदारभाव से विचारने पर बुद्धिमान् मनुष्य को यही निश्चय हो रहा है कि धर्म आचार और भक्ति के वास्तविक स्वरूप को न समझ कर ही ये सब अनर्थ भूमण्डल में हुए वा हो रहे हैं।

'धर्म' (=धरति लोकं, धार्यते येन जगत्) नाम उन नियमों (Principal Laws of nature) का है, जिसके आधार=आश्रय पर यह संसार चल रहा है। 'आचार' उस व्यवहार का नाम है, जिस को करने से मनुष्यों का परस्पर कभी कुछ भी झगड़ा नहीं हो सकता। दूसरों के साथ वही वर्ताव करो जैसा कि तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" "Do with others as you wish to be done by others" "हर चे बर खुद मपसन्दी बर दीगरां मपसन्द"। यह है धर्म और आचार का विशुद्ध स्वरूप। क्या कोई कह सकता है कि इस धर्म और आचार की विश्व में कभी किसी भी अवस्था में आवश्यकता नहीं ? यह धर्म और आचार तो मानव समाज से तीन काल में भी लुप्त नहीं हो सकता। एक जैसा आवश्यक, नहीं-नहीं अन्तर्हृदय की सच्ची भावना से अपनाने योग्य है, और रहेगा।

'भक्ति' भी अन्तरात्मा की हृदय के अन्तःपटल में वर्तमान रहने वाली उन गहरी भावनाओं तथा उद्गारों का नाम है, जो विना किसी विडम्बना के सम्पूर्ण विश्व के नियन्ता प्रभु की सत्ता का स्वयं अनुभव करते हुए उत्पन्न होती है। और जिन भावनाओं का बाह्य जगत् वा लोकाचार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। पिता-पुत्र अथवा शिशु और माता की वह किलोले हैं, जो बिना किसी शब्द का उच्चारण किये स्नेह से परिपूर्ण अवस्था में होती हैं।

इसके विपरीत लोक-समाज के विचार से लोकैषणा की दृष्टि से किसी विशेष समुदाय को अपने पीछे चलाने के लिए ध्यान के नाम पर की हुई हमारी अनेक क्रियायें "भक्ति" की परिभाषा में नहीं आ सकतीं।

इन मिथ्या भक्तियों से पृथक् करने के विचार से ही परम तपस्वी, परम ईश्वर-भक्त महायोगी जितेन्द्रिय, निष्पक्षपात महात्मा ऋषि दयानन्द सरस्वती ने भक्तिमार्ग के इस ग्रन्थ की वेदमन्त्रों के आधार पर रचना की, अपनी कल्पनामात्र के आधार पर नहीं।

संसार में प्रायः यही देखा जाता है कि यम नियमों का पालन किये विना ही हम लोग 'भक्त' बनाना चाहते हैं। ऐसे मार्ग पर चलनेवाले "कनफकवे" गुरुओं की ही आजकल दाल गलती है। यम नियमोंवाले (जैसे इस ग्रन्थ की) सीधे-सादे शब्दों की भक्ति को तो सूखी भक्ति के नाम से पुकारा जाता है। यह भ्रम कहीं-कहीं आर्य कहलानेवालों में भी देखा जाता है। वे कोई भड़कीली चमाचम भक्ति चाहते हैं। सो ये तो प्रकृति के गुण हैं। दोनों आत्मा और परमात्मा तो इससे पृथक् हैं। हां, जीव अज्ञानवश उसमें फँस जाता है, तभी उसको यत्न भी करना पड़ता है।

पवित्र वेदवाणी में सूक्तों के सूक्त ऐसी भक्ति से परिपूर्ण हैं। जिनमें वही स्वाभाविक (Natural) भावों का ही संचार है। बनावटी बातों का उनमें लेश भी नहीं। यह इस ग्रन्थ के एक-एक मन्त्र का ध्यानपूर्वक पाठ करने से ज्ञान हो सकता है।

अन्तर्हृदय की उपर्युक्त भावनाओं के कुछ अंश इस ग्रन्थ में से सहृदय पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं—

"आपका तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते। सो आप सदैव हम को सुख देंगे, यह हम लोगों को दृढ़ निश्चय है"। पृष्ठ १४।

"हम सब लोग आपकी प्राप्ति की अत्यन्त इच्छा करते हैं। सो आप अब शीघ्र हमको प्राप्त होओ। जो प्राप्त होने में आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे, तो हमारा कुछ भी कभी ठिकाना न लगेगा"। पृष्ठ २१२।

"हे मनुष्यों! उसको मत भूलो। विना उसके कोई सुख का ठिकाना नहीं है"। पृष्ठ २२०।

"किञ्च हम लोग तो आपके प्रसन्न करने में कुछ भी समर्थ नहीं हैं। सर्वथा आपके अनुकूल वर्तमान नहीं कर सकते। परन्तु आप तो अधमोद्धारक हैं, इससे हमको स्वकृपाकटाक्ष से सुखी करें"। पृष्ठ १६६।

"जैसे पुत्र लोग अपने पिता के घर आनन्दपूर्वक निवास करते हैं, वैसे ही जो परमात्मा के भक्त हैं, वे सदा सुखी ही रहते हैं........."। पृष्ठ ८८।

यह है हृदयङ्गम-सच्ची भावना से परिपूर्ण श्रद्धायुक्त भक्त की भावना, जो एक साक्षात्कृतधर्मा परम ईश्वरभक्त के उद्गार हैं। जिनके एक-एक शब्द पर घण्टों विचार करने पर भी अधिक से अधिक आनन्द प्रतीत होता है। जिस दिन जिस घड़ी इस मार्ग पर चलने का दृढ निश्चय कर चुकेंगे, और हमें मार्ग की अनुकूल सामग्री की डटकर खोज होगी, तभी इन भोले-भोले=सरल शब्दों का महत्त्व हमें समझ में आवेगा।

आत्मरोग की औषध के इस महाभण्डार में न जाने कब कौन सी औषध उपयुक्त सिद्ध हो=कारगर साबित हो। यह तो निश्चय ही है—

"स हि दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।"

योग० १।१४॥

इस भक्ति-मार्ग का निरन्तर उपासक ही अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुंच सकता है। प्रभु कृपा करें हम इस पथ के अनुगामी बनें!!!

विनीत

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

भक्ति-मार्ग और कर्म-योग

वर्तमान समय में कर्मण्यता और भक्ति ये दोनों परस्पर विरुद्ध कहे जाते हैं। वैदिक भक्तिवाद इससे सर्वथा विपरीत है। वह तो 'ईशा वास्यम्' के साथ 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'=संसार में कर्मशील बनो, और कोई मार्ग नहीं, यही पुनः-पुनः पुकार कर कह रहा है। कर्म-मार्ग के प्रतिपादक अन्य भी ग्रन्थ हैं, परन्तु जितना निस्सन्देह विना किसी लाग-लपेट के कर्मण्यता का प्रतिपादन वेद करता है, उतना कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं करता। यह बात इस ग्रन्थ को देखने से स्पष्ट विदित हो जाती है—

(१) पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥

ऋक् १।३६।१५॥

"हे सर्वशत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर ! राक्षस हिंसाशील दुष्ट स्वभाव देहधारियों से हमारी पालना करो। जो हमको मारने लगे तथा जो मारने की इच्छा करता है, हे महातेज बलवत्तम ! उन सबसे हमारी रक्षा करो।" पृष्ठ ३२।

(२) "हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् ! (क्षत्राय) अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये शौर्य विनय पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्टकर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों, तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" पृष्ठ १८०-१८१ ॥

(३) "अन्योन्य प्रीति से परम वीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें। हममें नीतिमान् सज्जन पुरुष हों।" पृष्ठ ११२।

(४) "वीरों के चक्रवर्ती राज्य को प्राप्त हों।" पृष्ठ ८६।

(५) "हे कृपासिन्धो भगवन् !....हमारा राज्य अत्यन्त बढ़े।" पृष्ठ ४४।

(६) "साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये।" पृष्ठ ४३।

सच्चे ईश्वर-भक्त की भावना में कर्मण्यता कहाँ तक है, तथा ऐसी कर्मण्यतापूर्ण भक्ति कहाँ तक ग्राह्य है, यह सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

आर्य और निष्कर्मण्य ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। वैदिक कर्मवाद का सच्चा स्वरूप यही है।

निवेदक—
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु



[सन्ध्योपासनविधि-भूमिका—]

पाँच मिनट में सन्ध्या के अर्थ

मन्त्रों के अर्थ समझे बिना सन्ध्या करने से वह लाभ और आनन्द कभी प्राप्त नहीं हो सकता, जो होना चाहिये। वेदमन्त्रों का अर्थ समझना सरल काम नहीं। सन्ध्या-भक्ति-भजन उपासना का अर्थ है—अपनी भूलों कमियों का अनुभव करना, और उन्हें दूर करने का उपाय करना। जब समझा ही नहीं कि हम प्रभु से क्या कह रहे हैं, तब मिले भी क्या? इस के लिए हम ५ मिनट में समझने योग्य सन्ध्या के अर्थ यहाँ लिख रहे हैं। सरल ढंग यह है कि उन-उन मन्त्रों के मन में उच्चारण के पश्चात् मन में ही इन अर्थों को बोल लेना चाहिये। जब अभ्यास हो जाये तो बोलना बन्द करके मन्त्र के अर्थ को मन में ही विचारते चलना चाहिये। एक-एक मन्त्र के अर्थ को विचारने में यदि अधिक समय चाहे तो लगा सकते हैं। यह व्यक्तिगत सन्ध्या का स्वरूप वा प्रकार है। सामूहिक सन्ध्या में तो केवल मन्त्र ही बोले जा सकते हैं।

सो हम यहाँ सन्ध्या के अर्थ इस प्रकार लिखते हैं, जो बिना किसी विशेष कठिनाई के समझ में आ जाते हैं, और मन में बैठ जाते हैं। जिन पर विचार करना भी आसान है, और जिन पर विचार करने से आत्मा में ऊँची प्रेरणा भी साथ-साथ मिलती जाती है। वे अर्थ इस प्रकार हैं—

१. हे प्रभो! हमारी बुद्धि अच्छे मार्ग में चले (धियो यो नः प्रचोदयात्)। (गायत्री मन्त्र)

२. हे प्रभो! हमारा वातावरण पवित्र हो (हम ऐसे वातावरण में रहें, जो पवित्र हो)। यदि वह अपवित्र हो तो हम उसे पवित्र बनावें। यदि ऐसा करना हमारी शक्ति से बाहर हो, तो हम ऐसे वातावरण को छोड़ दें। (शंयोरभि स्रवन्तु०)

३. हमारी इन्द्रियाँ बलवान् हों। (अपवित्र विषयो में न जावें, हमारे वश में रहें)। (वाक् वाक् चक्षुः चक्षुः०)

३. हमारी इन्द्रियाँ पवित्र हों। (भूः पुनातु शिरसि०)

५. प्रभु आप महान् हो। (ओं भूः ओं भुवः०)

६-७-८. हे प्रभो ! हम आपकी व्यवस्था (सृष्टि-नियम) के विरुद्ध न चलें। सृष्टि के ये अद्‌भुत नियम आपने ही बनाये हैं। (अघमर्षण के तीनों मन्त्र)

९-१४. अरे मूर्ख मन ! व्यर्थ में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ऊपर नीचे क्यों भटकता फिरता है। प्रभु तो तेरे भीतर हैं। (मनसा परिक्रमा के ६ मन्त्र)

१५-१६-१७. बच्चा माता की गोद में निर्भय रहता है। हे प्रभो ! हम तेरी गोद (=आश्रय) में अपने को निर्भय अनुभव करें। (उपस्थान के तीन मन्त्र)

१८. हे प्रभो ! हम अपना समय नष्ट न करें, उसका मूल्य समझें। (तच्चक्षुः···पश्येम शरदः शतं०)

१९. हमारी बुद्धियों को सुमार्ग में चलने की प्रेरणा दो। (गायत्री मन्त्र)

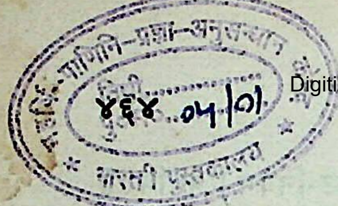
२०. हे प्रभो ! हमारे नित्यकर्मादि आपके अर्पण हैं। इनसे हममें अभिमान पैदा न हो। (समर्पणम्)

२१. हे प्रभो ! आपको हमारा बारम्बार नमस्कार हो। (नमस्कार मन्त्र)

आरम्भ में सन्ध्या करते समय हर एक मन्त्र से आगे उसका अर्थ भी मन में धीरे-धीरे बोल लेना चाहिये। मास दो मास में जब अभ्यास हो जावे, तो फिर मन्त्र बोलते-बोलते उनका भावार्थ भी विचारते चलना चाहिये। इससे सन्ध्या करते समय मन में प्रेरणा उत्पन्न होने लगेगी। यही सन्ध्या का प्रयोजन है।

छः मास या एक वर्ष में ऐसा अभ्यास हो जावेगा। ऋषि दयानन्दकृत 'सन्ध्योपासनविधि' में एक-एक शब्द के पृथक्-पृथक् अर्थ (जो 'पञ्चमहायज्ञविधि' के आरम्भ में छपे हैं) उन पर अभ्यास करना चाहिये, और इस 'सन्ध्योपासनविधि' पर पूरा-पूरा अभ्यास कर लेना चाहिये।

इसमें अभ्यास हो जाने पर सन्ध्या करते समय ही किसी-किसी मन्त्र पर तो योगाभ्यास की रीति से चिन्तन किया जा सकता है। इसमें घण्टों भी लग सकते हैं।



सन्ध्या का सार

सन्ध्या=आध्यात्मिक भोजन (आत्मा की खुराक)।

भूखे को भोजन, पिपासु को पानी, रोगी को औषध का आनन्द पूछना चाहिये। "स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते"—वह स्व-स्व अन्तःकरण का विषय है।

प्रतिदिन, प्रतिघण्टा, प्रतिक्षण मैले होते रहनेवाले वस्त्र के लिए जैसे धोबी या साबुन की परमावश्यकता है, उसी प्रकार आत्मारूपी वस्त्र किसी साबुन या धोबी से धुलेगा ?

सन्ध्या=परमात्मदेव के चिन्तन से। सो कैसे ?

सर्वव्यापी, सुख की वर्षा करनेवाले प्रभु के आश्रय, शत्रुओं पर विजय, चञ्चल इन्द्रियों को सुमार्ग में लगाकर उन्हीं को मित्र बना लेने, सूर्य-चन्द्रादि विचित्र विविध सृष्टि के महान् रचयिता व्यवस्थापक प्रभु से डर, पाप से बचने, उच्छृङ्खल (दुलत्तियाँ चलानेवाले) दुर्निवार (बड़े यत्न से वश में होनेवाले) दूर-दूर जानेवाले मन-रूपी घोड़े को पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण नीचे और ऊपर उस महान् प्रभु का अन्त लेने में खुली दौड़ दौड़ाकर हँफा और थका देने से।

अब यह ठहरे कहाँ ? माता की गोद में। अन्धकार से रहित, प्रकाश से परिपूर्ण, जातवेदाः—दिव्यस्वरूप बल देनेवाले विचित्र स्वरूप—चराचर के आत्मा के समीप। क्या ऐसे महान् पिता का आश्रय लेने से किसी को भी भय रह सकता है ? कदापि नहीं। तो क्या वह दूर है ? नहीं। तो फिर ? हम दूर हैं। हम अपनी दूरी दूर करें, उपासक बनें।

संसार भर के देश जाति और मनुष्यों में पुण्य-पाप, अच्छाई-बुराई, नेकी-बदी अवश्य ही मानी जाती है, और माननी पड़ेगी। अतः जगत् के प्राण, दुःख दूर करनेवाले, शुद्धस्वरूप-परमात्मदेव के चिन्तन से हमारी पाप-अधर्म-अपवित्र-स्वार्थबुद्धि दूर हो, और पुण्य-धर्म-पवित्र-विश्वहित बुद्धि सदा बनी रहे।

कल्याणकारी उस प्रभु पर हम अपना सर्वस्व अर्पण कर दें। प्रातः सायं इन्हीं बातों का चिन्तन करना सन्ध्या है। बस इतना ही ? हाँ इतना आध्यात्मिक भोजन तो पचेगा भी कठिनाई से ही।

अहा !!! कैसा सुन्दर साबुन=आत्मा का बढ़िया भोजन यह सन्ध्या

है। तो यह भूख मिटानेवाला भोजन अच्छा क्यों नहीं लगता ? सच्ची भूख नहीं। जब भी सच्ची भूख लग जायेगी, तभी इसका आनन्द अनुभव होगा। तभी ऋषि की इस वैदिक सन्ध्या के एक-एक शब्द का रहस्य स्वयं ही समझ में आता जायेगा। एक ही मन्त्र पर मनन करने में घण्टों बीत जायेंगे।

तो ऐसी भूख लगती क्यों नहीं ? अज्ञान से अनित्य को नित्य, शरीर आदि अपवित्र को पवित्र, दुःखदायी कार्यों को सुख देनेवाले अनात्मा को आत्मा समझ रहे हैं, इस कारण।

यह अविद्यान्धकार कैसे दूर हो ? तत्त्वज्ञान से। तत्त्वज्ञान बिना शास्त्र के स्वाध्याय के कहाँ !!! हाँ ठीक, इसलिए स्वाध्याय भी ब्रह्मयज्ञ है।

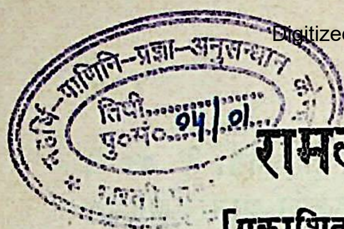
तो इससे रोटी भी मिलेगी ? हाँ हाँ। सो कैसे ? शान्तचित्त हो शान्ति से बैठकर सोचोगे, तभी रोटी मिलने का उपाय भी सुझेगा। नहीं तो हाय-हाय मचाने से भी रोटी कहीं से गिर तो नहीं पड़ेगी। ठीक, इस लिए ऋषि ने लिखा है—

"नित्यकर्मों के फल शरीरसुख से व्यवहार और परमार्थ कार्यों की सिद्धि।"

प्रभु कृपा करें, हमें सच्ची आध्यात्मिक भूख लगे और हम सन्ध्या-रूपी आत्मिक भोजन का आनन्द प्राप्त कर सकें !!

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु





रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

[प्रकाशित वा प्रसारित कुछ प्रामाणिक ग्रन्थ]

१. ऋग्वेदभाष्य—(संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित) प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां प्रथम भाग ५०.००, द्वितीय भाग ४०.००, तृतीय भाग ५०.०० ।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण । प्रथम भाग १४०.००, द्वितीय भाग ६०.०० ।

३. तैत्तिरीय संहिता—मूलमात्र, मन्त्र सूची सहित । ६०.००

४. तैत्तिरीयसंहिता-पदपाठः—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १२५.०० ।

५. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्यायकृत । १-३ काण्ड ५०.००; ४-५ काण्ड ५०.००, ६ काण्ड ४०.००, ७-८ काण्ड ४०.००, ९-१० काण्ड ४०,००, ११-१३ काण्ड ३५.००, १४-१७ काण्ड ३०.००, १८-१९ काण्ड २५.००, बीसवां काण्ड २५.०० ।

६. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं टिप्पणियों से युक्त । सजिल्द ३५.०० ।

७. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये गए उत्तर । ५.००

८. भूमिका-भास्कर—स्वामी विद्यानन्द । दोनों भाग ३००.००

९. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण । ६०.००

१०. गोपथब्राह्मण (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपालजी विद्यावारिधि । सबसे अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण । ६०.००

११. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—(ऋग्वेदीया) षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित । टीका का पूरा पाठ प्रथम वार छापा गया है । विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त । १२५.००

१२. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कट माधवकृत । इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है । व्याख्याकार—डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि । ४०.००

१३. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालङ्कार । काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ । बढ़िया जिल्द ६०.००

१४. वैदिक छन्दोमीमांसा—यु० मी०। नया संस्करण ३०.००

१५. वैदिक-स्वर-मीमांसा—यु० मी०। ,, ,, ३५.००

१६. उरु-ज्योति—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द २०.००

१७. वैदिक जीवन—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ। अजिल्द १५.००, सजिल्द २०.००

१८. वैदिक गृहस्थाश्रम—पूर्व लेखक द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। सजिल्द ४०.००

१९. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा—लेखक पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। ४५.००

२०. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास) भवस्वामी और सायणाचार्य की व्याख्या सहित। मूल्य ५०.००। अग्न्याधान प्रकरण और आधान पद्धति—सुबोधिनी वृत्ति सहित। ५०.००

२१. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित ३०.००

२२. कात्यायनगृह्यसूत्रम्—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५.००

२३. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०.००

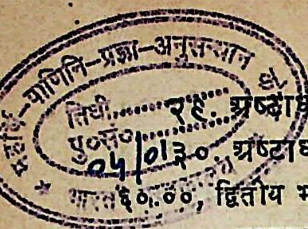
२४. श्रौत-यज्ञ-मीमांसा—(संस्कृत तथा हिन्दी)। ३०.००

२५. संस्कार-विधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। राजसंस्करण ५०.०० सस्ता संस्करण १२.००, अच्छा कागज सजिल्द १५.००।

२६. वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। २५.००

२७. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचितिसहित सोमयाग, चातुर्मास्य, वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। २०.००

२८. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्रविषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है। (संस्कृत) सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। १२५.००



२९. अष्टाध्यायी (मूल)—शुद्ध संस्करण ६.००

३०. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग ६०.००, द्वितीय भाग ४०.००, तृतीय भाग ५०.००। पूरा सैट १५०.००

३१. धातुपाठ—धात्वादिसूचीसहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण। ५.००

३२. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामीकृत। पाणिनीय धातुपाठ की सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ७०.००

३३. धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ५०.००

३४. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम्। १०.००

३५. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग २५.००, द्वितीय भाग २५.००

३६. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० प्रथम भाग—(प्रथम खण्ड ६५.००, द्वितीय खण्ड ६०.००), द्वितीय भाग ५०.००, तृतीय भाग ७५.००

३७. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द २०.००

३८. दशपादी-उणादिवृत्ति—माणिक्यदेव विरचित वृत्ति। ५०.००

३९. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। १०.००

४०. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत) ५०.००

४१. सूर्य-सिद्धान्त—हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री उदयनारायण सिंह। आरम्भ में १४६ पृष्ठ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ६०.००

४२. अनासक्तियोग—लेखक—पं० जगन्नाथ पथिक। ४०.००

४३. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्यदेव वसिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य। ४ भाग सम्पूर्ण मूल्य २००.००

४४. शुक्रनीतिसार—स्वामी जगदीश्वरानन्द कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। ६०.००

४५. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीनों भागों का मूल्य १५०.००

पुस्तक प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१

रामलाल कपूर एण्ड संस, २५९६ नई सड़क, देहली

उजागर भवन बिरहाना रोड कानपुर